

समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

प्रस्तुत ग्रंथ प्रक्रम में विषय समीक्षा शास्त्र का सैद्धांतिक इतिहास तथा विविध देशों की प्रमुख भाषाओं तथा परम्पराओं, विशेष रूप से संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, रोमीय, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, स्पेनी जर्मन जहाँ तथा जर्मनीकी भाषा का वैज्ञानिक एवं व्यवसायिक अध्ययन उपस्थित किया गया है। प्रमुख समीक्षात्मक परम्पराओं, विचार प्रणालियों तथा विचरन पाठकों का विद्यासाध्यक इतिहास प्रस्तुत करने के साथ ही साथ इसमें पौराणिक और वास्तविक वैचारिक दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन तथा सम्यक मुद्रांकन भी उपस्थित किया गया है। जिसके कारण यह ग्रंथ हिंदी भाषा के इतिहास की गौरवशाली परम्परा में एक ऐतिहासिक उत्तमविशिष्ट विष्णु के रूप में मान्य होता है।

डॉ० प्रतापनारायण उडन—कन्य सखनऊ, प्रिंसा बी० ए० (बॉनर्स) तथा एम० ए० (स्पेशल) सखनऊ विश्वविद्यालय में हुई। हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा आयोजित प्रथमा मध्यमा (विद्यारण्य) तथा उत्तमा (साहित्यरत्न) परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। सन् १९२० में सखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी उपन्यास में कक्षा द्वितीय का विकास शीर्षक प्रथम पर पी-एल्० डी० की उपाधि प्राप्त की। सखनऊ विश्वविद्यालय से ही सन् १९२३ में समीक्षा के माग और हिंदी धर्मशास्त्र की निश्चित प्रवृत्तियाँ शीर्षक प्रथम पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। उक्त प्रथम पर सखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९२३ का बीनर्ली रिसर्च प्राइज भी प्रदान किया गया। प्रकाशित कृतियाँ आधुनिक साहित्य (निबन्ध संग्रह) सन् १९२६, (प्रकाशक—विद्यामंदिर, सखनऊ) हिन्दी उपन्यास में वर्ष सावका प्रेमकाव्य पुन (कोन रचना) सन् १९२६ (प्रकाशक—हिंदी विभाग सखनऊ विश्वविद्यालय) बेरिडे (कनुबाएँ) सन् १९२६ (प्रकाशक—साहित्य प्रकाशन, दिल्ली), रीता की बात (उपन्यास) सन् १९२७ (प्रकाशक—प्रेम प्रकाशन सखनऊ), हिंदी साहित्य पिछला बख्त (आलोचना) सन् १९२७ (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य मन्दार सखनऊ), हिंदी उपन्यास में कक्षा द्वितीय का विकास (सोम प्रथम) सन् १९२९, (प्रकाशक—हिंदी साहित्य मन्दार, सखनऊ) अग्नी वृष्टि (उपन्यास) सन् १९३० (प्रकाशक—राजपाल एम्ब सन्स दिल्ली) बरसते इराबे (कहानी संग्रह) सन् १९३० (प्रकाशक—हिंदी साहित्य मन्दार सखनऊ) हिंदी उपन्यास का जन्म और विकास (संक्षिप्त प्रथम) सन् १९३० (प्रकाशक—हिंदी साहित्य मन्दार सखनऊ) रीता (पाकेट सस्करण) १९३२ (हिंदी पाकेट बुक्स नई दिल्ली) स्वर्ण यात्रा (नाटक) सन् १९३२ (प्रकाशक—बाप्टी साहित्य अम्बर, दिल्ली) क्यूकै पानी की बूँदें (उपन्यास) सन् १९३४ (विवेक प्रकाशन, सखनऊ), सुम्ह की पूर्ति (कहानी संग्रह) सन् १९३४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन सखनऊ) तथा नवाब कलकौषा (कहानी संग्रह) सन् १९३४ (प्रकाशक—विवेक प्रकाशन सखनऊ) आदि। उपर्युक्त में से हिंदी उपन्यास में कक्षा द्वितीय का विकास तथा अग्नी वृष्टि नामक रचनाएँ उत्तर प्रेसीडेंस आसन द्वारा गुरस्कुत की गयी। सवाबक कार्य सखनऊ से प्रकाशित हुई कहानी सखनऊ (१९२९) का संयुक्त रूप से संपादन किया। सन् १९२९ से १९२९ तक पुन केतना (सखनऊ) के संपादक मंडल में रहे। आकाशवाणी से एक दर्जन से अधिक कहानियाँ बर्ताएँ तथा नाटक आदि प्रसारित हो चुके हैं। सन् १९३४ में इटली (गोरप) की यात्रा की तथा रोम पिस्कोइया पीसा तथा फ्लोरेंस आदि ऐतिहासिक नगरों का भ्रमण किया। अभ्यापनः जनवरी-अक्टूबर १९२९ में राजकीय रवा द्विती काभेज रामपुर में हिंदी प्राध्यापक रहने के बाद अक्टूबर १९२९ से सखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक के रूप में कार्य कर रहे हैं।

समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

[संस्कृत विश्वविद्यालय की डी० ए० डि० (हिंदी) की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध]

प्रथम खंड

लेखक

डॉ० प्रतापनारायण टंडन

पी० ए० (बौद्ध) एम० ए०, पी०एच० डी०, डी० डि०

प्राध्यापक हिन्दी विभाग

संस्कृत विश्वविद्यालय, मद्रास

ग्रन्थ
पञ्चीत कथे (प्रथम खण्ड)
संस्करण
प्रथम १९६५
संस्करण
लेखक के अर्पित
प्रकाशक
विशेष प्रकाशक
छिन्नोद कुल निधि, जमीनाबाद, लखनऊ
मुद्रक
बंरना प्रेस,
लखनऊ, भारतीय नगरपालिका



गुरुवर
 डॉ० बीनबपालु गुप्त हो तिरु
 बा मास्टर सम्पत्ति
 —प्रतापमारायण टहल

विषय सूची

निर्देशन

पृ० ११-१४

अध्याय १

विषय प्रवेश

पृ० ११-१५

समीक्षा, समीक्षक तथा समीक्ष्य—१७, समीक्षा का अर्थ—१७ समीक्षा की परिभाषा—१७, समीक्षा और साहित्य—१८, "समीक्षा" शब्द की व्युत्पत्ति—१९, प्राचीनता और पर्याप्त—१० ।

समीक्षा और शोध—११, शोध का अर्थ—११ पारस्परिक भेद—११ शोध की प्रक्रिया—११ ज्ञान्य भेद—१२ शोध का क्षेत्र—१४ शोध-विभाजन—१५, शोधकर्ता की योग्यताएँ—१५, शोध के प्रकार—१५, वैज्ञानिक और साहित्यिक शोध—१६ क्षेत्रगत विस्तार—१७, सामयिक आवश्यकता—१७ व्यापार नूतन—१८ ।

समीक्षा की मर्यादा—१९ ।

समीक्षक और लेखक—७०, पास्तख और कलाकार—७१, पास्तख, समीक्षक और लेखक—७२, एक सम्बन्ध—७२ ।

समीक्षक के गुण—७३, सहृदयता—७३, सुविधा—७३ निष्पक्षता—७४, उदारता व्यवसाय सहिष्णुता—७५, सौंदर्यसुगुण—७६, रचनात्मक प्रतिभा और भाषा पर अधिकार—७७ मूल्यांकन का व्यापक दृष्टिकोण—७८ ।

समीक्षक के दायित्व—७९, पास्तख कार्य का निर्वाह—७९, साहित्य विपक्षक जलदृष्टि—८०, पतिरीय कालीन कार्य—८० मानवीय नेतृत्व के विवेक की व्यावहारिकता—८१ ।

समीक्षा का क्षेत्र—८१ शास्त्रत मान्यता—८१ सुगीत प्रचलन—८२ भारतीय और राष्ट्रीय संस्कृति—८३ चिन्तनात्मक प्रवृत्ति—८३ ।

समीक्षा के आधार—८४ व्यापक दृष्टिकोण—८४ दृष्टिकोण का निर्धारण—८५, उत्कृष्ट प्राथमिकता—८५, दृष्टिकोण की मिश्रता—८६, दृष्टिकोणमय एकाग्रता की समस्या—८६ शास्त्रीय सिद्धान्त—८७ ।

समीक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिक कठिनाइयाँ—८८ समीक्षा कार्य की बुद्धता—८८ शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्परीक्षण की समस्या—८८ वैज्ञानिक अपूर्णता—८९, सिद्धांत और प्रयोग—९० शास्त्रीय परम्परा और बाह्य प्रभाव—९१ ।

समीक्षा के मान निर्धारण की समस्या—९२, प्राचीन और नवीन विचार बाधएँ—९३, नवीनता का आविर्भाव—९३ नये मुख्य निर्धारण की प्रक्रिया—९४ वैचारिक अनेकक्यता—९५ ।

अध्याय २

पाश्चात्य समीक्षा धातु का विकास और विभिन्न सिद्धान्तों का स्वरूप पृ० ९७—२९३

पाश्चात्य समीक्षा धातु का विकास—९९, प्राथमिक युग—९९—प्राचीन केंद्र—९९ ।

प्राचीन ग्रीक विचारक और उनका समीक्षात्मक दृष्टिकोण—१०० ।

होमर—१०२ परिचय तथा कृतियाँ—इसिमंड तथा मोडेरी—१ २ ।

हेसियड—१०४, परिचय तथा कृतियाँ—१०४ काव्य का स्वरूप—१०४ ।

पिण्डार—१०५, परिचय तथा कृतियाँ—१०५, काव्य में क्रिया तथा प्रेरणा—१०५, महत्त्व का कारण—१०५ ।

अव्यय विचारक—१०६, सेनीका—१०६, आक्रियस—१०६, पाइथागोरस—१०७ एनेकिदमीस—१०७ हेराक्लिटस—१०७ एम्प्रीडोक्लीस—१०७, डेमोक्रिटस—१०७ प्रोटेगोरस—१०७ लेनोफनीस—१०७ हेराक्लिटस—१०७ ।

मोबियास—१०७ काव्य की परिभाषा और विवेचन—१०७ ।

मोबियास के परवर्ती अव्यय विचारक—१०८, कोरेक्टस—१०८, टिसिएस—१०८ नेसीमेंक्स—१०८, इयोमिथियस—१०८, फोटियस—१०८, पैट्रिज्जी—१०८ ।

एरिस्टाफनीज—१०९ परिचय तथा कृतियाँ—१०९, वैज्ञानिक समीक्षा का प्रवर्तन—
१०९, समीक्षा का छात्सीय विवेचन—११०, समीक्षा का मान निर्धारण—११०,
साहित्यियों का विरुध्द—११०, मुख्य क्षेत्र—१११ समीक्षा कात्रीय महत्व—१११,
माध्यमता पर विचार—११२ महत्व—११३ ।

सुकुल्ट—११३, परिचय तथा कृतियाँ—११३ प्रमुख विचार तथा महत्व—११४,
मान और सद्गुण—११४, अनुकरणीयता—११४ ।

जटो—परिचय तथा कृतियाँ—११६, प्योरी भाषा आइडियल—११६, प्रमुख
सम्भाव—११६, प्रोटोरोस—११६ गार्गियस—११६, फायडी—११६, सिम्नोत्रियम—
११६, रिपब्लिक—११६, फियाइस—११६ पारमेनीडस—११७ मिमास्टिस—११७
साफिस्ट—११७ पियसस—११७ टिनोरस—११७, साब—११७ एपाक्ताजी—११७
पीली और विचार—११८ ।

जेटा के प्रमुख सिद्धान्त—११९ इतिहास—११९, अनुकरण का सिद्धान्त—१२०,
कवि, काव्य और कला—१२१, काव्य का वर्गीकरण—१२२ नाटक—१२२ भाषण,
पात्र—१२३, समीक्षा—१२३ महत्व—१२३ ।

आइसाक्रीज—१२३, परिचय और विचार—१२३, महत्व—१२६ ।

ईस्लिस—१२७ परिचय और सिद्धान्त—१२७ ।

सोफ्रोस्कीज—१२७ परिचय और सिद्धान्त—१२७ ।

थूरीपाइडीज—१२८ परिचय और सिद्धान्त—१२८ ।

अरस्तु—१२९, परिचय तथा कृतियाँ—१२९, विषय क्षेत्र—१३० कवि काव्य
और कला—१३१ अरस्तु का अनुकरण सिद्धान्त—१३२ काव्य का स्वरूप और
स्वरूप—१३४ काव्य के क्षेत्र—१३५, गुणानुक्त नाटक के तत्त्व—कथानक, चरित्र चित्रण,
पर रचना विचार तत्त्व मुख्य विधान तथा गीत—१३६ कथानक के प्रकार—रसकथा
मूलक कथागामूलक तथा इतिहासमूलक—१३६, पात्रों के गुण—धृष्टता, भाषा प्रयोग
की स्वाभाविकता साधारण मानवता तथा समरूपता—१३६ गुणानुक्त नाटक—१३७
गुणानुक्त एवं गुणानुक्त नाटक की तुलना—१३८ महाकाव्य—१३८ महाकाव्य के
प्रकार—१३९, महाकाव्य के मूल तत्त्व—कथानक पात्र, विचार और भाषा—१३९,
भाषण कला—१४० परिचया और विवेचन—१४० अरस्तु की रीति और महत्व—
१४१ ।

बिमोर्कस्टस—१४३, परिचय और कृतियाँ—१४३, डी इंटरमिडियन—१४३, सैमी का वर्गीकरण—असंस्कृत, सामान्य तथा गम्भीर—१४६, भाषण कला का विवेचन—१४६ ।

सौभाग्य—१४७, परिचय तथा कृतियाँ—१४७ आन वि सेम्माइन—१४७, साहित्य में उपासना का विवेचन—१४७, उपासना की संभावनाएँ—१४७, काव्य और कला—१४९, साहित्य विज्ञान—१४९, उपासना के तत्त्व—१५०, समीक्षक की शैलियाँ—१५० ।

प्राचीन ग्रीक विचारक और उनका समीक्षारमक दृष्टिकोण—१५१ ।

सिखरी—१५३, परिचय तथा कृतियाँ—१५३, डि रिपब्लिका—१५३, डि मेमोरस—१५३, डि आरेटर—१५३ डि सेमिस्ट्रुट—१५३, भाषण कला, परिचाया—१५४, विषय विवेचन—१५४, काव्य के तत्त्व—१५५, समीक्षारमक विचार—१५५ ।

होरेस—१५६ परिचय तथा कृतियाँ—१५६, काव्य विवेचन—१५६, काव्य और अनुकरणात्मकता—१५७, नाट्य कला—१५७, सैमी विचार—१५९, समीक्षारमक केन और महत्व—१५९ ।

क्विंटीलियन—१६०, परिचय तथा कृतियाँ—१६०, समीक्षारमक विचार और भाष्यताएँ—१६०, महत्व—१६१ ।

पुनर्जागरणकालीन वास्तविकता की मान्यता—१६२ ।

सौलज्वी सताब्दी तक अंग्रेजी समीक्षा—१६४ ।

स्टीफेन हॉव—१६४ परिचय तथा कृतियाँ—१६४, डि वास्टाइस बाउ प्रिन्सर—१६५ ।

सर टॉमस बिस्मन—१६५, परिचय तथा कृतियाँ—१६५, क्ल आफ रिसेजन—१६६, आर्ट आफ रिटारिक—१६६ भाषा पर विचार—१६६, महत्व—१६६ ।

सर जॉन चीक—१६७, परिचय तथा कृतियाँ—१६७ ।

राजर आश्रम—१६८, परिचय तथा कृतियाँ—१६८, टाइमोमिडस—१६८, स्कूल मास्टर—१६८ भाषा और साहित्य पर विचार—१६८ ।

पुनर्जागरणकालीन साहित्य परम्पराएँ और समस्याएँ—१७० ।

मॉरि—१७३ प्रमुख विचार—१७३ ।

सर फिलिप सिडनी—१७३ परिचय तथा कृतियाँ—मार्केटिया स्पायोकी फार पोपट्टी—१७४ सिडनी की काव्य विषयक साम्यताएँ—१७४, कवि का महत्त्व—१७५, काव्य और अनुकरणारम्भना—१७५ काव्य के व्यं—१७५, सिडनी की रचना—१७६, काव्य विभाजन—१७६ सिडनी के प्रमुख विचार—१७७, सिडनी का महत्त्व—१७७ ।

क्रिज वेल्स—१७९, प्रमुख विचार—१७९ ।

एडमंड स्पेंसर—१८० परिचय तथा कृतियाँ—वि केवरी बनीम शिपटैस कैर्लेडर, एमोरेट्टी एपिलमिगन फोर हाइम्स रिच्यु आफ दि प्रेजेंट स्टेट आफ मायरनेड—१८१ ।

नेडियस हारवे—१८१, परिचय तथा कृतियाँ—फाउरे सेटस, पामर्स सुपरइरोमेघन, ट्रिनिंग आफ टामस मागे—१८१ ।

बिलियम बेव—१८० प्रमुख विचार—१८३ ।

पुटनहाम—१८२ परिचय तथा कृतियाँ—साटें आफ ईगलिस पोपजी—१८२ ।

सेमुएल डेनियस—१८३ परिचय तथा कृतियाँ—डेनिया, कम्पसायन्स आफ रोमान्ड, बिलपोपेट्टा डिफेंस आफ लनिंग डिफेंस आफ राइम, फिलोडास—१८३ ।

फ्रांसिस बेकन—१८४ परिचय तथा कृतियाँ—एसज डि सेपाईटिया बोर्डरम, एपापेम्स न्यू एण्ड ओल्ड डि न्यू एटर्नलिस—१८४, काव्य में कल्पना तत्व—१८४, काव्य विभाजन—क्यारमक काव्य—१८४ प्रतिनिध्यात्मक काव्य—१८४, सामाजिक काव्य—१८४ काव्य तत्व—१८५, अन्य विचार और स्थापनाएँ—१८५ ।

अन्य समीक्षक—१८६ सर जान हेरिफ्टन, फ्रांसिस मिचर्स—१८६, जान वेल्सटर—१८६, बिलियम बायन—१८६ वीयम—१८६ टामस कैपिथन—१८६ आन्डरवेल्स इन दि कार्ट आफ इल्लिस पोपजी—१८६ ।

जेन जानसन—१८६ परिचय तथा कृतियाँ—एवरी मैन इन हिज ह्यूमर, एवरी मैन आउट आफ हिज ह्यूमर डिमिमाज रिबेस्स डि पोपटास्टर, सिडेनस, बोस्पोन, डि साइसेंट बूमन डि पास कैमिस्ट, कार्पोनोप्यु फयर—दि स्ट्रेण्ड जाम्पूब, डि न्यूज इन—१८७ काव्य का स्वरूप तथा प्रयोग १८८ कवि की योग्यताएँ—१८८ काव्य के तत्व—१८९, नाटक और उसके तत्वों का विवेचन—१९०, ड्रैडि—१९० कमेरी—१९० जेन जानसन रचना—१९१ ।

१०] समीक्षा के माग और हिन्दी समीक्षा की विविध प्रवृत्तियाँ

सोलहवीं शताब्दी तक फ्रांसीसी समीक्षा—१ १ विषय क्षेत्र—१९१ काव्य का स्वरूप—१९२ भाषण शास्त्र—१९२ ।

सोलहवीं शताब्दी तक इटैलियन समीक्षा—१९३ मध्ययुग का प्रवर्तन शान्ते—१९३ डिवाइन कामेडी—१९३ महाकाव्य का स्वरूप—१९३ ।

पेट्रार्क—१९४ प्रमुख विचार—१९४ ।

अन्य विचारक—बीडा—१९४ डीनीजियो—१९४ कैस्टेलवेट्रो—१९४ पेट्रिची—१९४ पोमिटियन—१९४ मिनटर्नो—१९४ युवीन मान्यताएँ—१९५ ।

सोलहवीं शताब्दी तक स्पेनी समीक्षा—१९५ इतिहोर का आगिर्भाव—१९५, काव्य पर विचार—१९५ ।

अन्य समीक्षक—१९६ आवेम्पेस—१९७ ।

विचारक सभ—१९७ प्रमुख विचार—१९७ ।

सुई विवे—१९८, प्रमुख विचार—१९८ वार्चारिक निष्कर्ष—१९९ ।

सोलहवीं शताब्दी तक समीक्षा क्षेत्रीय उपसम्प्रदाय—२०० ।

सत्रहवीं शताब्दी में इटैलियन समीक्षा—२ १ ।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी समीक्षा—२०४

बोदसो—२०४ परिचय तथा कृतियाँ—एक कवि का वैरिष्ठ नमर से असन्धिता, रोमी मायकों के सम्भाव काव्य कला—२०४ प्रमुख विचार तथा महत्त्व—२०४ अनुकरणात्मकता तथा यथार्थता—२ ५ काव्य कला—२ ५, आरम्भिक दृष्टिकोण—२०५, साध्य सिद्धान्त—२०६ ।

सत्रहवीं शताब्दी में स्पेनी समीक्षा—२ ६ ।

सत्रहवीं शताब्दी में जर्मन समीक्षा—२०८ ।

सत्रहवीं शताब्दी में ऑस्ट्री समीक्षा—२०९ ।

प्रारम्भिक समीक्षक—सर विलियम डेवर्नेट—२१२ परिचय तथा कृतियाँ—२१२, दि ट्रेजेडी आफ एस्कोवाइन दि न्यूएन वरर, दि प्योटानिक लवर्स दि बिट्स दि अमफ्रान्निट लवर्स सभ रैंड आनर, गॉडीवर्ट रोज आफ रोहड्स—२१३ प्रमुख विचार—२१३ ।

टामस हाथ—२१४ परिषय तथा कृतियाँ—२१४, मविषयन—२१४ डेसिब—२१४
हूमन मचर—२१४, डि कारपोर पोमिगको—२१४, डि हीमाइन—२१४ ।

जोन मिस्टन—२१५ परिषय तथा कृतियाँ—पैराडाइन साफ पैराडाइन रिगंड—
सिमसन एपास्टनीज—२१५ काव्य के तत्त्व तथा गुण—२१७ समीक्षा का तथ्य तथा
वायित्व—२१९ मिस्टन का महत्व—२१९ ।

एडाहम फाउली—२१७, परिषय तथा कृतियाँ—पिरेमस एण्ड मिस्वी कास्टेनिडा
एण्ड डिसेटस, सख राइडिस, गी फ्रेविएम ओ कुलेयर, दि मिस्टेस, मिसेलनीज बर्सेज
आन सवरन अकॅजॅस, दि एडवांसमेण्ट आफ एक्सपरीमेंटस फिनासकी ए डिस्कोर्ट बाई
वे आठ बिजन कंसनिय आनिबर कामवेस—२१७ ।

आन डाइडन—२१८ परिषय तथा कृतियाँ—दि बाइस्ड गैसैट—दि राइक्स सेटीज
एस आफ इमेटिक पोयगी अपान दि डेय आफ सार्ड हेस्टिंग्स टू माई सार्ड चांसलर—
बर्सेज टू हर रायस हाइनेज, दि उजेज आफ यार्क, डिडेनिया रेडविद्या, ए पेनेनेरिकल पोयम
टू दि मेमोरी आफ दि काउटेस आफ एंबिचम, एन ओड आन दि डेय आफ मि० हुनरी
पर्सले, दि सेफ्यूसर मास्क, दि पिरियम डीक्रेट लव दि मीडेन क्वीन, सर मार्टिन मेर आन,
मि फंड इमोर्सेम दि एसाइनेशन, दि स्टेट आफ इमोर्सेज एंड फाल आफ मैन दि काइड
कीरट, ए लाइफ आफ प्लूटार्क लाइन्ड आफ लूसियन—२१८, काव्य सिद्धान्त—२१९,
काव्य और समीक्षा—२१९, काव्य में कल्पना और संपादन—२२०, काव्य और
महाकाव्य—२२० नाटक—२२१ हास्य रचना तथा प्रहसन—२२१ कला और चित्रकला
आदि—२२२ अनुवाद की कला—२२२ समीक्षारमक प्रतिभा—२२३, डाइडन का
मृत्योत्सव—२२४ ।

टामस राइसर—२२६ प्रमुख विचार—२२६ ।

अथ समीक्षा—टामस स्पीट—२२७ एडवर्ड फिलिय—२२७ बिलियम बिस्तेमनी—
२२७ सैफडेन—२२७ ।

सर बिलियम टेपुल—२२८ परिषय तथा कृतियाँ—एस अपान दि प्रजेक्ट स्टेट आफ
आयर लैंड, आइरलेण्ड अपान दि गौवरनेन्स दि एडवांसमेंट आफ ट्रेड इन आयरलैंड—
मिस्सीनिया—२२८ ।

रिचर्ड बीटली—२२८, परिषय तथा कृतियाँ—२२८ ।

१०] समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विविध प्रवृत्तियाँ

सोलहवीं शताब्दी तक फ्रांसीसी समीक्षा—१०१ विषय क्षेत्र—१९१ काव्य का स्वरूप—१९२ भाषण साहित्य—१९२ ।

सोलहवीं शताब्दी तक इटैलियन समीक्षा—१९३ नवयुग का प्रवर्तन शास्त्र—१९३ दिवादन कामेडी—१९३ महाकाव्य का स्वरूप—१९३ ।

पेट्रार्क—१९४ प्रमुख विचार—१९४ ।

अन्य विचारक—बीडा—१९४ डैमीनियो—१९४ केस्टेनवेट्रो—१९४ वेट्टिनी—१९४ पालिटियन—१९४ मिनटर्नी—१९४ युगीन मान्यताएँ—१९५ ।

सोलहवीं शताब्दी तक स्पेनी समीक्षा—१९५ इसिडोर का आन्तिगास—१९५ काव्य पर विचार—१९६ ।

अन्य समीक्षक—१९६, आबेय्नेस—१९७ ।

विचारक सत्त—१९७ प्रमुख विचार—१९७ ।

सुई बिबे—१९८, प्रमुख विचार—१९८ वैचारिक निष्कर्ष—१९९ ।

सोलहवीं शताब्दी तक समीक्षा क्षेत्रीय उपसमिक्षियाँ—२०० ।

सत्रहवीं शताब्दी में इटैलियन समीक्षा—२०१ ।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी समीक्षा—२०४

बोयसो—२०४ परिचय तथा कृतियाँ—एक कवि का पैरिस नगर से बलबिदा, रोमी नायकों के सम्बाद काव्य कला—२०४ प्रमुख विचार तथा महत्त्व—२०४ अनुकरणात्मकता तथा यथार्थता—२ ५, काव्य कला—२ ५, शास्त्रीय दृष्टिकोण—२०५, नाट्य सिद्धान्त—२ ६ ।

सत्रहवीं शताब्दी में स्पेनी समीक्षा—२०६ ।

सत्रहवीं शताब्दी में जर्मन समीक्षा—२०८ ।

सत्रहवीं शताब्दी में डैचेनी समीक्षा—२०९ ।

प्रारम्भिक समीक्षक—सर विलियम डेबनेट—२१२, परिचय तथा कृतियाँ—२१२, दि ट्रेजेडी थाफ्ट एम्बोवाइन दि क्लूएल कवर, दि प्लेटानिक सबर्स, दि स्ट्रिड दि अनफ़र्गुनिट लवर्स लव ऐंड आनर, गॉडीवर्ट रोज थाफ्ट योइस—२१३ प्रमुख विचार—२१३ ।

टामस हान्स—२१४ परिषद तथा कृतियाँ—२१४, मविमेयन—२१४ ड्रेसिङ—२१४
हुमन नेबर—२१४, दि कारपोर पोसिगको—२१४ दि ह्यूमाइन—२१४ ।

बोन मिस्टन—२१५, परिषद तथा कृतियाँ—वीराहाइज मास्ट वीराहाइज रिगेड—
सैमसन एवास्टीज—२१५, काव्य के तत्व तथा गुण—२१५ समीक्षा का समय तथा
वापिस—२१६ मिस्टन का महत्व—२१६ ।

एडाइन फाउली—२१७ परिषद तथा कृतियाँ—प्रीमस एन्ड मिस्त्री कास्टेनिटा
एन्ड क्लैटस, लब्ध राइडिस, ली फेकिएम जो कृमेयर दि मिस्ट्रेस, मिसेलेनीज, सर्वेज
आन सबरन जर्नेल, दि एक्वांसिमेण्ट आक एक्सपेरीमेटस किनासकी ए डिस्कोर्स बार्ड
५ आक बिजन वंसनिंग आसिबर कामबेस—२१७ ।

आन हाइडन—२१८ परिषद तथा कृतियाँ—दि आइडन गैलरी—दि राइडल सेटीज
एव आफ डामटिक पोयसी, अपान दि डप आक साइ ह्विस्टिङ टु मॉई लॉर्ड थॉसलर—
वर्सेज टु डूर रायल हाइमेन, दि उबेज आक यार्क, डिटेनिया रेडेबिया ए वैनेगेरिकल पोमस
टु दि मेमोरी आक दि बॉउटेस आफ एबिडम, एन बीरिड आन दि डप आक मि० हेनरी
पर्सले दि सेक्यूलर मास्क, दि पिरिडम, सीक्रेट सव दि मैडेन क्वीन, सर माटिन मूर आस,
दि फीड इनोसेंस दि एसाइनेशन, दि स्टंट आफ इनोसेंस ऐंड फास आक वैन दि काइड
कोर, ए साइड आफ प्लूटार्क साइड आफ सुमियन—२१८, काव्य सिद्धान्त—२१९
काव्य और समीक्षा—२१९, काव्य में कल्पना और स्यात्मकता—२२०, काव्य और
महाकाव्य—२२०, नाटक—२२१ हास्य रचना तथा प्रहसन—२२१ कला और चित्रकला
आदि—२२२ अनुवाद की कला—२२२, समीक्षारमक प्रतिमा—२२३, हाइडन का
मूल्यांकन—२२४ ।

टामस राइमर—२२६ प्रमुख विचार—२२६ ।

आम समीक्षा—टामस स्ट्रीट—२२७ एडवर्ड फिलिप—२२७ विलियम बिस्नेमनी—
२२७ लेंगवेन—२२७ ।

सर विलियम टेपुस—२२८ परिषद तथा कृतियाँ—एले अपान दि प्रेजेंट स्टेट आफ
आयर लैंड, आन्डरबर्गस अपान दि नीडरलैंड्स दि एक्वांसिमेण्ट आफ ट्रेड इन आयरलैंड—
मिससीमिया—२२८ ।

रिचर्ड बीटली—२२८ परिषद तथा कृतियाँ—२२८ ।

[illegible]

यस समय कोर सङ्ख्या—२२९, ५५५ विचार—२२९।

अनन्तपुत्री दण्ड्याः य इति तेन सखीया—२३० ।

अट २५' दृष्टी से फाहोमी समीक्षा—२३१ ।

४३२४५६७८९१०१११२१३१४१५१६१७१८१९२०२१२२२३२४२५२६२७२८२९३०३१३२३३३४३५३६३७३८३९४०४१४२४३४४४५४६४७४८४९५०५१५२५३५४५५५६५७५८५९६०६१६२६३६४६५६६६७६८६९७०७१७२७३७४७५७६७७७८७९८०८१८२८३८४८५८६८७८८८९९०९१९२९३९४९५९६९७९८९९

मन्त्रादयो दत्ताभ्यो ये जपेन समीक्षा—५४ ।

अगरहो राजाजी में अंदेजी समीक्षा जॉन डनिस-२३३, परिचय तथा इतिहास
 रि एन्वाइरेन्ट ऐंड रिफारमेटिव आफ माडर्न पोपट्री बि प्राउड्स आफ क्रिटिसिज्म इन
 पोपरी-१मे अन्ड रि ओथियर ऐंड राइटिन्स आफ वेल्थपीयर-२१६, समीक्षारमक
 विचार-२३६ इतिहास के काम्य पर विचार २३६ ।

एकद्वैत विषय—२३७, प्रमुख विचार—२३७।

२१८—२३७ चरसं विह्वल—२३७ सियोनार्थ वेवस्टेट—२३७ ।

श्रीरक्षक एकोदश—२३७ परिचय तथा कृतियाँ—२३७ काव्य पर विचार
 २३७६ काव्य से कविता उत्पत्ति—२३८, अन्तर्गत समीक्षात्मक विचार—२३९, नाट्य कला
 श्रीरक्षक १३—२४० ।

॥१॥ रिचर्ड स्टील—१४० परिचय तथा कृतिमा—२४० ।

अनीसख एवम्बली—२४१, परिषय तथा कृतिर्या—२४१ ।

भोलेबन सिक्क—२४१ परिचय—२४१ ।

एसेम्ब्लर पोप—१४२, पवि- १४२ एय ज्विग्म—१४२
पोप के प्रमुत दिवार—१४४ और बान—
१४४।

मोयर—२४५, प्रमुख ।

आफ्नै विटिबिम्ब—२४१ ।

विम्ब इरिस—२४६ प्रमूख

जान घासन—२४६ प्रमुख कृतियाँ और विचार—२४६, जिससेमान मान दि राइन
आफ पोमट्टी—२४६ हिस्ट्री आफ दि राइन ऐंड प्रोवेस आफ पोमट्टी—२४६ ।

डॉ० समुएल जामसन—२४७ परिचय और कृतियाँ—२४७ लाइव्स आफ दि
पोमट्टस—२४७ जामसन का समीक्षा व्यक्तित्व—२४८ नाटक विवेचन—२४८ प्रिफेस
टु दि सेक्सनीयर—२४९ काव्य विचार—२४९, जामसन का महत्व—२५० ।

आधुनिक युगीन इटैलियन समीक्षा—२५१ काव्य का आनिर्भाव—२५२, एस्वे-
टिक्स—२५२, कल्पना और अभिव्यक्ति—२५३ ।

आधुनिक युगीन फ्रांसीसी समीक्षा—२५४ ज्याँ पॉल सार्त्र—२५६ सेन्सक और
बदि—२५६, ज्ञान पर विचार—२५७ गद्य की कला—२५७ अन्य विचार—२५८ ।

आधुनिक युगीन स्पेनी समीक्षा—२६० ।

आधुनिक युगीन जर्मन समीक्षा—२६१ ।

आधुनिक युगीन रूसी समीक्षा—२६२ ।

आधुनिक युगीन अमेरिकी समीक्षा—२६३, हिनरी जेम्स—२६७ ।

आधुनिक युगीन जपानी समीक्षा—२७४ ।

सेमुअल टैलर कासट्रि—२७६, प्रमुख विचार—२७६ ।

टामस कारसाइल—२७७, प्रमुख विचार—२७७ ।

मैथ्यू आर्लसह—२७८, प्रमुख विचार—२७८ ।

आई० ए० रिचर्ड्स—२७९, प्रमुख विचार—२७९, मुख्य तथा भाव प्रेषण—२८०
भाषा और विचार—२८० समीक्षारमक विचार—२८१ ।

टी० एस० इलियट—२८४ प्रमुख समीक्षारमक विचार—२८४ ।

ई० ए० फ्रार्स्टर—२८७ प्रमुख विचार—२८७ ।

अध्याय ३

संस्कृत समीक्षा शास्त्र का विकास और विविध सिद्धान्तों का स्वरूप पु० २१५ पृ० १ ।
प्राचीन संस्कृत समीक्षा शास्त्र का विकास—२९७ ।

मरत मुनि—२९८ रचना और काल—२९८ नाट्य शास्त्र—२९८, रस विवेचन—२९९ रस का महत्त्व—२९९, रस का विभाजन—२९९, भाव वर्णन—३०० रस और भाव—३०१ रस की उत्पत्ति—३०१ रस वर्ण—३०२, रस वर्णन—शुंगार—३०३ हास्य—३ ३ कथन—३०३, रीति—३०४, वीर—३०४, भवानक—३०४ नीमल—३०४ अद्भुत—३०४ ।

मर्मकार विवेचन—३ ५, उपमा उपमा के भेद प्रशंसा निम्ना कल्पित छद्मगी, किंचित उद्गृहीत कृष्ण वीरक यमक—३ ६ । काव्य के दोष गूढार्थ अर्थात्तर्क अर्थहीन निम्नार्थ एकार्थ अभिसुप्तार्थ व्यापकेत विषयम विसंज्ञि छद्म श्रुत—३०६ । काव्य के गुण—स्तेय प्रभाव समता समाधि माधुर्य ओज पद-वीर्यमार्थ वर्ण व्यक्ति, उदात्तता कान्ति—३०७ । अतिशय प्रकार—आंगिक बाह्यिक आहार्य सार्विक—३०८ । नाटक का चार वृत्तिमाँ—मारुती आचमनी कीर्तिता मारमरी—३ ० । नाट्य प्रवृत्तिमाँ—आचमनी दक्षिणस्या ओद्गमागयी पांचमी मध्यमा—३०८ । महत्त्व और प्रभाव—३०९ ।

अन्य आचार्य—३ ९, मेवाजी—३०९ मटि—३१ राजनरुचि—३१० ।

भामह—३१० रचना और काल—३१०, काव्यालंकार—३१०, काव्य-साधन—३१० काव्य सज्जन—३११, काव्य के भेद—३११ महाकाव्य—३११ नाटक—३१२ कथा—३१२, माया—३१३ भेदों और गौडीय भेद—३१३ दोष वर्णन—३१४ गुण वर्णन—३१४, महत्त्व—३१४ ।

बंजी—३१३, रचना और काल—३१३, काव्यालंकार—३१३, काव्य के भेद—३१३, महाकाव्य—३१३, महा काव्य के भेद—आचमनिका कथा चंपू—३१७ काव्य की रीतिमाँ—३१८ काव्य के गुण—३१८ काव्य के दोष—३१८, काव्य के हेतु—३१८ मर्मकार विवेचन—३१९ महत्त्व—३२० ।

तदुमट—३२० रचना और काल—३२०, काव्यालंकार सार संग्रह—३२०, भामह विवरण—३२० कुमार संमर काव्य—३२१ मर्मकार विवेचन—३२१ रस—शुंगार, हास्य कथन रीति और, भवानक नीमल अद्भुत छाँट—३२१ महत्त्व—३२१ ।

वामन—३२२ रचना और काल—३२२, काव्यालंकार सूत्र—३२२ काव्य और मर्मकार—३२२, काव्य का प्रयोग—३२३ काव्य के अधिकारी—३२३ काव्य की

रीतिर्या—३२३ रीति के भय, वैदर्भी गौड़ी पांजाबी—३२४ । काव्य के अंग—३२४
काव्य के भेद—३२४ ।

रस—३२३, रचना और रस—३२३, काव्यात्मिकार—३२९, काव्य का प्रयोग—
३२९ काव्य क हनु—३२७ अलंकारों का वर्गीकरण—३२८, वास्तव—३२८ औपम्य—
३२८, अतिशय—३२८ उपप—३२८ महत्व—३३० ।

मानन्दार्जन—३३० रसमा और काल—३३० अन्यत्वात्—३३० अग्नि की
स्थिति एवं स्वभाव विशेषण—३३१ अग्नि के भेद—३३२, प्रबन्ध काव्य में रसाभि-
व्यञ्जना—३३२, रस के विरोधी तत्व—३३३, प्रबन्ध काव्य में अंगी रस—३३३ मृगार
का प्रमुख रसत्व—३३४ मुनीयून व्याप—३३४ चित्र काव्य का स्वरूप—३३५, कवि
प्रतिभा—३३५, महत्व—३३६ ।

अग्निवत् कुण्ड—३३६ रचना और काल—३३६, अग्निवत् भारती—३३६ तन्वासीक
—३३६ परमावधार—३३६ प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी—३३६ वाक्य कीटुक विवरण—
३३६ भरत सूत्र की व्याख्या—३३७ अग्निवत् का महत्व—३३७ धाम्नि रस—३३८,
अग्न रस—३३८ महत्व—३३८ ।

राजसेनार—३३९, रचना और काल—३३९, कर्तुर धर्मरी—३३९, विष्णुदास
भंडिकार—३३९, राम रामायण—३३९, वास यत्—३३९ प्रबंध पांडव—३३९ काव्य
मीमांसा—३३९, काव्य की रचना और स्वरूप—३३९ कवि प्रतिभा और आलोचन—
३४१, प्रतिभा और व्युत्पत्ति—३४२, काव्य पाठ—३४४ पाठ के भेद—३४४ काव्यार्थ
—३४५, धर्मार्थ हरण—३४६ महत्व—३४६ ।

मुकुट भट्ट—३४७ अधिपानुति नाटका—३४७ ।

धर्मजय—३४७ रचना और काव्य—३४७, धर्मरूपक—३४७ काव्य के भेद—३४८,
नाटक—३४८, प्रकरण—३४८ माण—३४८ महत्तम—३४८ द्विप—३४८ व्यापक—
३४८, उपलकार—३४८ बीपी—३४८ अंक—३४८ ईहामृत—३४८, नृत्य और नृत्त—
३४८ । रूपक के आधार—३४८ वस्तु—३४८, वेता—३४९, रस—३४९ दिग्भाष और
उपके भेद—३४९, स्वादी भाष—३४९ रस और धर्म शक्ति—३४९ रसास्वाद और
उपके भोक्त—३४९ काव्य में स्वातोद्भूति और रस संख्या—३४९, महत्व—३४९ ।

मृदु लीट—३२२ काव्य कीतुक—३२३ ।

मृदु नायक—३२३ हृदय वर्णन—३२३ ।

मुक्तक—३२३, रचना और काल—३२३, व्यक्ती काव्य जीवितम्—३२३ काव्य का प्रयोजन—३२४, काव्य में असंस्कार तथा असंस्कार्य—३२४, काव्य तथा साहित्य—३२४ साहित्य का स्वरूप—३२५, व्यक्ती—३२५, स्वभावोक्ति मिश्रकर—३२५, महत्त्व—३२५ ।

महिम मृदु—३२६ रचना और काल—३२६ व्यक्ति विशेष—३२६ काव्य का स्वरूप—३२६ अर्थ प्रकार—३२७ व्यक्ति का परधर्मानुमान में जनमर्मा—३२७ अर्थ व्यक्ति का सख्त एवं भेद—३२८ काव्य का स्वरूप—३२८, अभिवा स्वाप्ता—३२८, महत्त्व—३२८ ।

मोक्ष—३२९, रचना और काल—३२९, सरस्वती कठारन—३२९, शृंगार प्रकाश—३२९ वाक्य मय के मय—३२९ काव्य शास्त्र इतिहास काव्य शास्त्र काव्येतिहास शास्त्रेतिहास, काव्य काव्य—३३ । आशी, नाथी नमस्कार, वस्तु निर्देश अक्षिप्त, प्रुवा—३६ । प्रबन्ध का स्वरूप—३६ प्रबन्ध सी-पी-मुक्त, प्रतिमुक्त गमं अवसर, निर्वाह, प्रथम काव्य—३६१ कव्य काव्य के मय—सात्य, तांडव अक्षिप्त, सम्या हस्तीसक तथा रासक—३६२ । अन्य भेद—व्यक्ती, रसोक्ति, स्वभावोक्ति—३६२ । रस योजना की विभूतिर्मा-भाव अन्य अनुबन्ध मिश्रति, पुष्टि—संकर—३६२, हवास—३६२ आमास—३६२, घाम—३६२, सेप—३६२, विसेप—३६२, परिसेप—३६२, विप्रसन्न—३६२ संभोप—३६२ भेष्टार्थ—३६२, परिशिष्टिया—३६२ मिश्रति—३६२, प्रकीर्ण—३६२, प्रय—३६२, पुष्टिया—३६२, नायिका नायक मुक्त—३६२ पाकावि—३६२, प्रेम भक्ति—३६२, नामालंकार संशुष्टि के प्रकार—३६२ । प्रेम की महाभक्तिपौरुषत्व नैमित्तिक, सामान्य, विशेष प्रबन्धन, प्रकाश कृत्रिम अकृत्रिम सहज आहार्य यौवनक तथा विसमयक—३६२ प्रेम पुष्टिया-वस्तु प्रीष्टि मय संग बारबार संस्कार प्रसाप बायरन कृपाता अन्य विषयों में भरति सज्जा, विसर्जन व्याधि उग्राव मुष्करी तथा बायरन—३६३ रति—३६३ रीति—३६४ रीति के प्रकार—वैदर्भी पाँचसी गौड़ीया मार्भतिका लाटीया, तथा नायकी—३६४ अरीतिमत् बोध—३६५, भेद—अरर प्रभान अरीतिमत् बोध अर्थ प्रभान अरीतिमत् बोध उभय प्रभान अरीतिमत् बोध—३६५, महत्त्व—३६५ ।

मम्मट—३६६, रचना और काल—३६६, काव्य प्रकाश—३६६, काव्य प्रयोजन विचार—३६७ काव्य हेतु विवेक—३६७, काव्य स्वरूप निकषण—३६८, काव्य के भेद—३६९ उत्तम अथवा ध्वनि काव्य, मध्यम अथवा गुणीयुक्त काव्य, अधर अथवा शिव काव्य—३६९, रस निष्पत्ति—३६९, काव्य शेष का स्वरूप—३७०, काव्य गुण का स्वरूप—३७०, मुग और अलंकार का भेद—३७०, प्रमुख काव्य गुण—३७१ काव्यगत छन्दों के भेद, वाक्य रूप छन्द प्रकार, सांज्ञिक रूप छन्द प्रकार, व्यञ्जक रूप छन्द प्रकार—३७१, विविध अर्थार्थ-आध्यात्मिक अर्थार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ—३७१, संकेतित अर्थ आति रूप अर्थ, गुण रूप अर्थ क्रिया रूप अर्थ इच्छा रूप अर्थ—३७२ छन्द रूप काव्योपकरण—३७३, छन्द की उपाधियाँ-आवकता, सांज्ञिकता, व्यञ्जकता—३७३, अर्थ रूप काव्य साधन—३७३ सामान्य साधन, अकारणक माध्यम—३७३ महत्त्व—३७३ ।

लोमेन्द्र—३७४, रचना और काल—३७४, औचित्य विचार वर्ण—३७४, औचित्य निष्पन्न—३७४, औचित्य का स्वरूप—३७४, पर औचित्य—३७४, काव्य औचित्य—३७७ प्रबन्ध औचित्य—३७७, मुग औचित्य—३७७, अलंकार औचित्य—३७७, रसीचित्य—३७७ छन्द औचित्य—३७७ छन्द औचित्य—३७७ स्वभाव औचित्य—३७७, प्रतिभा औचित्य—३७८, महत्त्व—३७९ ।

सागरनन्दी—३७९ ।

द्व्यक—३८०, उद्भूत विवेक या उद्भूत विचार—३८०, अलंकार सर्वस्व—३८० ।

मंजक—३८०, अंकित चरित—३८० ।

हेमचन्द्र—३८१, काव्यानुशासन—३८१, अलंकार वृत्तामयि—३८१ ।

रामचन्द्र तथा मुग चन्द्र—३८१, नाट्य ३८१—३८२ ।

बागमट्ट (प्रथम)—३८२, बागमट्टाङ्गकार—३८२ ।

अपवेक—३८२, अत्रासोक—३८२ ।

धारवाहनय—३८२, नाव प्रकाशन—३८३ ।

भानुवत्त—३८३ रस तरंगिणी—३८३ रस मञ्जरी—३८३ अलंकार शिल्प—

३८३ ।

विद्यापद—३८३ एकावली—३८३ ।

विश्वनाथ-३८४ रचना और काम-३८४, पुष्पमाता-३८४ अपार्ण-३८४
साहित्य दर्पण-३८४, काव्य फल-३८४, काव्य का स्वरूप-३८४ वाक्य का स्वरूप-
३८४, वाक्य के भेद-३८४, वाक्य और महावाक्य-३८४, काव्य का प्रकार-गद्य और
पद्य-३८४, महाकाव्य-३८४, पद्य काव्य-३८४ मुक्तक-३८४ वृत्त गणित-३८४,
उत्कृष्टिका प्राय-३८४ चूर्णक-३८४ रस का स्वरूप-३८४ महत्त्व-३८४ ।

द्योमाकर मित्र-३८९, अलंकार रत्नाकर-३९० ।

विद्यानाथ-३९०, प्रताप खयशोभूपण-३९० ।

वाग्मट्ट (द्वितीय)-३९०, काव्यानुशासन-३९० ।

अप्य कीर्ति-३९१, कुसुमायन-३९१ वृत्ति वाचिक-३९१ विष्णुमीमांसा-

३९१ ।

अगस्त्य-३९१, रचना और काम-३९१, रस रत्नाकर-३९१, काव्य
संक्षेप-३९२, काव्य की क्रमा-३९२ काव्य हेतुक प्रतिभा-३९२ काव्य के भेद-उत्त
मोत्तम काव्य-३९३ उत्तम काव्य मध्यम काव्य-३९३, ध्वनि काव्य के भेद-
अनिवादात्मक ध्वनि काव्य-३९३ लक्षणात्मक ध्वनि काव्य-३९४ अनिवादात्मक ध्वनि
काव्य के भेद-रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि-३९४, लक्षणात्मक
ध्वनि काव्य के भेद-अर्थांतर लक्षित वाक्य तथा अत्यन्त विरक्त वाक्य-३९४
रस विवेचन-शृंगार, कदम्ब, छाँट, रीति और, अद्भुत हास्य यवानक तथा बीमल
-३९४ अलंकार निरूपण-उपमा उपमेयोपमा अनन्वय अक्षर उवाचरण स्वरण रूपक,
परिचाम, छंदेह आदिमान, अक्षर अपनुति उत्पत्ति अक्षरयोक्ति, दुस्प्रयोगिता दीपक
प्रतिबन्धुपमा दृष्टांत निवर्तना व्यतिरेक, सङ्कोच, विनोक्ति, समप्रोक्ति, परिकर, स्तव
अप्रस्तुत प्रसंसा पर्यायोक्ति, व्यावस्तुति आलोप विरोध विभाषना विधेयोक्ति, अवर्णित
विषय सम विधि, अधिक अप्योक्त विधेय, व्यापक कारणमाता एकावसी छार,
काव्यतिग अर्थांतरमात्र अनुमान, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्त परिसंख्या अर्थाति
विकल्प समुच्चय समाधि प्रयत्नीक प्रतीप, प्रोक्षोक्ति, समित प्रहृषण, विपक्ष उक्ताव
अवज्ञा अनुज्ञा विरक्तार, भेद तरङ्गुण-३९४, अतद्भुज, भीमिह, सामान्य उत्तर
-३९४, महत्त्व-३९४ ।

केदार मिश्र-३९४, अलंकार सेखर-३९४ ।

विश्वेश्वर पंडित—३९६ अर्चकार कौस्तुभ—३९६, अर्चकार मुक्तावली—३९६, रस
चंद्रिका—३९६, अर्चकार प्रदीप—३९६, अर्चकार कौस्तुभ—३९६ ।

मध्य भाषा—३९६ अमरचंद्र तथा अमरसिंह—काव्य कल्पलता—३९६
देवदत्त कवि—कल्पलता—३९६ प्रद्योत मठ—पारशराम टीका—३९६, रूप गोस्वामी—
उत्तराध्यायमणि मातृक चंद्रिका अक्षरशास्त्रसिद्धि, विदग्धभावक उत्तरिकावली—३९६,
गोस्वामी कर्णपुर—अर्चकार कौस्तुभ चिरक टीका—३९६, श्यामाकर—अर्चकार रत्ना-
कर—३९६, नाथेश मठ—रसमञ्जरी रसवर्णाकर टीका काव्य प्रकाश टीका, कुवलयानंद
टीका—३९६, बाबावर मठ—लोचिदास, विवेचिका अर्चकार दीपिका—३९६, मरसिंह
कवि—नवरात्रमधोपपन्न—३९६ कल्याण मुद्रहृदय—अर्चकार कौस्तुभ—३९६,
दानराज—अर्चकार चिन्तामणि—३९७, देवदत्त मंडूवा—३९७ भीमसेन—अर्चकार
सारोद्धा—३९७, यज्ञेश्वर दीक्षित—अर्चकार सौख्य—३९७, मठ गोपास—साहित्य
चूडामणि—३९७, श्रीनिवास—काव्यसार संग्रह—३९७ हृदयसागर—काव्याय मुक्त, काव्या-
मोक्त—३९७, धर्मराज—अक्षरमयकौस्तुभ, अर्चकार मञ्जरी—३९७, वैकुण्ठदासी—
अर्चकार सुवासिष्ठ, रस प्रबंध—३९७, माधव—साहित्य कल्पद्रुम—३९७, अष्टमराज
मोक्त—साहित्यसार, कृष्ण मुनी—काव्य कलाविधि—३९७, कल्याणेश्वर दीक्षित—रामचन्द्र
मधोपपन्न—३९७, राजेश्वर—अर्चकार अक्षर—३९७, अर्चकार सास्त्री—नेत्रदीप
पण्यर्क कौस्तुभ—३९७ ।

अध्याय ४

रीति कालीन हिंदी कवीका शास्त्र का विकास और विविध छिद्रांशों का स्वरूप
पृ० ४०१—४००

हिन्दी समीक्षा शास्त्र की आचारभूमि—४०१ ।

देवदत्त के पूर्ववर्ती भाषा—४०१, पुंड्र भाषा पुष्प—४०१ हारा—४०२
हितवर्धनी—४०२, गोपा अथवा गोप—४०२ रामचंद्रमूषक, अर्चकार चंद्रिका—४०२,
मोहनदास मिश्र—गुंवार सागर—४०२ मध्य भाषा—रस मञ्जरी—४०२ करन—करना
भरत, मुक्तिमुक्ता मूष मूषक—४०२ ।

कैसबदास—४०९, परिचय तथा हस्तियाँ—विज्ञान गीता, कवि प्रिया, रामचंद्रिका
 रसिक प्रिया रामासंकुश भजरी रत्न भावनी बह्मवीरअसचंद्रिका बीरसिंह देव चरित—
 ४०९, कविता के प्रकार—उत्तम मध्यम तथा अधम—४११ कवि रीति वर्णन—४११
 काव्य-शेष वर्णन—अन्ध बधिर, पंगु, गन्ध, मृतक अंग, हीनरस, मति भंग व्यर्थ यथार्थ
 अपार्थ, हीनकर्म कर्ष-कटु, पुनरुक्ति, देशविरोध कास विरीच, भोक विरोध स्वाय
 विरोध तथा आपस विरोध—४१२ रस शेष वर्णन—प्रयत्नीक मीरस विरस कुसुमदान
 तथा पाव दुष्ट—४१२, अलंकार वर्णन—साधारण विशिष्ट, साधारण अलंकार के भेद—
 वर्णालंकार, वर्णालंकार, भूमिका वर्णन तथा राग्य बी वर्णन—४१३ विद्यालंकार—
 स्वभाव, विभावना हेतु, विरोध उल्लेख आखेप कम यगना आधिष प्रेमा स्नेह,
 सुख मेघ निदर्शना, ऊर्ध्वस्व, रसवत अर्थांतरम्यास व्यतिरेक, अपभ्रुति उक्ति व्यास
 स्तुति अमिठ पर्यायोक्ति युक्त समाहित सुसिद्ध प्रसिद्ध विपरीत कथक दीपक
 प्रहेलिका, परवृत्त उपमा यमक तथा विचारलंकार—४१४ १ रस विवेचन—
 शृंगार, हास्य कवच, रोष बीर, भवानक बीररस, अद्भुत तथा सति—४१५ १
 नायक भेद—अनुसूत वसिष्ठ, छठ तथा बच्छ—४१५ १ नाति शृंगार नायिका
 भेद—पद्मिनी, चिचिनी, पंजिनी तथा हस्तिनी—४१६ १ अन्य नायिका प्रकार—स्वकीया
 परकीया तथा सामान्या—४१७, युग्मा मध्या बीर प्रीति—४१८ अनिवारिका
 स्वाधीनपठिका उल्का वातकस्यया अनिर्दिष्टा अहिता प्रोषित पठिका विप्रसम्भा—
 ४१८ उत्तमा मध्यमा तथा अधमा—४१८ १ रस के भंग—४१९, भाव—स्वायी भाव
 विभाव अनुभाव सार्विक तथा अविचारी भाव—४१९, स्वायी भाव—रति हास
 शोक श्रेय, उत्साह भय निहा तथा विस्मय—४२० सार्विक भाव—स्तम्भ
 स्वेद रोमांच सुरज्वल कप वैषर्ष अमु तथा प्रसाप—४२ संघाटी भाव—निवेद ग्लानि,
 शंका आलस्य ईर्ष्य मोह स्मृति वृत्ति, क्रीड़ा अपघता भय मय चिन्ता मोह, गर्व हर्ष
 आवेग, निद्रा विनाश भङ्गता/उत्कर्षा स्वप्न प्रबोध विषाद अपस्मार, वृत्ति, उग्रता,
 आसुतर्क व्याधि सम्पाद, मरण तथा मय—४२० १ हास के भेद—हेला लीला, ललित मय
 विभ्रम, मिथित विलास किसचित् विशिष्टि विष्णोय मोहायत कुटुमित तथा बोध—
 ४२० १ विमोह शृंगार के भेद—पूर्वाश्रय केवण पार्थ तथा प्रवास—४२१ १ विमोह शृंगार
 की रक्षा—अभिभाषा, चिन्ता युक्त कवच स्मृति उल्लेख, प्रसाप सम्पाद व्याधि, अङ्गता
 तथा मरेव—४२१ १ माग भोजन के उपाय घाम शाम भेद प्रकृति, उल्लेख तथा प्रसङ्ग
 विमोह—४२१ १ उर्ध्व वर्णन—बाय जनी नाहन नटी परीक्षित यालिन बरहण चिस्मिन
 बुद्धिारी शृंगारिन रामजनी, सम्पादनी बीर पटव की स्त्री—४२२ १ सही कर्म वर्णन

४२२ : अन्य रस-हास्य रस के भेद-संघ हास, कल हास, वृत्तिहास तथा परिहास-४२२ ।
४२२ : अन्य रसों का स्वरूप-४२३ ।

गुप्तर कवि-४२३ परिषय तथा वृत्ति-गुप्तर गृंगार-४२३ । अनुगम्य के प्रकार-दृष्टानुगम तथा श्रुतानुगम-४२३ ।

विस्तारविधि-४२४ परिषय तथा वृत्ति-४२४ काव्यविवेक काव्य प्रकार, कविद्वयव्यवहार रस संज्ञा तथा विषय-४२४ । काव्य का स्वरूप-४२५, काव्य के भेद-गद्य और पद्य-४२५, उत्तम मध्यम तथा अधम-४२५ । काव्य गुण-४२५ । काव्य के गुण-माधुर्य और प्रसाद-४२६ । रस-विरूपण-४२७ । काव्य दोष-अश्लेष दोष-भ्रुतिषट्, अनुत संस्कृति अप्रयुक्त, अप्रयत्न मिहता, अनुविचार्य निरर्थक अनावक अक्षरीय संविषय अप्रतीति साम्य वेपार्थ विषष्ट तथा विरहपति-४२८, आवयपत दोष-प्रतिक्रमाकार, इतकृत म्यून पद अविक्त पद कथितपद, पदप्रकर्ष सनाप्यपुनरावृत्ति, अनावयत पद अयवयवत दोष अकथित वाक्य अस्वात्मस्वरूप, संकीर्ण, यमित, प्रविज्ञाहसन अमकम अकथ तथा अवयवपर्य-४२९, अवयवत दोष-अपुष्ट, कष्ट, व्याप्त पुनरावृत्ति, साम्य अवयवित निर्दिष्ट, प्रविष्टि विरह अवयवित नियमहीन अनियमहीन, विषय हीन सामान्यहीन साकार अयवयुक्त, अह्वयमन्त्र, अकारित विरह व्यक्त्युक्त स्वीकृत तथा अक्षरीय-४२९ रसयत वाक्य वर्णन-४२९ । गृंगार रस के भेद-संघोष गृंगार और विप्रबंध गृंगार-४२९, विप्रबंध गृंगार के प्रकार-पूर्व पद्य मान प्रवास और कथन-४३० । मान के भेद-प्रत्ययात्मक तथा ईर्ष्यात्मक-४३० । और रस के भेद-वागवीर, पर्यवीर, युद्ध वीर तथा वया वीर-४३० । अर्थकार निरूपण-४३१ अर्थकारों के भेद-अवयवकार तथा अर्थकार-४३२, अर्थकार के भेद-उपमा आलोचना दर्शनोपमा, अनुभव उपमेयोपमा उल्लेख स्मरण रूपक, परिणाम संज्ञा प्रतिमान अप्रतीति अमल अतिशयोक्ति, समाशोक्ति, स्वभावोक्ति, व्याशोक्ति, उद्भाति, विमोक्ति, सामान्य, तद्वृत्त अतद्वृत्त विरोध विषय अपिक्त, विभावना विषयोक्ति, अवयवित विविध अर्थोक्त विषय सम मुख्ययोपिता दीपक भाषाविवेक प्रतिबस्तुपमा दृष्टान्त निदर्शना व्यतिरेक स्तंभ, परिकर, अर्थोक्त व्यास स्तुति, अप्रस्तुत प्रदर्शना अप्रतीति, प्रतीक अनुमान वाक्यानिव अप्रतिरूप्यावृत्ति अप्रतीति परितोषा उत्तर, समुच्चय समाधि भाषित व्यापार वर्णन आरम्भमाता एकावली परिकृति, प्रयत्नीक सूत्र, सार, उदात्त अर्थोक्त तथा संकर-४३२ । दृष्टान्त निरूपण-४३२ । अर्थ निरूपण-४३३ ।

केसवदास—४०९, परिचय तथा कृतियाँ—विद्यान पीता, कवि प्रिया, रामचन्द्रिका
रसिक प्रिया रामार्णव मंजरी, रतन बावनी जहाँगीर जसचन्द्रिका बीरसिंह देवचरित—
४०९ कवियों के प्रकार—उत्तम, मध्यम तथा अधम—४११, कवि रीति वर्णन—४११
काव्य-दोष वर्णन—अन्ध, बहिर, पंगु, लम्प, मृतक, अवन, हीनरस, मति मय व्यर्थ अथार्थ
अपार्थ, हीनकर्म कर्म-कट्ट पुनरुक्ति, देशविरोध काव्य विरोध लोक विरोध म्याय
विरोध तथा जागम विरोध—४१२ रस-दोष वर्णन—प्रयत्नीक, मीरस निरस दुःसम्मान
तथा पात्र दुष्ट—४१२, अलंकार वर्णन—साधारण, विशिष्ट साधारण अलंकार के भेद—
वर्णालंकार, वर्णालंकार, भूमिका वर्णन तथा राज्य की वर्णन—४१३, वितेपार्थलंकार—
स्वभाव, विद्यावता हेतु, विरोध उत्प्रेसा बालेप, क्रम पथना, आदिप प्रेमा, दक्षिण,
मुक्त सेव निवर्तना कर्मस्व, रसवत, अर्थान्तरन्यास व्यतिरेक, अपभ्रुति उचित व्याक-
स्तुति अमित पर्यायोक्ति मुक्त समाहित सुनिष्ठ प्रसिद्ध विपरीत रूपक दीपक
प्रहेलिका, परबुद्ध उपमा समक तथा विनाशक—४१४ । रस विवेचन—
शृंगार, हास्य कवच रीति मीर, अमानक बीमस, अद्भुत तथा छति—४१५ ।
नार्थक भेद—अनुकूल हर्षित, छठ तथा अष्ट—४१५ । आति अनुसार नायिका
भेद—पद्मिनी विभिन्नी, अक्षिणी तथा हस्तिनी—४१६ । अन्य नायिका प्रकार—स्वकीया
परकीया तथा सामान्या—४१७, मुग्धा मध्या और प्रीड़ा—४१८, अविचारिका
स्वाधीनपतिका इत्का, नासकपय्या अविशेषिता अक्षिता प्रोषित पतिका विप्रमन्त्रा—
४१८ उत्तमा मध्यमा तथा अधमा—४१९ । रस के अंग—४१९, भाव—स्वायी भाव
विभाव अनुभाव सारिक तथा व्यभिचारी भाव—४१९ स्वायी भाव—रति, हास
लोक श्रेय, उत्साह भय मित्र तथा विस्मय—४२०, सात्विक भाव—स्तम्भ
स्वेद रोमांच सुरमंग कंठ वीर्य अद्भु तथा प्रलाप—४२० छपाटी भाव—निवेद रसानि
छंका आनन्द, ईश्वर मोह स्मृति, वृत्ति, क्रीड़ा, वपसता अम मय चित्ता मोह, पर्व हर्ष
आवेन निद्रा, विषाद अङ्गता/अलंकार स्वप्न प्रबोध, विषाद अपस्वारे अति उपद्रवता,
आकतर्क व्याधि उन्माद, मरण तथा भय—४२ । हास के भेद—हैला लीला, ललित नव
विभ्रम मिहित विभास क्रिमभित् विच्छिष्टि विन्नाक मोहावत, कुटुम्बित तथा बोध—
४२० । विमोह शृंगार के भेद—पूर्वाश्रुतांग कंठन, मार्ग तथा प्रवास—४२१ । विमोह शृंगार
की दशाएँ—अभिभाषा, चित्ता बुध कवत स्मृति, उद्देग, प्रसाप, उन्माद व्याधि अङ्गता
तथा मरेक—४२१ । मान मीनन के उपाय राम राम भेद प्रवृत्ति, उत्प्रेसा तथा प्रसंग
विश्लेष—४२१ । सभी वर्णन—बाय जनी मानन कटी, परीक्षित मानिन बरहल चित्पिन
बुद्धिपटी सुनारिन रामजनी सम्प्राप्तिनी और पटवै की स्त्री—४२५ । सभी कर्म वर्णन

४२२ । अन्य रस-हास्य रस के भेद—मंद हास, कस सास, अतिहास तथा परिहास—४२२ ।
४२२ । अन्य रसों का स्वरूप—४२३ ।

सुन्दर कवि—४२३ परिचय तथा कृतियाँ—गुग्गर शृंगार—४२३ । अनुगमा के प्रकार—दृष्टानुराग तथा श्रुतानुराग—४२३ ।

विस्तारमयि—४२४ परिचय तथा कृतियाँ—४२४ काव्यविवेक, काव्य प्रकार, कविकुलनिरूपण, रस संबंधी तथा विषय—४२४ । काव्य का स्वरूप—४२५, काव्य के भेद—मद्य बीर पद्य—४२६, उत्तम, मध्यम तथा अधम—४२५ । काव्य पुरुष—४२५ । काव्य के गुण—माधुर्य और और प्रसाद—४२७ । रस-निरूपण—४२७ । काव्य दोष—अश्लेष दोष—वृत्तिद्वय, चतुर्विधवृत्ति अप्रयुक्त, अवयव निर्गुणार्थ अनुचितार्थ निरर्थक अवाचक अक्षतीव सतिव अप्रतीति धाम्य बेवार्थ, विविष्ट तथा विद्वद्वर्ति—४२९, वाक्यगत दोष—प्रतिक्रमांतर, इतकृत मूल पद अधिक पद कवित्वपद, पठप्रकर्ष समाप्तपुनरास, चरमंतर पद अत्यन्तमय और अकथित वाक्य अस्वाभाविकपद, सफीर्ण, मर्मित, प्रसिद्धाह्वन, अन्तकर्म, अक्रम तथा अनतपरार्थ—४२९, अर्थगत दोष—अपुष्ट, कष्ट व्याप्त, पुनरास, धाम्य संशयित निर्गुण, प्रसिद्धि विरुद्ध अवधीकृत नियमहीन अनियमहीन, विरोध हीन सामान्यहीन, साक्षात् अवयवपुष्ट, सहचरभिनय, प्रकाशित, विरुद्ध, त्यक्त्युग स्वीकृत तथा धर्षणीय—४२९, रसगत दोष वर्धन—४२९ । शृंगार रस के भेद—संयोग शृंगार और विप्रबंध शृंगार—४२९, विप्रबंध शृंगार के प्रकार—पूर्व राम मान, प्रसास और कथन—४३० । मान के भेद—प्रययोद्भव तथा ईर्ष्याद्भव—४३० । बीर रस के भेद—बानवीर, धर्मवीर युद्ध बीर तथा दया बीर—४३० । अस्कार निरूपण—४३१, अस्कारों के भेद—प्रत्याक्षकार तथा अर्थाक्षकार—४३१, अर्थाक्षकार के भेद—उपमा मामोपमा दर्शनोपमा, अनन्वय उपमेयोपमा उत्प्रेक्षा स्वरस रूपक, परिचाय छंदः प्रतिमान, अचनुति हस्तेक अतिप्रयाति, सचासोक्ति, स्वभासोक्ति, व्योमोक्ति, लोकोक्ति, विनोक्ति, धामन्य उपयुक्त अनयुक्त विरोध, विरोध अधिक, निमाननवा विरोधोक्ति, अर्थगति विविध अत्योच्य विषय राम तुल्योपमिता, वीरक, मामादीपक, प्रतिवस्तुपया दृष्टान्त निदर्शना व्यतिरेक दोष परिकर, व्यस्य व्याक-स्तुति अप्रस्तुत प्रथमा पर्यायोक्ति, प्रतीप अनुमान बाध्यासिध अवलितरम्यास दयासंख्य अर्थापति परिसंख्या उत्तर, समुच्चय समाधि भाविन व्यापात पर्याय चारणमाता एकावसी परिश्रुति, प्रयत्नीक सूचन, सार, प्रसास संलिप्त तथा संकर—४३१ । व्यस्योक्ति निरूपण—४३२ । ध्वनि निरूपण—४३३ ।

कम्य आचार्य—गोप—४३२ सुगति—४३३ । अस्मिन्—४३४, माया भूप—४३५ । अस्मिन्—४३६, फोड़ प्रकाश—४३७ । अस्मिन् तथा संज्ञा—४३८, नायिका मेह—४३९ । अस्मिन्—४४०, एन एनानी तथा एन विनास—४४१ ।

अस्मिन्—परिचय तथा कृति—४४२ अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन्, एन एन—४४३ ।

भूप—परिचय तथा कृति—४४४ अस्मिन् भूप, भूप हवा, भूप अस्मिन् तथा भूप अस्मिन्—४४५ ।

कृति अस्मिन्—परिचय तथा कृति—४४६ अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन् अस्मिन्, अस्मिन् अस्मिन्, एन एन—४४७ । अस्मिन् अस्मिन्—४४८ अस्मिन् अस्मिन्—४४९ अस्मिन् अस्मिन्—४५० अस्मिन् अस्मिन्—४५१ अस्मिन् अस्मिन्—४५२ अस्मिन् अस्मिन्—४५३ अस्मिन् अस्मिन्—४५४ अस्मिन् अस्मिन्—४५५ अस्मिन् अस्मिन्—४५६ अस्मिन् अस्मिन्—४५७ । अस्मिन् अस्मिन्—४५८ अस्मिन् अस्मिन्—४५९ अस्मिन् अस्मिन्—४६० । अस्मिन् अस्मिन्—४६१ अस्मिन् अस्मिन्—४६२ अस्मिन् अस्मिन्—४६३ अस्मिन् अस्मिन्—४६४ अस्मिन् अस्मिन्—४६५ अस्मिन् अस्मिन्—४६६ । अस्मिन् अस्मिन्—४६७ । अस्मिन् अस्मिन्—४६८ । अस्मिन् अस्मिन्—४६९ । अस्मिन् अस्मिन्—४७० । अस्मिन् अस्मिन्—४७१ । अस्मिन् अस्मिन्—४७२ । अस्मिन् अस्मिन्—४७३ । अस्मिन् अस्मिन्—४७४ । अस्मिन् अस्मिन्—४७५ । अस्मिन् अस्मिन्—४७६ । अस्मिन् अस्मिन्—४७७ । अस्मिन् अस्मिन्—४७८ । अस्मिन् अस्मिन्—४७९ । अस्मिन् अस्मिन्—४८० ।

अस्मिन् अस्मिन्—४८१ अस्मिन् अस्मिन्—४८२ अस्मिन् अस्मिन्—४८३ अस्मिन् अस्मिन्—४८४ अस्मिन् अस्मिन्—४८५ ।

अस्मिन् अस्मिन्—४८६ अस्मिन् अस्मिन्—४८७ अस्मिन् अस्मिन्—४८८ अस्मिन् अस्मिन्—४८९ अस्मिन् अस्मिन्—४९० अस्मिन् अस्मिन्—४९१ अस्मिन् अस्मिन्—४९२ अस्मिन् अस्मिन्—४९३ अस्मिन् अस्मिन्—४९४ अस्मिन् अस्मिन्—४९५ अस्मिन् अस्मिन्—४९६ अस्मिन् अस्मिन्—४९७ ।

अस्मिन् अस्मिन्—४९८ अस्मिन् अस्मिन्—४९९ अस्मिन् अस्मिन्—५०० अस्मिन् अस्मिन्—५०१ अस्मिन् अस्मिन्—५०२ अस्मिन् अस्मिन्—५०३ अस्मिन् अस्मिन्—५०४ अस्मिन् अस्मिन्—५०५ अस्मिन् अस्मिन्—५०६ अस्मिन् अस्मिन्—५०७ ।

अर्धान्तरात्, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, विभावना, पर्यायोक्ति, वक्तोक्ति, अर्थयोक्ति, उत्प्रेक्षा, उत्प्रेक्षा हेतु सङ्कोचि माता, सूक्ष्म, लेश भय प्रेम रसवत् उदात्त, ऊर्जस्वि, अपमृति, समाधि निदर्शना, वृष्टान्त, विवास्तुति स्तुति निदा, संक्षय विरोध, विरोधाभास तुल्य योगित अप्रस्तुत अर्थमन्त्र अर्थगति, परिकर, तथा तद्वपुः—४४१, गौण मिश्रालंकार—अनुमन अनुज्ञा अवज्ञा भुङ्कत प्रयत्नीक, लेखमार, भित्तिन कारणमासा एकावली, भुङ्गा मातावीपक समुच्चय संभावना, प्रयत्न गूढोक्ति, व्याख्योक्ति विवृत्तोक्ति, मुक्ति, विकल्प, संकीर्ण, भाविक आसिष्य स्मृति भ्रांति संदिह, निश्चय, सम विषय अस्य अधिक, अप्योप्यपि, सामान्य विशेष, उन्मीलित विहित अर्थवर्ति, विधि, निषेध, वस्तुक्ति, प्रयोक्ति तथा अन्योक्ति—४४१ । रस निरूपण—४४१ शृंगार रस—४४२, शृंगार के भेद—संयोग शृंगार, तथा वियोग शृंगार प्रचक्षन् तथा प्रकाश—४४ शृंगार की अवस्थाएँ—पूर्वानुराग, माग, प्रकाश तथा संयोग—४४३ ।

सूरति मिश्र—परिचय तथा कृतिर्मा—४४३ अलंकार माता रस रत्नमासा, सरस रस रस प्राहक चंद्रिका नक्षत्रिक, कल्पविद्या तथा रस रत्नाकर—४४३ ।

शेष—परिचय तथा कृतिर्मा—४४४, रामालंकार रामचन्द्रभूषण तथा रामचंद्रा मरण—४४४ ।

याकूब ली—परिचय तथा कृतिर्मा—४४४ रस भूषण—४४४ ।

मुन्दारमणि मट्ट—परिचय तथा कृतिर्मा—४४५, रसिक रत्नाकर—४४५ ।

मीपति—परिचय तथा कृतिर्मा—४४५, कविकुल वस्तुद्वय, रस सागर अनुप्रास विनोद, विजय विवास लोचन कालिका, अलंकार संज्ञा तथा काव्य सरोज—४४५ । काव्य का स्वरूप—४४६, काव्य शेष, काव्य शेष श्रुतिकट्ट अन्वयक, व्याहृताय मतिर्भाग, अप्रयुक्त, असमर्थ, विधित प्राप्ति अलंकार भाषाष्ट अस्मीति तथा प्रतिशून्य—४४७ अर्थशेष—दुष्कर्म लोहित, असम्मिलमान वस्तु विरति, संदिग्ध, पुष्ट वाक्य, अपकर्म, भगत विरम पुनर्वक्ति, हीनोपमा तथा अधिकोपमा—४४७ । अलंकार निरूपण—उपमासंकार—उपमेयमा प्रतीयोमा, वाक्योपमा, श्लेषोपमा, मिश्रोपमा नियमोपमा, निरूपोपमा संज्ञोपमा अनुतोपमा तथा ललितोपमा—४४७ । रस निरूपण—४४७ ।

रसिक मुमति—परिचय तथा निदान्त—४४७ अलंकार चंद्रोदय—४४७, अलंकार निरूपण—उपमा अलंकार रूपक, लुप्त कारण सति संदिह, अपमृति उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति पमानापमेय संभावना व्यतिरेक विरोधाभास अर्थमन्त्र अन्य अप्योप्य दपार्थक्य,

क्षेप परितुल्य सहोक्ति विशेषोक्ति, स्वभावोक्ति, ईश अस्तुति सोकोक्ति, व्याजोक्ति
 भूकोक्ति, कृति, प्रतीति, परिकर, परिकराङ्कुर ग्रहण तुल्ययोमिता बीपक बीपकावृत्ति
 निरर्सेना प्रतिवस्तूपमा समासोक्ति, आक्षेप विभावना कविक मीलित उन्मीलित सामान्य
 विशेष, परिशेष लक्ष्मण, अलक्ष्मण अनुगुण पूर्वकथ, समुच्चय बन्धोक्ति, क्षेप एकावली,
 आसादीपक, कम पक्षीय विनोक्ति, परितुल्या, विकल्प समाधि काव्यात्मिग अवन्तिरण्यास
 समित, अनुशा रत्नावली, गूढोत्तर भाविक, उदात्त निरुक्ति, प्रतिशेष मिथि हेतु,
 वृष्टांत प्रस्तुतार, अप्रस्तुत प्रसंगा पर्याप्तिक, असंगति सम, विविध व्याघात
 प्रयत्नीक तथा अनुप्रास—४३८ ।

अस्य आचार्य—मीधर नायिका मेघ चित्र काव्य—४३९ सास—विष्णुविनास—
 ४६९, कुंज वृन्दकच्छी—नायिका मेघ—४३९ कैसवराय—नायिका मेघ तथा रस
 लतिका—४३९ मोहु राम—रस भूषण दश रूपक—४३९, बेनीप्रसाद—रस भृंगार
 समुद्र—४३९, संज राम—रस बीपक, नायिका मेघ—४३९, गंगन—कमरुहीन श्री हुतास—
 ४३९ भूपति—कंठाभूषण, रस रत्नाकर—४३९, बीर—कृष्ण चन्द्रिका—४३९, मंजीवर,
 तथा दम्पतिराय—असंकार, रत्नाकर तथा भाव भूषण—४३९ ।

सोमनाथ मिश्र—परिचय तथा कृतियाँ—४३९, रस वीष्णुपनिधि—४३९, भृंगार
 विनास कृष्ण लीलावती, पंचाध्यायी तुलान विनास भावक विनोद—४६० । काव्य
 निरूपण—४६० छन्द छक्ति निरूपण—अनिता, लक्ष्मणा व्यंग्य—४६१ । ध्वनि निरूपण—
 ४६१ अविवक्षित काव्य ध्वनि अवन्तिर संश्रित काव्य ध्वनि अत्यन्त तिरस्कृत काव्य
 ध्वनि विवक्षित काव्य ध्वनि—४६२ । रस निरूपण—४६३, भाव के भेद—स्वामी भाव,
 संघाटी भाव विभाव तथा अनुभाव—४६२ विभाव के भेद—आसंबन्ध विभाव तथा
 उद्दीपन विभाव—४६३ । भृंगार रस के भेद—संयोग भृंगार तथा वियोग भृंगार—
 ४६४ । अस्य रस—हास्य वचन रीति बीर, भवानक, बीरत्वं अद्भुत तथा शान्त
 रस—४६६ । दोष निरूपण शब्द गत दोष—असंगत कर्कश, अप्रमुक्त अरसीत तथा
 सन्धि—४६३, अर्थगत दोष—भूमपद तथा हनुमत्—४६६ वाक्यगत दोष—भूत पद
 सहचर भिन्न, बाह्य भूत व्याहत निर्हेतु दुष्कर्म, पुनरुक्त अनवीकृत सामान्य विधेय
 सामान्य प्रसिद्धि विरुद्ध, तथा विद्या विरुद्ध—४६६ । गुणा निरूपण—माधुर्य बोध
 तथा प्रसाद—४६६ । अलंकार निरूपण—उपमा, अनन्वय, उपमायोपम प्रतीप
 चरक, परिणाम, सत्तेज स्मृति, ध्याति, सत्येह अपनुति उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति,
 तुल्ययोमिता बीपक बीपकावृत्ति, प्रतिवस्तूपमा वृष्टांत, निरर्सेना, व्यतिरेक सहीति

विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरान्तर अग्रस्तुत प्रघंसा प्रस्तुतान्तर, पर्यायोक्ति, व्याज स्तुति, व्याजनिन्दा आलोप विरोधाभास, विभावना विशेषोक्ति असंभव, असंमति, विषम, समविचित्र, अधिक, कल्प, अप्योग्य, विरोध व्यापात, युक्त एकवचनी, मासादीपक छार यथा संख्य, पर्याय, परिवृत्ति परिसंख्या विकल्पर, समुच्चय कारक हीनक, समाधि, काव्यार्पित, काव्यमित्य, अर्थांतर, विकल्प प्रीतिोक्ति संभावना, मिथ्याभ्यवसित, ललित, प्रहर्षक, विषय उस्तास अनुज्ञा, ज्ञेय मुद्रा, रत्नावली तत्पुण, पूर्वरूप, अतदनुम, मीमित सामान्य जगतीसित विशेष, ब्रूतोत्तर, चित्रोत्तर, सूक्ष्म विहित, व्यावृत्ति सूत्रोक्ति विनोक्ति, मुक्ति भाविक, उवाच आप्तुक्ति, निवृत्ति प्रतिषेध विधि हेतु, प्रमत्तीक अनुमान, संसृष्टि तथा संकर—४६७ ।

करन—परिचय तथा वृत्तिर्वा—रस कस्तोत—४६७ ।

मोर्चिद—कर्माभरण—४६८ ।

रसलीन—४६८, अंग वर्ण तथा रसबोध—४६८

रत्ननाम बन्दीजन—४६८ काव्य कलाधर तथा रचित भोहूत—४६८ ।

उदयनाम कवीन्द्र—४६९, रस चन्द्रोदय तथा विनीत चन्द्रोदय—४६९ ।

निहारीदास—परिचय तथा वृत्तिर्वा—४६९, मृगार निर्णय, रससारांस, नाम प्रकाश, दर्शनेन विगत तथा काव्य निर्णय—४७० । काव्य स्वल्प निरूपण—४७० । कवि गुण—४७१ । काव्य गुण—अक्षर गुण, अर्थ गुण तथा वाच्य गुण—४७२ । छन्द छक्ति निरूपण—४७३, पद विवेचन—आचक पद सातविक पद तथा अर्थक पद—४७३ । सप्तमा के भेद—कड़ि तथा प्रयोगनवती सप्तमा—४७४, प्रयोगनवती सप्तमा के भेद—गुडा तथा मीठी—४७४ । गुडा के भेद—उपादान ललित सारोपा तथा साध्यवसाना—४७४ मीठी के भेद—सारोपा तथा साध्यवसाना—४७५ । अर्थना के भेद—अभिधा मूलक तथा सप्तमा मूलक—४७५, सप्तमा मूलक के भेद—गूढ तथा अगूढ—४७५ । ध्वनि निरूपण—अविश्रित वाच्य ध्वनि तथा विवशित वाच्य ध्वनि—४७५ । अर्थांतर संज्ञित वाच्य तथा अर्थत विरस्तुत वाच्य ध्वनि—४७६ । असंलक्ष्यक्रम तथा लक्ष्य क्रम—४७६ । गुणीभूत ध्वन्य के भेद—अमूढ़ अपरांग गुण्य प्रमाण, अस्पष्ट काकु, वाच्य सिद्ध अंग संदिग्ध तथा अनुसर—४७७ । वाच्य दोष निरूपण—वाच्य दोष वाच्य दोष अर्थ दोष तथा रस दोष—४७७ ।

यै-स्यैप विरोधमाद्य, मुद्रा, वज्रोक्तिं पुनरुक्तं वदामास-४६१ ।

सुतहं कवि—४८३ कविकुल कंठाग्रज—४८३ ।

संयं बाबावै—संयुताये धियं—रस कल्लोयं एतं तस्मिन्नी स्यात् जलंकारे दीपक—
 १०३, हित रामकृत्य—गीयिका भेद—४८४, सासा गिन्वारी सास—नायिका भेद—४८४ ।
 प्रपास—पूंगारे संयरे—४८४ । रूपं संगी—रूप विलास ४८४ ।

वेदीसात—४८४ भाषांतरण—४८४ ।

समनेस-४८४, सैरिङ बिलीस-४८४ ।

सिबनाथ-४८५, रंग बरिष्ठ-४८६ ।

रतन—४८३, कविह प्रपञ्च लता असेकार बर्ष—४८३ ।

श्रुतिनां प—४८५, अर्धकारं चैषि यं गरी—४८६ ।

बैनपर्व—८४८४, कदितारस विमोद—२४८६ ।

उद्विगारे—४८६, सुमुल रसे प्रकाशं तथा रसे बान्धका—४८६ ।

संक्षेप आचार्य—हरीनाथ—अलंकार वैयास—४८६, रसि जा—नायिका प्रेम्—४८६
 बन्धन—काव्याभिरुचि—४८६, रसिकी नामन—मृगार, चरित, बन्धन नूपन तथा
 वरकण्ठ बन्धिका—४८६ ।

महोदय सिद्ध—४६६ अंगार विषय—४६६ ।

बिमत सिंह—४८७ साहित्य संवागिणि—४८७ ।

पुन विद्—४८७ अर्द्धकारे अर्द्ध, रत्नं विद्येयम्, रत्नं विद्यां तथा रत्नं विद्यां—
४८७।

अंगं भाषार्थं—मोक्ष कर्त्तुं—मरिचं भूपप हमेस प्रकार—४८८, बेनी बरिबं—
टिकावत्तरेयं प्रकाश रसे विनास—४८८ ।

सैवानस—बीजा मंहारम्भ अंत बेले सातसु की प्रत्यक्ष—४८८, राणाकृष्ण बिहार, रणेश्वर अंबेकार, रत बेले—४८८ ।

मोक्षमनाथ—४८९, चेत चंद्रिका महाभारत राजा नक्षत्रिण सीताचम मुचमनि
तथा कवि द्रुप संज्ञा—४८९ ।

पद्माकर—४८९, अगद्विनीत तथा पद्मामरण—४८९ ।

अम्य आचार्य—ग्रन्थालयन—वरुण नायिका शेष—४९० ग्रन्थालय—विग्रहिलास
तथा दीपक प्रकाश—४९०, करन कवि—साहित्य रस तथा रस कलास—४९०
मुचहीन—बापूमनोहर—४९० ।

शिवप्रसाद—४९० रस भूषण—४९० ।

शैली प्रवीण—४९० नवरस तरंग—४९१ ।

रमणीय सिंह—काव्य रत्नाकर, सुषण कौमुदी विगत नामार्चन तथा रस रत्नाकर—
४९१ ।

नाथयन—४९२, नाट्य दीपिका—४९२ ।

रसिक योगिद—४९२, रसिक योगिदालम्बन—४९२ ।

प्रदार साहि—परिचय तथा कविता—अथर्विह प्रकाश काव्य विलास शृंगार संज्ञा,
अथर्विह कौमुदी शृंगार शिरोमणि अलंकार चिंतामणि काव्य विनीत तथा मुचम
नक्षत्रिण—४९१ । काव्य निकषण—अतम, मध्यम तथा अधम काव्य—४९१, काव्य—हेतु-
संस्कृत, वृत्ति तथा अम्यास—४९४ । काव्य लक्षि निकषण—अभिषा सप्तपा अर्थना-
४९१ । रस निकषण—संयोग विनीत—४९१, विनीत शृंगार के शेष—पूर्व चय, मान
प्रवास उत्कंठ तथा शाय—४९१ । काव्य भुज निकषण—माधुर्य जीम तथा प्रसाद—
४९१ । काव्य दीप निकषण—अथर्विह अर्थना तथा रस गत नाकययत—४९७ ।

नवीन—४९७ रस तरंग—४९७ ।

रीति शास्त्रीय परंपरा सिंहावलोकन—४९८ ।

अध्याय १

पारम्पर्य और भारतीय समीक्षा परंपराओं और बुद्धिकीय का तुलनात्मक अध्ययन

पृ० १०१-११२

पारम्पर्य और भारतीय समीक्षा परंपराएँ—१०१ ।

काव्य का प्रयोजन पारश्वात्य तथा भारतीय मठ—१०४, होमर तथा हेसियड का दृष्टिकोण—१०४, वापन और द्रष्ट के दृष्टिकोण—१०४। कुंतक और मम्मट के मठ—१०५, विस्वनाथ का मठ—१०५।

पारश्वात्य और भारतीय मठों की तुलना—१०६ पारश्वात्य बारमा की विधिष्टता और महत्व—१०६, भारतीय मठ की विधिष्टता और महत्व—१०६।

नाटक महाकाव्य और भाषण कला दृष्टिकोणवश प्रमुखता—१०७, पारश्वात्य मठ—१०७, चित्तरी का दृष्टिकोण—१०८ विस्वन का दृष्टिकोण—१०८।

नाटक संबंधी बारमाएँ—१०९, भारतीय मठ भरत मुनि—१०९, प्लेटो का मठ—१०९, हीरेस के विचार—११० जैन प्रानिशन का दृष्टिकोण—१११, डॉक्टर जानसन का मठ—११२।

बनुकरण सिद्धांत और रस साम्प्रदायिक दृष्टिकोण—११२, बनुरण काव्य का मूल स्रोत—११२, रस काव्य की भाषा—११३।

महाकाव्य और नाटक में रस की प्रचलता—११३ भरत का मठ—११३, बार्नर बर्डन का दृष्टिकोण—११४ अभिलषकृष्ट का मठ—११४, बनंजय का मठ—११५, मम्मट का दृष्टिकोण—११६, रस का महत्व—११६।

रस विषयक दृष्टिकोण की तुलना—११७।

काव्य में रस का निरूपण भारतीय और पारश्वात्य मठ—११७, भाषण के विचार—११७ रंजी का वर्गीकरण—११८ वापन का मठ—११९ बार्नरबर्डन के विचार बनंजय का मठ—११९, भोज का वर्गीकरण—१२० विस्वनाथ का मठ—१२१, जगन्नाथ का मठ—१२२।

काव्य वर्गीकरण विषयक भारतीय मठ का सार—१२२।

काव्य का वर्गीकरण पारश्वात्य मठ—१२३, प्लेटो का मठ—१२३, बरस्तू का वर्गीकरण—१२४, अन्य विचारकों के मठ—१२५।

काव्य वर्गीकरण विषयक पारश्वात्य मठ का सार—१२६।

३०] समीक्षा के माग और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

भारतीय सिखावों का सर्वांगीणता : बर्तकारे लक्ष्य—५२६, यद्वैत और वैद्वै—५२७,
शायन और श्रुत का बर्तकार वर्गीकरण—५२८ ।

अन्य भारतीय सिखान्त वैशिष्ट्य और महत्त्व—५२९ ।

पारम्परिक सिखान्त वैशिष्ट्य और महत्त्व—५३०, अस्तित्व और चिन्तन के मूल—५३१,
चिन्तन के विचार—५३२ ।

पारम्परिक और भारतीय समीक्षा, दृष्टिकोणगत समीक्षा और वैयक्तिक—५३३ ।

समीक्षा के मान

और

हिन्दी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

निवेदन

समीक्षा के क्षेत्र में प्रचलित विविध देशों और भाषाओं के मुख्य विद्वानों का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि उनकी परम्पराओं का प्रसार सुदूर अतीत काल तक है। विभिन्न सन्प्रदायों की निर्मित दीर्घकालिक प्रक्रिया के पतस्वरूप होती है। प्रस्तुत प्रबन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य देशों की भाषाओं में उपलब्ध समीक्षा परम्पराओं का ऐतिहासिक विकास क्रम के अनुसार अध्ययन करते हुए यह देखने की कोशिश की गयी है कि विभिन्न-विभिन्न युगों में समीक्षा के मानदण्डों में किस प्रकार से परिवर्तन हुआ है। इस कृति में उन परिवर्तनों के कारणों की खोज करते हुए उनके स्वादिष्ट बयाना असाधारणिक अंग का विश्लेषण करने के साथ ही साथ उनकी सम्पूर्णता और अपूर्णता की भी परीक्षा की गयी है। विभिन्न समीक्षा प्रणालियों का अध्ययन करके इस सन्भावना पर विचार किया गया है कि ऐसी समीक्षा पद्धति किस प्रकार की हो सकती है, जिसका क्षेत्र संकुचित न हो। सारांश यह है कि इस प्रबन्ध में एक सम्पूर्ण, शास्त्रमय तथा उपयुक्त समीक्षात्मक मानदण्ड का निरूपण करते हुए उसके स्वरूप की स्पष्टता स्पष्ट की गई है।

प्रस्तुत छोटा प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वैज्ञानिक रूप से समीक्षा और उसके व्यापक स्वरूप की विवेचना की गई है। इसमें "समीक्षा" शब्द तथा उसके पर्यायवाची शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए समीक्षा की परिभाषा प्रस्तुत की गई है। समीक्षा और पोष का पारस्परिक भेद भी इसी में स्पष्ट किया गया है। फिर "समीक्षा" शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए उसकी प्राचीनता पर विचार किया गया है। समीक्षा और पोष के पारस्परिक भेद के इस स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में शोध का अर्थ, शोध की प्रक्रिया शोध का क्षेत्र पोष का विनाशक शोध-कर्ता की योग्यताएँ तथा पोष के प्रकार भी उल्लिखित किये गये हैं। समीक्षा की अवस्था का निर्धारण करते हुए एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में इसकी प्रतिष्ठा की गई है। समीक्षक और लेखक का

दृष्टिकोण और क्षेत्र बताते हुए पाठन सेलक और समीक्षक के अनिवार्य गुणों की ओर संकेत किया गया है। सहृदयता सुविधा निष्पक्षता उदारता सौन्दर्यानुभूति रचनात्मक प्रतिभा भाषा पर अधिकार तथा मूल्योंकन का दृष्टिकोण एक समीक्षक के गुण माने जाये हैं। समीक्षक के दायित्वों पर विचार करते हुए यह संकेत किया गया है कि उसे एक शास्त्रीय कार्य का निर्वाह करना होता है इसलिए उसमें विषय की योग्यता होना अनिवार्य है। साहित्य परीक्षण के लिए साहित्य विषयक अन्तर्दृष्टि का भी होना उसमें आवश्यक है। साहित्य के क्षेत्र में बहुधा गतिरोध की स्थिति विद्यमान रहती है। तब समीक्षक का दायित्व एक रचनात्मक सेलक बनना आगच्छ पाठक की जैसा अधिक हो जाता है। इसलिए मानवीय चेतना का विवेक और उसे व्यावहारिक रूप दे सने की क्षमता भी समीक्षक में होनी चाहिए। जहाँ तक समीक्षा के क्षेत्र का सम्बन्ध है, उसका विस्तार साहित्य की भाँति व्यापक माना जाता है। गुणन चरचन पर किसी कृति का परीक्षण और जातीय या राष्ट्रीय संस्कृति में निहित संरक्षों का परीक्षण समीक्षा इसलिए करती है क्योंकि वह साहित्य की पूरक होती है।

समीक्षा के लिए विस्तारमय प्रवृत्ति भी अनिवार्य है। समीक्षा के आधार के सम्बन्ध में यह संकेत किया गया है कि एक शास्त्र होने के कारण कुछ मूलभूत तत्त्व उसके आधार होते हैं। एक व्यापक दृष्टिकोण का निर्धारण शास्त्रीय तत्त्वों द्वारा नियन्त्रित रूप में होना चाहिए। समीक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक नियमन के साथ ही साथ कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी विद्यमान रहती हैं। इसका कारण यह होता है कि समीक्षा का कार्य एक उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य है जो साहित्य की श्रेष्ठता का ज्ञापन करता है। शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्परीक्षण की समस्या भी इसी के अन्तर्गत है, क्योंकि वैज्ञानिक अपूर्णता और एकांगिता उसमें व्याप्त रहती है। इसके अतिरिक्त समीक्षा के सिद्धान्तों का निर्धारण और विवेचन एक बात है और व्यावहारिक रूप से उन्हें प्रयोग में लाना भिन्न बात। साथ ही शास्त्रीय परम्परा में बहुधा विरोधी मापानों का प्रभाव तथा महीन दृष्टिकोण संयुक्त होना समझा है। इसलिए भी व्यावहारिक प्रयोग में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। इस अभ्यास के अन्त में समीक्षा के मान निर्धारण की समस्या पर विचार किया गया है क्योंकि प्रत्येक युग में यह समस्या साहित्य विचारकों के सामने रहती है। प्राचीन और महीन विचारधाराओं का संघर्ष होता है, नये मूल्यों का निर्धारण होता रहता है और वैचारिक अनेकसुरता भी सामने रहती है। इसलिए किसी भी युग में मान निर्धारण के पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों का परीक्षण अनिवार्य हो जाता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के विकास और विविध सिद्धांतों के स्वरूप पर उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में विचार किया गया है। ऐसा करते समय सर्वप्रथम पाश्चात्य समीक्षा के प्राचीनतम केन्द्र यूनान के विचारकों और उनके समीक्षायुक्त दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण हुआ है। पाश्चात्य समीक्षा की महान् यूनानी परम्परा का आविर्भाव एवेंस में हुआ था। होमर, हसियस पिंडार, थालिस, एरिस्ताकेनीज मुक्राट, प्लटो आदि विचारकों के उन चिन्तन सूत्रों की व्याख्या इसमें की गई है, जिनमें महान् यूनानी वैचारिक परम्परा के बीज थे। काव्य कला नाटक भाषण शास्त्र तथा समीक्षा के स्वरूप का निर्धारण करने वाले मन्त्रियों के आचार पर उनके दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया गया है। इसी सन्दर्भ में आइसाक्रेटीज ईस्त्रिअस सोक्रोस्नीज तथा यूरीपाइडीज के विचारों की भी चर्चा की गई है। तत्पश्चात् पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के प्रवर्तक अरस्तू के विचारों के आचार पर कवि के स्वरूप काव्य और कला के स्वरूप और उत्तम कुलान्तक नाटक और उसके उत्तम सुखान्तक नाटक महा काव्य तथा भाषण कला आदि का विवेचन किया गया है। अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की व्याख्या भी इसी सन्दर्भ में की गई है क्योंकि अरस्तू ने अनेक कलाओं की भाँति काव्य कला का मूल स्रोत भी अनुकरण को ही माना है। वह काव्य की आत्मा के रूप में भी अनुकरण की व्याख्या करता है। यही नहीं उसने यहाँ तक कहा है कि महा काव्य कुलान्तक नाटक सुखान्तक नाटक नीति काव्य मुरली वादन तथा बीणा वादन य सब अनुकरण की विविध प्रणालियाँ हैं। इनमें परम्परिक विमिश्रता यही है कि इन सबकी धर्मियाँ पृथक्-पृथक् रूप से स्वतन्त्र हैं।

अरस्तू के पश्चात् यूनान की इस महान् वैचारिक परम्परा के अन्त में थियोफ्रेस्टस तथा लॉबार्इनस की भी चर्चा की गयी है। थियोफ्रेस्टस ने भी अरस्तू की भाँति ही कला के विवेचन की परम्परा का प्रसार दिया। लॉबार्इनस को साहित्य शास्त्रीय महत्त्व की दृष्टि से अरस्तू के बाद यूनान का दूसरा महान् विचारक माना जाता है। उसने साहित्य में उदात्तता के तत्त्व की विवेचना की है। उदात्तता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसने बताया है कि अभिव्यक्ति की विविष्टता और उत्कृष्टता को ही उदात्तता कहते हैं। उसके विचार से ससार के अनेक महान् साहित्य सृष्टा केवल अभिव्यक्ति या भाषण के गुण के फलस्वरूप ही अमर हो चुके हैं। साहित्य में उदात्तता की सम्भावनाओं के सन्दर्भ में उसने कुछ मूल तत्वों की विवेचना की है। लॉबार्इनस ने स्पष्ट और दृढ़ रूप से यह प्रतिपादित किया है कि साहित्य की एक मात्र वहीटी सर्वसुगीय रूप से आनन्ददायी होना है। लॉबार्इनस ने साहित्य के मूल्यांकन की समस्या पर विचार करते हुए एक समीक्षक

के लिए कुछ योग्यताओं का भी निर्धारण किया है। उसके विचार से समीक्षक को कला, वर्णन, सीखने का क्षमता और समालोचना का सम्पूर्ण अध्ययन, अनुभव और ज्ञान होना चाहिए, उसी वह अपने मुख्य कार्य का निर्वाह उचित प्रकार से कर सकेगा। सॉबाइनस के साथ ही प्राचीन यूरोप की इस यूनानी चिन्तन परम्परा का अन्त हो गया। इसीलिए सॉबाइनस का नाम इस सुवीर्ष परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में उल्लिखित किया जाता है। इसके बाद जो यूनानी विचारक हुए, उन्होंने इस परम्परा की समृद्धि में कोई योग नहीं दिया। साहित्य के चिन्तन का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र भी एबेस न रहा और एक नई वैचारिक परम्परा का आरम्भ हुआ।

यूनानी साहित्य चिन्तन की परम्परा के अन्त के पश्चात् यूरोप में साहित्य और कला का चिन्तन केन्द्र रोम बन गया जहाँ सैटिन समीक्षा का आरम्भ और विकास हुआ। यह नवीन वैचारिक परम्परा स्वतन्त्र रूप में बहुत महत्वपूर्ण होते हुए भी मध्य यूनानी परम्परा के अनुकरण पर ही विकसित हुई। इस रोमीय परम्परा के अन्तर्गत पहला उल्लेखनीय विचारक सिसरो हुआ। सिसरो ने मुख्य रूप से भाषण शास्त्र से सम्बन्धित चिन्तन किया। भाषण शास्त्र विषयक उसके महत्वपूर्ण विचारों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के साथ ही साथ काव्य के तत्त्व तथा समीक्षा के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले उसके कुछ विचारों का भी उक्ति इस सम्बन्ध में किया गया है। तत्पश्चात् रोमीय चिन्तन की परम्परा के अन्तर्गत आने वाले दूसरे महान् विचारक होरेस के काव्य के स्वरूप काव्य और अनुकरणात्मकता गद्य कला खोसी विवेचन तथा समीक्षारमक विचारों का उल्लेख किया गया है। उसकी महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसने अनुकरण की नई परिभाषा बनाई और उसकी मौलिक प्रयोगात्मकता पर बल दिया। होरेस के पश्चात् क्विन्टीलिमन का आधिपत्य हुआ। उसने रोमीय साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करते हुए अपने विचारों की स्थापना की। क्विन्टीलिमन के साथ ही प्रायः रोम की इस वैचारिक परम्परा का अन्त हो गया।

यूनान तथा रोम की परम्पराओं की समाप्ति के पश्चात् यूरोप में पुनर्जागरण कासीन स्थिति आती है। इस पुनर्जागरण काल के साथ ही कई सौ वर्षों के अन्तराल के पश्चात् पुनः साहित्य समीक्षा के स्वरूप का प्रसार हुआ। सत्रहवीं शताब्दी से अष्टादशवीं शताब्दी के बीच समीक्षा का व्यवस्थित रूप में आरम्भ हुआ जिसके अन्तर्गत स्टीवेन हॉब्स सर टॉमस बिस्मन सर जॉन लॉक अर्थात् आदि विचारकों के साथ ही साथ कुछ अन्य चिन्तकों के विचारों का भी विवेचन किया गया। जिनमें सर फ्रैंसिस सिडनी का नाम

विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सिडनी के काव्य विषयक विचारों तथा अनुकरण सिद्धांत के समर्थन के कारणों की ओर भी यहीं संकेत किया गया है। सिडनी भी अरस्तू की भांति काव्य को अनुकरण की ही एक कला मानता था। सिडनी के पश्चात् किंग जेम्स, एडमंड स्पेंसर, गैब्रियल हार्न विलियम बेन पुटन हाम सेमुअल डेनीयस आदि के प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर उनके सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। फ्रांसिस बेकन के सिद्धान्तों में काव्य से सम्बन्धित विचारों का ही उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। सर जॉन हेरिफ्टन, फ्रांसिस मीरिंग, जॉन बेक्सटर, विलियम बायन, बोस्टन पीपम तथा टॉमस कम्पियन के साथ ही साथ इस युग के महत्वपूर्ण चिन्तक बेन जानसन के कुछ सिद्धान्तों का परिचय भी प्रस्तुत किया गया है।

सोलहवीं शताब्दी तक फ्रांसीसी समीक्षा का जो विकास मिलता है उसके अन्तर्गत विशेष रूप से बुकेचियो तथा रोबिने आदि के विचार ही मुख्य हैं। इसी प्रकार से सोलहवीं शताब्दी तक इटैलियन समीक्षा के अन्तर्गत पॉन्टे पैट्रियार्क बीडा, तथा पैट्रीन्की चर्चा की गई है। सोलहवीं शताब्दी तक स्पेनी समीक्षा में संत इसीडोर, लस और मूर्दे विवे के विचारों का उल्लेख किया गया है। उत्पश्चात् १७वीं शताब्दी के अन्तर्गत इटली, फ्रांसीसी जर्मन तथा अंग्रेजी समीक्षा के विकास पर विचार किया गया है। प्रारम्भिक अंग्रेजी समीक्षकों में इस शताब्दी के सर विलियम डेबनेट, टॉमस हॉम्स जॉन मिस्टन एन्नाहम काउली आदि के विचार प्रस्तुत किये गये हैं। जॉन ड्राइडन इस शताब्दी का महान चिन्तक था। उसके विचारों में काव्य के स्वरूप काव्य में कल्पना उत्पन्न, काव्य में लयात्मकता काव्य और महाकाव्य, नाटक हास्य रचना और प्रहसन, कला और चित्रकला अनुवाद की कला तथा प्रमुख समीक्षात्मक विचारों का परिचय दिया गया है। ड्राइडन इस शताब्दी का ऐसा समीक्षक था जिसमें यूरोप की पूर्ववर्ती महान् परम्पराओं की विषय अवधारित के साथ ही साथ असाधारण विवेक शक्ति थी। इसलिये उसका महत्व इस समय तक के अंग्रेजी समीक्षकों में अग्र्यतम है। इस शताब्दी के अन्तर्गत ही अन्य अंग्रेजी समीक्षकों में टॉमस राहमर, टॉमस स्प्रेट, विलियम बिस्टेयली, सर विलियम टेम्पल, रिचर्ड बेंटली जेम्स कोलियर, सर टॉमस पोप, ब्लाइंट आदि का भी उल्लेख किया गया है।

१८वीं शताब्दी में पारंपार्य समीक्षा के विकास के अन्तर्गत इटली, फ्रांस स्पेन जर्मनी तथा इंग्लैंड की समीक्षा परम्पराओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है। जॉन डेनिश, एडमंड किरी ग्रिरर, जोसेफ एडीसन सर रिचर्ड स्टीस, फ्रांसिस एटरबरी, जोने वन स्विफ्ट, एसेनडेडर पोप जेम्स हेरिस, जॉन ब्राउन आदि की चर्चा अंग्रेजी समीक्षकों

के दर्शन में की गई है। इस सताब्दी की प्रमुख वैचारिक विभूति के रूप में डॉ० सेमुअल जानसन को मान्य किया गया है, क्योंकि उनका वैचारिक व्यक्तित्व और महत्व बड़ा भारण था। आधुनिक युगीन समीक्षा के अन्तर्गत इटली के क्रोचे की चर्चा की गई है, जिसने एक सौन्दर्य शास्त्री और दार्शनिक होते हुये भी साहित्य चिन्तन के क्षेत्र को विषय रूप से प्रभावित किया। फ्रांसीसी समीक्षा के अन्तर्गत जर्माँ पॉस सार्त्र का उल्लेख भी किया गया है। वह वर्तमान समय का महान् चिन्तक है। स्पेन की समीक्षा के अन्तर्गत विभिन्न प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए आधुनिक जर्मन चिन्तन में हेसिय की चर्चा विशेष रूप से की गयी है। आधुनिक युगीन रूसी समीक्षा में लोमोसोव बेमिस्की मिखायलोवस्की तथा टॉल्स्टाय का सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। आधुनिक युगीन अमेरिकी समीक्षा में हेनरी बेम्स स्ट्रेडेन तथा स्पिनवार्न की चर्चा विशेष रूप से की गई है। आधुनिक युगीन अंग्रेजी समीक्षकों में विलियम वर्डस्वर्थ जॉर्ज एलियट कार्लाइल मैथ्यू आर्नल्ड आई० ए० रिचर्ड्स टी० एस० इमिण्ट तथा ई० एम० फ़र्स्टर आदि विचारकों के प्रमुख मन्त्रियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए पाश्चात्य समीक्षा परम्पराओं का महत्व और समीक्षात्मक स्वकों का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में संस्कृत समीक्षा शास्त्र के विकास का परिचय देते हुए विभिन्न सिद्धान्तों के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। भारत की चिन्तन परम्पराओं में प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा अत्यन्त है। रचनात्मक साहित्य और पाश्चात्य क्षेत्रों में उसकी उपमन्त्रियाँ आज भी बड़ा भारण रूप में मान्य हैं। संस्कृत में समीक्षा शास्त्र का विषय महत्व बताया गया है। यहाँ तक कि समीक्षा शास्त्र को वेद का सातवाँ अंग तक माना गया है। अनुमान लगाया जाता है कि प्राचीनता की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा विशेष रूप से महत्व रखती है और श्रद्धा से उसका प्रचार मिलता है। परन्तु साहित्य शास्त्रीय नियमन और संपादन की दृष्टि से भरत मुनि प्रथम साहित्य शास्त्री हैं जिन्होंने अपने 'नाट्य शास्त्र' नामक ग्रन्थ में साहित्य शास्त्र का सम्पूर्ण निरूपण प्रस्तुत किया है। इस अध्याय में संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा के प्रवर्तक आचार्य के रूप में मुनि भरत को मान्य करते हुए उनके सिद्धान्तों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में जो विभिन्न सम्प्रदायों का प्रचार हुआ है उनमें रस सिद्धान्त के प्रतिष्ठान्त के रूप में भी भरत मुनि को मान्यता दी जाती है। भरत मुनि ने रस का विवेचन करते हुए उसका सम्पूर्ण निरूपण प्रस्तुत किया। इस सम्बन्ध में रस का महत्व रस का विभाजन भाव वर्णन रस और भाव रस उत्पत्ति रस वेदता रस वर्णन शृंगार, हास्य, करुण

रीति, वीर, भयानक, वीरसुत तथा अद्भुत रसों की व्याख्या की गयी है। असंसार विवेचन के सन्दर्भ में उपमा रूपक, दीपक और यमक का परिचय है। साथ ही काव्य के कुछ काव्य के दोष और अभिप्राय के प्रकर का परिचय प्रस्तुत करने के साथ परमार्थियों में भ्रष्ट धुनि की मान्यता की ओर भी संकेत किया गया है। भ्रष्ट धुनि के पश्चात् मेधावी और मर्दित नामक आचार्यों का उल्लेख किया गया है।

भामह के द्वारा प्रणीत "काव्यालंकार" ग्रन्थ के आधार पर काव्य साधन काव्य सस्रम काव्य के भेद महाकाव्य नाटक तथा याचा वैजर्म और वीहीय भेद दोष वर्जन तथा भुष-वर्जन की परिचयात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उनका महत्त्व प्रस्तुत किया गया है। सातवीं शताब्दी के आचार्य दंडी के सिद्धान्तों का परिचय करते हुए काव्य के भेद, महाकाव्य, मध्य काव्य के भेद आख्यायिका कथा और चम्पू काव्य की रीतियाँ काव्य के कुछ और दोष के साथ अलंकार विवेचन भी किया गया है। फिर उद्भूत के परिचयात्मक विचारों के पश्चात् भामह के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में काव्य और असंसार, काव्य का प्रयोजन काव्य के अधिकारी काव्य की रीतियाँ रीति के भेद काव्य के अंग तथा काव्य के भेद की व्याख्या की गयी है। ९वीं शताब्दी के आचार्य सूत्र के काव्य और असंसार सम्बन्धी विचारों के साथ आनन्दवर्द्धन के ध्वनि विषयक विचारों का निरूपण किया गया है। अजिगन्ध कुप्ल राजसेनर, मुकुल भट्ट धनंजय भट्ट तीव्र भट्ट नायक कुम्भक महिष भट्ट ओम मम्मट दोमेन्द्र आदि की व्याख्या भी इसी सन्दर्भ में की गई है। दोमेन्द्र ने औचित्य को काव्य में सर्वाधिक महत्त्व दिया और अपने "औचित्य विचार चर्चा" नामक ग्रन्थ में औचित्य निरूपण करते हुए औचित्य का स्वरूप स्पष्ट किया। उन्होंने पद-औचित्य काव्य औचित्य प्रबन्ध औचित्य भुज-औचित्य असंसार औचित्य रस औचित्य उत्प-औचित्य सन् औचित्य स्वभाव औचित्य असंसार औचित्य रस औचित्य उत्प-औचित्य सन्-औचित्य स्वभाव औचित्य तथा प्रतिभा औचित्य की व्याख्या की। फिर सायर नन्दी ह्यूयक मन्धक हेमचन्द्र रामचन्द्र तथा गुणकन्न बागमट्ट (प्रथम) जयदेव धारवा तनय भानुश विद्याधर, विस्वनाथ शोभाकर मिश्र विद्यानाथ बागमट्ट (द्वितीय) जयदेव रीतिज्ञ पंडितराज जगन्नाथ केदार मिश्र विदेवर पंडित तथा अन्य आचार्यों के सिद्धान्तों का परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। अंत में रस अलंकार, रीति ध्वनि और वक्रोक्ति पर बात देने के अनुसार संज्ञान्तरिक रूप से उपर्युक्त आचार्यों का विमानन और आलोचिक महत्त्व स्पष्ट करते हुए इस मुदीर्ष और महान् परम्परा की उपसन्धिषों का मुन्यांकन किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के चौथे अध्याय में रीति कालीन हिन्दी साहित्य के विकास और विभिन्न सिद्धान्तों के स्वरूप की व्याख्या की गयी है। रीति कालीन हिन्दी समीक्षा शास्त्र की आधार-भूमि उसकी पूर्ववर्ती भाषा-परम्पराएँ रही हैं। उनमें से ससका प्रत्यक्ष सम्बन्ध संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा से है। उसी से प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करके रीति कालीन हिन्दी भाषायों ने अपने साहित्य सिद्धान्तों का निरूपण किया। हिन्दी रीति साहित्य की परम्परा के अन्तर्गत सर्वप्रथम पुंड अथवा पुण्य तथा हृषा राम की चर्चा की गयी है। गोप मोहनदास मिश्र तथा गन्धर्वाक्ष का उल्लेख भी इसी सन्दर्भ में किया गया है। फिर हिन्दी रीति शास्त्र के प्रतिष्ठित भाषार्य क रूप में “कवि प्रिया” और “रसिक प्रिया” आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रणेता केशवदास के सिद्धान्तों के अन्तर्गत कवियों के प्रकार, कवि-रीति-वर्णन काव्य-श्लोक-वर्णन अलंकार-वर्णन रस-विशेषन नायक-मेघ नायिका-मेघ रस के अंग वियोग मृगार तथा अन्य रसों की व्याख्या की गयी है। सुन्दर कवि की चर्चा भी इसी सन्दर्भ में की गयी है। फिर भाषार्य चिन्तामणि त्रिपाठी के काव्य का स्वरूप काव्य के भेद काव्य-मुख्य काव्य के गुण रस निरूपण रस के अंग अलंकार-निरूपण, शब्द-शक्ति-निरूपण तथा ध्वनि-निरूपण आदि से सम्बन्धित विचारों को प्रस्तुत किया गया है। चिन्तामणि के परवर्ती भाषायों में शिव, जसवंत सिंह, हेमचम चम्पूनाथ तथा सम्बाजी एवं मदन आदि भाषायों का उल्लेख किया गया है। मतिराम और भूपन की चर्चा के साथ कुसुमपति के काव्य का सफल काव्य का प्रयोजन काव्य के कारण काव्य के भेद शब्द-अर्थ-निरूपण शब्द-शक्ति-निरूपण ध्वनि-निरूपण रस-निरूपण श्लोक-निरूपण गुण-निरूपण रीति-निरूपण तथा अलंकार-निरूपण की व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार से मुखरेव मिश्र रामजी गोपाल राम बसिराम बसबीर, कल्याणदास श्री निवास और कसिदास विवेदी के विचारों का भी उल्लेख किया गया है।

भाषार्य देव के काव्य-निरूपण अलंकार-निरूपण रस-निरूपण आदि की व्याख्या के साथ इसी अध्याय में सूरति मिश्र गोप याकूब खाँ कुमार मणि शङ्कर तथा भीपति के परिचय के साथ भाषार्य श्रीपति के काव्य का स्वरूप काव्य के श्रेष्ठ अलंकार-निरूपण तथा रस के निरूपण की व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार से रसिक सुमति श्रीधर कुन्दन कुन्धेलखंडी केशवदास गोबुराम बेनी प्रसाद जंगराम जंगन सुपति बीर, बंशी-धर तथा बसपति राम आदि का उल्लेख किया गया है। भाषार्य सोमनाथ मिश्र के सिद्धान्तों में मुख्य रूप से काव्य-निरूपण शब्द-शक्ति-निरूपण ध्वनि-निरूपण रस-निरूपण श्लोक-निरूपण गुण-निरूपण अलंकार-निरूपण की व्याख्या की गई है। फिर करन,

योग्य रसमीन, रघुनाथ बंदीजन उदयनाथ कबीन्द्र आदि के उल्लेख के साथ आचार्य भिस्मारीदास के काव्य-साक्ष्य-निरूपण साध्य-शक्ति-निरूपण व्यंगि-निरूपण काव्य-शेष निरूपण, रस-निरूपण आत्मकार-निरूपण आदि की व्याख्या की गयी है। दूसरे कवि राममुनाथ मिश्र रामकृष्ण सासा पिग्गिधारी माता जगन्नाथ कदसाहि, बेरीसास समनस गिरनाथ छान भूपिनाथ जनराज उजियादे, हुरिलाथ रंग रानी चंदन देवकी मन्दन मधुबत सिंह, जयत सिंह रान सिंह मान कवि बेनी प्रवीन रणधीर सिंह माठयन रसिक योगिन्द्र तथा प्रताप साहि वा उल्लेख किया गया है। प्रदान साहि के सिद्धान्तों में विशेष रूप से काव्य-निरूपण साध्य-शक्ति-निरूपण, रस-निरूपण काव्य-गुण निरूपण और काव्य-शेष-निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय के अन्त में मनीष आचार्य की कविता के साथ टीठि काशीम साहित्य शास्त्र की परम्परा का सिद्धान्तोक्त करते हुए यह संकेत किया गया है कि लगभग एक सहस्र वर्षों तक प्रसारित यह परम्परा मुख्य रूप से संस्कृत साहित्य शास्त्र के अनुकरण पर विकसित हुई। संस्कृत और तीर्थ साहित्य शास्त्रों में मुख्य भेद यह रहा कि संस्कृत के आचार्य मूल रूप से काव्य शास्त्रज्ञ थे जब कि हिन्दी के प्रधानतः कवि। उद्देश्यवत् इस विपरीतता के कारण उनके सिद्धान्त-निर्माण में परस्पर भिन्नता रहने के कारणों की ओर भी ध्यान में संकेत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबंध के पाँचवें अध्याय में पारशात्य और भारतीय समीक्षा परम्पराओं के वृत्तिकाम का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। प्राचीनता की दृष्टि से यदि इन दोनों परम्पराओं में पर्याप्त साम्य मिलता है तो विपरीत की दृष्टि से पर्याप्त भेद भी। दोनों ही के प्राचीनतम रूप सूत्रात्मक टीली में उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक काव्य के प्रयोजन का सम्बन्ध है, पारशात्य तथा भारतीय विचारकों में कोई विशेष अन्तर नहीं मिलता है। होमर, हेसियड अरस्तु नामक छह बृहत्तम मन्त्र तथा विरचनाय आदि के विचारों में काव्य के उद्देश्य के रूप में मुख्य रूप से आनन्द प्राप्ति को ही मान्य किया गया है। पारशात्य विचारकों ने आनन्दानुभूति के साथ ही साथ मानव का सम्बन्ध भी अपना एक उद्देश्य बनाया है। अरस्तु ने उपदेशात्मक अथवा नैतिक आदेश की धारणा भी बनायी है क्योंकि उसके विचार में काव्य सत्य का निरूपण करता है। भारतीय दृष्टिकोण भी काव्य के उपर्युक्त उद्देश्यों से अलग नहीं रहता यद्यपि भारतीय विचारकों ने काव्य की आत्मा के अन्वेषण की ओर ही अधिक ध्यान दिया है।

काव्य के विविध रूपों के विवेचन के अन्तर्ग में प्राचीन भारतीय संस्कृत काव्य शास्त्रियों ने नाटक और महाकाव्य का प्रधानता दी है। काव्य के मुख्य तथा अन्य रूपों का अन्तर्गत उन्होंने व्याख्यात्मक रूप में किया है। आपस अथवा वस्तुता को उन्होंने विशेष

उदात्त तत्वों को अधिक महत्व देता है तो यथार्थवाच यथार्थानुकारिता पर अभिव्यंजना बाध यदि अभिव्यक्ति की दृष्टि पर गौरव देता है तो रूप बाद उसकी बाह्य अपारमकता पर। किसी न किसी रूप में ये वैचारिक विस्तार का ही सूचन करते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सातवें अध्याय में भारतीय वैचारिक आन्दोलनों का स्वरूप और सैद्धान्तिक आधार स्पष्ट किया गया है। भारतीय समीक्षा के अन्तर्गत जो सैद्धान्तिक आन्दोलन आभिर्भूत हुए, उनका ज्ञेय प्रायः संस्कृत साहित्य शास्त्र ही रहा। जाने चल कर हिन्दी रीति शास्त्र की परम्पराओं ने उन्हीं के अनुसार सिद्धान्त निर्देशन किये। ये आन्दोलन मुख्यतः काव्य की आत्मा के अन्वेषण से सम्बन्धित हैं और परस्पर मिलता जोड़े हुए भी एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। इनमें से प्राचीनतम रस सिद्धान्त है जिसके प्रवर्तक भरत मुनि माने जाते हैं। भरत मुनि ने विभाव अनुभाव तथा संचारी भाव के सहयोग से रस की निष्पत्ति बतायी। जागे चल कर इस सिद्धान्त का जो कुछ भी विकास हुआ उसके मूल रूप में भरत मुनि का यही सिद्धान्त विद्यमान रहा। भरत मुनि ने रस का जो स्वरूप-विवेचन किया, वह नाटक पर आधारित था। जाने चल कर काव्य पर इस सिद्धान्त का आरोपीकरण हुआ और उसे व्यापक क्षेत्रीय प्रसार और साम्यता मिली। रस के स्थायी भाव विभाव अनुभाव तथा संचारी भाव नामक चार अंग माने गये हैं। प्रमुख रसों की संख्या नौ बतायी गयी है, जो शृंगार, वीर, कम्प, अद्भुत हास्य भयानक बीमत्स रौद्र तथा घान्त हैं। इनमें से प्रत्येक रस की पृथक-पृथक निरूपण और व्याख्या की गयी है। इस सिद्धान्त का भारतीय साहित्य शास्त्र में इस कारण व्यापक क्षेत्रीय प्रसार रहा, क्योंकि इसके अन्तर्गत काव्य के कला और भाव पक्षों का संतुलन मिलता है।

भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत प्रमुख सम्प्रदायों में अलंकार सिद्धान्त भी एक है। संस्कृत साहित्य शास्त्र में अलंकार की सुदीर्घ परम्परा मिलती है। संस्कृत में इसके प्रवर्तक आचार्य भागवत के, यद्यपि उनका अलंकार विराचन न तो बहुत विस्तृत है और न प्राचीनतम। भरत मुनि ने अपने "नाट्य शास्त्र" में अलंकार वर्णन किये हुए केवल चार अलंकार स्वीकृत किये थे। जागे चलकर उनकी संख्या सैकड़ों में हो गयी। भागवत बंटी तथा उद्भट आदि ने भी अलंकार-निरूपण प्रस्तुत किया। अलंकारों का विभाजन मुख्यतः अलंकार और अलंकार के रूप में हुआ है। अलंकार सिद्धान्त कवि की अभिव्यक्ति और कला की प्रीति का मापक है। काव्य के सौन्दर्य और प्रभाव की दृष्टि में अलंकार एक सफल माध्यम का काम करता है। इसीलिए उसकी परम्परा वर्तमान समय तक असंख्य रूप से प्रवाहशील मिलती है।

संस्कृत साहित्य शास्त्र के अन्तर्गत तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त रीति सम्प्रदाय से सम्बन्धित है। इसका प्रवर्तन आचार्य बामन ने किया। बामन के अतिरिक्त भी संस्कृत साहित्य शास्त्र में देने अनेक विचारक हुए जिन्होंने रीति की विवेचना की। बामन ने रीति को काव्य की आत्मा के रूप में जोषित किया। रीति का साहित्यिक अर्थ "मार्ग" या "पंथ" है। प्राचीन युग में काव्य क्षेत्रीय हो मार्ग माने जाते थे। इनमें से प्रथम वैदिक मार्ग या और द्वितीय गौडीय मार्ग। बामन ने इनमें चौथी को और जोड़ दिया तथा इसकी सम्बद्ध व्याख्या प्रस्तुत की। राजशेखर ने भी इन्हीं को मान्यता दी। खट्ट ने इनमें एक चौथी रीति साटीमा भी जोड़ दी। जाने जन कर दोष ने जाबली तथा मागरी के रूप में दो और रीतियों को मान्यता दी। इस प्रकार से रीतियों की कुल संख्या छः हो गयी। यद्यपि अधिकतर विद्वानों ने बामन की ही तीन मान्य रीतियों का अनुमोदन किया। इस परम्परा के विचारकों ने रीति की व्याख्या करते हुए रीति विभाजन के आशय, रीति के तत्त्व रीति के निवामक हेतु, रीति का प्रवृत्ति क्षति और रीति की दृष्टि से भेद कवि मार्ग रीति के पुन तथा होय आदि की विचार से व्याख्या की। इस सिद्धान्त को जाने चल कर संस्कृतितर भाषाओं में भी मान्यता मिली।

संस्कृत साहित्य शास्त्र में प्रवर्तित बन्धोक्ति सिद्धान्त की स्थापना आचार्य मुत्तक ने की। इस सिद्धान्त के अनुसार बन्धोक्ति ही काव्य की आत्मा है। बन्धोक्ति का प्रयोग और अर्थ विविध भाषाओं में पुनः-पुनः रूप से किया है। नागह ने सव्य बन्धना तथा अर्थ बन्धना के सम्मिलित रूप को बन्धोक्ति कहा। इंदी ने बन्धोक्ति को बाह्य मय का एक भेद माना और बन्धना चामत्कारिकता अथवा अविद्योक्ति के अर्थ में उसे स्वीकार किया। बामन ने बन्धोक्ति को अर्थान्तरकार माना। खट्ट ने उसे चन्द्रान्तरकार का एक भेद स्वीकार किया। आनन्दबर्द्धन ने बन्धोक्ति को अर्थान्तरकार, अविद्यम मुप्य ने सामान्य अर्थान्तरकार और सम्मट तथा बन्धुप ने उसे विशिष्ट अर्थान्तरकार के रूप में ही मान्य किया। इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य मुत्तक ने प्रसिद्ध कथन से सिद्ध करने रीति को बन्धोक्ति बताया। यह रीति सोच व्यवहार से निष्पत्ता रखती है। उन्होंने बन्धोक्ति के छः भेद किये—अर्थ-विग्राह बन्धना पर-पूर्वाह बन्धना पर-परान्त बन्धना वाच्य-बन्धना प्रकरण-बन्धना तथा प्रवच्य-बन्धना। इन सबके भी अनेक उप-भेद करते हुए उन्होंने उन सबकी व्याख्या की। इससे यह सिद्ध है कि बन्धोक्ति सिद्धान्त मुख्यतः काव्य में निहित चामत्कारिक तत्वों को निरूपित करने वाला सिद्धान्त है। इस दृष्टि से यह एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जिससे अनेक प्रकार की पूर्ववर्ती वैचारिक संकीर्णताओं का अन्त हो ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के छठे अध्याय में पाश्चात्य वैचारिक आन्दोलनों का स्वल्प और सैद्धान्तिक आचार स्पष्ट किया गया है। सगमग आई हुआर जयों की सुवीर्ष परम्परा से सम्बद्ध पाश्चात्य विन्तन समय-समय पर अनेक विचार बाराजों को जन्म देता रहा है। बिन्द की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं की भाँति प्राचीन यूरोपीय साहित्य और विन्तन में आबर्षवादी विचारबारा की प्रभावना रही है। आबर्षवाद एक प्रकार की उवात्ता का सूचक है जो मनुष्य की भौतिक उत्पत्ति की आध्यात्मिक परिणति की सम्भावनाओं पर विचार करती है। इससे उत्पन्न जीवन-स्तर के निर्वाह की प्रेरणा भी मिलती है। इस दृष्टिकोण से इसका क्षेत्र विस्तार बहुत अधिक है। परन्तु इस पर मुख्य बालेप यह—सगाया जाता है कि इसमें आबर्षवाद और कल्पनात्मकता का आविर्भाव है। पाश्चात्य साहित्य विन्तन के क्षेत्र में यह विचारबारा अनेक रूपों में महत्व रखती है। सौमाह्नस के उवात्तावादी विचारों को भी आबर्षवाद का ही एक रूप समझा जा सकता है। आबर्षवाद के साथ ही इस अध्याय में बिन्द अन्य विचारबाराओं की परिचयात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है जहाँ से एक प्रभाववाद भी है। इस दृष्टिकोण से अनुसार किसी रचना के सम्पूर्ण प्रभाव के स्तर प्रकार और भाषा के अनुसार उसके मुख्य का निर्धारण किया जाता है। इसी प्रकार से प्रतीकवादी विचारबारा का प्रचार भी पाश्चात्य साहित्य में बिन्द रूप में मिलता है। प्रतीकवाद के साहित्यिक और वैज्ञानिक रूपों का प्रचार बहुत अधिक है। अनेक प्रतीक विविध क्षेत्रों में परम्परा से मान्यता रखते हैं। इसीमिये पाश्चात्य साहित्य और कला के विन्तन के क्षेत्र में प्रतीकवाद एक विशिष्ट आन्दोलन के रूप में महत्व रखता है।

पाश्चात्य विचारबाराओं में अज्ञेयवाद का भी प्रचार रहा। १९वीं शताब्दी में सर्वप्रथम टॉमस हेनरी हक्सले ने इसका अनुसरण किया। इस मत के अनुसार संसार के मूल तत्त्व अज्ञात हैं इसमिये इनके नियम में किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है। साथ ही इस संसार में किसी अलौकिक शक्ति या ईश्वर का अस्तित्व अवश्य है परन्तु उसके नियम में किसी प्रकार का कोई ज्ञान प्राप्त करने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। एक दूसरी विचारबारा अभिव्यक्ततावाद की चर्चा भी इसी अध्याय में की गई है। अभिव्यक्तता कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप को कहते हैं। प्रसिद्ध यूरोपीय सीधर्ष शास्त्री कोषे ने यह निर्दिष्ट किया है कि कला सदैव आत्मविभक्ति का एक रूप होती है। प्राचीनता की दृष्टि से रचनात्मक अभिव्यक्ति के प्रयोग और साधन रोमीय साहित्य शास्त्र तक में मिलते हैं। कोषे का यह मत है कि सीधर्ष वस्तुओं का कोई गुण नहीं है, बल्कि यह किसी आत्मिक क्रियाशीलता से स्वाभाविक रूप से निःसृत होता है। इसीमिये यह

अभिव्यञ्जना को अन्तर्भव बनाता है जो अपने ज्ञान में साहित्य और कला की चरम परिपक्वता है। इसी प्रकार से एक और महत्वपूर्ण विचारधारा रूप बाब है, जो साहित्य और कला में उसके विस्तार-विशाल और रूप-यात्रा को ही अधिक महत्व देती है। यह सिद्धांत भी सूत्र रूप में प्राचीन विन्तकों से सम्बद्ध किया जाता है यद्यपि इसे अग्रिम सभी साम्यता में मिला सकी।

पारम्परिक चिन्तन में कुछ ऐसी विचारधाराएँ भी प्रचलित हैं जिसका क्षेत्र मुख्य रूप से दर्शन पारम्परिक आदि हैं परन्तु साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी व्यापक निहित निहित है। अस्तित्ववादी विचारधारा इसी प्रकार की एक दार्शनिक विज्ञान प्रणाली है, जिसका प्रभाव साहित्य में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट गतिरोध अथवा संकट का दर्शन है। इसके अनुसार हमारे आध्यात्मिक स्थिति के मूल में संकट विद्यमान है। मनुष्य अनेक कारणों से परिस्थिति के सामने आत्म-उत्कर्षण कर रहा है। अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट की बड़ी मौलिक और सही व्याख्या करने हुए इसके अन्तराल को दूर करने की चेष्टा करता है। यह विचारधारा भी अनेक विन्तकों द्वारा समर्थित हुई और अनेक ने इसका विरोध किया। आधुनिक युग में अनेक रचनात्मक साहित्यकारों ने अपने साहित्य में इसका स्वीकार किया। इस विचारधारा के प्रमुख विचारकों के सिद्धांतों का परिचय देते हुए, जन्म में यह बताया गया है कि आधुनिक यूरोपीय साहित्य के क्षेत्र में नृजनगीत शक्ति के रूप में इसका प्रमुख स्थान है।

यूटान में यथार्थवाद तथा जन्म परम्परा अतिथयार्थवाद के रूप में भी साहित्यिक विचारधाराओं का प्रसार हुआ। यथार्थवाद साहित्य में यथार्थता के अनुकरण पर विशेष रूप से बल देता है। रचनात्मकता तथा आदर्शवादीता जैसी यथार्थवाद का विरुद्ध रूप है। यह भी एक प्रकार का प्रतिक्रियात्मक चिन्तन है। सिद्धान्त अतिथयार्थवादियों के अनुसार कला या साहित्य को पूर्णतः वीक्षण नहीं होना चाहिए, क्योंकि बीबा होने से मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियों के अन्तर्विरोध के विज्ञान की सम्प्राप्तियों कम हो जायेंगी। अतिथयार्थवादी विचारधारा के समर्थकों के अनुसार आधुनिक सम्य समाज में माध्यमिक दृष्टिरोध भी निरर्थक है। अतिथयार्थवाद का ध्येय यथार्थवाद की निर्धारित सीमाओं का विस्तार करना था। इसे प्रवृत्तता भी कहा जाता है। कुछ समय इसका आकार "शरावाद" का भी माना है। इस प्रकार से इस अभ्यास में पारम्परिक विचारधाराओं में से कुछ का परिचरणात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए अन्त में यह संकेत दिया गया है कि इसमें परिवर्तनशीलता की ओर विस्तार की भी प्रवृत्ति है। आदर्शवाद यदि साहित्य में

प्रस्तुत ग्रन्थ के छठे अध्याय में पाश्चात्य वैचारिक आन्दोलनों का स्वल्प और संक्षेपिक आचार स्पष्ट किया गया है। सगमग आई हजार वर्षों की सुवीर परम्परा से सम्बद्ध पाश्चात्य चिन्तन समय-समय पर अनेक विचार वाद्यों को जन्म देता रहा है। विद्वत् की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं की भाँति प्राचीन युरोपीय साहित्य और चिन्तन में नादर्थवादी विचारधारा की प्रधानता रही है। आदर्शवाद एक प्रकार की उद्यत्ता का सूचक है जो मनुष्य की भौतिक क्षमता की आध्यात्मिक परिणति की सम्भावनाओं पर विचार करती है। इसके उच्चतर जीवन-स्तर के निर्वाह की प्रेरणा भी मिलती है। इस दृष्टिकोण से इसका क्षेत्र विस्तार बहुत अधिक है। परन्तु इस पर मुख्य आशेष यह लगाया जाता है कि इसमें आध्यात्मिकता और कल्पनात्मकता का आधिक्य है। पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के अंत में यह विचारधारा अनेक रूपों में महत्व रखती है। लॉन्गिनस के उदात्तवादी विचारों को श्री आकाशवाक् का ही एक रूप समझा जा सकता है। आदर्शवाद के साथ ही इस अध्याय में अनेक अन्य विचारधाराओं की परिचयात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, जिनमें से एक प्रभाववाद भी है। इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी रचना के सम्पूर्ण प्रभाव का स्तर, प्रकार और मात्रा के अनुसार उसके मूल्य का निर्धारण किया जाता है। इसी प्रकार से प्रतीकवादी विचारधारा का प्रसार भी पाश्चात्य साहित्य में विषद रूप में मिलता है। प्रतीकवाद के साहित्यिक और वैज्ञानिक रूपों का प्रसार बहुत अधिक है। अनेक प्रतीक विविध क्षेत्रों में परम्परा से मान्यता रखते हैं। इसीलिए पाश्चात्य साहित्य और कला के चिन्तन के क्षेत्र में प्रतीकवाद एक विशिष्ट आन्दोलन के रूप में महत्व रखता है।

पाश्चात्य विचारधाराओं में अज्ञेयवाद का भी प्रचार रहा। १९वीं सताब्दी में सर्वप्रथम टॉमस हेनरी हक्सले से इसका अनुगमन किया। इस मत के अनुसार संसार के मूल तत्त्व अज्ञात हैं इसलिए इनके विषय में किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है। साथ ही इस संसार में किसी असीमिक शक्ति या ईश्वर का अस्तित्व अवश्य है परन्तु उसके विषय में किसी प्रकार का कोई ज्ञान प्राप्त करने का कोई सामन उपलब्ध नहीं है। एक दूसरी पश्चात्पाद अविश्वसनात्मकता की चर्चा भी इस अध्याय में की गई है। अविश्वसनात्मकता अविश्वसति के रूप को कहते हैं। प्रसिद्ध युरोपीय सर्वप्रथम शास्त्री कोचे ने यह निर्दिष्ट किया है कि कला सदैव आत्मविश्वसति का एक रूप होती है। प्राचीनता की दृष्टि से रचनात्मक अविश्वसति के प्रयोग और शास्त्र रोमीय साहित्य शास्त्र तक में मिलते हैं। कोचे का यह मत है कि सर्वप्रथम मनुष्यों का कोई गुण नहीं है बल्कि वह किसी आत्मिक क्रियाशीलता से स्वाभाविक रूप से निरूपित होता है। इसीलिए वह

निवेदन

अविमर्शबन्धन को सम्मरण बनाता है जो अपने मन में साहित्य और कविता है। इसी प्रकार में एक और महत्वपूर्ण विचारधारा रूप बाध है कला में उसका गिरन-विधान और रूप-योजना को ही अधिक महत्व देते भी कुछ कला में प्राचीन विचारों में सम्बद्ध किया जाता है यद्यपि इसे मान्यता नहीं मिल सकती।

पारम्परिक चिन्तन में कुछ ऐसी विचारधाराएँ भी प्रचलित हैं रूप से दर्शन-प्राप्त आई हैं परन्तु साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी व्याप्ति है। अस्तित्ववादी विचारधारा इसी प्रकार की एक दार्शनिक चिन्तन प्रमाण साहित्य में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। अस्तित्ववाद पश्चिमोत्पन्न विचारधारा का दर्शन है। इसके अनुसार हमारी भाषाओं में संकट विद्यमान है। मनुष्य अनेक कारणों से परिस्थिति के सामने होता है। अस्तित्ववाद आध्यात्मिक संकट की बड़ी मौलिक और गंभीर इसके अन्वयकार को दूर करने की चेष्टा करता है। यह विचारधारा द्वारा समझाता है कि और अनेक से इसका विरोध किया। आध्यात्मिक साहित्यकारों ने अपने साहित्य में इसका स्वीकार किया। प्रमुख विचारकों के सिद्धांतों का परिचय देने हुए, अन्त में यह बताया कि यूरोपीय साहित्य के क्षेत्र में मूलनगरीय चर्चा के रूप में इसका।

यूरोप में अन्धकारवाद तथा उसके पश्चात् अतिप्रायश्चित्त के विचारधाराओं का प्रसार हुआ। अन्धकारवाद साहित्य में अन्धकारवाद के रूप में बल बना है। अन्धकारवाद तथा आध्यात्मिकता उन्नीसवीं शताब्दी का एक प्रकार का प्रतिधियात्मक चिन्तन है। सिद्धान्त के अनुसार कला या साहित्य को पूर्णतः बोद्धिक नहीं माना चाहिए, न मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियों के अंतर्विरोध के विरुद्ध की सम्भाव्य अन्धकारवाद की विचारधारा के समर्थकों के अनुसार आधुनिक सौंदर्य दृष्टिकोण भी निरर्थक है। अन्धकारवाद का प्रयोग कला सीमाओं का विस्तार करना था। इसे प्रकृतिकाल माना जाता है। "शब्दवाद" को भी मानते हैं। इस प्रकार से इस अध्याप में पारम्परिक रूप का परिचालन विवरण प्रस्तुत करने हुए अन्त में यह संकेत

बर्षा नहीं की। इसके विपरीत पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों ने आरम्भ से ही भाषण कला को प्राथमिकता दी है। इस विषय में प्रारम्भिक चिन्तन ती टीसियस आदि ने ही आरम्भ कर दिया था परन्तु इसका विस्तृत विश्लेषण यूनानी चिन्तकों में सर्वप्रथम अरस्तू ने ही किया। रोम के साहित्य शास्त्रियों में भी सिसरो ने भाषण शास्त्र को साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया। उसका विचार था कि कलात्मकता तथा उपमोषिता की दृष्टि से भाषण शास्त्र साहित्य की अपेक्षा प्राथमिक महत्व का अधिकारी है। यूरोप के पुनर्जागरण कालीन चिन्तक सर टॉमस बिस्सन ने भी भाषण कला का विश्लेषण किया। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियों ने बाह्य मय की एक प्रमुख विधा के रूप में भाषण कला को मान्यता दी है जब कि हमारे देश में उसे इतना महत्व नहीं दिया गया।

यहाँ तक साहित्य के माध्यमों का सम्बन्ध है प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र में सर्वप्रथम भरत मुनि ने नाटक की व्याख्या करते हुए अपने "नाट्यशास्त्र" नामक ग्रन्थ में उस पर विचार किया। भरत के पश्चात् संस्कृत चिन्तकों में आमह वर्णजय आदि ने नाटक के विविध अंशों और तत्वों की गम्भीर व्याख्या प्रस्तुत की। पाश्चात्य साहित्यकारों में भी सर्वप्रथम प्लेटो ने नाट्य कला पर विचार किया। प्लेटो के पश्चात् यूरीपाइडीज और अरस्तू ने इस विषय की व्याख्या की। अरस्तू ने काव्य की प्रति ही नाटक को भी अनुकरण का एक सामान्य माना। रोमीय चिन्तकों में होरेस ने तथा पुनर्जागरणकालीन चिन्तकों में बेन जानसन और उसके पश्चात् डा० जानसन ने नाट्य कला और नाट्य रूपों का विश्लेषण किया। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पारसीय चिन्तकों ने काव्य की प्रति ही नाटक का मूल तत्त्व भी उस को ही मान्य किया है जब कि पाश्चात्य विचारकों ने उसके अन्य तत्वों को प्रमाणता देते हुए उसकी व्याख्या की है।

भारतीय समीक्षा शास्त्र का आरम्भ करने वाले भरत मुनि संस्कृत उस विज्ञान के भी प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। उन्होंने उस की सांख्यिक व्याख्या करते हुए उसे नाटक और काव्य की आत्मा के रूप में मान्य किया। महाकाव्य और नाटक में उस विश्लेषण पर उन्होंने मुख्यता दी। आनन्दवर्द्धन ने भी उस औचित्य का विशेष रूप से समर्थन किया। अमिनर बुष्ट ने उस की उत्पत्ति नाटक से ही बतायी। वर्णजय ने उस को रसकर्मती बताया। हमारे यहाँ जितना महत्व उस को प्रदान किया गया पाश्चात्य समीक्षा में उतना ही महत्व अनुकरण को। अरस्तू ने तो काव्य और नाटक की मूल प्रेरणा ही अनुकरण को सिद्ध किया। यहाँ तक कि उसने कलाओं का विभाजन भी अनुकरण के आधार पर ही किया और काव्य, नाटक तथा संगीत को अनुकरण के विविध प्रकार माना। रूढ़ेका

साधन यह है कि भारतीय और पारशात्य दृष्टिकोण में इस क्षेत्र में अन्तर यह रहा है कि पारशात्य विन्तन व्यावहारिक रहा जबकि भारतीय विन्तन में सैद्धांतिकता अधिक रही।

काव्य क्षेत्रों के निकषण के सम्बन्ध में प्राचीन संस्कृत साहित्य में बामह ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने गद्य और पद्य कर्षों की विस्तार से व्याख्या की। ईदी ने भी इसी प्रकार का वर्गीकरण किया। बामन का काव्य-विभाजन का आधार भी गद्य और पद्य ही रहे। आनन्दचर्दन ने महाकाव्य के भेद करते हुए रस प्रधान महाकाव्य को इतिवृत्त-प्रधान महाकाव्य से भेद कहा। नाटक में भी उन्होंने रस-विवेचन की मुख्यता निर्दिष्ट की। बर्नजय ने रूपक के रस भेद बताते हुए उनकी चर्चा और व्याख्या की। भोज ने काव्य और द्रव्य काव्य का वर्गीकरण किया। मम्मट, विश्वनाथ तथा जयन्ता ने भी भेदों के आधार पर काव्य के भेद प्रस्तुत किये। जहाँ तक इस विषय में पारशात्य दृष्टिकोण का सम्बन्ध है जेटो ने सबसे पहले गीति काव्य, नाटक और महा काव्य के रूप में इनका वर्गीकरण किया। अन्य विचारकों में सौबानस तथा चित्तो जादि ने भी प्रायः पूर्ववर्ती सिद्धान्तों के आधार पर अपने मत प्रस्तुत किये। भारतीय और पारशात्य दृष्टिकोण में इन विषयों के सम्बन्ध में मुख्य अन्तर यह रहा है कि जहाँ भारतीय दृष्टिकोण में इन पर बल देते हुए विस्तार के साथ विद्वान् रचना हुई है, जिहाँ पारशात्य विन्तन के क्षेत्र में इन पर इतना अधिक गौरव नहीं दिया गया है। यहाँ तक कि जेटो जादि अनेक विचारकों ने कभी-कभी रचनात्मक दृष्टिकोण से भी नाटक जादि का विरोध किया।

पारशात्य और भारतीय सिद्धान्तों की स्वरूपगत सर्वांगीयता की ओर भी इसी अध्याय में संकेत किया गया है। संस्कृत साहित्य में अलंकार सिद्धान्त का व्यापक प्रसार मिलता है और अनेक विचारकों द्वारा की गई इसकी विमल व्याख्या उल्लेख है। भरत, बामह ईदी, बामन चरट जादिने अलंकार को महत्व देते हुए उनका सम्यक विवेचन किया है। अलंकार की ही भाँति जो अन्य सम्प्रदाय हैं उनमें रस, रीति ध्वनि तथा वक्त्रेति का महत्व प्रतिपादित हुआ है। इसके विपरीत पारशात्य साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में बाम्य में अलंकार को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, जहाँ पापन-रत्ना की प्रापमिकता सिद्ध करते हुए उसी पर अधिक बल दिया गया है। सादीय रूप में इस अध्याय के अन्त में पारशात्य और भारतीय सदीमा के दृष्टिकोणगत साम्य और वैषम्य पर विचार करते हुए यह संकेत किया गया है कि पारशात्य साहित्य विन्तन में सैद्धांतिकता का आधार है और उस प्रत्येक कृति का ब्याप है, जो भारतीय विन्तन की वैचारिक संगठनात्मकता की प्रतीक है।

इस अध्याय में अंतिम सिद्धान्त के रूप में ध्वनि सम्प्रदाय का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दबर्द्धन के अनुसार ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। उन्होंने ध्वनि काव्य को सर्वोच्च कोटि का काव्य बतसाया है। ध्वनि सिद्धान्त विषय क्षेत्रीय व्यापकता की दृष्टि से विशेष महत्व रखता है। इसके स्वरूप के स्पष्टीकरण के संदर्भ में श्रव्य शक्तियों की व्याख्या करते हुए उनके भवों और उपभेदों का निरूपण किया गया है। ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार काव्य और ध्वनि के भी अनेक भेद होते हैं जिनकी इसमें चर्चा की गयी है। इस प्रकार से काव्य के अंतरंग एवं बहिरंग का परीक्षण करने वाले प्रमुख भारतीय शास्त्रीय सिद्धान्तों का परिचय इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के आठवें अध्याय में पाश्चात्य और भारतीय वैचारिक आन्दोलनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन की आधार भूमि के संदर्भ में इन दोनों के स्वरूप पर विचार किया गया है। पाश्चात्य अतिव्यंगनावाद के तर्कों की व्याख्या करते हुए उसकी समीक्षात्मक परिणति का भी निर्देश किया गया है। कोचे अतिव्यंगना को ए० ऐसी आन्तरिक अनिश्चयिता मानता है जिसका सम्बन्ध मन से है। अतिव्यंगना की प्रक्रिया का विस्लेषण करते हुए वह यह कहता है कि जो भी बाह्य अतिव्यंगना हम अभिव्यक्त करते हैं, वह पूर्व रूप में हमारे हृदय में आन्तरिक रूप से अभिव्यक्त हो चुकी होती है। इसलिए इस संसार में जो कुछ भी प्रकट में है वह मानसिक कार्य या व्यापार का ही बाह्य रूप है और समस्त कला की रचना का मूल आधार मन ही है। इस प्रकार से कोचे ने काव्य में कल्पना उत्पन्न का महत्व स्वीकार करते हुए काव्य की आत्मा के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की है और काव्य के अन्य तत्वों को अप्रधान बताया है। वहाँ तक भारतीय विचारधारा का सम्बन्ध है उसमें कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसके अनुसार कल्पना को काव्य की आत्मा माना गया हो।

पाश्चात्य समीक्षा के यथार्थवादी आन्दोलन के अनुसार साहित्य में यथार्थानुकारिता का महत्व सबसे अधिक है। हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान मिलती है और पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप इसमें वैज्ञानिक और विकास भावित होजा है। हिन्दी में ये दोनों ही विभिन्न रूपों में दिखाई देती हैं। पाश्चात्य साहित्य में प्रतीकवादी आन्दोलन भी अपेक्षाकृत अधिक विघातित रूप में मिलता है। हमारे देश में प्रतीक की रीति बहुत प्राचीन है, परन्तु प्राचीन कला आधुनिक युग में इसे एक संगठित आन्दोलन का रूप नहीं दिया गया। पाश्चात्य अतिव्यंगवादी विचारधारा पूर्व कालीन रोमांटिक साहित्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में आरम्भ हुई। हमारे यहाँ भी उसका मूल

यिक प्रभाव देखा जा सकता है। अस्तित्ववादी विचारधारा मूलभूत दर्शन क्षेत्रीय है। जहाँ तक अस्तित्ववाद की साहित्यिक परिधि का सम्बन्ध है वह स्वच्छांतरताकार न प्रभावित कहा जा सकता है। युद्धोत्तरकालीन पारचात्य साहित्य में इसका समावेश व्यापक रूप में मिला है। हिन्दी के भी नवीन साहित्य चिन्तन पर इसका प्रभाव मूलनायिक रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय रस सिद्धान्त काव्य की आत्मा का अन्वेषण करने वाला सिद्धान्त है। क्रमेण आदि न पारचात्य चिन्तन के क्षेत्र में जिस सहजानुभूति की व्याख्या की है वह रसानुभूति से बहुत कुछ मिलाती-जुलाती है। इस विषय से सम्बन्धित भारतीय जीव पारचात्य दृष्टिकोण में मुख्य अन्तर यह है कि यहाँ रसानुभूति पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया है और वहाँ अनुकरण पर। भारतीय अलंकार सिद्धान्त व्यापकता और सम्पन्नता की दृष्टि से साहित्य जगत में विख्यात है। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ "मिटारिक" में अलंकार का प्रयोग भारतीय अर्थ में नहीं किया है बल्कि मापक कला तथा काव्योपयोग के सम्बन्ध में ही इस प्रयुक्त किया है। वह अनुकरण पर गौरव देता था जब कि इंग्लैंड यहाँ अलंकार को काव्य की आत्मा के रूप में मान्य किया गया है। भारतीय ध्वनि सिद्धान्त भी काव्य की आत्मा का अन्वेषक है। इसका विस्तार इतना अधिक है कि अन्य सभी सिद्धान्त इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु पारचात्य दृष्टिकोण में काव्य का तात्त्विक विस्तेषण करने वाला ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं मिलता।

भारतीय रीति सिद्धान्त काव्य में गुणों की अलंकार की अपेक्षा अधिक महत्व देता है। इसमें विशिष्ट १८ रचना या विशिष्ट काव्य रीति की रीति कहा गया है। इसकी तुलना पारचात्य प्रतीकवाद से की जा सकती है, जो रीति की विशिष्टता पर गौरव देता है। इसमें मुख्य अन्तर यह है कि प्रतीकवाद यहाँ सब काम और रीति की ओर ही संकेत करता है वहाँ रीति सिद्धान्त उसे काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करता है। भारतीय अर्थोक्ति सिद्धान्त काव्य में सामाजिक तत्त्वों को महत्व देता है। पारचात्य अर्थोक्तिवादी विचारक भी उक्ति की सामर्थ्य पर गौरव देते हैं। परन्तु अर्थोक्तिवादी दृष्टिकोण मूलतः दार्शनिक और सीमितकारी है, जब कि अर्थोक्ति सिद्धान्त विपुल अन्वेषण युक्त और साहित्य शास्त्रीय। इस प्रकार से प्रमुख भारतीय और पारचात्य आलोचकों की तुलना करते हुए इस अध्याय के अन्त में यह संकेत किया गया है कि हममें दृष्टिकोणगत कुछ मौलिक भेद हैं। पारचात्य चिन्तन पारदर्शक एकांगी है और काव्य के किसी एक अंग से सम्बन्ध रखती है। उनमें स्वाधीनता भी अधिक है।

नैयतिकता का आग्रह तथा अन्य सीमाएँ भी उनके प्रसार में बाधक हुईं । इसके विपरीत भारतीय सिद्धान्त अधिक सामयिकता का परिचय देते हैं और विद्युत् सास्त्रीय दृष्टिकोण से चिन्तन का रूप प्रस्तुत करते हैं ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के नवें अध्याय में आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विविध प्रवृत्तियों का परिचय दते हुए उनके अन्तर्गत आने वाले प्रमुख समीक्षकों के सैद्धान्तिक विचारों की संक्षेप में परिचयात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । आधुनिक हिन्दी समीक्षा की पृष्ठभूमि हिन्दी रीति साहित्य शास्त्र रहा है । जिस प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा से आचार तथा प्रेरणा ग्रहण करके रीति सास्त्र का विकास हुआ था उसी प्रकार से आधुनिक हिन्दी समीक्षा का विकास रीति सास्त्र से प्रभावित रहा । रीति सास्त्र के अन्तर्गत जो प्रमुख विचारक हुए हैं उन्होंने आधुनिक हिन्दी समीक्षा के विकास और उसके आरम्भिक कालीन विचारकों को विशेष रूप में प्रभावित किया । आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विविध प्रवृत्तियों के अन्तर्गत इस अध्याय में सर्वप्रथम ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति का आरम्भ विकास मुख्य विधेयताएँ तथा प्रमुख समीक्षकों की चर्चा की गयी है जिनमें मार्छा व ठाणी डा० छिन्नसिंह सेन, डा० शिवसेन मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दर दास पं० रामचन्द्र शुक्ल डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी डा० रामकुमार वर्मा तथा पं० विरबन्धन प्रसाद मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । सुचारु परक समीक्षा की प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की विविध समीक्षा कृतियों के आचार पर उनकी साहित्यिक मान्यताओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है । उत्पत्तयत् सुसन्तानमक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्वरूप के अन्तर्गत उसका आरम्भ और विकास स्पष्ट करते हुए मुख्यतः मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह धर्मा पं० कृष्णबिहारी मिश्र लाला मयबान दीन तथा सचीरानी गुरु आदि के समीक्षात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है ।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विविध प्रवृत्तियाँ क्रियाशील दिखाई देती हैं उनमें से सास्त्रीय समीक्षा की प्रवृत्ति भी एक है । समीक्षा के इस दृष्टिकोण को प्राचीन तथा सैद्धान्तिकता तथा विद्युत्ता की दृष्टि से उच्चतर कोटि का मान्य किया जाता है । इस प्रवृत्ति की पूर्ण परम्परा के अन्तर्गत इस अध्याय में कविराज गुरुद्वीप प्रताप मारामर्चसिंह कन्हैयालाल गोहार्, जगन्नाथप्रसाद "भानु" रमार्चकर शुक्ल "रघाव" सीताराम शास्त्री अर्जुनदास केडिया अबोध्यासिंह उपाध्याय "हरिजीव", मिहरीलाल घट्ट मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दर दास रामचन्द्र शुक्ल मुताबराय सीताराम कर्तव्येरी सकुमीनारामय सुबांधु, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा विरबन्धनप्रसाद मिश्र आदि प्रमुख सिद्धान्तों और मान्यताओं का परिचय दिया गया है । उत्पत्तयत् आचारवादी समीक्षा

की प्रवृत्ति का उल्लेख हुआ है। आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में द्विवेदी सुधीन काव्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में छायावाद का जन्म हुआ था। इसके प्रमुख विचारकों ने इसे एक सुनिश्चित स्वरूप प्रदान किया। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत अग्रगण्य "प्रसाद" भूयंकान्त त्रिपाठी "निराला" सुमित्रानन्दन पन्त महादेवी वर्मा चान्तिप्रिय द्विवेदी तथा रमाप्रसाद चड्ढे आदि के प्रमुख विचारों का परिचय दिया गया है।

आधुनिक युग की साहित्यिक विचारधाराओं में प्रगतिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति भी एक है। हिन्दी साहित्य में इसका आरम्भ मुख्यतः बिदेसी साहित्य के प्रभाव स्वरूप हुआ था। इसका विकास यथार्थवादी प्रवृत्ति से संयुक्त होकर हुआ। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत बहुत साहित्यिक प्रवासचक्र गुप्त डा० रामबिलास शर्मा पिबदान सिंह चौहान मन्मथ नाथ गुप्त डा० रांगेय रायन तथा श्री रामेश्वर शर्मा आदि के मुख्य विचारों को प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विभिन्न प्रवृत्तियों में व्यक्तिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति भी किमानी है। यह विचारधारा सामयिकता का विशेष न करते हुए भी साहित्य में युगानुक्रम प्रयोगों का समर्थन करती है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य में इस विचारधारा को प्रयोगवादी आलोचना के पदार्थ के रूप में समझा जाता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत जिन विचारकों के मतों का उल्लेख किया गया है, उनमें सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन "ब्रह्मेय", गिरिजाकुमार माथुर, डा० धर्मवीर भारती तथा मन्मोहन वर्मा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके साथ ही मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति की भी चर्चा की गयी है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत मुख्यतः बनेन्द्र कुमार, तथा इलाचन्द्र जोषी आदि के विचारों का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रवृत्ति धोबपरक समीक्षा की भी बनी या सकती है। वर्तमान घटनाओं में भारत के अनेक विरहविद्यालयों में बहून् रूप में जो धोब कार्य हो रहा है, उसके अन्तर्गत विरहित रूपों को इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति के कई रूप मिलते हैं जिनमें से प्रथम साहित्य विषयक धोब की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के प्रथम रूप अर्थात् कवि परक धोब प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० बन्धु प्रसाद मिश्र, डा० बनेश्वर वर्मा डा० बाताप्रसाद गुप्त तथा डा० हरचंद्रनाथ शर्मा आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, यद्यपि अन्य भी अनेक ऐसे नाम हैं जो इसी के अन्तर्गत रहे गये हैं। इसी प्रथम रूप के अन्तर्गत सम्प्रदाय परक धोब प्रवृत्ति में डा० पीताम्बरदास बड़वाल डा० दीनदयाल गुप्त डा० मुंशीराम शर्मा डा० विनयमोहन शर्मा तथा अन्य विद्वानों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रवृत्ति के तीसरे रूप अर्थात् पात्र परक धोब प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० रमाशंकर शुक्ल "रसान", डा० गीतराज मिश्र,

वैयक्तिकता का आग्रह तथा अन्य सीमाएँ भी उनके प्रसार में बाधक हुईं। इसके विपरीत भारतीय सिद्धान्त अधिक सामयिकता का परिचय देते हैं और विमुक्त शास्त्रीय दृष्टिकोण हि चिन्तन का रूप प्रस्तुत करते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध के नवें अध्याय में आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विविध प्रवृत्तियों का परिचय देते हुए उनके अन्तर्गत आने वाले प्रमुख समीक्षकों के सैद्धान्तिक विचारों की संक्षेप में परिचयात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की पृष्ठभूमि हिन्दी रीति साहित्य शास्त्र रहा है। जिस प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्र को परम्परा से आधार तथा प्रेरणा ग्रहण करके रीति शास्त्र का विकास हुआ या उसी प्रकार से आधुनिक हिन्दी समीक्षा का विकास रीति शास्त्र से प्रभावित रहा। रीति शास्त्र के अन्तर्गत जो प्रमुख विचारक हुए हैं उन्होंने आधुनिक हिन्दी समीक्षा के विकास और उसके आरम्भिक कालीन विचारकों को विशेष रूप से प्रभावित किया। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विविध प्रवृत्तियों के अन्तर्गत इस अध्याय में सर्वप्रथम ऐतिहासिक समीक्षा की प्रवृत्ति का आरम्भ विकास मुख्य विशेषताएँ तथा प्रमुख समीक्षकों की चर्चा की गयी है जिनमें बाला ब ठासी डा० चिबसिंह सेंगर, जार्ज ग्रियर्सन मिश्रबन्धु, डा० स्वामसुन्दर दास पं० रामचन्द्र शुक्ल डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी डा० रामकुमार वर्मा, तथा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सुचारु परक समीक्षा की प्रवृत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की विविध समीक्षा कृतियों के आधार पर उनकी साहित्यिक मान्यताओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है। उत्पत्त्यात् गुप्तनामक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्वरूप के अन्तर्गत उसका आरम्भ और विकास स्पष्ट करते हुए मुख्यतः मिश्रबन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा पं० कृष्णबिहारी मिश्र साक्षात् यमदान दीन तथा राजीवानी गुरु आदि के समीक्षारमक दृष्टिकोण का परिचय दिया गया है।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विविध प्रवृत्तियाँ क्रियाशील दिखाई देती हैं, उनमें से शास्त्रीय समीक्षा की प्रवृत्ति भी एक है। समीक्षा के इस दृष्टिकोण को प्राचीन-महा सैद्धान्तिकता तथा विमुक्तता की दृष्टि से उच्चतर कोटि का मान्य किया जाता है। इस प्रवृत्ति की पूर्ण परम्परा के अन्तर्गत इस अध्याय में कविराज मुरारिदीन प्रताप नारायणसिंह कन्हैयालाल पोद्दार, जननाथप्रसाद “भानु” रमाचंद्र शुक्ल “रसास” सीठाराम शास्त्री अर्जुनदास केनिया अयोध्यासिंह उपाध्याय “हरिजीव” दिव्याराम भट्ट मिश्रबन्धु, डा० स्वामसुन्दर दास रामचन्द्र शुक्ल गुलाबराय सीठाराम कटुबेदी सखीनारायण शुक्ल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि के प्रमुख सिद्धान्तों और मान्यताओं का परिचय दिया गया है। उत्पत्त्यात् छायावादी समीक्षा

की प्रवृत्ति का उल्लेख हुआ है। आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में द्विवेदी युगीन नाम्य प्रवृत्तियों के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में छायावाद का जन्म हुआ था। इसके प्रमुख विचारकों ने इसे एक सुनिश्चित स्वरूप प्रदान किया। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत अपराधर "प्रसाद" सूर्यकांत त्रिपाठी "निराशा" सुमित्रानन्दन पंत महादेवी वर्मा छान्तिप्रिय द्विवेदी तथा गंगाप्रसाद पोद्देय आदि के प्रमुख विचारकों का परिचय दिया गया है।

आधुनिक युग की साहित्यिक विचारधाराओं में प्रगतिवादी समीक्षा की प्रवृत्ति भी एक है। हिन्दी साहित्य में इसका आरम्भ मुख्यतः द्विवेदी साहित्य के प्रभाव स्वरूप हुआ था। इसका विकास यथार्थवादी प्रवृत्ति से संयुक्त होकर हुआ। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत चहुँप साहित्यात्मन प्रकाशचन्द्र गुप्त डा० रामबिनास शर्मा शिवदान सिंह चौहान मगम नाथ गुप्त डा० रामेय राम तथा श्री रामेश्वर शर्मा आदि के मुख्य विचारकों को प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विविष्ट प्रवृत्तियों में व्यक्तिकादी समीक्षा की प्रवृत्ति भी क्रियाशील है। यह विचारधारा सामयिकता का विरोध न करते हुए भी साहित्य में सुमानुसृत प्रयोगों का समर्थन करती है। हिन्दी के आधुनिक साहित्य में इस विचारधारा को प्रयोगवादी मान्योक्तन के पदार्थ के रूप में समझा जाता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत दिन विचारकों के ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है उनमें सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन "ब्रह्मेव" गिरिजाकुमार भापुर, डा० बर्मेश्वर भारती तथा लक्ष्मीकांत वर्मा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके साथ ही मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति की भी चर्चा की गयी है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत मुख्यतः जैनेन्द्र कुमार, तथा इसाचन्द्र जोशी आदि के विचारों का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रवृत्ति दोषपरक समीक्षा की भी कही जा सकती है। वर्तमान छाताब्दी में भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में बृहत् रूप में जो दोष कार्य हो रहा है उसके अन्तर्गत विविध रूपों को इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस प्रवृत्ति के कई रूप मिलते हैं जिनमें से प्रथम साहित्य विपक्षक दोष की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के प्रथम रूप अर्थात् कवि परक दोष प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० बलदेव प्रसाद मिश्र डा० चन्द्रेश्वर वर्मा डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० हरप्रसाद शर्मा आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है यद्यपि अन्य भी अनेक ऐसे नाम हैं जो इसी के अन्तर्गत रखे गये हैं। इसी प्रथम वर्ग के अन्तर्गत सम्प्रदाय परक दोष प्रवृत्ति में डा० पीताम्बरदास बकुपाल डा० दीनदयालु गुप्त डा० भुंसीराम शर्मा डा० विनयमोहन शर्मा तथा अन्य विद्वानों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रवृत्ति के तीसरे रूप अर्थात् पारस्परिक दोष प्रवृत्ति के अन्तर्गत डा० रमाधर गुप्त "रसाल", डा० भरीराम मिश्र,

डा० जानकीनाथ सिंह 'मनोम' डा० भोलासंकर व्यास डा० धीरबिहारी गुप्त 'राकेस' तथा डा० पुष्पलाल शुक्ल आदि के नामों का उल्लेख किया गया है। इस प्रवृत्ति का एक रूप माया वैज्ञानिक धोष की प्रवृत्ति के रूप में भी मिलता है। इसके भी अनेक रूप में जिनमें से ऐतिहासिक रूप के अन्तर्गत डा० उदयनाथराय ठिवारी डा० बाबुराम सक्सेना आदि व्याकरणिक के अन्तर्गत डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा कामठाप्रसाद गुप्त बोलीपरक के अन्तर्गत डा० हरिहरप्रसाद मुख्तार डा० अम्बाप्रसाद सुमन डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी डा० कृष्णलाल ईश आदि तथा तुलनात्मक के अन्तर्गत मुख्य रूप से डा० कैलाशचन्द्र भाटिया का उल्लेख किया गया है।

हिन्दी में व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति का आरम्भिक रूप भारतीय युग में ही आभासित होने लगता है यद्यपि इसके अन्तर्गत केवल प्राचीन ग्रन्थों की टीका और व्याख्या मिलती है। आगे चलकर इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत जो उल्लेखनीय समीक्षक हुए, उनमें सत्ताप्रसाद मुख्तार परबुराम चतुर्वेदी पद्मलालपुढासाल बख्शी डा० सत्येन्द्र प्रसाद साहू तथा रामहृष्य शुक्ल "शिरीमुख" आदि के विचारों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। आधुनिक हिन्दी समीक्षा की विभिन्न प्रवृत्तियों में अन्तिम समन्वयारमक समीक्षा की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के मूल में पारचर्य तथा भारतीय समीक्षा शास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों के समन्वय की मानना है। इसीलिए इसका आधार अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। इस प्रवृत्ति का आरम्भिक रूप डा० स्वामिसुन्दर दास तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि की कृतियों में मिलता है। आगे चल कर डा० विनयमोहन शर्मा मन्वदुतारे बाबूदेवी डा० नगेन्द्र तथा डा० देवराज आदि ने इस प्रवृत्ति को व्यापक सम्भावनाएँ प्रदान कीं। इस अध्याय के अन्त में निष्कर्ष रूप में यह उक्ति किया गया है कि आधुनिक हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में जो विविध प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं उनमें पर्याप्त विविधता और समायोजनता संक्षिप्त होगी है। ये प्रवृत्तियाँ हिन्दी समीक्षा की व्यापक आधार धूमि और सम्भावना का ज्ञान करती हैं। इनमें जहाँ एक ओर प्राचीनता की अनुयायिनी प्रवृत्तियाँ हैं वहाँ दूसरी ओर आधुनिक चिन्तन की नवीनतम प्रवृत्तियों का भी परिचय प्राप्त होता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के दायरे और अन्तिम अध्याय में उपसंहार के रूप में एक सम्यक् मान के निर्धारण की आवश्यकता और सम्भावनाओं पर विचार किया गया है। समीक्षा के स्वरूप और विकास का अध्ययन करने पर यह सात होता है कि विभिन्न युगों में विभिन्न वैचारिक मान्यताएँ जन्म लेती हैं और अपनी सैद्धान्तिक एकमिता के कारण

उसका ज्ञात हो जाता है। इस अनुगामिता का मुख्य कारण वैचारिक आधार की प्रधानता है। मिश्र-मिश्र युगों में जो चिन्तनात्मक आन्दोलन हुए, उन सब में प्रायः किसी न किसी प्रकार की एकगिता मिलती है। इसके अतिरिक्त एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त का पूरक भी प्रतीत होता है, क्योंकि यथासम्भव वह उस जगत् की पूर्ति करता है, जो पूर्ववर्ती सिद्धान्त में व्याप्त था। परन्तु इसके साथ वह अन्य मूलभूत तथ्यों की उपेक्षा भी करता है। इसलिये समीक्षा का प्रत्येक प्रतिश्रियात्मक रूप अनिवार्य रूप से किसी न किसी प्रकार की अपूर्णता लिए रहता है। समीक्षा के कुछ रूप सामयिक आवश्यकताओं की अनिवार्यता के फलस्वरूप आधिभूत होते हैं। इनको तात्कालिक मान्यता तो प्राप्त होती है परन्तु वे परिवर्तनशील समय की आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ रहते हैं।

समीक्षात्मक सिद्धान्तों के निर्धारण के सम्बन्ध में एक और तथ्य यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि समीक्षा साहित्य का तो मूल्यांकन करती ही है साहित्य विद्वानों का परीक्षण भी करती है। इसलिये उसका रूप द्वयारणक होता है। समीक्षा का सामयिक मान जहाँ-जहाँ इस बहुकृपा की ध्यान में रहे बिना नहीं निर्धारित किया जा सकता। इस अध्ययन में प्रमुख समीक्षात्मक सिद्धान्तों का सविष्ट परीक्षण करते हुए यह उक्ति किया गया है कि चूँकि समीक्षा के मानों का नियमन और उनका व्यावहारिक प्रयोग आरुस्परिक वृत्तकता रहते हैं इसलिये उसकी पूर्ण प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी किसी मान बंध निर्धारण किया जा सकता है। इस अध्याय के अन्त में निष्कर्ष रूप में इस मन्तव्य की स्थापना की गयी है कि समीक्षा का सम्बन्ध परिवेश युग और प्रकृति की संकुचितता से मुक्त होना चाहिए। उसे प्राचीन भारतीय अथवा पाश्चात्य मानदंडों की भाँति केवल साहित्य के आन्तरिक या बाह्य रूप का परीक्षक न होकर अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की सम्यक परख करनी चाहिए। पाठक के सर्वप्रथम अनुभव की विवेचना करने में भी उसे समर्थ होना चाहिए। समीक्षा का यह मानदंड वस्तुतः केवल समन्वय मूलक स्वरूप मात्र ही हो सकता है और इस मान के निर्धारण की सम्भावनाएँ ठीकी हो सकती हैं जब साहित्य की विविध युगीन महान् उपलब्धियों का संयोजन करके वैज्ञानिक विकास के साथ उनका सन्तुलित समन्वय किया जाय।

इस प्रकार से प्रस्तुत शोध प्रबंध हिन्दी शोध के इतिहास के क्षेत्र में एक नई दिशा का संकेत करता है। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित जो भी शोध कार्य हुआ है उसको दृष्टि में रखते हुए यह इति एक व्यापक मापदण्ड की तैयारी निम्ना यथा सर्वप्रथम वैज्ञानिक प्रयास कहा जा सकता है। साहित्य और समीक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि इनमें से किसी की भी उपेक्षा इनके लिए

सांसारिक कारण सिद्ध हो सकती है। इसलिए समीक्षा के स्वरूप पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त प्रमुख समीक्षा पद्धतियाँ जिस प्रकार की अपूर्णता भिन्न हुए होती हैं और इसी कारण असामयिक अन्त को प्राप्त होती हैं उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक और प्रमुख अध्ययनों के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत प्रबन्ध में समीक्षा क्षेत्रीय इसी मूलभूत समस्या का विवरण समीक्षा की पृष्ठभूमि में निरूपण करते हुए इस सम्बन्धवादी समीक्षात्मक के मान के स्वरूप और निर्माण की सम्भावनाओं का निबोधन किया गया है जो समीक्षा प्रसक्ति में समर्थ हैं। इस दृष्टि से यह प्रबन्ध पूर्ण मौलिकता से युक्त कहा जा सकता है। यहाँ पर यह संकेत करना आवश्यक है कि चूँकि इस कृति में विविध भाषाओं के समीक्षा सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों का उल्लेख है, इसलिए सभी स्तरों पर मौलिक भाषाओं के ज्ञानों के स्थान पर दूसरी भाषाओं से ही उनका चयन कर लिया गया है। साथ ही चूँकि सिद्धान्त और प्रवृत्ति निरूपण की परिचयात्मक व्याख्या और तुलना ही इस प्रबन्ध का एक आधार भूत तत्व रही है इसलिए कहीं-कहीं पर विविध भाषाओं प्रवृत्तियों सिद्धान्तों विचारों अथवा तथ्यों की पुनरावृत्ति भी हो सकती है, यद्यपि अपासम्भव इस सम्बन्ध में सतर्क रहने की चेष्टा की गयी है। प्रबन्ध में अनेक स्तरों पर बहुत से बिंदुओं का केवल संक्षिप्त विवरण ही प्रस्तुत किया गया है जो किसी सीमा तक सैद्धांतिक परिचय की दृष्टि से अपूर्ण भी प्रतीत होता है। ऐसे स्तरों पर यह प्रयत्न किया गया है कि उसकी प्रतिनिधि जानकारी प्रस्तुत की जा सके, क्योंकि विस्तार के अर्थ से बहुत से अंश इस प्रबन्ध में नहीं दिये जा रहे हैं।

अन्त में लेखक लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष एवं कला सभाग के अधिष्ठाता डॉ० शीतलमानु गुप्त और पूना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ० अश्वरथ मिश्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है जिनके विद्वत्तापूर्ण निर्देशन एवं सहज स्नेह के फल स्वरूप यह प्रबन्ध इस रूप में प्रस्तुत किया जा सका। डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र तथा डॉ० हरबंसभास शर्मा के सहत्वपूर्ण सुझावों से भी प्रबन्ध में परिपूर्णता आयी है अतः लेखक उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता है। लेखक अन्य सभी अध्येतृ हिंदीविदों को भी अभ्यसाह देता है जिनका कृपा पूर्व प्रोत्साहन उसे समय-समय पर मिला और जिसके फलस्वरूप इस प्रबन्ध की रचना का यह कार्य सम्पन्न हो सका।

अध्याय १

विषय प्रवेश

ह्रासारमक कारण सिद्ध हो सकती है। इसलिए सनीता के स्वल्प पर बिरोध रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त प्रमुख समीक्षा पद्धतियाँ जिस प्रकार की अपूर्णता लिए हुए होती हैं और इसी कारण असामयिक अन्त को प्राप्त होती हैं उनकी ओर ध्यान देना आवश्यक और प्रमुख अध्येताओं के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत प्रबन्ध में समीक्षा क्षेत्रीय इसी मूलभूत समस्या का विश्व समीक्षा की पुष्टमूर्ति में निरूपण करते हुए इस सम्बन्धवादी समीक्षालयक के मान के स्वल्प और निर्माण की सम्भावनाओं का नियोजन किया गया है, जो समीक्षा प्रसक्ति में समर्थ हैं। इस दृष्टि से यह प्रबन्ध पूर्व मौलिकता से युक्त कहा जा सकता है। यहाँ पर यह संकेत करना आवश्यक है कि चूँकि इस कृति में विविध भाषाओं के समीक्षा सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों का उल्लेख है इसलिए सभी स्तरों पर मौलिक भाषाओं के ग्रन्थों के स्थान पर दूसरी भाषाओं से ही उनका चयन कर लिया गया है। साथ ही चूँकि सिद्धान्त और प्रवृत्ति निरूपण की परिवर्तारमक व्याख्या और तुलना ही इस प्रबन्ध का एक आधारभूत तत्व रही है इसलिए कहीं-कहीं पर विविध नामों प्रवृत्तियों सिद्धान्तों विचारों जलवा तत्त्वों की पुनरावृत्ति भी हो सकती है यद्यपि यथासम्भव इस सम्बन्ध में सतर्क रहने की चेष्टा की गयी है। प्रबन्ध में अनेक स्तरों पर बहुत से विषयों का केवल संक्षिप्त विवरण ही प्रस्तुत किया गया है जो किसी सीमा तक सैद्धान्तिक परिचय की दृष्टि से अपूर्ण भी प्रतीत होता है। ऐसे स्तरों पर यह प्रयत्न किया गया है कि उसकी प्रतिनिधि जानकारी प्रस्तुत की जा सके, क्योंकि विस्तार के अर्थ से बहुत से अर्थ इस प्रबन्ध में नहीं दिये जा रहे हैं।

अन्त में लेखक लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष एवं कला संकाय के अविच्छेदता डॉ० शीनदयालु गुप्त और पूना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ० अगीरब मिश्र के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है जिनके विद्वत्तापूर्ण निर्देशन एवं सहज स्नेह के फलस्वरूप यह प्रबन्ध इस रूप में प्रस्तुत किया जा सका। डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र तथा डॉ० हरबंसनाथ शर्मा के महात्त्वपूर्ण सुझावों से भी प्रबन्ध में परिपूर्णता आयी है अतः लेखक उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता है। लेखक अन्य सभी सहयोगी हिंदीपियों को भी धन्यवाद देता है, जिनका कृपा पूर्व प्रोत्साहन उसे समय-समय पर मित्रा और जिसके फलस्वरूप इस प्रबन्ध की रचना का यह कार्य सम्पन्न हो सका।

अध्याय १

विषय प्रवेश

समीक्षा, समीक्षक तथा समीक्ष्य

समीक्षा का अर्थ —

हिन्दी साहित्य में 'समीक्षा' 'आलोचना' तथा 'समालोचन' आदि शब्दों की प्रायः समान जगहों में ही व्यवहृत किया जाता है। समीक्षा का अर्थ है—सम्पादक-ईजाज्यार्थ किसी प्रकार परीक्षा करना। साहित्य में समीक्षा का आसप होना है—किसी रचना अथवा रचनाकार का समग्रता में विवेचन। सामान्यतः आलोचना और समालोचना का भी यही कार्य होता है, बस यि कभी-कभी इनमें कुछ सूक्ष्म भेद भी बताये जाते हैं। मूलतः इन शब्दों का अर्थ समीक्ष्य विषय को उसके समग्र रूप में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना है जिससे गुण और दोष प्रकटित हो सकें। इस कारण साहित्य के विरसेपक और मूल्यांकन को ही समीक्षा कहा जाता है। अंग्रेजी भाषा में समीक्षा के अर्थ 'वा सुचक शब्द 'क्रिटिसिज्म' है। वही भी हम शब्द का प्रयोग साहित्य परीक्षण के अर्थ में ही किया जाता है।

समीक्षा की परिभाषा:—

समीक्षा के एक स्वतंत्र शास्त्र होने के नाते इसमें और साहित्य में गहरी भेद है। साहित्य में समीक्षा की भाँति विरसेपकत्वका का तत्त्व उसनी अधिक भाषा में समाविष्ट नहीं मिलता। जहाँ तक विविध समीक्षात्मक प्रयत्नों का सम्बन्ध है यह बात सत्य है कि प्रत्येक युग में किन्हीं विविध प्रणालियों को ही प्रमुखता मिलती है। इसी प्रकार से ये प्रत्येक युग में साहित्य समीक्षा की प्रणालियों की रचना का आधार उस युग की विविध आदर्श वृत्तियाँ रहती हैं। इसीलिए यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य की भाँति ही समीक्षा भी मनुष्य के स्वभाव की मूल वृत्तियों में से एक है।

समीक्षा की परिभाषा एक और दृष्टिकोण से की जा सकती है। प्रचलित समीक्षा का कार्य साहित्य की सम्पूर्णता से परीक्षा है। इसलिए उसका साहित्य में प्रवल सम्बन्ध है। और साहित्य को हम मनुष्य की भिन्न-भिन्न अनुवृत्तियों की भाषाबद्ध अति

व्यक्ति कह सकते हैं। इस दृष्टिकोण से समीक्षा साहित्य का मात्र परीक्षण ही नहीं करती बल्कि पाठक और साहित्यकार के बीच एक माध्यम का भी काम करती है। यहाँ वह साहित्य को अपेक्षाकृत अधिक बोधगम्य बनाती है और उसकी ऐसी व्याख्या करती है कि एक अपेक्षाकृत सामान्य कोटि का पाठक भी उसकी सहायता से किसी विशिष्ट साहित्यकार की किसी विशिष्ट रचना को से पढ़ और समझ सके। अब हम ही एक स्वतन्त्र साक्ष्य की भाँति समीक्षा के भी अनेक प्रकार हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना अपना क्षेत्र और विशेषताएँ हैं। परन्तु पाठक की विशेष शक्ति में समीक्षा एक सहायक का कार्य भी करती है।

समीक्षा और साहित्य —

समीक्षा का स्वतन्त्र विकासशील होता है। किसी भी युग में लिखा गया साहित्य अपने आप में उन अनेक प्रभावों और विचारधाराओं के संकेत भिजे रहता है जो उस युग में मुख्य रूप से जन-जीवन के विभिन्न परिवर्तनों को चिह्नित कर प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार से समीक्षा का समकालीन स्वतन्त्र भी उनसे प्रभावित होता है और अपना रूप परिवर्तित करता है। साहित्य और समीक्षा, इस दृष्टिकोण से एक दूसरे के समान बर्तन कहे जा सकते हैं क्योंकि दोनों में ही युग-जीवन और युग चेतना का विखर्चन होता है और दोनों पर समकालीन विचारधाराओं और परिस्थितियों की छाप पड़ती है। इसलिये यह कहना उचित न होगा कि समीक्षा का प्रभाव किसी भी प्रकार से साहित्य की अपेक्षा कम है। इसके विपरीत साहित्य और समीक्षा को एक दूसरे का पूरक भी कहा जा सकता है, क्योंकि जहाँ साहित्य नवीन यथार्थ का समग्रता से वर्णन करता है वहीं समीक्षा द्वारा उसका विचार निर्वेध करने के साथ ही साथ नवीन सम्भावनाओं की ओर भी संकेत किया जाता है।

सूचनाशील साहित्य युग में जब कि वैचारिक संघर्ष एक प्रकार का संश्रुति कोशील वातावरण उत्पन्न कर देता है और ठोस रूप में साहित्य के प्रति-विज्ञान-निर्देश की आवश्यकता होती है, तब समीक्षा का उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत अधिक हो जाता है। तब वह किसी साहित्यिक कृति का मुख्यतः उसके अपने स्वतन्त्र रूप में न करके नवीन यथार्थ के संघर्ष में करण को माध्यम हो जाती है। उस समय वह यह देखती है कि किसी विशिष्ट साहित्यिक कृति में वह वर्तमान किस रूप में उपस्थित हुआ है तथा इसके साथ ही साथ यह यह भी देखती कि जो यथार्थ उस साहित्यिक कृति में उस समय के युग जीवन के रूप में उपस्थित किया गया है उसकी कलात्मक सीमाएँ उस कृति में

प्रस्तुत रूप के अतिरिक्त और नया हो सकती थीं। इस दृष्टिकोण से समीक्षा साहित्य की परीक्षा करने के साथ ही साथ युग के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास में भी भोग देनी है।

कभी-कभी समीक्षा का अर्थ और प्रयोगन कठ तथा संकुचित रूप में भी किया जाता है। और उस समय समीक्षा का काम किसी युग या विचारधारा के सन्दर्भ में आलोच्य कृति का मूल्यांकन करना न होकर स्वसम्बन्ध रूप में उसका कलात्मक और साहित्यिक मूल्यांकन करना होता है। इस दृष्टिकोण से समीक्षा उस कृति में प्रस्तुत किये गये उसके रचनाकार के किसी क्षेत्र विशेष में अनुप्रात यथार्थ की सम्माननाओं का परीक्षण करके उसकी असामान्यता पर विचार करती है। ऐसा करते समय उसमें सुगीन मानवता का भाव्य न प्रकट करके सौन्दर्य और उदात्तता के साक्षर आवर्ण का आचार लिया जाता है। अनुप्य के हृदय की मूल भावनाओं की गभीरतर अभिव्यक्ति की अपेक्षा इस कोटि की समीक्षा आलोच्य साहित्य में करती है और उसके उसमें विद्यमान होने पर स्वतन्त्र रूप में उसके महत्व की घोषणा करती है।

ऊपर हमने समीक्षा को किसी सीमा तक साहित्य का समानधर्मी कहा है। इस कबन से यह भ्रम हो सकता है कि साहित्य और समीक्षा में कोई मौलिक भेद नहीं है और साहित्य या समीक्षा की रचना करना समान रूप से किसी सुविहित और सुपठित व्यक्ति के लिये सम्भव हो सकता है। वस्तुतः साहित्य एक कला है और समीक्षा एक शास्त्र। साहित्य के लिए जहाँ प्रतिभा की अपेक्षा होती है, वहाँ समीक्षा के लिए पंडित्य की। और अनिवार्यतः यह आवश्यक नहीं होता कि कोई श्रेष्ठ साहित्यकार उच्च कोटि का समीक्षक भी हो अथवा उच्च कोटि का समीक्षक श्रेष्ठ साहित्यकार। बाह्य मय की ये दोनों विचारों अपनी स्वतंत्र सत्ता और महत्व रखती हैं।

“समीक्षा” शब्द की व्युत्पत्ति

ऊपर संक्षेप किया जा चुका है कि “समीक्षा” शब्द का अर्थ भरी प्रकार परीक्षण करना है और इस शब्द से हम साहित्य की सर्वांगीण विवेचना और मूल्यांकन से आशय समझते हैं। इसी प्रकार इसके पर्यायवाची शब्द “समालोचना” का अर्थ भी भरी प्रकार देखना है। यह शब्द “मुच्” धातु से बना है और उसका अर्थ भी देखना या जोचना ही

है। इसका समानार्थक अंग्रेजी शब्द "क्रिटिसिज्म" भी "क्रिटीक" शब्द से बना है और यही अर्थ रखता है। यह कला या साहित्य के विषय में निर्णय अब्बा मुस्माकन करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्राचीनता और परम्परा—

हिन्दी साहित्य में समीक्षा की परम्परा अधिक प्राचीन नहीं है। बीसवीं शती के प्रथम अनुर्वात के पश्चात्, जब हिन्दी का अपना समीक्षा शास्त्र निमित्त होना आवश्यक समझा जाने लगा, तब इस शब्द का बहुलता से प्रयोग होने लगा यद्यपि अब भी समालोचना आलोचना और क्रिटिसिज्म शब्दों का प्रयोग समीक्षा के लिये किया जाता है। हिन्दी समीक्षा की परम्परा का उद्गम और विकास संस्कृत साहित्य शास्त्र के आधार पर हुआ है। संस्कृत में आलोचना के लिये अनेक शब्दों का प्रयोग होता था। वही इसके लिये प्राचीनतम शब्द "क्रियाकल्प" मिलता है। इनमें "क्रिया" का अर्थ काम्यग्रन्थ तथा "कल्प" का अर्थ विधान है। इसीलिये इन काम्य का विधायक शास्त्र माना जाता था। संस्कृत में इस शब्द का प्रयोग अधिक समय तक न हो सका। दसवीं शताब्दी में राज दिव्य ने इस शब्द का पर्याय 'साहित्य विद्या' रखा। जिस अर्थ में हम आज 'समीक्षा' शब्द का प्रयोग करते हैं ठीक उसी अर्थ में संस्कृत साहित्य में जो शब्द आज में प्रचलित हुआ, वह है "अलंकार शास्त्र"। व्यापक अर्थ में अलंकार का आशय काम्य की घोषा है। कुछ संस्कृत साहित्य शास्त्रज्ञों ने इसे काम्य का मूल शब्द भी स्वीकार किया है।

इस प्रकार से, हमारे देश में 'समीक्षा' शब्द का प्रयोग मने ही बहुत प्राचीन काल से न होता रहा हो परन्तु समीक्षा शास्त्र की परम्परा बहुत प्राचीन रही है। संस्कृत में जब इन शास्त्र की एक शीर्ष और समृद्ध परम्परा स्थापित हो गयी तब उसी क आधार पर हिन्दी में भी इस शास्त्र की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। यह सन्देह का विषय है कि बहुत अल्प समय में ही हिन्दी समीक्षा क्षेत्र में एक अनुभूति आत्मकता और दृष्टिकोण गत विस्तार लक्षित होने लगा है। हिन्दी समीक्षा के नयी विकास की सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुये यह बहुत सुख लक्षण प्रतीत होता है, जो इस बात का परिचायक है कि पूर्ववर्ती समीक्षा परम्पराओं में जो अतिबाधिता और सीमा संकोच मिलता था उसका इसमें सर्वथा अभाव है। यह स्वस्थ समीक्षा के आगवर्धों का निर्धारक संकेत है, जो उसकी निरक्षयता का भी अभ्यास होता है।

समीक्षा और शोध

शोध का अर्थ —

सामान्य रूप में अविच्छिन्न समीक्षात्मक प्रवृत्तियों का सम्बन्ध विविध पुष्पित साहित्य पाठकों से रहता है। इसके समानांतर ही उसके एक विशिष्ट भेद के रूप में शोध को भी माना जा सकता है जिसके लिये हिन्दी में “अनुसन्धान” अथवा “शोध” आदि शब्द भी प्रचलित हैं। अंग्रेजी भाषा में उसका समानार्थ सूचक शब्द “रिसर्च” है। इसका अर्थ “अनुशीलन” भी है। इस प्रकार “शोध” “अनुसन्धान” “शोध”, “अनुशीलन” तथा “रिसर्च” आदि सब एक ही अर्थ में समान्यतः प्रयुक्त होते हैं।

पारस्परिक भेद —

समीक्षा और शोध में मौलिक अन्तर यह है कि समीक्षा वहीं किसी उपलब्ध और प्रस्तुत वृत्ति की व्याख्या तथा गुण दोष विवेचन करती है। वहीं शोध का मुख्य कार्य अज्ञात तथ्यों की खोज करना होता है। परन्तु इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि शोध का क्षेत्र इसी कार्य तक सीमित है। वस्तुतः अज्ञात तथ्यों की खोज को समीक्षा का एक प्रकार ही कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उसके अन्य रूप भी हैं और उनके अनुसार ज्ञात तथ्यों की गभीर व्याख्या भी शोध का कार्य होता है। यह व्याख्या सामान्य समीक्षात्मक व्याख्या से इस अर्थ में भिन्न होती है, कि वहाँ सामान्य समीक्षात्मक व्याख्या में किसी दृष्टिकोण मान का होना ही कभी पर्याप्त हो सकता है, वहीं शोध द्वारा की गयी व्याख्या के लिए उसमें वैज्ञानिकता का समावेश होना भी अनिवार्य है। इसलिए यदि हम समीक्षा को धारण करें तो हमें शोध को एक विज्ञान के रूप में मान्य करना होगा। इसलिए शोध अनुसन्धान शोध अनुशीलन अथवा रिसर्च को हम वैज्ञानिक अन्वेषण के अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं।

शोध की प्रक्रिया —

शोध की प्रक्रिया भी उपर्युक्त मुख्य कारण से ही समीक्षा से भिन्न होती है। समीक्षा में मानोद्यम वृत्ति का सर्वांगीण परीक्षण ही प्रधान उद्देश्य रहता है। परन्तु शोध में उस वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाले विविध तथ्यों का सूक्ष्म निरीक्षण और विन्मेषण प्रधान रहता है। समीक्षक अपने मन का किसी वृत्ति के सम्पर्क में प्रमाणित स्वरूप रूप से ही नहीं भी कर सकता है, परन्तु शोध के रूप में एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का निर्वाह अनिवार्य है। समीक्षा के लिए समीक्षक किसी भी स्थान में अज्ञान वक्तव्य आरम्भ करके

आलोच्य विषय का परीक्षण आरम्भ कर सकता है। परन्तु धोब में इस परीक्षण से पूर्व एक सुस्पष्ट बर्नीकृत विषय कम होना आवश्यक है। इसके अभाव में उस धोब की वैज्ञानिकता में सन्देह हो सकता है। उसमें लेखक अपने मत का प्रतिपादन विविध निष्कर्षों के आधार पर करता है और ये निष्कर्ष उस दीर्घ प्रक्रिया का अन्त तक निबट्ट करने के पश्चात् ही स्पष्ट होते हैं और तभी उन्हें माय्यता भी मिलती है। इसमें लेखक आलोच्य विषय का बर्नीकरण करने के पश्चात् उसके विभिन्न अंशों का परीक्षण करता हुआ अपने अध्ययन को सूब बट करता है। यह सूब बट अध्ययन किसी नवीनतर निष्कर्ष तक पहुँचने में उसकी सहायता भी करता है।

अन्य भेद —

समीक्षा और धोब में एक दूसरा भेद यह भी होगा है कि समीक्षा आलोच्य होते हुए भी किसी मत अथवा प्रवृत्ति विशेष की कट्टर अनुगामिनी हो सकती है। और यदि वह ऐसी होती है तो उसमें इससे किसी प्रकार की हीनता नहीं आती बल्कि इसके विपरीत यदि वह बुद्धिपूर्वक अपना मत पोषण और प्रवृत्ति समर्थन करती है, तो यह उसके पक्ष में ही होता है और इससे उसके महत्व की वृद्धि ही होती है। विम्व की प्रमुख यायावों की विकसित समीक्षात्मक परम्परयें इस कथन का प्रमाण हैं, क्योंकि बहुतों उनमें किसी पूर्ववर्ती या समकालीन समीक्षा धारा का खंडन या मंडन ही किया गया होता है और इसी के प्रयत्न लक्षित होते हैं। परन्तु धोब के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। धोब किसी प्रवृत्ति या विचारधारा की भाव पोषक या विरोधी नहीं हो सकती। उसमें कर्त्ता की दृष्टि मूलतः तटस्थ रहती है और वह महासम्भव समीक्षात्मक प्रवृत्तियों के पारस्परिक विचारों से अपने आपको मुक्त रख कर अपना कार्य करती है। उसे भी समीक्षा की तरह पहले अपने मत का प्रतिपादन करना पड़ता है और तब उसके पोषण की विद्या में कार्यशील होना पड़ता है। परन्तु दोनों में प्रभाव भेद यही रहता है कि वहाँ समीक्षक को उस प्रवृत्ति विशेष के प्रति ईमानदारी रहना पड़ता है और प्रत्येक प्रकार से उसी की पुष्टि करनी पड़ती है, वहाँ धोब कर्त्ता के लिए ऐसा अनिवार्य अथवा अपेक्षित नहीं है। वह महासम्भव प्रवृत्तिगत बाध विबाध से अक्षय रह कर वैज्ञानिकता और तर्क शिष्टता की ओर ही अधिक ध्यान देता है। इसलिए दोनों में अन्तर यह जा जाता है कि वहाँ समीक्षा का कोई बर्ग विशेष हो सकता है, वहाँ धोब स्वतंत्र ही रहती है। उसके विविध प्रकार, रूप तथा बर्ग हो सकते हैं किन्तु निश्चित स्वरूप अथवा सम्प्रदाय नहीं।

केंद्र कहा गया है कि सोच कार्य का उद्देश्य या तो अज्ञात तत्वों की खोज और या ज्ञात तत्वों की गहरी व्याख्या है। यह सोच की एक विशेषता होती है और इसकी उससे व्याख्या भी की जाती है। परन्तु इस कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि समीक्षा में गहरी अथवा मौलिकता के गुणों का अभाव रहता है और ये सोच में ही होते हैं। वस्तुतः उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि यदि किसी सोच कार्य में इन गुणों का अभाव है, तो उस वैज्ञानिक सोच की श्रेणी में नहीं रखा जायगा और मूलभूत मुद्दा अथवा तथ्यों के रूप में सोच कर्ता को इनकी ओर ध्यान देना और इनकी बिना करनी ही होगी। यों समीक्षा में भी मौलिकता अथवा गहरीता हो सकती है परन्तु समीक्षा और सोच में स्वतन्त्रता के यह अंतर होता है कि समीक्षा के लिए किसी निश्चित पूर्व धारणा अथवा प्रकल्पना को लेकर चलना आवश्यक नहीं होता जब कि इसके अभाव में सोच कार्य कठिन हो जाता है। समीक्षा में गहरीता या मौलिकता का आधार किसी वास्तविक सिद्धान्त अथवा दृष्टिकोण से अनुसार भी हो सकता है और इसमें भी उसकी सार्वकता हो सकती है। इसलिए गहरीता और मौलिकता के गुण समान रूप से समीक्षा और सोच में विद्यमान रहते हैं परन्तु माध्यम के अनुसार इनमें पारस्परिक भिन्नता होती है।

समीक्षा और सोच में एक अंतर यह भी है कि समीक्षा का क्षेत्र इस दृष्टिकोण से पूर्णतः स्वतन्त्र है कि उसके लिए समीक्षक को किसी विस्तार-संस्था अथवा सोच-संस्थान से सम्बन्ध होने की आवश्यकता नहीं होती। यदि समीक्षक में समीक्ष्य विषय से सम्बन्ध रखन वाली जानकारी और उसकी व्याख्या करने की योग्यता है तो वह इस कार्य में प्रवृत्त हो सकता है और समीक्षा प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु एक सोच-कर्ता के लिए स्वतन्त्र रूप से सोच करना सम्भव नहीं होता। उसे किसी न किसी संस्थान से सम्बन्ध होना ही पड़ता है। और उस संस्थान द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करते हुए सोच कार्य करने पर तत्परता से उसे परीक्षा के लिए प्रस्तुत करने और उसमें सफल होने पर ही उसके लिए नियत उपाधि प्रदान की जाती है। ये सोच उपाधियाँ विभिन्न स्तरों की होती हैं और इसके लिए भिन्न नियमावलियाँ हैं। परन्तु यह सोच-कर्ता मुख्यतः उपाधि के लिए किया जाता है और उसके सम्पन्न होने पर निर्धारित उपाधि भी मिलती है। उपाधि के लिए यह कार्य करने में कुछ अनिवार्य नियमों का पालन करना पड़ता है और इनके अनिवार्य उपाधि प्राप्त करने के लिए अनुसृत वैज्ञानिक योग्यता का होना भी आवश्यक होता है। जब या सोचकर्ता इन अनुसृत वैज्ञानिक योग्यताओं में विहीन होते हैं अथवा उनमें युक्त होने का भी किन्हीं कारणों से उन नियमों का पालन

मही करना चाहते थे स्वतन्त्र रूप से किसी भी संस्थान से सम्बन्ध न रख कर स्वयं अपना कार्य करते रहते हैं और उसके समाप्त होने पर उसे प्रकाशित करना देते हैं।

इस प्रकार से शोध कृति, जहाँ भी हो सकती है जो किसी उपाधि के लिए न भी लिखी गयी हो उसका किसी ने निर्वहन न किया हो और उसका परीक्षण न हुआ हो। परन्तु हिन्दी में सामान्यतः ऐसी कृति को समीक्षा कृति ही कहा जाता है, शोध कृति नहीं। यद्यपि इससे यही सिद्ध होता है कि हम “शोध” शब्द का प्रयोग बहुत कम ज्यों में करते हैं और विश्वविद्यालयों से सम्बन्ध होकर उपाधि प्राप्त कार्य का ही शोध कार्य के रूप में मान्यता देते हैं। परन्तु यह एक सत्य है कि इन क्षेत्रों से अलग भी अनेक ऐसी असाधारण और विशिष्ट महत्त्व की कृतियाँ प्रस्तुत की गयी हैं जो मान्य शोध कृतियों की अपेक्षा हीन स्तर की नहीं हैं। इसलिये “शोध” शब्द का व्यवहार कम ज्यों में किया जाने पर भी इसका वास्तव उच्च कोटि के शोध कार्य से समझा जाना चाहिए, भले ही वह किसी उपाधि के लिए लिखा गया हो अथवा स्वतन्त्र रूप से। उच्च शोध उपाधियों योग्य व्यक्तियों को अनिवार्य रूप से प्रदान कर दिए जाने का भी यही वास्तव होता है कि वे व्यक्ति विश्वविद्यालयों से शोध कर्ता के रूप में सम्बन्ध न होने पर भी योग्यता रखते हैं और उस उपाधि के लिए सर्वथा योग्य होते हैं। स्वतन्त्र रूप से शोध स्तरीय महत्त्व की प्रस्तुत की गयी कृतियाँ भी मान्य शोध कृतियों की ही श्रेणी भावी शोध और समीक्षा के क्षेत्रों में मार्ग दर्शन का कार्य करती हैं।

शोध का क्षेत्र :—

समीक्षा के विस्तृत क्षेत्र और प्रकारों की ही भाँति शोध का क्षेत्र भी स्वतन्त्र और विस्तृत होता है। संक्षेप में अनुसन्धान के निम्नलिखित वर्ग किये जाते हैं चम्पानुसन्धान पाठानुसन्धान मापानुसन्धान अर्थानुसन्धान तथ्यानुसन्धान उत्पानुसन्धान कल्पानुसन्धान भावानुसन्धान प्रवृत्त्यानुसन्धान तथा आदर्शानुसन्धान आदि। इस प्रकार से यह सिद्ध है कि समीक्षा का स्वरूप साहित्यानुसन्धान काव्य का इतिहास अथवा काव्य शास्त्र से सर्वथा भिन्न है। जो लोग यह चारणा रखते हैं कि उक्त विषयों का क्षेत्र प्रायः समान ही होता है, वे इनका स्वतन्त्र क्षेत्र और विस्तार नहीं जानते। अधिक से अधिक इनके विषय अथवा उद्देश्य की समता के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में हमें पारस्परिक साम्य होता है, परन्तु इस उद्देश्य और विषयगत एकता के होते हुए भी अपने-अपने प्रतिपाद्य विषयों के प्रतिपाद्य और सीमाओं की दृष्टि से इन भाष्यमयों में पर्याप्त अन्तर रहता है।

द्योत का विभाजन —

बैज्ञानिक दृष्टिकोण से द्योत का विभाजन कई अर्थों में किया जा सकता है। एक रूप यह हो सकता है। प्रथम द्योत की अभिव्यक्ति करनेवाला विचार करना और द्वितीय विचारित और माध्यम प्राप्त समीक्षणीय मानदंडों के अनुसार उनका सम्यक् विवेचन करना। इसी वर्गीकरण के अनुसार सारे द्योत कार्य को ही दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें प्रथम भाग में द्योत कार्य के आरम्भ करने के पूर्व उनकी वास्तविकता की स्थापना होनी तथा द्वितीय भाग में व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसका लेखन। इससे स्पष्ट है कि जिस द्योत प्रबन्ध की प्रारम्भिक कथरेखा विवेक साधना की और अन्त्य में स्थापना की जायगी बाद में उसका दूसरा कार्य अर्थात् लक्ष्य अभिसारित करने का काम है। इस सम्बन्ध में इतना और ध्यान में रखना चाहिए कि द्योत और सामान्य समीक्षा कृति एक ही नहीं होती। इसलिये द्योत प्रबन्ध के लेखन में शोचनीयता को नष्ट की घुड़ता अभिव्यक्ति की सरलता और आभास्य विषय के समग्रता में प्रतिपादन आदि में विषय रूप से साधना की में काम लेना होगा।

द्योतकों की योग्यताएँ —

द्योत की स्थापना करते हुए यह भा कहा जा सकता है कि यह एक प्रकार का समीक्षारमक सन्नाहक है जिसमें द्योतकों के नियम मुख्यतः दो मापदण्डों की आवश्यकता होती है। एक तो यह कि उसमें आलोच्य विषयों की सम्यक् समीक्षा करने के लिए उनकी द्वितीय आचारिक आवश्यकता है तथा दूसरा यह कि यह उस समीक्षारमक विवरण को अपने सम्पादन कोसम से किन्तु अत्यन्त धीमेधैर्यपूर्ण तथा वैज्ञानिक ढंग से समग्र रूप में संयोजित कर सकता है। ध्यान देने की बात यह भी है कि ये दोनों मापदण्डों को धेरे धेरे से सम्बन्ध रखता है जो परस्पर वैधानिक रखते हैं। इसलिये यदि किसी द्योतक में समीक्षा अथवा सम्पादन की कोई कमी रह जाती है, तो इसका कारण यही होता है कि द्योतकों में उपयुक्त दोनों योग्यताओं में से किसी का अभाव है।

द्योत के प्रकार —

व्यावहारिक दृष्टि से द्योत कार्य में वर्तमान को द्वितीय श्रेणी विवेक में विद्यमान किसी मुख्य समस्या अथवा किसी नवीन विज्ञान का प्रवर्तन अथवा व्याख्या करनी होती है। इसके लिए कुछ निश्चित कार्य और निर्धारित प्रक्रिया होती है जिसके अनुसार वर्तमान को कार्य करना होता है। ऐसा करने समय यह ध्यान रखना होगा कि द्योत के उपयोग का आध्यात्म

बैठा है। या तो वह ऐसा करता है कि "विषय प्रवेश" जगजा 'पृष्ठभूमि' सीपक से अपने प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में सूत्र रूप में उस विषय से सम्बन्ध रखने वाली समस्या को प्रस्तुत करके निर्धारित रूप रेषा के अनुसार क्रमशः उस पर कार्य आरम्भ कर बैठा है और इस प्रकार अपने मत का प्रतिपादन करता हुआ अन्त में उपसंहारात्मक रूप से उसका संकलन करता है। और या वह ऐसा करता है कि प्रारम्भिक वक्तव्य के रूप में ही उस मत या निष्कर्ष की जापणा कर बैठा और उसे मान कर बागे चलता है जिस पर अन्ततः उसे माना होता है। इनमें से पहले रूप को हम शोध का एक प्रकार अप्रकल्पनात्मक तथा दूसरे को उसका दूसरा प्रकार प्रकल्पनात्मक कह सकते हैं। यों से दोनों ही शोध प्रकार वैज्ञानिक रूप से मान्य होते हैं, क्योंकि दोनों में ही जो यन्त्र होते हैं वे तर्क द्वारा प्रमाणित होते हैं।

वैज्ञानिक और साहित्यिक शोध —

प्रायः शोध कार्य का स्वरूप निर्धारण करते समय उसके दो भिन्न प्रकार बताये जाते हैं। इनमें से प्रथम को वैज्ञानिक और द्वितीय को साहित्यिक शोध कहा जाता है। हमारे मत के अनुसार यह विभाजन औचित्यपूर्ण नहीं है। शोध एक व्यापक शब्द का सूचक शब्द है, जिसका क्षेत्र-विस्तार बहुत अधिक है। इसलिये वह विभाजन या तो अवांछनीय है और या अपूर्ण। क्योंकि यदि शोध साहित्यिक और वैज्ञानिक हो सकता है, तो ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक, अर्थशास्त्रीय भाषावैज्ञानिक शिक्षाशास्त्रीय राजनीति शास्त्रीय आदि भी।

यदि हम शोध को एक विज्ञान के रूप में मान्यता देते हैं तो फिर इस विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता और वह भिन्न विषयों के क्षेत्र को अपने में समाविष्ट कर बैठा है। और अहाँ तक बड़ा मय के विविध अंगों में शोध का सम्बन्ध है, उनमें विषयवस्तु वैज्ञानिक होते हुए भी प्रक्रियागत एकता है। फिर प्रत्येक कला जगजा विज्ञान के क्षेत्र में अपनी जलन आवश्यकताएँ और समस्याएँ होती हैं जिनके ऊपर कार्य करना उस क्षेत्र के समस्त शोधकर्त्ताओं का कार्य होता है। परन्तु यह कहना कि साहित्यिक शोध अवैज्ञानिक और वैज्ञानिक शोध वैज्ञानिक होती है एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में शोध की महत्ता को कम करना है। शोध की सार्वकता इसी में होती है कि उसके माध्यम से सम्बद्ध क्षेत्र के उपलब्ध ज्ञान का विस्तार हो तथा इस या और किसी रूप में उसकी सार्वकता सिद्ध हो।

सौमन्य विस्तार —

समीक्षा और सोच के सौमन्य विस्तार के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस दृष्टिकोण से इनकी तुलना करना अनावश्यक है, क्योंकि समीक्षा और सोच दोनों ही स्वतन्त्र और माय्य घातक तथा विज्ञान हैं। इसलिए यह कहना अधिक औचित्यपूर्ण न होगा कि सोच की अपेक्षा समीक्षा का अपवाद समीक्षा की अपेक्षा सोच का लेख कम या अधिक विस्तार रखता है। वास्तव में इन दोनों का ही क्षेत्र स्वतन्त्र और पर्याप्त विकसित है। दोनों में कभी-कभी उद्देश्यमय या किसी और प्रकार की कोई समता अवश्य मिल जाती है अपवाद प्रक्रियागत कोई विषयता भी मिल सकती है परन्तु ऐसी किसी समता या विषयता के आधार पर इन दोनों में से किसी एक को हीनतर अपवाद उच्चतर घोषित करने की चेष्टा करने समान उचित नहीं है। यह अवश्य हो सकता है कि कभी-कभी हमारे सामने कोई ऐसी कृति आवे जो समीक्षायुक्त सोच कृति हो या कोई ऐसी रचना देखने का संयोग मिले जो औपचारिक समीक्षा का उदाहरण हो। दोनों ही स्थितियों में यह या तो एक संयोग हो सकता है, जो विषय की एक कपटा के कारण अनिवार्यतः प्रतीत हुआ और या वह दोषकर्ता अपवाद समीक्षक की अयोग्यता सिद्ध करता है। लेकिन इसके आधार पर इन दोनों स्वतन्त्र विषयों को किसी रूप में परस्पर सम्बन्ध कर देना अववाद केवल इसी आधार पर इन दोनों का क्षेत्र समुचित अपवाद विस्तृत घोषित कर देना उचित नहीं है। अतः धारणीय समीक्षा और वैज्ञानिक-सोच-दोनों का ही स्तरीय महत्त्व बहुत अधिक है और इन दोनों को ही वह महत्त्व प्राप्त है।

सांख्यिक आकलन —

समीक्षा की ही भाँति सोच भी एक सांख्यिक अनिवार्य और आवश्यकता बन जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि प्रायः सभी भाषाओं में समीक्षा घातक का निर्माण पहले हुआ और सोच विज्ञान का विकास बाद में। इसका कारण यह हो सकता है कि विविध देशों और जातियों के इतिहास में ऐसे समय आवे थे जब कि उनके यहाँ की महत्त्वपूर्ण कला और साहित्य इतनी या तो नष्ट हो गयीं और या तो नयीं। बाद में धार्मिक काल में जब फिर से अधिक ज्ञान का विकास होने की सम्भावना हुई और सोच इस दिशा में कार्यशील हुए, तब प्राचीन विपुल कला और साहित्य सामग्री के अनुसन्धान की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ।

बैता है। या तो वह ऐसा करता है कि 'विषय प्रवेश' अथवा 'पृष्ठभूमि' सीर्यक से अपने प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में सूत्र रूप में उस विषय से सम्बन्ध रखने वाली समस्या को प्रस्तुत करके निर्धारित रूप रेषा के अनुसार क्रमशः उस पर कार्य आरम्भ कर देता है और इस प्रकार अपने मत का प्रतिपादन करता हुआ अन्त में उपसंहारात्मक रूप से उसका संकलन करता है। और या वह ऐसा करता है कि प्रारम्भिक वक्तव्य के रूप में ही उस मत या निष्कर्ष की घोषणा कर देता और उसे मान कर आगे चलता है, जिस पर अन्ततः उसे आना होता है। इनमें से पहले रूप को हम शोध का एक प्रकार अप्रकल्पनात्मक तथा दूसरे को उसका दूसरा प्रकार प्रकल्पनात्मक कह सकते हैं। यों ये दोनों ही शोध प्रकार वैज्ञानिक रूप से मान्य होते हैं, क्योंकि दोनों में ही जो मूल्य होते हैं वे ठर्क द्वारा प्रमाणित होते हैं।

वैज्ञानिक और साहित्यिक शोध —

प्रायः शोध कार्य का स्वल्प निर्धारण करते समय उसके दो मुख्य प्रकार बताये जाते हैं। इनमें से प्रथम को वैज्ञानिक और द्वितीय को साहित्यिक शोध कहा जाता है। हमारे मत के अनुसार वह विभाजन औचित्यपूर्ण नहीं है। शोध एक व्यापक वर्ग का सूचक शब्द है, जिसका क्षेत्र-विस्तार बहुत अधिक है। इसलिङ्ग यह विभाजन या तो अवाञ्छनीय है और या अपूर्ण। क्योंकि यदि शोध साहित्यिक और वैज्ञानिक हो सकता है तो ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक अर्थशास्त्रीय भाषावैज्ञानिक विभाषाशास्त्रीय राजनीति शास्त्रीय आदि भी।

यदि हम शोध को एक विज्ञान के रूप में मान्यता देते हैं तो फिर इस विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता और वह मुख्य विषयों के शोध को अपने में समाविष्ट कर लेता है। और जहाँ तक वास्तविक समय के विविध अंगों में शोध का सम्बन्ध है, उनमें विषयगत वैविध्य होते हुए भी प्रक्रियागत एकता है। फिर प्रत्येक कला अथवा विज्ञान के क्षेत्र में अपनी अलग आवश्यकताएँ और समस्याएँ होती हैं जिनके ऊपर कार्य करना उस क्षेत्र के समय शोध कर्त्तव्यों का कार्य होता है। परन्तु यह कहना कि साहित्यिक शोध अद्वैतात्मिक और वैज्ञानिक शोध वैज्ञानिक होती है एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में शोध की महत्ता को कम करना है। शोध की सार्वभौमता इसी में होती है कि उसके माध्यम से सम्बद्ध क्षेत्र के उपलब्ध ज्ञान का विस्तार हो तथा इस या और किसी रूप में उसकी सार्वभौमता सिद्ध हो।

सोचपट विस्तार —

समीक्षा और सोच के क्षेत्रपट विस्तार के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस दृष्टिकोण से इनकी तुलना करना अनावश्यक है, क्योंकि समीक्षा और सोच दोनों ही स्वतन्त्र और मान्य शास्त्र तथा विज्ञान हैं। इसलिए यह कहना अधिक औचित्यपूर्ण न होगा कि सोच की अपेक्षा समीक्षा का अपवा समीक्षा की अपेक्षा सोच का क्षेत्र कम या अधिक विस्तार रखता है। वास्तव में इन दोनों का ही क्षेत्र स्वतन्त्र और पर्याप्त विस्तृत है। दोनों में कभी-कभी उद्देश्यपट या किसी और प्रकार की कोई समता अवश्य मिल जाती है अपवा प्रक्रियापट कोई विषयता भी मिल सकती है, परन्तु ऐसी किसी समता या विषयता के आधार पर इन दोनों में से किसी एक को हीनतर अपवा उच्चतर घोषित करने की चेष्टा करने समान उचित नहीं है। यह अवश्य हो सकता है कि कभी ह्माएँ आपने कोई ऐसी कृति चाये जो समीक्षात्मक सोच कृति हो या कोई ऐसी रचना देखने का समय चिते जो सोचत्मक समीक्षा का उदाहरण हो। दोनों ही स्थितियों में यह या तो एक संघाम हो सकता है, जो विषय की एक रूपता के कारण अविचार्यत प्रीष्टा हुआ और या वह सोचकर्ता अपवा समीक्षक की उपयोगता सिद्ध करता है। लेकिन इसके आधार पर इन दोनों स्वतन्त्र विषयों को किसी रूप में परस्पर सम्बद्ध कर देना अपवा केवल इसी आधार पर इन दोनों का क्षेत्र संकुचित अपवा विस्तृत घोषित कर देना उचित नहीं है। वस्तुतः शास्त्रीय समीक्षा और वैज्ञानिक-सोच-दोनों का ही स्तरीय महत्त्व बहुत अधिक है और इन दोनों को ही यह महत्त्व प्राप्त है।

साक्ष्यिक आवश्यकता —

समीक्षा की ही भाँति सोच भी एक सामयिक अविचार्यता और आवश्यकता बन जाता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि प्रायः सभी भाषाओं में समीक्षा शास्त्र का निर्माण पहले हुआ और सोच विज्ञान का विकास बाद में। इसका कारण यह हो सकता है कि विभिन्न देशों और जातियों के इतिहास में ऐसे समय चाये थे जब कि उनके यहाँ की महत्त्वपूर्ण कला और साहित्य कृतियाँ या तो नष्ट हो गयीं और या तो नहीं। बाद में धार्मिक काल में जब फिर से धार्मिक ज्ञान का विकास होने की सम्भावनाएँ हुईं और लोग इस दिशा में गायत्रीय हुए, तब प्राचीन विपुल कला और साहित्य सामग्री के अनुपलब्धता की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ।

इस प्रकार से शोध कार्य पहले एक बहुत सीमित क्षेत्र में शोध के सिरे आरम्भ हुआ और कालान्तर में इसका विकास होता गया तथा वर्तमान समय में ज्ञान की सभी विधाओं तक इसका प्रसार है। अब शोधकर्ता का एक मात्र उद्देश्य किसी विमुक्त और ब्रह्मात इति की शोध करना ही नहीं रह गया है या किसी व्यक्ति के प्रति वादी पंडितों की शोध करना भी नहीं रह गया है, बल्कि उपलब्ध साहित्य की भी समीक्षा करके समकालीन समीक्षा प्रवृत्तियों के विकास में एक प्रकार का योग देना है। इस दृष्टिकोण से शोध को समीक्षा का पूरक और सहयोगी भी कहा जा सकता है क्योंकि शोध के द्वारा समीक्षा के विकास की नयी सम्भावनाएँ उपजती हैं और उनके विनाश की दिशाएँ भी स्पष्टतर होती हैं।

आधारभूत तत्त्व -

समीक्षा और शोध के विषय में जहाँ तक आधार का प्रश्न है ऐसा कहा जाता है कि समीक्षा के लिए क्रियात्मक साहित्य का और शोध के लिए क्रियात्मक समीक्षा का विद्यमान होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यदि क्रियात्मक साहित्य प्रकाशित रूप में उपलब्ध नहीं है, तो समीक्षा की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता और यदि क्रियात्मक समीक्षा प्रकाशित रूप में उपलब्ध नहीं है तो शोध-विज्ञान का विकास नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों के लिए पिछले दोनों का पूर्ण अस्तित्व होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि बाह्य रूप से इस कथन में कुछ असंगति नहीं दिखाई पड़ती परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसकी सत्यता पर इस कारण से सन्देह किया जा सकता है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि साहित्य शास्त्र के मूलभूत सिद्धांतों की रचना के पूर्व क्रियात्मक साहित्य उच्चस्तरीय तथा विकास प्राप्त हो ही चुका हो तथा शोध की स्तरीयता के लिए पहले समीक्षा के परम्परागत विनाश की दृष्टभूमि तैयार ही हो चुकी हो।

ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि पहले क्रियात्मक रूप से साहित्य शास्त्र का प्रत्यक्ष हुआ ही और फिर शास्त्रीय साहित्य की सम्भावनाएँ उपजी हों। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि इन विभिन्न विषयों की अपनी स्तरीयता दूसरे की स्तरीयता को प्रभावित करती है और सम्भावनाओं की दृष्टि से एक दूसरे के लिए प्रेरक होकर अन्तर्सम्बन्धित रहती है। इसके साथ ही एक समीक्षक यदि समकालीन साहित्य प्रवृत्तियों का निर्योधक हो सकता है तो एक शोधकर्ता भी इसी कार्य को कर सकता है।

समीक्षा की मर्यादा

समीक्षा का कार्य एक सीमा-निर्धारण और मर्यादा-निर्धारण की ओरता रहता है। आज हिन्दी साहित्य में जो दिशा-निर्देशन का अभाव होने की बात बहुधा बही जाती है उसका एक कारण यह भी है कि जो साहित्य रचना हा रही है उसके मुल्यांकन के लिए ठोस प्रमाण नहीं मिले जाते। इसका कारण किसी भीमा तक प्रमुख समीक्षकों की वर्तमान हिन्दी साहित्य की कुछ प्रवृत्तियों के प्रति उदासीनता हो सकती है। ऐसी स्थिति में साहित्य के विविध अंग प्रगति के मार्ग पर अग्रसर तो होते हैं और नित्य नये मोड़ों पर आकर खड़े बहने की चेष्टा भी करते हैं परन्तु उपयुक्त दिशा निर्देशन के अभाव में वे विकसित नहीं हो पाते। यह कृति समान रूप से दो बातों का संकेत देती है। एक तो समीक्षकों की इन क्षेत्र में अज्ञापकता अकर्मकता तथा उदासीनता और दूसरे नये साहित्य की अग्रगण्यता और निष्ठावशता। इन दोनों का एक वृक्ष पत्र भी है। उसके अनुसार आज साहित्य के विविध अंगों में समीक्षा के क्षेत्र में ही सबसे अधिक क्रियाशीलता दिखाई देती है और नये हिन्दी साहित्य का यही अंग सबसे समृद्ध जान पड़ता है। यदि वास्तव में ऐसा है तो यह किसी भीमा तक मन्तोप का ही विषय है क्योंकि साहित्यिक विकास की महीन धाराओं के साथ यदि समीक्षा के क्षेत्र में भी स्वतन्त्र विचारों की दिशाएँ परिवर्तित होती हैं तो साहित्य की सर्वांगीण उत्थिति की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं।

समीक्षा की मर्यादा के विषय में सबसे पहली बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि यह एक स्वतन्त्र पात्र है। इस दृष्टिकोण से यह साहित्य और अन्य कलाओं से सर्वथा वैधर्म्य रहता है। इसलिये साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में क्रियाशील होने के पक्ष व्यक्ति का समझ तथा पात्रत्व होना आवश्यक है और ये दोनों योग्यताएँ भी स्वतन्त्र रूप से व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य और रुचि पर निर्भर करती हैं। इसलिये यह बहुत आवश्यक हो जाता है कि साहित्य और समीक्षा का साम्प्रदायिक सम्बन्ध कर इसी मर्यादा समझ की बाध। एक साहित्यकार अपनी इच्छाओं में उस युग के जीवन की झलक प्रस्तुत करता है जिसमें वह रहता है और जो उसके द्वारा अनुसूत होती है। अब उस साहित्य का रस ग्रहण करना एक दूसरे व्यक्ति का कार्य होता है जिसका स्थान साहित्यकार और समीक्षक के बीच का होता है। वह व्यक्ति पाठक होता है। पाठकों में प्रायः सभी प्रकार और सभी श्रेणियों के साहित्य में रुचि लेने का स्वीकार्य सम्बन्ध विद्यमान होती है। इसी कारण से अपनी रुचि और स्तर के अनुसार साहित्य को पढ़ते और उसमें अपना मनोद्वेग करते हैं। इन पाठकों में बहुत सी शक्तियाँ होती हैं

और उन्हीं के अनुसार इनमें सामान्य से लेकर विशिष्ट प्रकार के लोग होते हैं। इनकी धारणाएँ भी समकालीन साहित्य के बारे में निम्न प्रकार की होती हैं और उनका निर्धारण उनकी अपनी दृष्टि और स्तर से होता है। इनमें जो विशिष्ट कोटि के पाठक होते हैं वे साहित्य की समकालीन प्रवृत्तियों और धाराओं के विषय में अपेक्षाकृत अधिक जागरूक होते हैं और कभी-कभी तो उनके अनुभव और विचार वास्तव में महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि साहित्य का नियमित अध्ययन करके यों भी उनकी विवेक बुद्धि का परिष्कार हो चुका होता है। कहने का भाव्य यह है कि किसी भी स्थिति में वे जागरूक और विवेकवान पाठक समीक्षा करने के अधिकारी तब तक नहीं हो सकते जब तक कि उन्हें समीक्षा शास्त्र का सहन रूप से ज्ञान न हो तथा उन्होंने उसका सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक अध्ययन न किया हो। हमसे यह स्पष्ट है कि साहित्य का प्रमथन, उसका रस लेने की सामर्थ्य तथा उसकी समीक्षा के तीनों कार्य तीन प्रकार के हैं और यदि संयोग से कोई व्यक्ति इनमें से किसी एक की सामर्थ्य रखता है तो उसे यह समझ लेने का प्रयत्न कदापि न करना चाहिए कि वह दूसरे कार्य का अधिकारी हो सकता है और इसके लिये उसमें किसी अतिरिक्त गुण की अपेक्षा नहीं है। जिस प्रकार वे प्रतिभाधानी व्यक्ति ही साहित्य की रचना कर सकता है रसक पाठक ही उसका समी प्रकाश जानन्द ग्रहण कर सकता है उसी प्रकार वे एक शास्त्रज्ञ समीक्षक ही उसकी सम्यक् समीक्षा कर सकता है और ऐसा करने का अधिकारी हो सकता है। इसलिये समीक्षा के सम्बन्ध में यह मर्यादा निर्वाह की बात सर्वाधिक महत्व रखती है क्योंकि यह ही वह वस्तु है जिसका निर्वाह होने पर समीक्षा शास्त्र का एक उच्चस्तरीय चरम पर विकास सम्भव है।

समीक्षक और लेखक

शब्द के गुण में बहुतों समीक्षक के सामने लेखक की ओर से और लेखक के सामने समीक्षक की ओर से कुछ विरोध मानें प्रस्तुत की जाती हैं। बहुतों लेखक का काम समीक्षक और समीक्षक का काम लेखक भी करते देखे जाते हैं। यह बहुत भ्रामक परिस्थितियों का परिणाम है परन्तु यह प्रत्येक उस गुण में स्वाभाविक होता है, जिसमें जीवन की जटिलताएँ अपने यथार्थ रूप में मूल्य साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लेखक अपने सामाजिक दायित्व की अपेक्षा करके कदियों या शायरी के संकुचित क्षेत्रों में ही बचकर लपकते रहते हैं। तब जागरूक समीक्षक स्वभावतः

ही लेखक वर्ग से किन्हीं दायित्वों के निर्वाह की अपेक्षा करता है। ऐसी परिस्थिति में बहुधा दोनों वर्गों के बीच कुछ ऐसी भ्रामक चारबाएँ बनी रहती हैं जो साहित्य और समीक्षा दोनों के वांछी विकास में बाधक सिद्ध होती हैं। स्पष्ट है कि इनसे लेखक और समीक्षक दोनों ही आक्रान्त पाये जाते हैं।

यहाँ समीक्षा और साहित्य के क्षेत्र की एक प्रमुख समस्या की ओर संकेत किया गया है यद्यपि इस कथन से यह आशय नहीं समझना चाहिए कि उपर्युक्त समस्या अपने इसी रूप में विविध रूपों में समीक्षकों और लेखकों के सामने आती है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो सम्भवतः उद्ये प्रत्येक युग में सरलतापूर्वक सुलझाया जा सकता। परन्तु होता यह है कि इसी मूल समस्या के आचार पर कुछ अन्य जटिल प्रश्न बहुधा छाड़ने जाते हैं। स्पष्ट है कि किसी परिस्थिति में इस मूल समस्या की अग्रहेतना करके उस पर आधारित किसी प्रश्न का निदान निकास जा सकता कठिन है। ऐसा भी देखा जाता है कि कुछ लोग आवेष्ट में आकर किसी भी समस्या को भली प्रकार से समझने बिचारने के बजाय सीधे यह भाग करते हैं कि समीक्षक और लेखक के कार्य-निर्माण की एक ऐसी सीमा-रेखा हो, जिसमें इनके पारस्परिक संबंध की सम्भावना न रहे। यह भाग एक ऐसी निरर्थकता से पूर्ण है कि युग की साहित्यिक समस्याओं से असंग इसे देखना और सुलझाना न तो उचित ही है और न सम्भव ही। फिर भी यदि समीक्षक और लेखक अपने-अपने कार्य क्षेत्र और उनसे सम्बन्धित उत्तरदायित्वों को भली प्रकार समझते हैं, तो इनका निदान अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

शास्त्रज्ञ और कलाकार —

समीक्षक और लेखक के विषय में विचार करते समय यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि इनमें से एक व्यक्ति शास्त्रज्ञ है और दूसरा कलाकार। शास्त्रज्ञ कला का मूल्यांकन करता है और कलाकार कला का सृजन। अस्तित्व दोनों का ही सम्बन्ध कला से है। इसलिए यह कहना अनुचित होगा कि साहित्य सृजन और साहित्य समीक्षा दो ऐश कार्य हैं जो परस्पर विरोधी हैं या जिनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। और यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि समीक्षक के लिए भी लेखक की भाँति असामान्य रूप से रसज्ञ और सहृदय होना आवश्यक है। जिस लेखक या समीक्षक में ये गुण का अभाव होना वह अनिवार्यतः न तो साहित्य समीक्षा में सफल होगा और न साहित्य रचना में ही।

पाठक, समीक्षक और लेखक —

इस विषय में यह कहा जा सकता है पाठक और समीक्षक के भाव तीसरी सीढ़ी सेजक होता है। पाठक किसी लेखक की कृति में अभिव्यक्त अनुभूतियाँ का रसास्वादन करता है और समीक्षक उनकी मीमांसा। लेखक अपनी अनुभूतियों को असंगत भाषा के माध्यम से व्यक्त करता है। इसलिए ये अनुभूतियाँ विशेष रूप से रससिक्त होती हैं। इनका आनन्द प्राप्त करने के लिए पाठक और समीक्षक दोनों में रसग्राह्यता या भावुकता समान रूप से होनी चाहिए। यहाँ पाठक और समीक्षक एक ही स्तर पर खड़े हैं क्योंकि दोनों का ही कार्य इस रसमयता का किसी लेखक के साहित्य में रसास्वादन तथा परीक्षण होता है। यह तभी सम्भव है जब पाठक तथा समीक्षक समान रूप से इसके योग्य तथा सज्ज हों। यह योग्यता एक पाठक में कम या अधिक होने से काम चल सकता है परन्तु एक समीक्षक के लिए यह एक बड़ा उत्तर शामिल है। जब तक उसकी रसग्राहिणी शक्ति का समुचित विकास न होना तब तक वह किसी भी उच्च कोटि के साहित्य का जमी भाँति रसास्वादन तथा परीक्षण न कर सकेगा।

एक समीक्षक से इस शक्ति का विकास होने के लिए यह भी आवश्यक है कि उस अपनी भाषा और साहित्य के क्रमिक विकास और उपलब्धियों का सम्यक ज्ञान हो और उनका क्रमिक अध्ययन करके उसने उनकी उपलब्धियों का भी परिचय पाया हो। इसलिए यह साहित्यिक अनुशासन एक सामान्य पाठक की अपेक्षा एक उत्तरदायी समीक्षक में अधिक अपेक्षित है। एक पाठक का काम इस अध्ययन और परिचय ज्ञान से भी चल सकता है, किन्तु समीक्षक के लिए साहित्य और समीक्षा शास्त्र के वैज्ञानिक नियमों और व्यावहारिक रूपों की भी यही जानकारी होना आवश्यक है।

रस सम्बन्धना—

ऊपर हमने सिखा है कि एक समीक्षक में किसी सामान्य पाठक की अपेक्षा रसग्राहिणी शक्ति अधिक होनी चाहिये। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि लेखकों की ओर से इस बात की शिकायत की जाती है कि सामान्यतः समीक्षकगण इस योग्यता के अधिक से वंचित रहते हैं। और यदि किसी समीक्षक में यथार्थतः इस योग्यता का अभाव रहता है तो वह किसी भी साहित्यिक कृति का परीक्षण साहित्य न समीक्षा शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट नियमों और सिद्धांतों की पुष्टभूमि में करता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह समीक्षा सर्वग्राह्य और सर्वप्रसिद्ध नहीं होती और ऐसा होना अनिवार्य भी नहीं है,

परन्तु इससे यह बचन छिड़ हो जाता है कि कोई समीक्षक वास्तव में इस रस प्राप्ति की सामर्थ्य से रहित है और वैसे हान पर वह समीक्षक हान का कितना अधिकारी हो सकता है इसके विषय में क्रियात्मक लेखकों का निर्णय बहुत उत्साहजनक नहीं होता भले ही उस समीक्षक द्वारा की गई समीक्षा पूर्ण रूप से शास्त्रीय हो क्यों न हो ।

अपेक्षित दृष्टिकोण से यद्यपि लेखक और समीक्षक में विविध क्षेत्रीय सम्पर्क और सज्ज काटि के ज्ञान के विषय में अन्तर हो सकता है, परन्तु जहाँ तक रसप्राप्ति का सम्बन्ध है वह गुण उन दोनों समान रूप से विद्यमान होना चाहिये क्योंकि इसके अभाव में न लेखक श्रेष्ठ साहित्य सृजन करित है वरन् श्रेष्ठ समीक्षा भी सम्भव है । इस गुण के बिना साहित्य समीक्षा करना तथ्यमय वैसा ही होगा जैसे सम्बन्धनशीलता के अभाव में साहित्य रचना के निम्न पङ्क्ति क्रियात्मक साहित्य रचना करना ।

समीक्षा के गुण

सहृदयता—

एक समीक्षक में सबसे पहला गुण यह होना चाहिये कि वह सहृदय हो क्योंकि समीक्षा का प्राथमिक कार्य किसी कृति में किसी कृतिकार द्वारा अभिव्यक्त रसानुभूति की व्याख्या करना है । इस सहृदयता को हम समीक्षक की रसप्राप्तता भावुकता अथवा सम्बन्धनशीलता भी कह सकते हैं । कोई समीक्षक अन्य प्रकारों से कितनी भी योग्यताएँ क्यों न रखता हो यदि वह सहृदय नहीं है तो किसी भी उच्च कोटि की कृति के साथ पूर्ण रूप से व्याय नहीं कर सकता । इसके अतिरिक्त उसके स्वयं के लिये भी एक श्रेष्ठ और सफल समीक्षक होने की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं । इसीलिये उसे समीक्षक बनने से पहले अपनी रसप्राप्ति की शक्ति का विकास सभी प्रकार से करना चाहिये क्योंकि ऐसा करते समय उसका कार्य प्रायः एक सज्ज पाठक के समान होता जो किसी कृति में साहित्यकार की वाक्यानुभूति का रसास्वादन कर सकेगा । मूलतः यह वाक्यानुभूति वाक्यमय होती है और उसे समझ सकने के लिये पाठक का सज्ज होना बहुत आवश्यक है । इस प्रकार से जब उसमें इस वाक्यानुभूति की परख और स्तर निर्धारण की योग्यता आ जायगी तब वह समीक्षा का कार्य भी सफलतापूर्वक कर सकेगा क्योंकि अब तक उसकी रसप्राप्ति की शक्ति का सम्यक् रूप में परिष्कार और विकास हो चुका होगा ।

मुनिता—

समीक्षक के लिये दूसरा आवश्यक गुण यह है कि उसे मुनिचित होना चाहिये । तब तब उसे बिना ही प्रमुख भाषाओं की समृद्ध साहित्यिक परम्पराओं की जापेधिका

पानकारी न होगी। तब तक वह उनका सुसनात्मक अध्ययन करते कोई निष्कर्ष न निकाल सकेगा। ऊपर हमने कहा है कि समीक्षक के लिये समीक्षा का कार्य स्वीकार करने के पूर्व एक और सीढ़ी से होकर गुजरना आवश्यक है और वह यह है कि उसे एक सजब पाठक होना चाहिये। और इसीलिये जब हम यह कहते हैं कि समीक्षक पूर्वतः समूह भाषाओं की साहित्यिक उपसम्पत्तियों से सुपरिचित होना चाहिये तब हमारा आशय यह होता है कि समीक्षक यथार्थतः साहित्य का उच्चतम कोटि का पाठक होता है। एक ऐसा पाठक जिसकी रसवाहिनी शक्ति का उचित प्रकार से परिष्कार और विकास हो चुका है और जो विश्व की प्रमुख भाषाओं की महान् और गौरवमय परम्पराओं की अवगति रखता है। यदि हीन कोटि की रस सम्बन्धना ओष्ठ समीक्षा के मार्ग में बाधा सिद्ध हो सकती है, तो साहित्यिक क्षेत्रीय व्यस्यता भी आपेक्षिक रूप में उच्च स्तरीय समीक्षा की रचना के मार्ग को रूढ़ करती है। इसीलिये सङ्कल्पना के बाद एक समीक्षक के लिये दूसरा आवश्यक गुण उसका सुविभक्त होना है क्योंकि साहित्य का विविध क्षेत्रीय ज्ञान भी उसके लिये उपलब्ध होना है। दूसरे शब्दों में समीक्षक का सुविभक्त होना एक प्रकार से इस तथ्य का प्रमाण होता है कि वह एक अनुशासनात्मक प्रक्रिया से गुजर चुका है और इस दृष्टिकोण से भी समीक्षा का अधिकारी है।

निष्पक्षता :-

समीक्षक का हीसरा गुण उसकी निष्पक्षता है। उसे किसी बाध या विचारपात्र का कट्टर समर्थक नहीं होना चाहिए। जो समीक्षक निष्पक्ष नहीं होता उसका व्यक्तित्व इस कट्टर बाबानुसामिता के कारण झीका पड़ जाता है और फिर उसका प्राथमिक कार्य समीक्षा न रह कर प्रचारवाच ही हो जाता है। वास्तव में जो भी समीक्षक परिवर्तित होते हुये समाज, परिस्थितियों और माध्यमों पर बल देता है उसे यह समझना चाहिए कि मानव प्रकृति अपने मूल रूप में सदैव से एक रही है और इसलिए उसे समझना से ही देखना चाहिए। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि उसे समसामयिक प्रकृतियों की उपेक्षा करनी चाहिए। जो भी समीक्षक किसी विशिष्ट विचार धारा या धारा का कट्टर समर्थक है, उसे यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जब वह साहित्य में आदर्शता या यथार्थता का नाश समझता है, तो इसका आशय यह कभी नहीं समझा जाता कि वह जीवन दृष्टियों की उपेक्षा कर सकता है। किसी भी ऐसे सत्य को आत्मसात् के लिए यह आवश्यक है कि उसमें गुण की यथार्थ चेतना बहुत प्रकार और परिष्कृत रूप में विद्यमान हो। अतएव नही साहित्य ओष्ठतम कोटि का सिद्ध होना

जिसमें सामाजिक यथार्थ और उसकी पहरी चेतना की अभिव्यक्ति की गयी हो तथा दूसरी ओर उसे प्रभावित करने की चेष्टा भी जिसमें सक्षित हो ।

इस दृष्टिकोण से एक समीक्षक के लिए यह और भी आवश्यक हो जाता है कि वह सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में ही किसी कृति का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करे और यह देखे कि किसी समीक्ष्य कृति विरोध में सामाजिक परिस्थितियाँ किस सीमा तक अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित हुई हैं । उसके साथ ही उन्हें प्रभावित करने और परितुष्ट करने की भी क्षमता उसमें विद्यमान है अथवा नहीं । हमारा विचार है कि किसी भी ऐसे समीक्षक के लिए यह कार्य कठिन है जो कि बाद से आक्रान्त रहता है क्योंकि वह एक ओर तो पक्षपूर्वता के कारण समीक्षा के लिए आवश्यक समुपन को देता है और दूसरी ओर उसमें अनुपासन का अभाव भी हो जाता है । ये दोनों सीमाएँ तटस्थ दृष्टिकोण से उसे किसी कृति का मूल्यांकन नहीं करने देतीं और वह सबन अपने उद्देश्य विरोध की पूर्ति के लिए ही चेष्टाशील रहता है या किसी न किसी वादपथ स्थापना का आग्रह ही होती है ।

उपमूलक कथन का सारांश यह नहीं है कि साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में सभी प्रकार के बाध त्याग्य हैं और किसी भी प्रकार से उनका अनुपमन बाधनीय नहीं है । वास्तव में किसी भी बाद द्वारा गौरवित वे ही तत्त्व समीक्षक को पहूँच करने चाहिए जिनमें वह बाद किन्हीं उत्प्रेक्षणीय यथार्थताओं का सङ्घाटन करता हो । और इन यथा र्थताओं के बाध के बाद भी समीक्षक को दूसरे बाधों की इन्हीं विरोधताओं तथा गुण की अन्य सत्यताओं की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए । कहने का आशय यह है कि यदि कोई बाद गुण जीवन के नय क्षेत्र और परिवेश में किन्हीं सत्यों की अवगति करने की क्षमता रखता है, तो उसके उन तत्त्वों को वादानुसारी न होते हुये भी स्वीकार किया जा सकता है ।

उदाहरण अथवा संहिष्णुता:—

समीक्षक का चौथा गुण उसकी उदाहरण अथवा संहिष्णुता है । यह संहिष्णुता ही उसे इस योग्य बनाती है कि वह प्राचीनता तथा नवीनता का समन्वय करके यथा सम्भव गुण की आवश्यकता के अनुरूप विचारणा कर सके । यदि कोई समीक्षक पूर्ववर्ती साहित्य और समीक्षा आचार्यों की ओर अधिक झुकाव रखता है और गुण के साथ बदम नहीं मिला पाता तो वह कभी भी नवीन साहित्य की उपलब्धियों की अवगति नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि वे उसकी दृष्टि में सदैव ही उपेक्षणीय होती हैं । यद्यपि यह सत्य है कि

समीक्षक अपने संस्कारों से प्रभावित होता है और अपनी मायता के अनुसार ही समीक्षा करता है, परन्तु ऐसा करते समय उसे एकांगिता और अपूर्णता के दोनों से बचे रहने का यत्न करना चाहिए। आज यह भारता अधिकतम क्षेत्रों से मायता प्राप्त कर रही है कि उच्चतम कोटि के साहित्य में मानव जीवन का समयता में चित्रण होना चाहिए। हम दृष्टि से कोई भी ऐसा साहित्य इस कोटि में नहीं आ सकता जो एकांगी भावगत भावना संकुचित दृष्टिकोण वाला हो। चूंकि समीक्षक साहित्य का नेतृत्व और नियंत्रण भी करता है इसलिए उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्य की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का भी परीक्षण प्राप्त करता रहे।

सौन्दर्यानुसृति —

समीक्षक का पाँचवां गुण विविध विषयक कृतियों की कक्षात्मक और सौन्दर्यात्मक अनुवृत्तियों को ग्रहण करने की योग्यता है। उसमें यह सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह समीक्षक कृति की विशेषताओं को समझते हुए उन कारकों को समझ सके जिनमें मूल रूप से उस कृति की महत्ता निहित हो। समीक्षक में यह विवेक सभी होगा जब उसमें ऊपर लिखे गये अन्य गुण विद्यमान हों क्योंकि उनकी उपस्थिति ही समीक्षक की प्राप्ति शक्ति को सूक्ष्मता देती है और यदि उसमें यह गुण नहीं है तो वह किसी भी कृति का वास्तविक रूप में मूल्यांकन नहीं कर सकेगा और उसके महत्त्व के बर्णन कार्यों की भी खोज करने में असमर्थ रहेगा। ऐसा समीक्षक कभी भी शास्त्रीय कोटि की समीक्षा नहीं कर सकेगा क्योंकि उसका प्रायः सम्पूर्ण विवेचन सतही और ऊपरी तौर का होगा और उसमें विषयगत गहराई का अभाव होगा।

इसके अतिरिक्त वह किसी कृति के विवेचन रूप से उस व्यापित वर्गों को उनकी कृति विवेक शक्ति पहचानने में कभी भी सफल न हो सकेगी और इसलिए उसके अंदर या अंदर में वह कभी भी उतनी ईमानदारी न ला सकेगा जितनी एक सम्मेलन और समर्थ समीक्षक से अपेक्षित है। इसके साथ ही वह यह भी खोज करने में सक्षमता न प्राप्त कर सकेगा कि प्राथमिक रूप से समीक्ष्य साहित्यकार की रसाभिव्यक्ति कितनी परिष्कृत और उच्चस्तरीय है। यह भी ठीकी सम्भव होगा जब समीक्षक में यह गुण हो कि वह किसी कृति की कक्षात्मक अनुवृत्तियों को उनकी पूर्णता में देख सके। इसलिए समीक्षक में अन्य अनेक गुणों के साथ ही यह गुण भी अनिवार्य रूप से होना चाहिए, क्योंकि पूर्ण और शास्त्रीय समीक्षा के लिए यह न केवल अपेक्षित गुण है, बल्कि अनिवार्य भी है।

नात्मक प्रतिभा और भाषा पर अधिकार —

उपर्युक्त कुछ प्रधान गुणों के अतिरिक्त एक समीक्षक में कुछ अन्य योग्यताएँ भी होनी चाहिए। उदाहरण के लिए उसमें यह सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह किसी कृति विषय में जो बात अनुभव कर रहा हो और कहना चाहता हो उसे प्रभावशाली और सत्य भाषा में स्वयं भी अभिव्यक्त कर सके। यह कार्य वह सभी कर सकता है, जब उसमें भी एक साहित्यकार की भाँति क्रियात्मक प्रतिभा विद्यमान हो क्योंकि इस दृष्टि से वह स्वयं भी एक क्रियात्मक समीक्षक होता है। प्रभावशाली तथा सत्य भाषा माध्यम से अपने विचार प्रकट करने की योग्यता उसमें अध्ययन और अभ्यास से ही उत्पन्न है। समीक्षा में भी क्रियात्मक साहित्य की भाँति अभिव्यक्ति का महत्व होता है। इसके प्रकार से एक साहित्यकार सत्य भाषा के अभाव में अपनी अनुभूतियों को कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं दे सकता उसी प्रकार से एक समीक्षक भी इसके अभाव में उस अनुभूति की स्पष्टता का निर्धारण नहीं कर सकता।

उपर्युक्त कथन का आशय यह नहीं है कि वह किसी कृति के कलात्मक महत्व के मर्यादों की ही ओर नहीं कर सकता। हो सकता है कि वह ऐसा कर सकने के योग्य हो भी, परन्तु भाषा के माध्यम से उन्हें व्यक्त कर सकना सर्वथा निम्न बात है। वैज्ञानिक रूप से भी एक समीक्षक का भाषा की भूमिकाओं और विशेषताओं से सहज परिचित होना चाहिए, क्योंकि साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में भाषा का महत्व बहुत अधिक है। एक कवि नाटककार, उपन्यासकार या कहानीकार भाषा के माध्यम से ही अपनी अनुभूतियों को कलात्मकता का आनन्द प्रदान करने में सफल होता है। ऐसा करते समय वह भाषा की सभी विशेषताओं और सीमाओं का ध्यान में रखता है। वह परम्परागत और नवीन प्रतीकों की योजना अपने साहित्य में करता है और इस प्रकार से अपने अभीष्ट की अभिव्यक्ति करता है। ऐसा वह इसलिए कर पाता है क्योंकि उसे भाषा विषयक आवश्यक ज्ञान होता है और अभ्यास से भी वह उसका परिभाषन कर चुका होता है। एक समीक्षक के लिए भी भाषा विषयक इस प्रक्रिया से गुजर चुकना उतना ही ज़रूरी जितना आवश्यक होता है जितना कि एक क्रियात्मक साहित्यकार के लिए। जो एक उच्च कोटि के कलाकार की कृति के रसा-वादन के लिए भाषा के रहस्यों के परिचय होना एक सामान्य पाठक के लिए भी आवश्यक होता है, फिर समीक्षक तो उच्चतम कोटि का पाठक बड़ा जाना है और वह दूसरे पाठकों को किसी कृति के विषय में सत्य निर्देश करते हुए उन्हें उससे प्रभावित भी करता है।

समीक्षक अपने संस्कारों से प्रभावित होता है और अपनी मान्यता के अनुसार ही समीक्षा करता है, परन्तु ऐसा करते समय उसे एकाग्रता और अपूर्णता के दोनों से बचे रहने का यत्न करना चाहिए। आज यह चारमा अधिकतम लोगों से मान्यता प्राप्त कर रही है कि उच्चतम कोटि के साहित्य में मानव जीवन का समग्रता में चित्रण होना चाहिए। इन दृष्टि से कोई भी ऐसा साहित्य इस कोटि में नहीं आ सकता जो एकांगी वादगत बचवा संकुचित दृष्टिकोण वाला हो। चूँकि समीक्षक साहित्य का नेतृत्व और निर्देश भी करता है इसलिए उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्य की विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का भी परिचय प्राप्त करता रहे।

सौन्दर्यानुवृत्ति :—

समीक्षक का पाँचवाँ गुण विविध विषयक कृतियों की कलात्मक और सौन्दर्यात्मक अनुवृत्तियों को ग्रहण करने की योग्यता है। उसमें यह सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह समीक्षक कृति की विशेषताओं को समझते हुवे उन कारकों को समझ सके जिनमें मूल रूप से उस कृति की महत्ता निहित हो। समीक्षक में यह विवेक तभी होगा जब उसमें ऊपर सिंके नये अन्य गुण विद्यमान हों क्योंकि उनकी उपस्थिति ही समीक्षक की साहस्य शक्ति को सूक्ष्मता देती है और यदि उसमें यह गुण नहीं है तो वह किसी भी कृति का वास्तविक रूप में मूलमार्क नहीं कर सकेगा और उसके महत्त्व के सबाब कारकों की भी खोज करने में असमर्थ रहेगा। ऐसा समीक्षक कभी भी वास्तवीय कोटि की समीक्षा नहीं कर सकेगा क्योंकि उसका प्राग् सम्पूर्ण विवेचन सतही और ऊपरी तौर का होगा और उसमें विषमयत्त गहवाई का अभाव होगा।

इसके अतिरिक्त वह किसी कृति के विषेय रूप से उस व्यापित अंशों को उनकी कृति विवेक शक्ति पहचानने में कमी भी सफल न हो सकेगी और इसलिए उसके कदम या मंढन में वह कभी भी उतनी ईमानदारी न ला सकेगा जितनी एक नम्मीर और समर्थ समीक्षक से अपेक्षित है। इसके साथ ही वह यह भी खोज करने में सक्षमता न प्राप्त कर सकेगा कि प्राथमिक रूप से समीक्ष्य साहित्यकार की रसाभिव्यक्ति कितनी परिष्कृत और उच्चस्तरीय है। यह भी तभी सम्भव होगा जब समीक्षक में यह गुण हो कि वह किसी कृति की कलात्मक अनुवृत्तियों को उनकी पूर्णता में देख सके। इसलिए समीक्षक में अन्य अनेक गुणों के साथ ही यह गुण भी अनिवार्य रूप से होना चाहिए, क्योंकि पूर्ण और शास्त्रीय समीक्षा के लिए यह न केवल अपेक्षित गुण है, बल्कि अनिवार्य भी है।

रचनात्मक प्रतिभा और भाषा पर अधिकार :-

उपर्युक्त कुछ प्रधान मुद्दों के अतिरिक्त एक समीक्षक में कुछ अन्य योग्यताएँ भी होनी चाहिए। उदाहरण के लिए उसमें यह सामर्थ्य होनी चाहिए कि वह किसी कृति के विषय में जो बात अनुभव कर रहा हो और कहना चाहता हो, उसे प्रभावशाली और सरल भाषा में स्वयं भी अभिव्यक्त कर सके। यह कार्य वह तभी कर सकता है, जब उसमें भी एक साहित्यकार की भाँति कियात्मक प्रतिभा विद्यमान हो क्योंकि इन दृष्टि-कोण से वह स्वयं भी एक कियात्मक समीक्षक होता है। प्रभावशाली तथा सरल भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रकट करने की योग्यता उसमें अध्ययन और अभ्यास से ही आती है। समीक्षा में भी कियात्मक साहित्य की भाँति अभिव्यक्ति का महत्व होता है। जिस प्रकार से एक साहित्यकार सरल भाषा के अभाव में अपनी अनुभूतियों को रचनात्मक अभिव्यक्ति नहीं दे सकता उसी प्रकार से एक समीक्षक भी इसके अभाव में उस अनुभूति की व्येष्टता का निर्वर्ण नहीं कर सकता।

उपर्युक्त कथन का भाष्य यह नहीं है कि वह किसी कृति के रचनात्मक महत्व के कारणों की ही खोज नहीं कर सकता। हो सकता है कि वह ऐसा कर सकने के योग्य हो भी, परन्तु भाषा के माध्यम से उन्हें व्यक्त कर सकना सर्वथा भिन्न बात है। सैद्धान्तिक रूप से भी एक समीक्षक का भाषा की दुरुम्भताओं और विशेषताओं से महान परिचय होना चाहिए, क्योंकि साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में भाषा का महत्व बहुत अधिक है। एक कवि नाटककार, उपन्यासकार या कहानीकार भाषा के माध्यम से ही अपनी अनुभूतियों को रचनात्मकता का आवरण प्रदान करने में सफल होता है। ऐसा करते समय वह भाषा की सभी विशेषताओं और सीपों का ध्यान में रखता है। वह परम्परागत और नवीन प्रतीकों की योजना अपने साहित्य में करता है और इस प्रकार से अपने जमीष्ट की अभिव्यक्ति करता है। ऐसा वह इसलिए कर पाता है क्योंकि उसे भाषा विषयक आवश्यक ज्ञान होता है और अभ्यास से भी वह उसका परिचालन कर चुका होता है। एक समीक्षक के लिए भी भाषा विषयक इस प्रक्रिया से गुजर चुकना उतना ही अपना उससे अधिक आवश्यक होता है किन्तु कि एक कियात्मक साहित्यकार के लिए। यों एक ऊँचा कोटि के रचनाकार की कृति के रसास्वादन के लिए भाषा के पहलुओं में परिचित होना एक सामान्य पाठक के लिए भी आवश्यक होता है फिर समीक्षक तो उच्चतम कोटि का पाठक रहना चाहता है और वह हमारे पाठकों की किसी कृति के विषय में जो निवेद करेगा वह उन्हें उससे प्रभावित भी करेगा है।

इस प्रकार से वह भाषा के कलाकार साहित्यकार और भाषा के जिज्ञासु पाठक के बीच में एक माध्यम का कार्य करता है और इस कार्य का निर्वाह सफलतापूर्वक कर सकता उसके लिए सभी सम्मन हैं, जब वह इन दोनों की अपेक्षा भाषा पर अधिक अधिकार रखता हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भाषा पर यदि किसी समीक्षक का ज़रूरी भाँति अधिकार नहीं है तो उसकी स्थिति एक प्रकार से एक पंगु व्यक्ति की भाँति होती है या एक गृह की भाँति जो अपने मन्तव्य का मापाबद्ध प्रतिपादन करने में असफल रहता है।

मूल्यांकन का व्यापक दृष्टिकोण :—

समीक्षक का अन्तिम गुण है, उसके पास साहित्यिक मूल्यांकन के लिए एक सुनिश्चित और सुदृढ़ समीक्षारमक दृष्टिकोण होना जिसके अन्तर्गत में उसकी समीक्षा उद्देश्यहीन सी प्रतीत होती है। समीक्षक का वह दृष्टिकोण न केवल किसी कृति की विशेषताओं को प्रभावशाली रूप में पाठकों के सामने रखता है बल्कि किसी लेखक का भी विश्वास निर्देश कर सकता है क्योंकि वह बहुमुखी होती है और उसी पर साहित्य और समीक्षा विषयक निर्णय निर्धार करता है। प्रश्न हो सकता है कि जब समीक्षक के लिए यह बात इतने महत्व की है, तो वह इस प्रकार का दृष्टिकोण निर्मित और निर्धारित कैसे करे।

संक्षेप में यह दृष्टिकोण एक समीक्षक की परिष्कृत अभिवृत्ति से विकसित पाता है। यदि उसे अपने साहित्यिक और समीक्षायीय अध्ययन में इन क्षेत्रों के प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली व्यक्तियों के कृतित्व का साहित्य प्राप्त रहता है तो वह दृष्टिकोण उसकी बुद्धि में स्वतः परिपक्व और विकसित होता रहता है। साहित्य का व्यवहार और सिद्धांत रूप में अध्ययन एक समय पाठक को एक आगमक समीक्षक बनाता है।

दृष्टिकोण के निर्माण के लिए समीक्षक श्रेष्ठ साहित्य का कई प्रकार से अध्ययन कर सकता है। वह पहले किसी उच्च कोटि की शास्त्रीय महत्व की किमार्मक पुस्तक का पारायण करके उसके विशेष रूप से रसविरत बंशों की परख कर सकता है। उनके विषय में अपनी बुद्धि किन्हीं निर्णयों पर ला सकता है, ऐद्वान्तिक रूप से अपने इन निर्णयों की पुष्टि कर सकता है, और फिर जन्त में उसी कृति पर किसी अधिकारी और मान्य समीक्षक की मिली हुई समीक्षारमक कृति का पारायण करके यह भी देख सकता है कि उसने समय जो निष्कर्ष निकाले हैं और उस कृति विशेष के सम्बन्ध में

उसकी या मायबान्नी है। वे उस श्रेष्ठ समीक्षक की मायबान्नी और निष्कर्षों से बहो तक ऐक्य या बैधिन्य रखती है। यदि इन दोनों में पारस्परिक भेद बहुत अधिक है तो वह फिर से वैसा ही क्रमिक अध्ययन करके पुनः इन निर्णयों और मन्तव्य की परीक्षा कर सकता है और किसी अन्तिम निष्पत्ति पर आ सकता है।

किसी कारणवश यदि इतन पर भी उसका उस माय्य समीक्षक के मर्मज्ञ नहीं हो पाता, तो फिर वह उसी दृष्टि पर किसी दूसरी उसी उच्च स्तर के समीक्षक की पड़ सकता है। इस समीक्षक के भी निर्णय और मन्तव्य के सम्बन्ध में वह क्रियात्मक दृष्टि विरोध के सम्बन्ध में अवश्य ही किसी अन्तिम परिणाम पर आ सकता है जो उसके इस सारे अध्ययन और विवेचन का परिणाम होता है। विविध क्षेत्रों और विविध साहित्यिक माध्यमों की प्रतिनिधि दृष्टियों और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि में उन दृष्टियों पर निम्नो मयी समीक्षाओं से एक जागरूक समीक्षक अपने दृष्टिकोण का निर्माण परिष्कार और विस्तार कर सकता है।

समीक्षक के दायित्व

साहित्यिक कार्य का निर्वाह —

समीक्षा करना एक पारम्परिक कार्य है और इसके लिए एक समीक्षक में असाधारण योग्यता होती है। इसीलिए समीक्षक का बड़ा दायित्व होता है और उसमें यह जाया की जाती है कि वह दायित्वों का निर्वाह करेगा। समीक्षा में साहित्य के विपरीत सबसे प्रधान विशेषता यह है कि वह एक प्रकार का विस्लेष्माण्वक कार्य व्यापार है। एक साहित्यकार जिस अनुभूति की मौखिकपूर्ण समझता है उसे अनिश्चित कर देता है। उस भाषाबद्ध अभिव्यक्ति का एक समीक्षक परीक्षण करता है। ऐसा वह सफलतापूर्वक तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उस आलोच्य साहित्यकार की अनुभूतियों के माध्यम से भाषाबद्ध चेतना में स्वयं अपने आपसे न रहा और इस प्रकार से उस मनः स्थिति में स्वयं वक्तव्य न करे। ऐसा करने पर ही वह प्रत्यक्ष और प्रायः निरुपेक्ष से उस साहित्यानुभूति को उसकी समझता में कल्पित और फिर अनुमन कर चेतना भाव से उस ग्रहण कर सकता है और इसीलिए उसका परीक्षण और विमर्श निर्देश कर सकता है। इस महान् दायित्व के लिए अनुभूति प्रतिभा और अति सक्रिय विवेक अनेकित है।

साहित्य विपक्ष अन्तर्दृष्टि —

मान की स्थिति में एक समीक्षक का दायित्व अनेकानेक अधिक है क्योंकि यह एक संज्ञाति युग्म है। जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में कह चुके हैं मान के समीक्षक

के लिए अपनी महत्वपूर्ण साहित्यिक परम्पराओं का ज्ञान होना आवश्यक है। यह कई दृष्टियों से लाभप्रद होता है। एक तो इस दृष्टि से कि समीक्षक अतीत युगों में कलाओं के विषय की धाराओं और कर्णों से अवगत हो जाता है। और दूसरे इस दृष्टि से भी कि वह यह भी जान पाता है कि प्रत्येक युग में विभिन्न साहित्यिक समस्याएँ महत्वपूर्ण समझी जाती हैं परन्तु युग परिवर्तन के साथ उनमें अन्तर समझा जाने लगता है।

अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए एक समीक्षक यह देखता है कि कोई साहित्यकार मानव जीवन की किसी मूल समस्याओं के उद्घाटन की क्षमता रखता है या नहीं कि वह एक नई और समर्थ दृष्टि से सम्पूर्ण कलाकार है या नहीं कि वह अपने साहित्य में विरलत मानव मूल्यों का समावेश करके किसी नये जीवन दर्शन को प्रस्तुत कर सका है या नहीं कि वह अपनी विकासशील साहित्य धाराओं का परिचय प्राप्त करके उसके मूलभूत तत्वों को आत्मसात् कर चुका है या नहीं आदि।

उसके लिए ऐसा करना इसलिए भी आवश्यक होता है क्योंकि उसका कार्य साहित्य के मूल्यों की व्याख्या करना होता है। साथ ही वह लेखक और पाठक के बीच एक माध्यम बनकर पाठक को साहित्य विषयक अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। इन दायित्वों का निर्वाह भी वह ठीकी कर सकता है जब वह किसी कृति की कलात्मक अनुसूचियों का परीक्षण करके अपनी बात को प्रभावपूर्ण और सशक्त ढंग से कह सकने की सामर्थ्य रखता हो।

वतिरोध कालीन कार्य —

समीक्षक का दायित्व किसी भी सम्पत्ति अथवा वतिरोध कालीन परिस्थिति में एक क्रियात्मक लेखक अथवा पाठक की अपेक्षा अधिक होता है। इसका कारण यह है कि किसी भी प्रकार की साहित्यिक विवृति का प्रभाव सामान्य रूप से इस क्षेत्र से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों पर पड़ता है। परन्तु इसके लिए उत्तरदायी प्रभावित समीक्षक को ही ठहराया जाता है, क्योंकि वह एक लेखक और सारे समाज के मध्य एक प्रकार का माध्यम होता है जो इन दोनों को समान रूप से प्रभावित करता है। इसलिए उसका स्थान दोनों की दृष्टि में ही उच्च तथा महत्वपूर्ण होता है। यह भी एक कारण है कि समीक्षक को अपने दायित्वों के प्रति सजब तथा ईमानदार रहना पड़ता है। यह दिक्रोमिक उत्तरदायित्व भी उसे इस बात के लिए बाध्य करता है कि वह समीक्षा कार्य करते समय दोनों ओर अपने दायित्व को निर्वाह। अन्ततः समीक्षक का काम

समीक्षा के उच्चतम मानक के अनुसार यह है कि वह यह परीक्षण करे कि किसी साहित्यकार की किसी कृति में किस प्रकार अपना वर्तमान स्वरूप अपने युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के फलस्वरूप ग्रहण किया है और युग के मूल्यों का उद्घाटन करके युग की चेतना को सम्पन्न बनाने में क्या योग दिया है।

मानवीय चेतना के विवेक को व्यावहारिकता :—

एक समीक्षक का मुख्य दायित्व इस प्रकार से, मानवीय चेतना के प्रति हाथा है जिसके अनेक पक्ष और रूप होते हैं। इनका सम्बन्ध मानव जीवन के विभिन्न परिवेशों से होता है। इसलिए समीक्षक को यथा सम्भव इस चेतना के प्रति ईमानदारी से अपने दायित्व का निर्वाह करना चाहिए, क्योंकि सांस्कृतिक समृद्धि और ह्रास में इसका ही हाथ सबसे अधिक हाथा है। कभी-कभी समीक्षक अपने इस दायित्व का निर्वाह पूरी ईमानदारी के साथ नहीं कर पाता क्योंकि साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में समय-समय पर समाविष्ट संकुचित दृष्टिकोण और बाह्यानुपमन आदि की प्रवृत्तियाँ उसे भी मार्ग भ्रष्ट कर देती हैं। इसीलिए समीक्षक को चाहिए कि वह इस प्रकार के सामयिक दोषों के विरुद्ध झुझा से अपने व्यक्तित्व की रक्षा करे, और इस प्रकार से अपने इस दायित्व को निभाने।

समीक्षक के अपने वैयक्तिक विकास और बीड़िक सम्पन्नता के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि कम से कम वह उस सम्पन्नता से विमुक्त न हो, जो एक ईमानदार समीक्षक से अपेक्षित है और जो समीक्षा की सम्पन्नता की पहली शर्त है। जब किसी भाषा के साहित्य और समीक्षा क्षेत्रों में बाह्यानुपमन की प्रवृत्तियाँ इतनी बढ़ जाती हैं कि वे सभी लेखकों और समीक्षकों पर हावी हो जायें तब इनके प्रभाव से मुक्त रह सकना दुर्लभ साहित्यकारों और समीक्षकों लिए कठिन होता है। ऐसे समय में आवश्यक समीक्षक का दायित्व अपेक्षाकृत अधिक होता है, क्योंकि यह उसी का कार्य होता है कि इस कठिनीय की स्थिति से साहित्यकारों और साहित्य को मुक्त करे और उसकी भावी प्रगति की दिशाओं में कार्य करे। समर्थ और ईमानदार समीक्षकों के लिए ही इस दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह सम्भव होता है।

समीक्षा का क्षेत्र

सादरत मानकता :—

निती भी युग का साहित्य समसामयिक सामाजिक जीवन और परिस्थितियों से प्रभावित होता है। यह एक ऐसा तथ्य है जो साहित्य के विकास के युगों के पर्यवेक्षण

से प्रभावित होता है। परन्तु ऐसा प्रत्येक साहित्य जिसमें युवीन परिस्थितियाँ दिखाता और प्रभावता से प्रतिबिम्बित होती हैं स्वाधीन साहित्य की कोटि में नहीं आता। समीक्षा के क्षेत्र में यह एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है, जो बहुधा विचारकों के सामने खड़ा है। वस्तुतः जो साहित्यकार प्रतिभाशाली होने के साथ ही महत्वपूर्ण साहित्यिक परम्पराओं से भी सुपरिचित होते हैं तथा महान् सांस्कृतिक उपलब्धियों की भी अवगति रखते हैं वे विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियों में रह कर भी उनकी सीमाओं का अति क्रमशः कर सकते हैं। ऐसे साहित्यकारों में ही यह क्षमता होती है कि वे मानव जीवन के स्वाधीन मूल्यों की अवगति प्राप्त करके साहित्य के क्षेत्र में किन्हीं महान् और विरल समस्याओं का संयोजन अपनी कृतियों में कर सकें। अतः ऐसा ही साहित्य अस्वाधीन नहीं प्रमाणित होता है।

युपीन भरातल —

समीक्षा का क्षेत्र किसी कृति के यथार्थमत्ता के पुनः परीक्षण तक ही सीमित नहीं है क्योंकि कोई कृति अथवा उसके कुछ पात्र यथार्थता की दृष्टि से अपने महत्वपूर्ण न होते हुये भी अधिक महत्व के सिद्ध हो सकते हैं। यदि उनका अन्तर्गत मानक के व्यापक बराबर पर है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ऐसी कोटि की गरिब सृष्टि केवल उसी लेखक द्वारा सम्भव है जो समाज और जन जीवन को उसकी समझता में देख सके। संकुचित दृष्टिकोण या बाह्यनुगमिता ऐसे साहित्यकार की सीमाओं में नहीं बाँध पाती।

इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि कोई भी ऐसी समीक्षा जो किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों पर आधारित होती है, साहित्य में सर्वत्र उन्हीं बाधों पर बरक देती है। जिनकी माँग पुनः कठोर है। और जब इस तरह पर अधिक बल दिया जाता है, तब स्वाधीनता और उसके अनुरात कलात्मकता के तत्व गीत हो जाते हैं। यह संकुचित मनोवृत्ति प्रत्येक बाध पर समीक्षा में अन्तः विद्यमान रहती है। अन्ततोगत्वा किसी भी प्रकार की बाधित एकात्मता के समीक्षा के मार्ग में बाधा ही सिद्ध होती है और उसके क्षेत्र को संकुचित कर देती है।

इस प्रकार से समीक्षा के क्षेत्र में सर्वत्र ही प्रायः जो प्रकार के प्रश्न मुख्य रूप से विद्यमान रहते हैं। इनका सम्बन्ध पुनः की परिस्थितियों और विरल मानवी अनुभूतियों

से होता है। और इस दृष्टिकोण से एक समीक्षक के लिए यह निर्धारण करना होता है कि कवचर कोटि का साहित्य वह होना जिसमें शास्त्रतः मान्य अनुभूतियों का संकलन है अथवा वह साहित्य जिसमें उस युग विषय की पूर्णता के साथ अनिमित्त होती है। विश्व का महानतम कोटि का साहित्य स्पष्ट रूप से इन दोनों प्रकार की दृष्टियों से पूर्ण है।

जातीय और राष्ट्रीय संस्कृति —

साहित्य की भाँति ही समीक्षा का क्षेत्र भी जातीय और राष्ट्रीय संस्कृति से सम्बन्ध रखता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि साहित्य की रचना और उसकी समीक्षा दोनों ही सांस्कृतिक कोटि के प्रयत्न हैं। साहित्य क्षेत्र यदि अपने युग की अपार्षता से सम्बन्ध रखता है, तो समीक्षा का क्षेत्र उसके निर्देशन और परीक्षण से। ऐसा करते हुए एक समीक्षक यह भी स्पष्ट रूप से घोषित करता है कि किसी युग के साहित्य में अनिमित्त उस युग की चेतना किन परिस्थितियों में स्पष्टतर होकर उभरी है। इसी प्रकार से वह यह संकेत भी करता है कि चेतना के ये परिप्रेक्ष्य उस युग विषय का किन्तु सीमा तक प्रतिनिधित्व करने में सक्षम हैं। इसके अतिरिक्त एक अपेक्षाकृत उच्च बचत की अनिमित्त चेतना की पुष्टता से अनावृत्ति कर उसे साधारणीकृत रूप में प्रस्तुत करना भी समीक्षा के क्षेत्र के ही अन्तर्गत आता है। इसीलिए समीक्षा को साहित्य का पूरक भी भी कहा जा सकता है।

विमलमलक प्रशस्ति —

समीक्षा की अपने सम्यक् रूप में विकास के लिए अनिवार्य कोई न कोई विविष्ट विचार बाध सिद्धांत शास्त्र अथवा बाध का सहारा लेना पड़ता है। जिस प्रकार से एक क्रियात्मक लेखक मयासम्बन्ध मनीनतम साहित्यिक बाध को अपने साहित्य में प्रत्यक्ष देने की चेष्टा करता है और उसके द्वारा निर्देशित जीवन दर्शन को स्वीकारता है, उसी प्रकार से समकालीन समीक्षा प्रवृत्तियों के लिए भी किसी रूप में यह आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार साहित्य और समीक्षा दोनों ही प्रमुख और मनीनतम वैचारिक मनुष्यों को स्वीकारते हैं वरन् समीक्षा के क्षेत्र में यह स्वीकरण विस्तृत उसी प्रकार से नहीं होता जिस प्रकार से साहित्य के क्षेत्र में। इसका कारण यह होता है कि परिवर्तन के अनुसार समूह के लिए मनीन चेतियों का प्रवर्तन भी कभी-कभी अनिवार्य होता है और वह अधिक में प्रायः जहाँ का आशय लेकर पत्र भी सकता है।

समीक्षा के क्षेत्र में जब किसी वैचारिक मत याव को प्रथम मिलता है तब यह इसलिये नहीं होता कि उसे किसी मनीन धैतियों को ग्रहण करने की अनिवार्यता होती है, बल्कि इसलिये होता है कि समीक्षा का क्षेत्र समकालीन विचारों और उन पर व्यपसर साहित्य के मूल्यांकन में किसी प्रकार के अनुसरवासी निष्कर्ष से न भय पाय । यह इसलिये भी उन्हें प्रथम देता है, क्योंकि उनमें समी उदार और उच्चतर विचारों के लिए सर्वत्र स्थान रहता है ।

इसी प्रकार से समकालीन विचारधाराओं के स्वीकरण की प्रतिक्रिया भी साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की होती है । साहित्य का क्षेत्र कभी-कभी किसी विचारधारा को स्वीकार करने के बाव उससे इतना अधिक आकर्षित हो जाता है कि उसमें उसी का रूप प्रबल होकर उभर उठता है परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में उसके फल स्वरूप दृष्टिकोणगत उबारता और विचलता ही जाती है, जो क्षेत्र समीक्षा का एक बाव स्पष्ट तत्त्व भी होती है । इसलिये समीक्षा का क्षेत्र समकालीन परिदृश्यों का परित्याग कर सर्वत्र युग की माँगों और विचारधाराओं के अनुसार प्रयत्न होता चलता है तथा उनकी जननति से उबार भी ।

समीक्षा के आधार

व्यापक दृष्टिकोण :—

समीक्षा के आधार, उसके एक शास्त्र होने के नाते, कुछ मौलिक तत्त्व हैं । ये तत्त्व विधेय रूप से साहित्यिक विविधता से सम्बन्धित होते हैं । यों समीक्षा का कार्य मूल रूप से यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी लेखक ने किसी दृष्टि में मानव जीवन के किस पक्ष को कितने सहाय्य रूप में प्रकट किया है । साथ ही साथ उसे यह भी निर्धारण करना होता है कि कोई दृष्टि यथार्थ की चेतना को उत्पन्न करने में किस सीमा तक सहायक सिद्ध हो सकती है । दूसरे दृष्टिकोण से यह यह निर्दिष्ट करती है कि एक क्रियारमक लेखक को अपने युग की जटिलताओं को व्यापकता और गहनता में अधि व्यक्ति देनी चाहिए । इसके साथ ही समीक्षा यह उत्तरदायित्व भी लेती है कि वह उसके समुचित मूल्यांकन का प्रयत्न करे, जो कि प्रधानतः उसका कार्य है ही ।

कभी-कभी समीक्षा के कुछ क्षेत्रों से एक क्रियारमक लेखक से यह माँग की जाती है कि क्रियारमक लेखक को केवल जीवन के कुछ ही पक्षों का समावेश साहित्य में करना

पाहिए, परन्तु ठेसी माँग करने का भाव समीक्षा किसी बाधाश्रमक क्रियात्मक लेखक की भाँति होता है क्योंकि कोई भी विचारणीय लेखक यह नहीं चाहता है कि जीवन को उसकी सम्पूर्णता में न देखा जाय बसता उसी विद्ययता के साथ उसका अंकन न किया जाय। इस प्रकार सं समीक्षा का सर्वप्रथम आधार कोई दृष्टिकोण है जिसके अनुसार किसी साहित्य की समीक्षा की जाती है। यह दृष्टिकोण ही वह वस्तु होती है जिसके आधार पर समीक्षा अपने मुख्य और कुछ कार्य अर्थात् सम्पत् मूल्यांकन में सफल होती है।

दृष्टिकोण का निर्धारण —

समीक्षा के इस प्रथम आधार अथवा दृष्टिकोण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य यह ध्यान में रखने योग्य है कि आन्तर में यह ही उसका प्रमुख आधार रूप मानसक होता है। इसके अभाव में पूर्ण समीक्षा सम्भव नहीं होती, क्योंकि किसी भी कोटि की समीक्षा में यह दृष्टिकोण होना आवश्यक है। इसलिये दृष्टिकोण न केवल समीक्षा का सर्वप्रथम आधार ही है, बल्कि उसका नियोजक भी है। उच्च कोटि की समीक्षा भी अनेक प्रकार और क्यों में गहन होते हुये भी इस दृष्टिकोण तत्व के अभाव में हीन सिद्ध हो सकती है, क्योंकि दृष्टिकोण ही वह तत्व है, जो समीक्षा को सम्पूर्णता प्रदान करता है।

यह समीक्षालयक दृष्टिकोण कई प्रकार से निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो दृष्टिकोण के निर्धारण की एक निश्चित प्रक्रिया होती है। इस के अनुसार सबसे पहली सीढ़ी समीक्षा के सांख्यिक सिद्धान्तों का सम्पत् परिचय होता है। यह परिचय विविध समीक्षालयक वैज्ञानिक दर्शनों की अवबत्ति भी रखता है। इसके फलस्वरूप समीक्षक की रसप्रतिष्ठा प्रतिक्रिया का परिष्कार होता है और उसमें विद्ययता आती है। इसके साथ ही साहित्य और समीक्षा धारण से अन्तर्गन्धित कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषयों का सामान्य स्तरीय ज्ञान भी इसके लिए अपेक्षित होता है।

सम्बन्ध प्राप्तिक्रिया —

समीक्षा में दृष्टिकोण का प्रदन बहुत महत्व रखता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि दृष्टिकोण के अभाव में समीक्षा के अपूर्ण रह जाने की सम्भावना रहती है। परन्तु दृष्टिकोण के सम्बन्ध में सबसे प्रधान बात यह विचारणीय होती है कि समीक्षालयक दृष्टिकोण कैसा हो और उसका निर्धारण कैसे हो क्योंकि यदि दृष्टिकोण के अभाव में

सन्तुलित और पूर्ण समीक्षा नहीं हो सकती, तो फिर इसका प्राथमिक स्नान और महत्व स्वीकार करना होगा। परन्तु इसके सम्बन्ध में यह तथ्य स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि बुद्धिकोण अपने आप में पर्याप्त महत्व रखते हुये भी अन्ततः समीक्षा का एक अंग मात्र है और इस प्रकार उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि उसके माध्यम से किसी समीक्ष्य कृति में अभिव्यक्त अनुभूति की वैशिष्ट्यपूर्ण व्याख्या की जाय।

बुद्धिकोण की निष्प्रता :—

कभी कभी बुद्धिकोण की निष्प्रता के कारण भी समीक्षा की प्रवृत्तियों और स्तर में बहुत अंतर आ जाता है। उदाहरण के लिए यदि कोई समीक्षक केवल कलात्मकता की दृष्टि से किसी कृति विवेच की समीक्षा करना चाहेगा तो वह यह देखने का प्रयत्न करेगा कि उसके रचयिता ने जिस यथार्थ को अपनी रचना में अभिव्यक्ति देने का दावा किया है वह कितनी व्यापक कितनी गहन और किन्तु सीमा तक साहित्यकार के द्वारा अनुभूत है। इसके साथ ही वह यह भी परीक्षण कर सकता है कि उस अभिव्यक्ति में कितनी सरसता और प्रस्तुत करने की योग्यता है।

यदि कोई समीक्षक अपनी महत्वपूर्ण साहित्यिक परम्पराओं और उनकी उपलब्धि के बराबर की अवधि रखता है और इसके साथ ही अभ्यवर्तन और अनुशासन की पूरक प्रक्रियाओं से गुजरने के कारण उसमें निकसित रस सम्बन्धना विद्यमान है तो वह उसकी सम्यक् व्याख्या कर सकता है। जो समीक्षक परम्परावादी होते हैं वे प्राचीन अलंकार शास्त्र तथा उसके द्वारा संकेतित मानों का तो प्रायः प्रयोग करते हैं परन्तु जगत् यह आशा कम ही की जा सकती है कि वे इसके साथ तबीन व्याख्या सुनो की भी उद्भावना भी कर सकेंगे यद्यपि उनके वैयक्तिक ज्ञान और योग्यता के आधार पर इसकी भी सम्भावनाएँ हो सकती हैं। मूलतः ऐसे समीक्षक यथार्थवादिता के बोधक होते हैं।

बुद्धिकोणमय एकाग्रता की समस्या :—

बुद्धिकोण के निर्धारण में सबसे बड़ी समस्या यह जाती है कि उसे एकांगी होने से कैसे बचाया जाय। प्रायः माध्यम समीक्षारमक बुद्धिकोण भी पूर्णता से कुछ नहीं होते इसलिए कभी-कभी तो अनिवार्यतः यह स्वीकार कर लेना पड़ता है कि कोई भी समीक्षारमक बुद्धिकोण पूरा नहीं हो सकता। अधिक से अधिक ये उनमें वारस्परिक रूप

से यह हो सकता है कि कोई दृष्टिकोण किसी सिद्धान्त के अनुसार औचित्यपूर्ण हो और कोई दृष्टिकोण किसी दूसरे सिद्धान्त के अनुसार। परन्तु सिद्धान्तों और विचार बापों में व्याप्त अपूर्णता के अनुपात में ही ये दृष्टिकोण भी प्रायः अपूर्ण रह जाते हैं। इतना निश्चित होवे हुए भी समीक्षा का दृष्टिकोण ही यह उत्तर है जिसे हम समीक्षा का निर्देशक उत्तर कह सकते हैं। इसमें एक तरह की एकांगिता विद्यमान रहती है जो इस क्षेत्र की मुख्य समस्या है।

भारतीय सिद्धांत --

समीक्षा का एक महत्वपूर्ण आधार उसके सिद्धांत हैं। ये सिद्धांत शास्त्र सम्मत होते हैं और इनका विवेचन भी बहुत विस्तृत होता है। पूर्णतक परम्पराओं के रूप में प्रसारण के साथ इनमें विकास होता जाता है और पक्ष विपक्ष में चर्क चिह्न तथा टीका टिप्पणी के कारण इनकी मायवता भी विस्तृत क्षेत्रों हो जाती है। इस प्रकार युग और काल की कड़ीटी पर और ऊपरले पर ये सिद्धांत विविध शास्त्रियों द्वारा मजबूत और अनुवीक्षण प्राप्त करते हैं और फिर वैज्ञानिक समीक्षा में नियन्त्रित और व्यावहारिक समीक्षा में व्यवहार्य इनका प्रयोग होता है। बहुधा शास्त्रीय सिद्धांतों में भी एकरूपता नहीं देखी जाती और इसी कारण इनके क्षेत्र में भी विरोधी सिद्धान्तों का प्रचार होता देखा जाता है। समीक्षा सिद्धान्तों के विकास की दृष्टि से यह प्रवृत्ति भी उसके लिए हितकर ही सिद्ध होती है क्योंकि विविध क्षेत्रों के विस्तार के कारण इससे समीक्षा शास्त्र में पूर्णता आती है और यह सर्व साक्ष्य हो जाता है।

अवश्य ही विविध युगों में ऐसे समय भी आते हैं जब शास्त्रीय सिद्धान्तों को जमाव कर समकालीन सिद्धान्तों को मान्य करने पर बल दिया जाता है। परन्तु इसके भी इन शास्त्रीय सिद्धान्तों का महत्व नहीं गढ़ता और भाषा तथा साहित्य की पृथ्वी परम्पराओं का प्रवर्तन और अनुसरण करने की दृष्टि से इनका महत्व बहुधा रहता है। इतक अतिरिक्त दीर्घ समय तक औचित्य रहने के कारण इन सिद्धान्तों का महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से भी मान्य घोषित कर दिया जाता है। लक्ष्मण कान्तों में अस्पष्टता और वादग्रस्त सिद्धान्तों के विरुद्ध भी इन शास्त्रीय सिद्धान्तों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयत्नशील नहीं होना पड़ता क्योंकि परम्परागत संप्रदाय और युगों से प्राप्त मान्यता इनका पोषण करती है।

समीक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिक कठिनाइयाँ

समीक्षा कार्य की गुरुता :—

समीक्षा के क्षेत्र में विद्यास्तगुण पूर्णता और क्षेत्रगत व्यापकता के होते हुए भी प्रायः व्यावहारिक दृष्टि से कुछ कठिनाइयाँ विद्यमान रहती हैं। सबसे प्राथमिक बात होती है समीक्षा के कार्य की गुरुता। एक उष्ण कोटि के साहित्यिक लेखक के लिए उष्ण कोटि का साहित्य सृजन करने के लिए यह आवश्यक होगा है कि वह अपनी अनुभूतियों में अधिक गहराई, अधिक एकड़ अधिक व्यापकता और अधिक स्पष्टता साने का प्रयत्न करे। ईमानदारी से रचे गये इस साहित्य का रसास्वादन एक पाठक करता है और एक समीक्षक उसका विश्लेषण और व्याख्या। इसलिये समीक्षक के सामने व्यावहारिक दृष्टि से प्रायः अनेक कठिनाइयाँ रहती हैं।

प्रायः प्रत्येक युग में साहित्य की प्रवृत्तियाँ और समीक्षा के सिद्धान्तों में परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के अनेक कारण होते हैं, जिनमें मुख्य यह है कि नूतन रूप में जिस युग में भी इनका निर्माण होता है, उनका आधार उस युग तक विकसित वैचारिक प्रीकृता होती है। विकास के नवीन युगों में मनुष्य का अनुभव बढ़ता है। यह अनुभव पूर्व युगों में निर्धारित सिद्धान्तों को व्यावहारिक दृष्टि से भी प्रभावित करता है। तब तक सैद्धांतिक अध्ययन का आधार भी पुष्ट हो चुका होता है और यह समीक्षात्मक सिद्धांतों के पुनर्निर्माण और पुनर्निर्धारण में सहायक होता है। दूसरे शब्दों में युग के विकास के साथ ही मनुष्य में जो वैचारिक पूर्णता और नवीनता का आविर्भाव होता है उसे सैद्धांतिक रूप देने का वह प्रयत्न करता है। बारम्बार के विभिन्न अंगों में वैचारिक संक्रान्ति और सैद्धांतिक परिवर्तन का मुख्य कारण यही होता है।

राष्ट्रीय सिद्धान्तों के पुनर्परीक्षण की समस्या —

ऊपर समीक्षा के क्षेत्रों में होते गाने अनिवार्य सैद्धांतिक परिवर्तन और विकास की ओर संकेत किया गया है। इसके सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि इस विकास की प्रक्रिया भी अपने आप में प्रायः स्पष्ट रहती है और उसका अनुभव किया जाना सम्भव रहता है। वास्तव में इस सारी प्रक्रिया के मूल में यह अनिवार्य कारण होता है कि राष्ट्रीय और परम्परागुण समीक्षा सिद्धान्त प्रत्येक युग में थोड़ी या बहुत

माध्यता को प्राप्त कर सकते हैं परन्तु परवर्ती युगों में उन्हें पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं जोपित किया जा सकता ।

प्राचीन सिद्धांतों से नवीन साहित्य का परीक्षण और मूल्यांकन बहुत अधिक संभव नहीं मान्य होता यद्यपि साहित्य और समीक्षा दोनों ही विषयों से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी अनेक कृतियाँ उपलब्ध और समुदाय भाषाओं में मिल जाती हैं जिनका स्थायी महत्त्व है और जो किसी भी युग में पूर्ण विश्वास के साथ अपने-अपने क्षेत्रों में आदर्श और उच्च स्तर की परिचायक और प्रमाण बनी जा सकती हैं । इसीलिए प्रमुखतः संकल्पित और सतिरोच के युग में उच्च साहित्यकारों और समीक्षकों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे राष्ट्रीय समीक्षा के सिद्धांतों के अनुसार नवीन साहित्य का परीक्षण करने के पूर्व उन मूल सिद्धांतों का हो पुनर्परीक्षण कर लें ।

वैज्ञानिक अपूर्वता :-

समीक्षा के क्षेत्र में एक और व्यावहारिक कठिनाई पूर्व युगों में निष्कारित सिद्धांतों की अपूर्वता है । इस अपूर्वता का कारण यह नहीं होता कि सिद्धांतों के निर्माण के समय उनकी विद्यमानता के लिए क्षेत्र का अभाव था, बल्कि यह कि उपलब्ध सामग्री का सम्बन्ध अनुशीलन करना सर्वत्र सम्भव नहीं होता, और उसमें कुछ न कुछ कमी सर्वत्र रह जाती है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक युग में मनुष्य के ज्ञान का विकास का क्रम एक निश्चित सीमा में होता है । यह उसकी उस युग में उच्चतम ज्ञान परिधि होती है जिसके स्तर का अधिकतम सामान्यता नहीं सम्भव हो पाता । इसलिये प्रत्येक नवीन युग में यह आवश्यक हो जाता है कि नवीन विचारधाराओं के सम्बन्ध में ही प्राचीन समीक्षारमक सिद्धांतों को माध्यता दी जाए ।

अतः स्वाभाविक रूप से ही वैज्ञानिक क्षेत्रों में नवीनता का आधिपत्य होता है । और परिवर्तनों के फलस्वरूप प्रोत्साहक तथा विश्रुता आती है । उसका ज्ञान रूप युग के अनुसार होता है और समकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के सम्बन्ध मूल्यांकन की समर्पता उसमें विद्यमान रहती है । अवश्य दृष्टिगत है कि सर्वप्रथम राष्ट्रीय सिद्धांतों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि अन्तर्गत युग की भाँति के सामने उन्हें अपना यह गुणवत्ता दीखना होता है । यदि किसी समीक्षा के क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से कई परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ पानी हुई होती हैं और सरलता से किसी समीक्षक के लिए नहीं विचार होती, तो इनमें पारस्परिक संघर्ष होने लगता है । आरम्भ में इस संघर्ष में मने ही

स्किवादिनों का पसड़ा डेँचा रहे पर अन्ततः विजय नयी विचारधारा के समर्थकों की ही होती है, क्योंकि उनके साथ पूरे युग की आवाज और माँग होती है।

सिद्धान्त और प्रयोग —

इस प्रकार से समीक्षा के सिद्धान्तों का निर्धारण और विवेचन एक बात है और व्यावहारिक रूप से उन्हें प्रयोग में लाना सर्वथा दूसरी। हो सकता है कि कोई समीक्षात्मक विचार या सिद्धान्त अपने आप में पर्याप्त पूर्णता लिए प्रतीत होता हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उस पर विचार करते समय ऐसा बोध हो कि उसका कोई भी मूल्य नहीं है। क्योंकि बहुधा प्राचीन और शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार नवीन और समकालीन साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करना व्यावहारिक दृष्टिकोण से कठिन हो जाता है और तब उनकी अपूर्णता या असामयिकता की ओर चिन्तकों का ध्यान आकर्षित होता है। तब यथा सम्भव नवीन दृष्टिकोण से उन प्राचीन और शास्त्रीय समीक्षा सिद्धान्तों का पुनर्निर्धारण होता है और उनके माध्यम से समकालीन साहित्य का मूल्यांकन सम्भव हो जाता है।

कोई समीक्षा सिद्धान्त कितना भी पूर्ण हो प्रायः वह साहित्यिक कृति उसकी कसौटी पर खरी नहीं उतर पाती जिसकी रचना उस सिद्धान्त की रचना से कई सौ वर्ष बाद होती है। इन दोनों के बीच का यह कालिक अन्तर मिटाने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उस समीक्षा सिद्धान्त का उस साहित्यिक कृति पर प्रयोग में लाने के पूर्व समय के अनुकूल बना लिया जाय और इस प्रकार से उसमें काल के फलस्वरूप आये हुए अनिवार्य अन्तर्गत को दूर कर दिया जाय, जिससे स्वभावतः किसी भी विचार धारा के अनुयायी समीक्षक को विरोध नहीं होता।

शास्त्रीय परम्परा और बाह्य प्रभाव —

आधुनिक युग में हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में व्यावहारिक दृष्टि से एक कठिनाई यह भी है कि प्रायः दो मुख्य समीक्षा धारामें समान रूप से गतिशील दिखाई देती हैं। इनमें से प्रथम है शास्त्रीय समीक्षा की धारा और द्वितीय है पाश्चात्य समीक्षा की धारा। हिन्दी के प्रमुख समीक्षक सामान्यतः इन्हीं दो में से किसी का अवलम्बन करते हैं और इन्हीं के अन्तर्गत भिन्ने भिन्ने विविध धारों के पोषक हैं। इनके जाने भी, नित्य नये धारों के नाम सुनायी पड़ते हैं और उनकी पुष्टि के लिए विस्तेषणात्मक बलव्य सिद्धे पाते हैं।

इन सबको देखते हुए कदाचित् यह कहना अनुचित न होगा कि अभी तक हिन्दी में बाबमुक्त चरचरा पर समीक्षा करने के प्रयत्न कम हुये हैं। यद्यपि इस प्रकार की समीक्षा का औचित्य कहाँ तक मान्य होगा, यह निश्चय बात है। और अब तो प्रायः यह धारणा पृष्ठ बनती आ रही है कि कोई भी समीक्षक अपने आपको बाबगल बाबहा से पूर्वतः मुक्त नहीं रख सकता और यह उसके स्वयं के भी हित में होता है कि वह किसी न किसी बाब का आशय ग्रहण कर स।

उपरोक्त कारण से ही अब कुछ लोगों को निष्पक्ष और बाद रहित समीक्षा व्यवहार की वस्तु नहीं प्रतीत होती। परन्तु हिन्दी के कुछ नये समीक्षक जहाँ एक ओर अपने गहन वाचस्पिक को समझने की चेष्टा कर रहे हैं वहाँ दूसरी ओर वे उनके निर्बाह के लिए भी प्रयत्नशील हैं। यह हिन्दी समीक्षा के भावी विकास की दृष्टि से यद्यपि एक सुख लक्षण है परन्तु इतने मात्र से इस समस्या का हल नहीं निकलता। और उसके लिए यह आवश्यक है कि हिन्दी का अपना समीक्षा धारण बने। क्योंकि प्रत्येक भाषा और साहित्य की समृद्धता का स्रोत उसका समीक्षा धारण भी होता है।

कभी-कभी तो समीक्षा धारण का महत्व क्रियात्मक साहित्य की अपेक्षा बढ़ जाता है, क्योंकि विकास की विविध अवस्थाओं में समीक्षा द्वारा क्रियात्मक साहित्य का निर्देशन भी होता है। इसलिए हिन्दी भाषा में निजी समीक्षा धारण की आवश्यकता कई दृष्टियों से है। एक तो यह कि वर्तमान समय की समीक्षा क्षेत्रीय समस्याओं का उससे निराकरण होगा और दूसरे यह कि वर्तमान युग में क्रियात्मक साहित्य का निर्देशन और संयोजन होगा।

साहित्यिक और समीक्षात्मक संक्रान्ति के युगों में भी किसी भाषा का अपना समीक्षा धारण उसकी रक्षा और विकास के लिए एक पुष्ट आधार का काम करता है। इसके अभाव में बहुधा समकालीन साहित्य का चारों ओर के कुहासे के कारण सही मूल्यांकन नहीं हो पाता और प्रायः समीक्षात्मक प्रवृत्तियाँ अपूर्ण रहती हैं क्योंकि उनमें मौलिकता या निराल क स्थान पर प्रायः दूसरी भाषाओं के समीक्षा सिद्धान्तों की स्वीकृति मात्र ही रहती है। इस कारण उनमें कोई दृष्टिकोण और सिद्धान्तगत समुच्चय नहीं आ पाता और उसके अभाव में पूरा समीक्षा सम्भव नहीं हो पाती। इसलिए हिन्दी समीक्षा के लिए इसकी आवश्यकता और भी बढ़ जाती है क्योंकि दूसरी भाषाओं के समीक्षात्मक सिद्धान्तों की अपूर्ण और आंशिक स्वीकृति की अपेक्षा अपना निजी समीक्षा धारण प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी होगा।

समीक्षा के मान निर्धारण की समस्या

समीक्षा के मान निर्धारण की समस्या प्रत्येक नये विकास युग में साहित्य विचारकों के सामने उपस्थित रहती है। इसका मुख्य कारण समीक्षा के शाश्वत मानदंडों का अभाव है क्योंकि प्रत्येक युग में साहित्य के क्षेत्र में विविध सामाजिक 'समस्याएँ' उपस्थित रहती हैं और उस युग के विभिन्न साहित्य और समीक्षा सिद्धान्तों का अपने-अपने सम्बन्ध रहता है। इन विभिन्न युगीन समस्याओं में पारस्परिक रूप से भिन्नता होती है। इसका कारण यह होता है कि प्रत्येक नवीन युग में कला के नये रूपों का प्रादुर्भाव होता है और इनका आकार प्रत्येक युग में सामाजिक परिस्थितियों का परिवर्तित होते रहता है।

इस परिवर्तनशीलता के कारण या तो कला के नवीन रूप खम्भे हैं और या वे विकास के द्वाप नवीनता को प्राप्त होते हैं। यदि 'सामाज्य' विकास की प्रक्रिया के अनुसार ऐसा न हो तो कला या साहित्य अपनी समकालीन 'सामाजिक परिस्थितियों' को अपने आप में प्रतिबिम्बित न कर पाये और न ही सामाजिक चेतना की व्यक्तित्व में समर्थ हो। इस अपूर्ण रूप में वह जन जीवन की समस्याओं के उद्घाटन की शक्ति से भी रहित होता है।

सामाज्य यह स्थिति ही गतिरोध की स्थिति होती है। और इस प्रकार की स्थिति में स्वाभावतः साहित्य और कला विकास की इस प्रक्रिया और गति का भी अभाव होता है। इस समय अपेक्षाकृत नवीन साहित्यिक और समीक्षामय प्रतिभाओं को इन क्षेत्रों में चुननात्मक रूप से किमाधीन होती है नवीन जीवन दर्शन और नवीन मूल्यों के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव करती है और उनकी रचना की दिशा में प्रवृत्त होती है। इनमें जो 'वास्तविक' रूप में प्रतिभावाही और ईमानदार होते हैं, वे ही ऐसा करने में सफल हो पाते हैं क्योंकि उनमें से प्रत्येक को युगीन प्रचलित चार्जों साम्यताओं और परम्परागत 'कृतियों' का विरोध करना पड़ता है। यदि वे इस विरोध और संघर्ष में विजयी होते हैं, तब वे युगप्रवर्तक कहे जाते हैं। परन्तु इस रूप में साहित्य और समीक्षा क्षेत्रों में उनका 'अस्तित्व' या 'महत्त्व' तब तक माय्य नहीं होता जब तक उनके द्वारा अभिर्मूत और प्रवर्तित परम्परा या मार्ग प्रशस्ति पूर्णतः स्वीकृत न हो पाय। इस प्रकार से पुरातनता से ही नवीनता का अभिर्भाव होता है।

साहित्य के विकास का यह विवेक में एक समय ऐसा भी आता है, जब उसमें परिवर्तनशीलता की गति अनेकांगुस तीव्र हो जाती है और वह नवीन रूप ग्रहण करती

है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत विस्तृत होती है और बहुत दीर्घ काल तक समान रूप और बलि से क्रियाशील रहती है। इसका कोई भी नवीन रूप जब जन्म लेता है, तब अपने प्राथमिक रूप में उसे उस पिछले रूप से संघर्ष करना पड़ता है, जो प्राचीन, परित्यक्त और स्थिर हो चुका होता है। इस संघर्ष की भी अनेक सम्भावनाएँ हो सकती हैं। एक तो यह कि पिछला रूप नये रूप को विकसित न होने दे सके ही नष्ट कर दे दूसरी यह कि नया रूप अपने अस्तित्व की रक्षा करता रहे और तीसरी यह कि वह अपने उसी रूप में पुराने पर हावी हो जाय और अपने जैसे मजबूती से जमा ले।

प्राचीन और नवीन विचारधाराएँ :—

समीक्षा के क्षेत्र में विकास का क्रम कुछ ऐसा रहता है कि कोई भी नया रूप जब जन्म लेता है, तब स्वभावतः ही प्राचीन रूप द्वारा उसका विरोध होता है। इस विरोध के फलस्वरूप या तो वह नया रूप नष्ट हो जाता है और या किसी प्रकार बना रहता हुआ कमसे कम विकसित होता रहता है। इस प्रकार से जब वह अपने विकास की मध्यम अवस्था भी पार कर चुका होता है और अपने विकास की अन्तिम सीढ़ी या उच्च अवस्था में होता है तब तक सामान्यतः उसमें इतनी शक्ति आ जाती है कि वह एक या अनेक पुरानी परम्परा जमी हुई विचारधाराओं के विरोध के बावजूद अपने महत्व की घोषणा कर सके। इस स्थिति में साहित्य समीक्षा के विकास क्रम की स्वाभाविक गति के अनुसार प्राचीन विचारधाराएँ प्रशस्ति या बाद एक एक करके समाप्त होने लगते हैं और अन्त में वे स्वयं एक परम्परा बन कर अपनी विरासत में नवीन रूप को छोड़ जाते हैं।

नवीनता का आदिर्भाव :—

उपर्युक्त विवरण के अनुसार साहित्य समीक्षा में आवश्यकतानुसार समय समय पर नवीनता का आदिर्भाव होता जाता है और प्राचीन विचारों में ही नये विकास की सम्भावनाएँ दिखायी पड़ने लगती हैं। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि किन्हीं विद्वान् अवसरों पर इन क्षेत्रों में नवीनता का आदिर्भाव आकस्मिक रूप से होता है बल्कि केवल यह कि समसामयिक साहित्य धाराओं में ही पुरातनता के बीच नवीन विचारधाराओं के परिचायक तत्व लक्षित होने लगते हैं। जहाँ पुरातन सिद्धान्तों में नवीनता के बीज फूटते दिखायी देते हैं और जागे जाग कर विकसित होने पर वे ही नवीन रूपों के निर्माता भी सिद्ध होते हैं। भाव्य यह है कि सर्वत्र ही पुरातनता में ही नवीनता का समावेश रहता है जो स्वयं ही समय पर सफ़टत विकसित होता है।

अध्याय २

पश्चात्त्य समोक्षा शास्त्र का विकास
और
त्रिविध सिद्धान्तों का स्वरूप

पारचात्य समीक्षा शास्त्र का विकास

प्राथमिक युग —

पारचात्य समीक्षा शास्त्र के विकास के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में प्रायः चौबीस सत्राब्दी ई० पू० से उनके अस्तित्व के अन्तिम निमित्त हैं। इस सम्बन्ध में यद्यपि यह एक अन्तर्द्वन्द्वीय तथ्य है कि उस काल के समीक्षा विद्वानों का आधुनिक युगीन साहित्य पर उसी रूप किया जाना न तो सम्भव ही है और न औचित्यपूर्ण ही परन्तु इसके साथ ही यह भी निश्चित है कि वे समीक्षा विद्वान् परवर्ती विकास के युगों की आधार सूक्ति के रूप में कार्य करते रहे हैं।

इस तथ्य के साथ ही एक और भी बात ध्यान में रखनी आवश्यक है। उस प्राथमिक युग में समीक्षा शास्त्र के कुछ विशिष्ट बंगों पर यद्यपि पर्याप्त विस्तार के अभाव निश्चय न था, परन्तु उससे परवर्ती युगों में पारचात्य समीक्षा शास्त्रीय विकास का कोई स्वरूप होना सम्भव बन में नहीं हो सकता। इस प्राथमिक युग में प्रचलित प्रचलित और मध्य विद्वानों को उनके मूल कर्तव्यों में ही आने आने वाली अनेक समस्याओं में निरन्तर व्यस्तता प्राप्त होती रही और अतएव एक सहस्र वर्षों के बाद भी उनके महत्त्व को बारीक न किया जा सका यद्यपि इनके काल के अतीत हो जाने के पश्चात् विविध दृष्टियों से उनके अर्थ और व्याख्याओं का समीकरण और उस पर भी टीका लिखी आरम्भ हो गयी। यह एक निश्चित परन्तु ऐतिहासिक तथ्य है कि इन काल के कथारूप भी उसका विशेष रूप हुआ, पुष्टीकरण अधिक।

प्राचीन काल —

प्राचीन पारचात्य समीक्षा शास्त्रीय विमर्श का काल यूनान था। यूनान-विदेश की अनेक विद्वानों की भाँति ही समीक्षा के क्षेत्र में भी विमर्श का आरम्भ यूनान में ही

हुआ। कई शताब्दियों तक विद्या का केन्द्र यूनान रहने के पश्चात् इसका स्मानान्तरण रोम में हो गया। परन्तु इसके पूर्व कि विद्या का केन्द्र रोम होता और इस रूप में उसे माय्यता मिलती यूनानी समीक्षा शास्त्र को अन्तर्राष्ट्रीय स्थापि और प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी यद्यपि इस प्राचीन काल में यूनान में हुबे समीक्षा शास्त्र के विकास का कोई क्रमबद्ध विवरण प्राप्त नहीं, परन्तु जो सामग्री उपलब्ध है वह उसकी महत्ता गहनता और विद्युतता की परिचायक है। यह समग्र साहित्य विभिन्न प्रकार की शैलियों में लिखा गया है और उसमें समस्त शास्त्र मय को एक समग्र रूप में देखने की चेष्टा की गयी है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन यूनानी चिन्तक वैज्ञानिक-कर्म-व्यवहार को एक उच्चतर कोटि की वस्तु समझते थे और उनके विभिन्न कर्मों को समान रूप से महत्त्वपूर्ण समझते थे। यहाँ पर संक्षेप में उन भिन्न-भिन्न प्राचीन यूनानी विचारकों के विचारों का एक संक्षेप दिया जा रहा है जो प्राचीन यूनानी विचारों का एक संक्षेप प्रस्तुत किया जा रहा है, जो प्राचीन यूनानी शास्त्र के विकास की परम्परा को प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार प्राचीन यूनानी विचारों का एक संक्षेप प्रस्तुत किया जा रहा है, जो प्राचीन यूनानी शास्त्र के विकास की परम्परा को प्रस्तुत करता है।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इन यूनानी विचारकों ने स्वतंत्र रूप से तो समीक्षा शास्त्र के विभिन्न अर्थों पर अपने विचार प्रकट किये थे।

हुआ। कई सलाहियों तक विद्या का केन्द्र यूनान रहने के परभाव इसका स्थानान्तरण रोम में हो गया। परन्तु इसके पूर्व कि विद्या का केन्द्र रोम होता और इस रूप में उसे माम्यता मिलती, यूनानी समीक्षा शास्त्र को अन्तर्राष्ट्रीय स्थािति और प्रतिष्ठन प्राप्त हो चुकी थी यद्यपि इस प्राचीन काल में यूनान में हुये समीक्षा शास्त्र के विकास का कोई क्रमबद्ध विवरण प्राप्त नहीं परन्तु जो सामग्री उपलब्ध है, वह उसकी महत्ता महनता और विशदता की परिचायक है। यह सम्पूर्ण साहित्य, विभिन्न प्रकार की रीतियों में लिखा गया है और उसमें समस्त पाठ्य मय को एक समष्ट रूप में देखने की चेष्टा की गयी है।

[illegible]

४८ : १. भारतीय पीक विचारक और नाना राष्ट्रीयतावादी विचारों पर
 २. भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारों पर प्रकाश डालने के लिए
 ३. भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारों पर प्रकाश डालने के लिए
 ४. भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारों पर प्रकाश डालने के लिए
 ५. भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारों पर प्रकाश डालने के लिए
 ६. भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारों पर प्रकाश डालने के लिए
 ७. भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारों पर प्रकाश डालने के लिए
 ८. भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारों पर प्रकाश डालने के लिए
 ९. भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारों पर प्रकाश डालने के लिए
 १०. भारतीय राष्ट्रीयतावादी विचारों पर प्रकाश डालने के लिए

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हम मूलानी विचारकों ने स्वतंत्र रूप से जो समीक्षा साक्ष्य के विविध अर्थों पर अपने विचार प्रकट किये हैं, उन विचारों की निवेदना, किये हुए हैं, जो मूलानी विचारकों के ही कांतिमूलक हैं। हमारी उम्मीद है कि मूलानी विचारकों के विचारों को हमारे द्वारा प्रस्तुत किया गया है, जो मूलानी विचारकों के ही कांतिमूलक हैं।

[illegible][illegible]

हर्षन की ही प्रति नायक शास्त्र के विषय में भी हम विचारकों ने अपने अपने विचारों का प्रतिपादन किया है और सभी के चर्च में आधिक्य रूप से साहित्यिक प्रश्नों पर भी दृष्टि डाली है। जेने तथा बरलू जैसे महान् विचारकों का मुख्य विषय क्षेत्र भी साहित्यिक नहीं रहा और मुख्य रूप से उनकी देन का महत्त्व दूसरे क्षेत्रों में ही रहा है, यद्यपि साहित्य और सनीशा के जिन विषयों पर भी उन्होंने कुछ कुछ बहस-विवाद किया है, उसके महत्त्व को ठीक ठीक समझना पड़ेगा।

1978 इसी प्रकार से साहित्य और समाज के क्षेत्रों में मिश्रित कृतिओं में राजनीतिक
रसों और धारों को भी निरूपित हुआ। यह एक विशिष्ट सत्य है कि यूनान में
सर्वप्रथम राजनीतिक विचारों का परिचय होमर के महाकाव्यों "इलियाड" तथा
"ओडिसी" में मिलता है। परन्तु यूनान में विशिष्ट काल के राज्य संघर्षों का नियन्त्रण
रसों के द्वारा नहीं किया गया। इस कारण यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में
यौन संस्कृति तथा समाज शास्त्र के विशिष्ट अंगों का उत्पन्न और विनियमन प्रायः
बर्तमान राजनीति और धारों के अन्तर्गत ही मुख्यतः होता रहा। स्वतंत्र रूप से
बहुत कम समीपियों ने इन पर कुछ लिखा अथवा कहा। इस प्राचीन युग में श्रीक
समीला शास्त्र का अपनी समृद्धि के बावजूद भी स्वतंत्र और पुनः पुनः समीक्षा-
न हो सन्ने का प्रमुख कारण हमारे विचार से यही है।

[illegible][illegible]

प्राचीन यूनानी समीक्षा साहित्य की इस महान् और पीरवशासी परम्परा का महत्त्व परबर्ती युगी में भी अनुभूत रहा। परन्तु बाद में जब रोम के युवाव का स्थान से बिना, उस कदम वैचारिक स्वायत्तता का ह्रास होने लगा।

हीमर

परिचय तथा इतिवृत्त :—

यूनान के प्राचीनतम महान् काव्य समारोहों में हीमर प्रमुख का। इसके बाद रमान और बग्न काव्य के विषय में इतिहासकों में बहस प्रभाप्य पर ईरम है, परन्तु यह अनुमान लगाया जाता है कि इसका रचना काव्य ५२० तथा १०५ ई० पू० का रहा होगा।^१ इसके अन्तः स्थान की जहाँ हीमर पर शायद लिखता, रोडस कोरीन्थ, सैलामीस, बिजोन आदिग्रन्थ तथा पूर्वीय काव्यक अहर्ष का शायद बिना जाता है।^२ अन्ती तक इसके अन्तः स्थान का विषय में भी इसी कारण से कोई निश्चय नहीं किया जा सका है। साहित्य अन्तः और साहित्य की परम्परा में सर्वप्रथम इसी का वायोस्केड होता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी बीच कबीला का सर्वप्रथम कबीला बिना हीमर के महाकाव्य ही प्रभावित होते हैं।

“इतिवृत्त” तथा “कोरीन्थी” :—

हीमर की एक महान्प्रथम कवि के काव्य में काव्यविशेष ज्ञाति का मुख कारण उनके महाकाव्य “इतिवृत्त” तथा “कोरीन्थी” है। इन में बिना से १,२०० से लेकर १००० वर्ष पूर्व तक के बीरम का सर्वप्रथम बिना बिना है।^३ बहस सर्वप्रथम काव्य के हीमर के साहित्य सिद्धांती अन्तः काव्य बिना बिना रमणशर्मा का कोई बिना बिना नहीं है, परन्तु ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि उनके अन्तः में भी किसी बिना बिना का प्रभाव रहा होगा। उनके मुख में उनके सर्वप्रथम बिना महाकाव्यों के

१ “The Oxford Companion to English Literature” Sir Paul Harvey, pp. 380-81

२ यही, पृ० ३८१।

३ “पाश्चात्य साहित्यिक विचारों का इतिहास”, पी० कर्तृवासान्त बर्मा, पृ० १७।

अतिरिक्त भी जन्म कई महाकाव्यों का रचना हुई। इसलिये यह कल्पना की जा सकती है कि साहित्य के इस सर्वाधिक समृद्ध माध्यम तथा अग्रणी के विषय में भी किसी ऐतिहासिक आदमी का स्वरूप उस समय निश्चित था। यो होमर के विचारानुसार काव्य का पद्य बान्धव प्रदान करना हुआ चाहिए।^१ इसके इस सूत्र कपी विचार का एक मौलिक मायदा मान कर परवर्ती साहित्य चिन्तकों ने इस पर विस्तार से विचार विमर्श किया।

होमर ने अपने इन दोनों महाकाव्यों में राज्य की शासन व्यवस्था और उसके विभिन्न अर्थों की समष्टिगतता के सम्बन्ध में विस्तार से विचारण प्रस्तुत किया है। समकालीन सम्यता और संस्कृति के परिचय की दृष्टि से इन दोनों महाकाव्यों का असाधारण महत्त्व है। राजनीतिक दृष्टिकोण से इन महाकाव्यों का शुक्रान् सीमित राज्यत्व की ओर या जो नमस्त्र आनुवंशीय होता जाता था।^२ इन महाकाव्यों में राजशाही शास्त्रीय महत्त्व के कुछ पारिवारिक दार्ष्टिकों का भी प्रदान हुआ है। उदाहरण के लिए 'नगर राज्य' (पोलिस) 'जन्म' (दीपन) 'न्याय' (नैतिक) आदि। इनमें से कुछ की उसकी चारणा आधुनिक चारणाओं के समान नहीं थी। उदाहरणार्थ होमर के विचार से हिंसा का मार्ग न्याय का मार्ग नहीं हो सकता।^३

होमर के महाकाव्यों में कुछ असादिकों मिलने का कारण यह है कि 'उसका चरित्र राजनीतिक महत्त्व के विचारों को प्रकट करना नहीं, बल्कि युवान् के वीरों का दुर्लभान करना था। फिर भी उसका प्रमाण 'आधी विचारकों पर अवलम्बित पड़ा। युवान् के किसी एक राजनीतिक विचारक का नाम जना कटिप है, जिसने होमर के महाकाव्यों का अध्ययन न किया हो तथा उनसे प्रभावित न हुआ हो।'^४ इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि प्राचीन युवान् में विविध दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले चारों को एक प्रकार के सम्बन्धित करके उनका अध्ययन किया गया था।

१ 'मासोचनः इतिहास तथा सिद्धांत' डॉ० एल० पी० खत्री, पृ० १३।

२ 'वाचस्पत्य राजनीतिक विचारों का इतिहास', श्री कर्णपालान वर्मा पृ० १००

३ वही पृ० १००।

४ वही पृ० १००।

पिण्डार

परिचय तथा कृतियाँ :—

यूनान के प्राचीन कालीन महान्तम नीति-काव्यकार होने का श्रेष्ठ पिण्डार को प्राप्त है। इसका रचना काल २२२ से ४४२ ई० पू० तक अनुमानित किया जाता है।^१ इसका जन्म प्रेसस या उसके समीपवर्ती किसी स्थान में हुआ था। हमें बहुत कम ज्ञान में ही असाधारण क्वालिटी प्राप्त हो गयी थी। इसने सर्वप्रथम विविध पद्यारमक छंदों का प्रयोग किया था। "इपिका" नामक प्रसिद्ध कृति का प्रणयन इसी महान् कवि की मेहनती से हुआ था। परन्तु लैटिन कवियों पर इसका व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। होरेस पर तो इसकी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव लक्षित किया जा सकता है।^२

काव्य में कला तथा प्रेरणा —

पिण्डार ने भी अपने पूर्ववर्ती ग्रीकियों की भाँति यद्यपि स्वतंत्र रूप से समीक्षा, वास्तव्य के किसी अंग पर कुछ नहीं किया है परन्तु उसके विविध बन्धुवर्गों में समीक्षा का विषय में कुछ स्पष्ट नियमों का परिचय मिलता है। परवर्ती युगों में इन्हीं नियमों को विस्तृत लेखीय साम्यता प्राप्त हुई। पिण्डार ने कला के नियमों और न्युति गीतों के नियमों की भी खोज की है। उसने काव्य रचना में कला तथा आन्तरिक प्रेरणा के महत्त्व पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उसने यह प्रतिपादित किया है कि प्रेरणा द्वारा रचित काव्य ही अमूल्य श्रेष्ठ सिद्ध होता है।

यह एक विविध तथ्य है कि पिण्डार की रचनाओं में कलात्मकता का प्रयोग और समावेश ही अधिक है प्रेरणा कम। परन्तु उसके विचारों में कलात्मकता का ही प्रयोग मिलता है। उसने स्पष्ट रूप से यह बोधित किया है कि काव्य के निर्माण में प्रेरणा का अभाव नहीं होगा चाहिए, क्योंकि उसके अभाव में काव्य विधायक होगा।

१ "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey
p 621

२ वही, पृ० १२१।

उसके मतानुसार “कसाकर में यदि नैसर्गिक प्रेरणा है तो वह उस कसाकार से कहीं ठीका है जिसे केवल कसा के नियमों का ज्ञान है।”

इसीलिए पिम्बार बार-बार कसा के विषय में यही कहता है कि वह काव्य के निर्माण में योग्य अवश्य हो सकती है, परन्तु केवल उसी पर आधारित काव्य उच्च कोटि का नहीं हो सकता। अन्ततः यही कसाकार थोड़ा और उच्च स्थान प्राप्त करेगा जिसकी काव्य रचना के सूत्रों में आन्तरिक प्रेरणा का योग होगा। वह कवि को कसा के बोधे नियमों का सैद्धांतिक परिचय मात्र प्राप्त करके काव्य रचना में प्रवृत्त होगा वह प्रबल की अपेक्षा निम्नतर कोटि का ही कवि कहा जायगा। इसी प्रकार से उसने काव्य में सांकेतिक और संक्षिप्त व्यञ्जना को ही सचहनीय माना है।^१

महत्त्व का कारण —

पिम्बार के महान् कवि होने का एक कारण आगे चल कर अंग्रेजी समीक्षा छास्त्री मैथ्यू बार्नर ने यह बताया कि वह जिस समय में हुआ था उस समय यूनान में ऐसे भावों और विचारों का संचार था जो रचनात्मक शक्ति के लिए उच्चतम परिमाण में पोषक और जीवनप्रद होते हैं।^२

अन्य विचारक

इस प्रकार से यूनान में समीक्षा छास्त्रीय चिन्तन लगभग छठवीं शताब्दी ई० पू० से आरम्भ हुआ है। वार्षनिक चिन्तन के यूनान में उदय का भी लगभग यही समय है। इस शताब्दी के प्रसिद्ध वार्षनिक लेखीज ने ग्रीसिक दर्शन के क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण योगदान की थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस शताब्दी तक होमर के “इलियड” में निर्दिष्ट वैचारिक स्थापनाएँ ही विभिन्न वार्षनिक विद्वानों का मूल आधार रही। इसके पश्चात् आठवीं शताब्दी ई० पू० में हेसियड ने चिन्तन के इस

१ “आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त”, डॉ० एस० पी० जर्जी, पृ० १५।

२ वही पृ० १९।

३ “प्राचीन साहित्यालोचन के सिद्धांत” श्री श्रीवास्तर गुप्त, पृ० १०४।

विकास क्रम में एक गंभीर दृष्टिकोण का आरोपण किया। भावी काल में इस परम्परा में माफियम तथा पाइथागोरस के नाम भी सम्मेल्य हैं। येनीज द्वारा प्रवर्तित इस शारीरिक विचारधारा में उसके अतिरिक्त एनेक्जामनीज हेराक्लाइटस, एम्पीडाक्लीज, डेमोक्रीटस, आदि के नाम विशेष रूप से सम्मेलनीय हैं। ये सभी विचारक भौतिकवाद के पोषक थे।

इसके साथ ही साथ एक और विचार परम्परा भी विकसित हुई है, जिसके प्रतिपादकों में पाइथागोरस पारमेनिडीज तथा एनेक्जामोरस आदि के नाम सिमे आ सकते हैं। इनकी विचारधारा बुद्धिवादी कही जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ सॉफिस्ट विचारक भी हैं जिसमें प्रोटैगोरस तथा प्राक्सिस् आदि के नाम विशेष रूप से सम्मेलनीय हैं। समीक्षा शास्त्रीय दृष्टिकोण और महत्व की दृष्टि से छठी शताब्दी ई० पू० के विचारकों में जेनोक्रनीस तथा हेराक्लाइटस महत्वपूर्ण हैं जिनकी रचनाओं में स्फुट रूप से समीक्षात्मक भाव्यताओं के संकेत दिखाने हैं।^१

गोजियास

काव्य की परिभाषा और विवेचन —

पिण्डार के समकालीन इस शताब्दी के अन्य महत्वपूर्ण विचारकों में, गोजियास विशिष्ट महत्व रखता है। इसके बन्धनों में समीक्षा के स्फुट निमित्तों का परिचय मिलता है। उसने अपने कुछ भाषणों में काव्य की अन्तरात्मा और उसके प्रभाव पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उसने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य का शारीरिक प्रभाव विशेष रूप से गौरव देने योग्य है। यम और कुछ का निवारण करके आनन्द और आराम बिम्बान का प्रकाश करने का कुछ यम और यम दोनों में विद्यमान रहता है। गोजियास ने काव्य की परिभाषा करते समय हृदय के महत्व पर भी प्रकाश डाला है। काव्य के द्वारा मनुष्य के सत्त्विक पर पड़ने वाले प्रभाव का भी उसने विस्तार से विवेचन किया है। उसने बताया है कि काव्य के व्यवस्था का विविध प्रभाव होगा है। उसके द्वारा

गम्भीरता नैतिक मय और कहला का संचार होता है।^१ उसकी इन माम्यताओं का प्रभाव आने आने वाले अस्तु जैसे मनीषियों तक ने ग्रहण किया।

गोर्जियास के परवर्ती अन्य विचारक

गोर्जियास के पश्चात् जिन महान छाहित्य विचारकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं उनमें कोरेस टिसिएस ब्रसीमेकस डायोनिशियस कोटियस तथा पेट्रिज्जी शामिल हैं। ईसा के लगभग २०० वर्ष पूर्व यूरोप में सर्वप्रथम भाषण शास्त्र के वैज्ञानिक और व्यापक विषय का आयोजन हुआ। कोरेस तथा टिसिएस ने भाषण शास्त्र पर सर्वप्रथम ग्रन्थ लिखा। उन्होंने भाषण शास्त्र के विषय और उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया। परवर्ती युगों में इनसे प्रेरणा लेकर अन्य अनेक विद्वानों ने भाषण शास्त्र की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत की। ब्रसीमेकस ने भी भाषण शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन करते हुए उसे सम्पूर्णता प्रदान की। उसने भाषा पर विशेष रूप से ध्यान दिया और भाषा की शुद्धता का अत्यधिक महत्त्व प्रतिपादित किया।

ब्रसीमेकस के विषय में यह भी अनुमान लगाया जाता है कि उसने ही विविध गद्य शैलियों का निर्वर्णन किया था।^२ इस दृष्टि से उसने यह निर्दिष्ट किया कि भाषण में प्रयुक्त भाषा को सामान्य प्रयोग की भाषा से उच्चतर होना चाहिए। इसीलिए उसने भाषा के अलंकरण की आवश्यकता पर बहुत बल दिया है।^३ इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ब्रसीमेकस के इन विचारों को उस युग में बहुत प्रास्यता मिली और अनेक अन्य विद्वानों ने उस पर बल विवाद किया। आने आने के प्लेटो ने इन सिद्धान्तों का विरोध करते हुए अपने मत का स्थापन किया।

१ "मालोचनः इतिहास तथा सिद्धांत" डॉ० एस० जी० जमी, पृ० १९।

२ वही पृ० २०।

३ वही, पृ० ३४।

४ वही, पृ० ३४।

एरिस्टोफेनीज

परिचय तथा कृतियाँ —

एरिस्टोफेनीज एक एपीनियन महाकवि था। इसका रचना काल ४४८ से लेकर ३८० ई० पू० तक अनुमानित किया जाता है।^१ इसकी हास्य कृतियाँ तथा सुझावक रचनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। इसकी मुख्य रचनाओं में "ऐकानियस", "नाइट्स" "क्लाउड्स", "पीस" "बैप्स", "बर्ड्स" "फ़ॉम्स", "प्लूटस" "मिसिसट्रटा" "एक्सेमिया मूसे" तथा "बस्याक्रेडियानूसे" आदि हैं।^२ इन कृतियों में सुझावकों की ही विद्युत्ता के कारण विलियम हेजलिट ने उसे मुख्य हास्य सुझावक लेखक स्वीकार किया है।^३

सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रवर्तन —

कुछ विद्वानों के मतानुसार एरिस्टोफेनीज प्राचीन काल का सर्वश्रेष्ठ आलोचक है।^४ इसे निर्णायक आलोचना प्रणाली का प्रवर्तक भी माना जाता है। इसकी जिन रचनाओं का संक्षेप ऊपर किया गया है, उनमें संकेत रूप से इसके समीक्षारमक विचारों का परिचय मिलता है। वह कई विरोधी और आत्मिकारी समीक्षक था। उसने अपने युग के महान् नाटककार यूरोपाइसीज की रचनाओं का विश्लेषण करते हुए उसकी चीसी का विरोध किया।

सैद्धांतिक दृष्टिकोण से उसकी अनेक सुझावक कृतियों में वे विचार स्पष्टता से व्यक्त हुए हैं जो उसकी समीक्षा का आधार हैं। उसने मुख्यतः काव्य और नाटक के ही विविध रूपों और प्रधान बलों पर विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं। इस दृष्टिकोण से उसे प्राचीन काल का सर्वप्रथम महान् समीक्षक कहते हैं, जिसने समीक्षा के सैद्धान्तिक स्वरूप के स्पष्टीकरण की दिशा में प्रयत्न किया और इस प्रकार परवर्ती युगों में समीक्षारमक सिद्धांतों के विकास की आधार भूमि तैयार की।

१ "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey p. 38.

२ वही, पृ० ३८।

३ "A History of English Criticism" George Saintsbury, p. 362.

४ "आलोचना: इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एच० पी० खत्री, पृ० २१।

समीक्षा का सांस्कृतिक दृष्टिकोण —

एरिस्टोटेनीज का यह बसाधारण महत्व इस कारण से भी है कि उसके पूर्व कासीन साहित्य चिन्तकों में से किसी ने काव्य अथवा नाटक के उन रूपों तथा वर्गों पर इतने विस्तार से विचार नहीं किया था जिस प्रकार से उसने किया। पूर्व युग में यद्यपि चिन्तन का स्तर भीषा नहीं था परन्तु उस समय जो भी आलोचनात्मक विचार और सिद्धांत मिलते हैं, वे सब स्फूर्त रूप में विविध विषयक कृतियों में समाविष्ट हैं। यही कारण है कि समीक्षा सांस्कृतिक सिद्धांतों का निरूपण सम्मेलन रूप से सम्भव नहीं हो सका।

संस्कृतिक विधि से अविव्यक्त विचारों का सैद्धांतिक अनुशीलन भी इसी कारण से न हो सका। प्रीतिता और विकास की दृष्टि से भी भावी युग का इतिहास अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसलिए यह कहना अनुचित न होया कि इसके पूर्व के युग की जो कुछ भी समीक्षात्मक रचना थी उसका महत्व प्रचलित ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही है, उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं। सर्वप्रथम एरिस्टोटेनीज के द्वारा ही यूनान में सांस्कृतिक दृष्टिकोण से इन सिद्धांतों का अनुशीलन किया गया।

समीक्षा का मात निर्धारण :—

एरिस्टोटेनीज के पूर्ववर्ती चिन्तकों ने मुख्यतः काव्य और साहित्य विषयक अपना दृष्टिकोण प्रकट करते समय उसके कलात्मक पक्षों पर अधिक बल दिया था। इसमें भी सौंदर्यानुभूति और आनन्दानुभूति के सिद्धांत उनके समीक्षात्मक दृष्टिकोण का आधार थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम एरिस्टोटेनीज ने इस दृष्टिकोण से उस समय समीक्षात्मक मार्गों के निर्माण की विज्ञा में प्रयत्न किया। उसने साहित्य को दुर्मीन जीवन में सामाजिकता तथा सांस्कृतिकता की दृष्टि से ह्वादात्मक तत्त्वों के लिए उत्तरदायी बताया। देश के राजनीतिक पतन के कारण भी उसने ह्वादात्मक साहित्य में ही देखे। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के महान् यूनानी नाटककार यूरीपाइडीज का सैद्धांतिक विरोध भी उसने इसी कारण से किया। व्यावहारिक दृष्टिकोण से उसने यूरीपाइडीज के नाटकों में प्रायः वे सभी तत्त्व पाये जिन्हें वह युग जीवन के ह्वास का कारण समझता था। इस लिए उसने उसी की कृतियों को आधार बनाकर अपने सिद्धांतों का व्यावहारिक दृष्टिकोण से परीक्षण करते हुए प्रवर्तन किया।

साहित्यिकों का विरोध :—

अपने सुझावों में एरिस्टोटेनीज ने साहित्य रचना आपस सात्व, काव्य रचना विज्ञान कला आदि के स्वरूप का विवेचन किया है। इनमें उसने विविध साहित्यिकों का

भी विरोध किया है, जिनमें महाकाव्य, गीति काव्य, मूल्यान्तक नाटक तथा दुस्मान्तक नाटक आदि हैं। इनके अतिरिक्त प्रासंगिक रूप से उसने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इन विविध साहित्यांगों के विकास के इतिहास को ध्यान में रखते हुए उनकी सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक समस्याओं पर भी विचार किया है।

काव्य में बहु काल्पनिकता के समावेश का समर्थक था क्योंकि उसके विचार से कवियों की कल्पना हीनता काव्य के परिवेश को संकुचित करती है। इसी प्रकार से वैचारिक संकीर्णता, कृत्रिमता तथा अनावश्यक प्रबंधन की प्रवृत्तियों का भी उसने विरोध किया है। नवीनता का समर्थन करते हुए भी उसने सामाजिकता और विविधता को हेतु बताया है। अपनी कलात्मक सीमाओं को ध्वंसाकार, कलात्मकता नियम, व्याकरण तथा अन्य शास्त्र के नियमों और सिद्धांतों के आचरण में क्षिप्त करने वाले साहित्यकारों का उसने घोर विरोध किया।

मुख्य रैन—

एरिस्टोफनीज एक ईमानदार विचारक था। यही कारण है कि उसने अपने समकालीन नाटककार यूरीपाइडीज का सिद्धांत विरोध ही किया परन्तु फिर भी यह स्पष्ट रूप से स्वीकार और घोषित किया कि समकालीन नाटककारों में उसका बहुत जैसा स्थान है और निश्चाय रूप से उसके साहित्यिक आदर्श भावी युगों में सिद्धांत के क्षेत्र में साहित्यिक मर्यादाओं का नियमन कर सकते हैं। चूंकि एरिस्टोफनीज क्रियात्मक चिन्तन के क्षेत्र में स्वयं एक मान्य नाटककार था और उसने यूरीपाइडीज के नाटकों के आधार पर व्यावहारिक समीक्षा की थी इसलिए उसकी मुख्य रैन प्रायः नाट्य शास्त्र के सिद्धांतों के क्षेत्र में ही है।

समीक्षा क्षेत्रीय महत्त्व —

प्राचीन यूनानी विचारकों में सर्वप्रथम एरिस्टोफनीज ने ही निर्णायक समीक्षा का प्रवर्तन किया जो मुख्यतः दो कलाकारों के तुलनात्मक अध्ययन के धर्मस्वरूप सम्मर्थ थी। उसने बताया कि कलाकार की श्रेष्ठता का निर्णय ही प्राथमिक और मुख्य बात है और बला की उच्चता के निर्णायक तत्त्व मूलतः दो ही हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि उसमें कलात्मक कीलक कितना है और दूसरा यह कि यह कलात्मक कीलक युगीन शौचिकता का कितना परिष्कार कर सकने की समर्थता रखता है।

प्राचीन यूनानी समीक्षा सिद्धांतों के संदर्भ में यदि हम एरिस्टॉफेनीज की इन कसौटियों को देखें तो हम इस निष्कर्ष पर आयेगे कि परम्परागुप्त मानक पर निर्धारण के क्षेत्र में उसकी यह वेन बहुत गहरी थी। और इसी का यह परिणाम हुआ कि उसके युग में तो इन बड़े कालों को महीन गति मिली ही नहीं। यही युगों ने भी उनके लिए एक प्रेरणादायिनी शक्ति के रूप में इसने कार्य किया। इसका एक मान क्षेत्र एरिस्टॉफेनीज को है और इसीलिए उसका महत्व असाधारण है।

नाट्य कला पर विचार —

कलात्मक और साहित्यिक उन्नति के उपयुक्त दो मानकों का निर्धारण करते हुए एरिस्टॉफेनीज ने नाट्य कला के विभिन्न अंगों का सम्यक विवेचन किया है। उसका यह विवेचन इस लिए भी पूर्ण है क्योंकि सैद्धांतिक निरूपण करने के समानांतर ही उसने व्यावहारिक दृष्टिकोण से उनका परीक्षण करते हुए समकालीन नाट्य साहित्य पर उनका आरोपण भी किया। इस प्रकार से उसके द्वारा निर्धारित मानों की सार्थकता भी सिद्ध होती गयी।

इसके अतिरिक्त एक और मान इससे यह हुआ कि नाट्य रचना का उसके युग में सैद्धांतिक दृष्टिकोण से तो परिमार्जन हुआ ही रंगमंचीय विधान की दृष्टि से भी उसका परिष्कार हुआ। नाटक प्रस्तुत करते समय आरम्भ में अनावश्यक और वनपेक्षित रूप से दर्शकों में अनिवार्यता जगित उत्कण्ठा का संचार करने का वह विरोधी था। इसे वह सर्वथा अस्वाभाविक और अवांछनीय समझता था। अतिशय भावुकता का प्रदर्शन भी वह उचित नहीं समझता था। कठिन वाग्दान और निम्न सम्भावनी से भी वह प्रभाव की सृष्टि की प्रवृत्ति को त्याग्य बताता था।

नाटक के कथानक की समृद्धि का वह हामी था और स्वाभाविक वास्तविकता का समर्थन करता था। थोड़े यथार्थवाद का प्रतिकार करते हुए उसने उदात्त आदर्श को बड़ा बताया और यह निर्दिष्ट किया कि नाटकों में उन्हीं पात्रों की योजना की जानी चाहिए जो इस उदात्त आदर्श के प्रतीक और नियामक हों। वातावरण की दृष्टि से उसने सुलभता का वातावरण नैतिक आदर्शों के अनुरूप तथा बुद्धिमत्ता का वातावरण यथा सम्भव यथार्थवादी रहने पर गौरव दिया है। नाटक में किसी भी छल गत विह्वलियों को उसने प्रत्येक स्थिति में त्याग्य बताया है।

महत्त्व —

एरिस्टोफेनीज ने प्राचीन यूनानी साहित्य चिन्तकों की परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान इस कारण भी बना लिया क्योंकि उसने साहित्य का गौरव अनेक दृष्टियों से प्रतिपादित किया है। साहित्य के बौद्धिक और ज्ञानात्मक महत्त्व का स्थापन करते हुए एरिस्टोफेनीज ने यह कहा कि साहित्य युग जीवन के सांस्कृतिक सामाजिक और राजनैतिक तत्वों में उपलब्धियों की सम्भावनाओं का जगमगाता है। अपरिपक्व और अर्धविकसित बुद्धि वालों के लिए जिस प्रकार से शिक्षक और शिक्षक द्वारा मार्गदर्शन होता है उसी प्रकार परिपक्व और पूर्य विकसित बुद्धि वालों के विकास के लिए साहित्य और उसका पारामर्श।

मनुष्य के विकसित ज्ञान के विकास हेतु और कार्य कलाप के विविध परिवेशों में साहित्य एक अत्यधिक सघन माध्यम के रूप में कार्य करता है। यों एरिस्टोफेनीज ने उसके गुणों का प्रतिपादन करते हुए उसके सर्वांगीण और व्यापक महत्त्व की ओर सर्वप्रथम सघन संकेत किये। ऐसा करते समय कहीं उसने व्यंग्यात्मक छंदों में अपने समकालीन साहित्यकारों और उनकी कृतियों की आलोचना की और कहीं अपने पद्यों का गंभीर शैक्षणिक विश्लेषण। इन दोनों रूपों के सम्मिश्रण का यह परिणाम मिलता है कि एरिस्टोफेनीज का व्यक्तित्व इतना महान् और विशिष्ट बन सका।

प्राचीन यूनानी समीक्षात्मक विचारों द्वारा निर्देशित मानदण्डों का क्रमिक विकास देखने पर इस तथ्य की अवगति होती है कि एरिस्टोफेनीज ने सर्वप्रथम समीक्षा साहित्य के कुछ अंगों और उसके विविध रूपों के वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुशीलन में अनुसम्मानात्मक वृत्ति और शास्त्रीयता को समाविष्ट किया जो उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

सुकरात

परिचय तथा कृतियाँ —

यूनान के प्राचीन चिन्तकों में सुकरात का स्थान विशिष्ट है। उसका समय ४८९ से लेकर ३९९ ई०पू० तक माना जाता है।^१ अपने समय के महान् मनीषियों में उसका ६-११

१ "यूनान का इतिहास", भाग ८, प्रोटे, पृ० २५२।

व्यग्रग्न्य है। बाइ मय के विविध वर्गों और क्षेत्रों में सुकरात के मूल्यमय मूल आधार और चिन्तनात्मक तत्वों के रूप में माध्य हैं। तर्क शास्त्र नीति शास्त्र तथा नैतिक शास्त्र आदि के विषय में उसके विचार भावी चिन्तन चाराओं के प्रवर्तक स्रोतों के रूप में प्रख्यात हुये। सुकरात का जन्म यूनान की राजधानी एथेंस के निकट हुआ था। इसके विषय में जो ऐतिहासिक विवरण और प्रमाण मिलते हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि इसका जन्म एक बहुत साधारण परिवार में हुआ था। इसकी माता एक साविका (बाही) और पिता एक मूर्तिकार था।^१ इसने प्रारम्भ में अपना वैयक्तिक कार्य सीखा। बाद में इसे अनेक प्रकार के कार्य करने पड़े। ७२ वर्ष की बुढ़ावस्था में उसे ग्रागबण्ड दिया गया और विष पान के द्वारा उसका प्राणान्त हुआ।^२

अपने सारे जीवन वह त्याग, आदर्श और चिन्तन की ओर उन्मुख रहा। अपने हीरे की जीवन में अद्वितीय उपलब्धियों के कारण इसे यूनान के प्राचीन दार्शनिकों में बहुत उच्च स्थान प्राप्त हुआ। सुकरात की वैचारिक स्थापनाओं के संकेत उसके परवर्ती विचारकों के ग्रन्थों से मिलते हैं क्योंकि स्वयं सुकरात ने किसी कृति की रचना नहीं की और न ही उसकी किसी रचना का उल्लेख कहीं मिलता है। इसके शिष्य प्लेटो की 'एपॉलोजी' 'श्रीटो' 'यूपीफोन' 'लेबेज' 'जयान' 'प्रोटोकोरस' 'कारमिडीज' 'लाइसीस' नामक सम्भाव्य रचनाओं तथा 'रिपब्लिक' (प्रथम भाग) भरतू कृत 'एथिकानिको' 'मेमिया' 'एथिका यूबीमिया' तथा 'मेमो मोरेलिया' एवं बेनोफोन कृत 'मेमोरेबिलिया आफ साफेटीस' आदि कृतियों से उसके सिद्धान्तों का पर्याप्त परिचय उपलब्ध हो जाता है।^३

प्रमुख विचार तथा महत्त्व —

सुकरात के विषय में यह कहा जाता है कि समकालीन परिस्थितियों और वातावरण उसके अनुकूल न था। सुकरात के विविध विषयक विचार किसी क्रमबद्ध रूप में न होकर स्फुट रूप में मिलते हैं। आने बस कर उसके शिष्यों तथा अन्य विद्वानों द्वारा ही उनका सम्पादन हुआ। उसकी शिक्षण पद्धति आदि के विषय में उसके शिष्य

१ 'पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास' श्री कर्णैयालाल बर्मा, पृ० २५।

२ 'The Oxford Companion to English Literature' Sir Paul Harvey p 735.

३ 'यूनान का इतिहास' भाग ४ प्रोटे, पृ० ३५२।

ज्येने ने पश्चिमी विचारण उपस्थित किया। मुकरात की प्रमुख विचारणें प्रायः नीति, ज्ञान, धर्म, दर्शन, तथा राजनीति आदि शास्त्रों से सम्बन्ध रखती हैं।

नैतिकता पर मुकरात ने बहुत अधिक ध्यान दिया है क्योंकि उसका यह विचार था कि मनुष्य के जीवन और कार्य व्यापार का दृष्टिकोण नैतिक ही होना चाहिए। उसने बताया है कि बसुण सद्गुण ही ज्ञान है। यदि कोई मनुष्य पुर्णगुणी है तो यह उसके ज्ञान के कारण ही होता है। इसीलिए मुकरात ने “मुम्बर” को खोजने की चेष्टा की। इस प्रकार से नैतिक मानववृत्ति की समस्या उसके लिए प्राथमिक नहीं रही।

ज्ञान और सद्गुण —

मुकरात ने ज्ञान और सद्गुण में कोई भेद नहीं बताया है। उसका विचार था कि सद्गुण एक प्रकार की आत्मिक शक्ति होती है। यह शक्ति मनुष्य के क्रिया क्रमाप में संतुलन लाती है। सद्गुण के उसने दो भेद किये हैं। एक तो साधारण सद्गुण और दूसरा शारीरिक सद्गुण। इनमें से दूसरे का सम्बन्ध उसके मतानुसार आर्थिक ज्ञान से होता है। उसके विचार से “ज्ञान का प्रमाण, विद्वत् कार्यक्षमता में था।”

अनुकरणात्मकता —

नाटक में अनुकरणात्मकता के तत्त्व पर व्यक्त की गयी पूर्ववर्ती विचारकों की मान्यताओं की पुष्टि करते हुए मुकरात ने यह कहा कि धन की आन्तरिक अवस्था का अनुकरण भी बेहरे से इनिश द्वारा ही सकता है।^१ मुकरात के इस प्रकार के विचार उसके सम्प्रदाय में बहुत रूप से भिन्न हैं। इसलिए इन विचारों का महत्व आगे चल कर इनकी विन्नेयभावक व्याख्या तथा मावी विचारों के संदर्भ में ही अधिक है। परन्तु इसका तो स्पष्ट ही है कि अभी तक भूतान में नीति परक सभ्यतात्मक मानवदर्शों का निर्माण नहीं हुआ था और यह सर्वप्रथम मुकरात के द्वारा ही किया गया। समीक्षा पारसीय दृष्टिकोण से उसकी यही उपलब्धि ऐतिहासिक कहल की है।

१ “पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास”, भी कहैयामान बर्मा, पृ० २९।

२ “पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत”, भी सीताधर मुख, पृ० ४३।

प्लेटो

परिचय तथा हतियारी —

प्लेटो का समय ४२७ से ३४८ ई० पू० तक माना जाता है।^१ यूनान के प्राचीन दार्शनिकों और कला विचारकों में उसका सर्वोच्च स्थान है। उसका जन्म एबीनिनन नगर में हुआ था। अपने गुरु सुक्यरात की मृत्यु के पश्चात् वह 'एकाडेमी' में अध्यापन कार्य करने लगा था। यों उसकी स्वयं की इच्छा यह थी कि वह राजनीति में भाग ले और उसने दो बार राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करने का भी प्रयत्न किया था। उसके पूर्वज भी राजनीतिक क्षेत्रों से सम्बन्ध रख चुके थे। अपने गुरु सुक्यरात के साथ राजनीतिज्ञों के अनुचित व्यवहार को देखकर उसका चित्त राजनीति के व्यवहार पक्ष की ओर से स्थिर हो गया। इसके बाद ही उसके लिए दार्शनिक चिन्तन और अध्ययन ही सब कुछ रहा। एकाडेमी में अध्यापन कार्य करने के पहले उसे एक बार शाय की भाँति विक्रय भी कर दिया गया था। इसलिए भी उसने अपना जीवन चिन्तन की ओर पूर्ण रूप से मना दिया। उसकी शिक्षा के प्रधानतः दो लक्ष्य थे। एक तो मनुष्य का नैतिक विकास और दूसरे मनुष्य जाति की सेवा।^२

प्लेटो के जीवन का अन्तिम भाग अपने सम्बन्धों की रचना में व्यतीत हुआ। ये सम्बन्ध उसके गुरु सुक्यरात की शिक्षाओं को आकार देनाकर रहे गये हैं। इनसे प्लेटो की अपरिमित वैचारिक शक्ति का आभास मिलता है। प्लेटो की प्रमुख रचनाओं में से एक उसकी "प्योटी ग्राफ़ आइडियाज" है। इसके अनुसार किसी वस्तु का विचार वा रूप हमारी उस वस्तु विषयक अमूर्त चारणा के अनुसार होता है। यद्यपि उसका अस्तित्व स्वयं अपव के बाहर भी विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में अपरिवर्तित सत्य ही प्रत्यक्ष परिवर्तित स्वरूप के पीछे कार्यशील रहता है। प्लेटो के प्रमुख सम्बन्धों में "मेनेनोरस" "पार्मिनिडस" "प्रोत्रो" "सिम्पोजियम" "रिपब्लिक" "क्रियादृष्ट"

1 "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey
p. 624

२ "भारतवर्ष राजनीतिक विचारों का इतिहास" श्री कन्हैयालाल शर्मा, पृ० ४०।

“पारमेनीडैस” “पियाटिटस” “सोक्रिट” “रिमेस”, “टिमोस” “साब” तथा “एपासोमी” आदि हैं ।^१

प्रमुख सम्प्रदाय —

विषय विवेचन के अनुसार प्लेटो के सम्प्रदाय ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रसिद्ध “रिपब्लिक” तथा “साब” हैं । अन्य ग्रन्थों में आरम्भिक कालीन “एपासोमी” “क्रिटो”, “कार्माइडीस” “यूथिडेमस” “लेक्स”, “मीनो” “पेटेपारस” तथा “आन्निबस” आदि हैं । इन सबमें प्रायः राजनीति से सम्बन्ध रखने वाले विविध विषयों और परिस्थितियों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है । परन्तु हममें अविवक्षित किये गये अधिकार विचार अनेकानेक अधिक परिपक्व रूप से उसके परवर्ती ग्रन्थों में मिलते हैं । वहीँ वहीँ प्रासंगिक रूप से उसने ज्ञान तथा धर्म आदि के सम्बन्ध रखने वाले विषयों की भी स्पष्ट चर्चा की है ।

प्लेटो के प्रीड़ और प्रसिद्ध ग्रन्थों में सर्वप्रथम “रिपब्लिक” है । इस हृति का उपयोग है “कम्सनिंग बस्टिन” वर्णन “ग्याप के सम्बन्ध में ।” जैसा कि इसके पीरिंग से ही स्पष्ट है इसका विषय राजनीति है । इसके साथ ही इसमें अन्य अनेक शास्त्रों का भी विषयानुसार विवेचन किया गया है । यों इस प्राचीन काम में यूनान में विविध शास्त्रों पर विचारक गले स्फुट रूप से ही विचार करते थे सम्मक रूप में अतएव अथवा स्वतन्त्र रूप में विषय विवेचन की परम्परा नहीं थी । इसलिए प्लेटो के इस ग्रन्थ में विविध विषयों और शास्त्रों का अपार भंडार है । हमारे घन्टों में मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन दर्शन के प्रस्तुतीकरण का इसमें सफल प्रयास किया गया है ।

हमने पूर्व मुद्रणतः बहुमुख तथा ज्ञान आदि पर महत्वपूर्ण विवेचना कर चुके थे । इन मूलात्मक कथनों की भी प्लेटो ने विस्तारपूर्वक व्याख्या की तथा इनके साथ ही अन्य अनेक विषयों की भी इस ग्रन्थ में समावेशित किया जिनमें ग्याप तथा व्यवस्था आदि हैं । इस ग्रन्थ में ग्याप का एक प्रतिपादक “थिडैमस” भी है जिसके मतानुसार

1 “The Oxford Companion to English Literature” Sir Paul Harvey p. 624

२ “पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास” श्री कन्हैयालाल वर्मा पृ० ४६।

३ परिचय के लिये दृष्टव्य—“A History of Greek Political Thought” Sinclair p. 143.

‘म्याय सत्य भाषण और श्रद्धा भुगतान में निहित होता है।’ म्याय के विविध रूपों और प्रकारों के विषय में परबर्ती विचारकों ने भी अनुसंधान किया है।^१ उन्होंने इस सिद्धान्त का ऐतिहासिक सन्दर्भ में भी निरर्णन प्रस्तुत किया।^२ यद्यपि इसका महत्त्व राजनीति शास्त्रीय दृष्टिकोण से ही अधिक है।

‘रिपब्लिक’ के पश्चात् प्लेटो की दूसरी विषय प्रसिद्ध कृति ‘स्टेट्समेन’ है। इसकी रचना सम्भाव्यताक क्षेत्र में की गयी है। इसमें उसने विद्या और कला का विवेचन करके इनका श्रेणीकरण किया है। इस ग्रन्थ में भी यही उसकी महत्वपूर्ण स्थापनाओं का सम्बन्ध भी प्रत्यक्षतः राजनीति शास्त्र से ही है। इसी प्रकार से ‘लाज’ में उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रकट हो गया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन प्लेटो की मृत्यु के पश्चात् हुआ था और यह उसने बुढ़ावस्था में लिखा था। इस ग्रन्थ में भी यद्यपि विविध विषयों का विश्लेषण हुआ है परन्तु जैसा कि इसके शीर्षक से स्पष्ट है इसका अधिकांश भाग कानून निर्धारण और उसकी प्रक्रिया के नियमन से संबंधित है।

शैली और विचार—

प्लेटो की शैली सम्भाव्य शैली थी। उसमें मनोवैज्ञानिकता के उपयोग से प्लेटो ने कतिपय अत्यन्त महत्वपूर्ण चारबायें अनुसृत की थीं। वैचारिक सङ्ग्रह की प्रक्रिया के सम्बन्ध में उसका अनुभव यह था कि मनुष्य के मन में विविध प्रकार के विचारों का भास रहता है। ये विचार यदि एक दूसरे के विरोधी होते हैं, तो उसके अन्दर में इनका पारस्परिक संघर्ष होता है। इसके पश्चात् फिर किसी निश्चित विचार का मूल उपलब्ध है और विकासशील होकर दुर्गता प्राप्त करता है। वह वह भी अनुभव कर रहा था कि उसकी समकालीन वैचारिक प्रणितियों और उनके निर्देशित सिद्धान्तों में कुछता नहीं थी। इसका कारण यह था कि तथाकथित ज्ञान रूपित था और उनके मूल में पिच्छलेषण भास था।

गुण और सधार्म ज्ञान के लिए उसने सम्भाव्य के माध्यम को उपयुक्त बताया। इसलिये अपने सम्भाषों में उसने सुकरात सिकसस पोलेमार्कस तथा प्रोटीमेकस आदि

१ “The Republic” (Translators) Davies and Vaughlin, p. 6.

२ देखिये—“Plato and his predecessors” Barker pp. 176-77

३ देखिये—“A History of Political Theory” Sabana, p. 34

विचारकों के माध्यम से अपने विचारों का आपेक्षिक प्रतिपादन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि जटो अपने समय का महत्त्वपूर्ण मौखिक चिन्तक था परन्तु अपनी अद्वितीय प्रतिभा के बावजूद उसने अपने पूर्वकालीन विचारकों के प्रभाव को ग्रहण किया। ऐतिहासिक विकास के सन्दर्भ में उसने परिस्थितियों और बाधावरण का अध्ययन किया तथा उनसे प्रभावित हुआ। इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने पूर्वकालीन सभी विचारकों का उसने अनुमोदन किया है। अनेक सिद्धांतों और उनके प्रतिपादकों से उसने अपना सर्वथा विरोध भी प्रकट किया है।

जटो के प्रमुख सिद्धान्त

इतिहास —

जटो के विचार से इतिहास एक कला है और इसके अन्तिम हेतु इसकी पद्धति का बाहर है। संसार की अत्यन्त साधारण और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं के पीछे ईश्वरी प्रेरणा सक्रिय रहती है।^१ परन्तु जटो ने तो स्वयं इतिहासकार या और न उसे इतिहासकारों में विश्वास था। आवश्यकतानुसार वह अपने इतिहास का स्वयं निर्माण कर लेता था।^२

आप चमकर जटो की इतिहास विषयक इस धारणा से बड़ा परिचयित हुआ। जटो ने चिन्त्य अरन्तु की इतिहास का पर्याप्त ज्ञान था। उसने अपने विचारों का प्रतिपादन उसके माध्यम पर किया भी था। उसके द्वारा प्रमुख राजनीति शास्त्र के अध्ययन की उत्पत्ति पद्धति का प्रयोग ही पर्याप्त ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव में अस्पष्ट था। कहने का आशय यह है कि किसी भी ज्ञान की विधि के क्षेत्र में प्रारम्भ होने वाला संशोधन प्रायः ऐतिहासिक दृष्टिकोण की ही प्रधान मानकर होता है। इस परचाय द्वितीय अवस्था में ही उसका वैज्ञानिक और वास्तविक रूप स्थिर होता है।

१ "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लोत्तापर गुप्त पृ० १०।

२ "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास", श्री कन्हैयालाल बनर्जी, पृ० १४७।

अनुकरण का सिद्धान्त :—

प्राचीन यूनान में जिस अनुकरणात्मक सिद्धान्त का प्रवर्तन होमर डाप हुआ था उसका सबसे प्रबल पुष्टीकरण प्लेटो ने किया। उसके विविध विषयक विचार और बारम्बार इसी सिद्धांत को आधार बनाकर विमिश्र हुये हैं। उसने यह सिद्ध किया कि उसके पूर्ववर्ती साहित्य में सौकिक या जलौकिक किसी भी प्रकार का सत्य नहीं है। उस इसी कारण से वह एक असत्य कोटि की साहित्यिक सृष्टि कहता है। उसका विचार था कि एक कवि किसी वस्तुओं का जो वर्णन करता है, वे पूर्णतः वैरी ही नहीं होतीं जैसी कि वे यथार्थ होती हैं। इसके विपरीत वह उनका वर्णन एक आदर्शवादी दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त स्वरूप की कल्पना के अनुसार करता है। इस दृष्टिकोण से काव्य में यथार्थमकता ठब सम्भव होगी जब कवि मूल आदर्शों के सूक्ष्म जपट का अनुकरण करेगा।

जब प्लेटो यह कहता है तो वह हमारे सामने एक आदर्शवादी विचारक के रूप में आता है। सामान्यतः वह एक मनुष्य का सुधार करके उसे एक आदर्श नागरिक बनाना चाहता था। इसके लिए उसने उसके मुख्यतः दो बर्ग बताये हैं। एक तो वह वह सत्य की खोज के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे और दूसरे यह कि वह सद्गुणी हो। ये दोनों गुण ज्ञान के अभाव में एक मनुष्य में कल्पित नहीं किये जा सकते और ज्ञान प्राप्त करने के दो उपाय हैं। एक तो जीवनानुभव और दूसरा साहित्य।

अपने पूर्ववर्ती और समकालीन साहित्य जिनमें होमर जैसे महान् कवि की अमर कृतियाँ भी सम्मिलित हैं का व्यापक रूप से विरसेपण करके उसमें असत्य दोष की ओर इमिर्त करते हुए उसे त्याज्य घोषित किया। वह यह मानता था कि सौकिक सत्य जलौकिक सत्य का ही प्रतिरूप होता है। एक कमाकार चूँकि सौकिक सत्य का ही अनुकरण अपनी कृति में करता है इसलिए उसमें उसी की प्रतिछवि होती है। और अन्ततः यह सत्य कुछ सत्य का प्रतिरूप सिद्ध होता है।

इस प्रकार से प्लेटो ने अनुकरण को ही कला का प्रधान तत्त्व निर्दिष्ट किया है। उसका यह दार्शनिक सिद्धांत था कि 'जो कुछ भी हम इस पानिब संसार में देखते सुनते और अनुभव करते हैं उस सबका मूल रूप स्वर्ग में स्थित है। मानव की आत्मा जब स्वर्ग में रहती है तो इन मूल रूपों को सहज ही पहचानती है और उन्हीं के सम्पर्क में रहती है, परन्तु जब हम इन मूल रूपों का अनुकरण इस पानिब जगत में करते हैं तो हमें उनकी सच्चा मात्र ही मिलेगी और जब साहित्यकार इनका अनुकरण अपनी

रचनाओं में करेगा ता वह सत्य (मूल कर्षों) से और भी दूर जा पड़ेगा। काव्य इस दृष्टि से हमें बहुत दूर से जाता है उसके द्वारा सरयानुभूति असंभव होती।^१ इससे यह विद्वद् हो जाता है कि काव्य या साहित्य एक आदर्श मानविक का सत्य की शिक्षा नहीं देता है। इसीलिए उसने अपने आदर्श राज्य में साहित्यकार अपना कवि का कोई स्थान नहीं दिया।

कवि, काव्य और कला —

अपनी 'आपोन' नामक कृति में प्लेटो ने कवि का स्वरूप निर्धारण किया है। कवि का वर्णन करते हुए वह कहता है कि 'कवि एक मूर्ख पलायमान और पशु-वस्तु है और सब एक दुष्टि हीन है जब तक कि उसे दैविक प्रेरणा नहीं मिलती और स्वयं इन्द्रियमूर्ख और दृष्टिबिहीन नहीं हो पाता। जब तक वह इस अवस्था को प्राप्त नहीं होता तब तक वह पशुहीन है और अपनी गूँथोटियाँ बहने में असमर्थ है।'^२ इसी प्रकार से 'प्लेटो' में वह कहता है कि 'कला से नहीं बल्कि दैविक प्रेरणा से कवि चित्तोत्थक एक अग्रसर होता है।'^३

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अपने पूर्वकालीन तथा समकालीन वातावरण का अध्ययन करते हुए प्लेटो ने यह निष्कर्ष निकाला कि उच्च कोटि का काव्य ही समाज के लिये उपयोगी मिष्ठ होता है और हीन कोटि का काव्य सर्वथा अनुपयोगी। निम्न कोटि के कवियों के विषय में वह इस निश्चित निष्कर्ष पर आ गया था कि उनके द्वारा ज्ञान का प्रचार नहीं हो सकता। इस कोटि की काव्य रचना करने वाले कवि अपने गहन उत्तरदायित्व की ओर से उदासीन रहते और उसकी महत्ता का भूल रहते हैं। इस प्रकार से उनकी मन-स्थिति एक प्रकार की अनैतिकता से आगन्तव्य रहती है और इसी-लिए वे नैतिक आदर्श का समर्थन करने वाला काव्य नहीं रच पाते। इनके अविरल कवियों में यह विवेक भी नहीं होता कि काव्य में वे किन विषयों तथा प्रश्नों का समावेश करें और किनका नहीं। इसीलिये अनेक अवांछनीय प्रकार के विषयों की काव्य में

१ "आलोचना: इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एन० पी० खत्री पृ० ४२०।

२ "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत" श्री लीलाधर गुप्त, पृ० ६८।

३ वही पृ० ६९।

भरमार हो जाती है, जो अन्ततः समाज के लिए घातक सिद्ध होती है। इस प्रकार के काव्य को वह ज्ञान धर्म नीति और ईश्वर विरोधी और इसलिये सर्वथा त्याग्य मानता था।

काव्य का वर्गीकरण —

प्राचीन यूनानी विचारकों में सर्वप्रथम प्लेटो ने ही काव्य का संश्लेषिक रूप से वर्गीकरण किया। अथवा उसके पूर्व काव्य के विभिन्न रूपों और वर्गों पर तो स्फुट रूप से विचार व्यक्त किये जा चुके थे किन्तु इसके वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयत्न किसी ने नहीं किया था। सबसे पहले उसने काव्य का वर्गीकरण करते हुए उसके तीन भेद किये पहला गीति काव्य दूसरा नाटक तथा तीसरा महाकाव्य। हा हीनों को ही उसने वर्णनात्मक काव्य के अन्तर्गत रखा। इनमें से पहले अर्थात् गीति काव्य का विस्लेषण करते हुए उसने कहा कि यह कवि की वैयक्तिक अभिव्यक्ति होती है।

गीति तथा महाकाव्य की रचना के लिये उसने कुछ नियम भी बनाये जो उसके सामंजस्यवादी दृष्टिकोण पर आधारित हैं। उसका विचार था कि सामंजस्य काव्य रचना का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। उसके मतानुसार 'सामंजस्यविहीन कविता निम्न कोटि की ही होगी और उसका प्रभाव भी स्थायी न रहेगा। कोई भी श्रेष्ठ कलाकार अपनी कथावस्तु का चयन जस्ते व्यस्त रूप में नहीं करता। भावों का विचारपूर्वक समन्वय तथा कथावस्तु का सामंजस्य वह सदैव ध्यान में रखेगा। जिस प्रकार से सफल जीवन व्यतीत करने के लिये जीवनयापन के नियमों की जानकारी और उनका अभ्यास आवश्यक है उसी प्रकार सफल कलाकार के लिए काव्य रचना के नियमों की जानकारी और उनका उचित प्रयोग भी आवश्यक होगा। सामंजस्य के अन्तर्गत क्रम, नियन्त्रण तथा समन्वय के नियमों की सुरक्षा काव्य रचना में होना चाहिये।'

नाटक —

प्लेटो के समय तक नाटक के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हो चुका था। अनेक छात्राधीन महत्व के नाटककार ऐम हो चुके थे जिनकी रची हुई युवानाटक अथवा युवानाटक नाट्य इतिहास ऐतिहासिक महत्व की सिद्ध हो चुकी थी। रंगमंचीय विकास की उम्मा बनावें विद्यमान थी और समाज में नाट्य रचना नाट्य अभिनय तथा नाट्य प्रदर्शन की

प्रकृतियों का प्रचलन था। जेने यह अनुमन कर रहा था कि उसने समय में जिस प्रकार के नाटकों का प्रदर्शन होता था उनका वस्तुगण पर अस्वस्थ प्रभाव पड़ता था और अनैतिकता बढ़ती थी। इसका फल यह हो रहा था कि उच्छुद्धता वैचारिक दृष्टता मानसिक अस्वस्थता तथा अनैतिकता का बाजारबन्ध निमित्त होता था रहा था। यहाँ तक कि इस अज्ञान मनोवृत्ति के बिना कोई नाटककार न खड़ा होता था और स्वयं भी उसी प्रकार के नाटकों का सृजन करना आरम्भ कर देता था जिनकी माँग थी।

इस विद्वन्मना का नेतृकर जेने ने यह धारणा बना ली थी कि जनता का बहुत नम्र साहित्य की खेड्डा की कमीनी बनापि नहीं हो सकता। उसने सुखान्तर और दुःखान्तर नाटकों का अलग-अलग स्वरूप निरूपण किया। इन दोनों का उसने महत्त्व और प्रभाव भी विस्तारित किया। उसने सुखान्तर नाटक की आवश्यकता और मर्यादा निर्धारित करते हुए कहा है कि उसके माध्यम से हान्य मूलि हो होनी चाहिए, परन्तु उसने किसी की नाचनाओं को थोड़ा नहीं पहुँचाना चाहिये।

भाषण शास्त्र —

भाषण शास्त्र पर विचार करने लगे जेने ने कहा कि भाषण में बहना सरस की उपेक्षा करता है। इसका मुख्य कारण यह है कि भाषण में कृत्रिमता बहुत अधिक होती है। बहनागम अपनी बात को धार प्राप्त और अतिशय रूप से अनुप्रास के साथ कहने है। फल यह होता है कि उनमें श्रोताओं को अपनी उचित या अनुचित बात को ईमानदारी सिद्ध करने की पुनर् हाँ जाती है। उच्छ कोटि में बने जाने जाने भाषण शास्त्र के लिये जेने के विचार से उच्छ कोटि की कमा आवश्यक है। और यह बता है बहना की विषय का पूर्ण ज्ञान। उसने कहा है कि प्रकृति ज्ञान तथा अभ्यास यह भाषण बहना का रहस्य है।

जेने का यह अनुमन था कि उसके समकालीन भाषण शास्त्रज्ञों में इन गुणों का सर्वथा अभाव है और उन्हें भाषण बहना का गम्भीर गान नहीं है। इसीलिये उसने उन लोगों की बहुत आशङ्कना की। यही नहीं उता प्रम और अज्ञान देकर वह स्वयं इस क्षेत्र में सर्वथा निपट हो गया और उसका यह विचार दृढ़ होता गया कि भाषण बहना का कोई बिना महत्त्व नहीं है।

समीक्षा —

अने समकालीन कवियों शास्त्रज्ञों तथा भाषण शास्त्रियों का जेने ने जो प्रबल विचार और गंभीर विचार है उता यह भ्रम हो सकता है कि वह नाटक

मरमार हो जाती है जो अन्ततः समाज के लिए नाशक सिद्ध होती है। इस प्रकार न काव्य को वह ज्ञान भरी नीति और ईश्वर विरोधी और इसलिए सर्वथा समाज मानता था।

काव्य का वर्गीकरण —

प्राचीन यूनानी विचारकों में सर्वप्रथम प्लेटो ने ही काव्य का सैद्धान्तिक रूप से वर्गीकरण किया अथवा उसके पूर्व काव्य के विविध रूपों और श्रेणियों पर तो स्फुट रूप से विचार व्यक्त किये जा चुके थे किन्तु इसके वैज्ञानिक वर्गीकरण का प्रयत्न किसी ने नहीं किया था। सबसे पहले उसने काव्य का वर्गीकरण करते हुए उसके तीन भेद किये पहला गीति काव्य दूसरा नाटक तथा तीसरा महाकाव्य। इन श्रेणियों को ही उसने बर्नात्मक काव्य के अन्तर्गत रखा। इनमें से पहले अर्थात् गीति काव्य का विस्लेषण करते हुये उसने कहा कि यह कवि की वैयक्तिक अभिव्यक्ति होती है।

गीति तथा महाकाव्य की रचना के लिये उसने कुछ नियम भी बताये जो उसके सामंजस्यवादी दृष्टिकोण पर आधारित हैं। उसका विचार था कि सामंजस्य काव्य रचना का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। उसके मतानुसार “सामंजस्यविहीन कविता निम्न कोटि की ही होगी और उसका प्रभाव भी स्थायी न रहेगा। कोई भी श्रेष्ठ कलाकार अपनी कथावस्तु का चयन अस्त व्यस्त रूप में नहीं करता भावों का विचारपूर्ण समन्वय तथा कथावस्तु का सामंजस्य वह सतत् ध्यान में रखेगा। जिस प्रकार से सफल जीवन व्यतीत करने के लिये जीवनयापन के नियमों की जानकारी और उनका अभ्यास आवश्यक है उसी प्रकार सफल कलाकार के लिए काव्य रचना के नियमों की जानकारी और उनका उचित प्रयोग भी आवश्यक होगा। सामंजस्य के अन्तर्गत कम, नियन्त्रण तथा समन्वय के नियमों की सुरक्षा काव्य रचना में होना चाहिये।”

नाटक —

प्लेटो के समय तक नाटक के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हो चुका था। अनेक शास्त्रीय महान् नाटककार ऐसे हो चुके थे जिनकी रची हुई मुसान्तक अबका दुर्लभ नाट्य कृतियाँ ऐतिहासिक महान् की सिद्ध हो चुकी थी। रंगमंचीय विकास की सम्भावनायें विद्यमान थीं और समाज में नाट्य रचना नाट्य अभिनय तथा नाट्य प्रदर्शन की

प्रवृत्तियों का प्रवर्तन था। जेने ने यह अनुभव कर रहा था कि उसके समय में जिस प्रकार के माणकों का प्रवर्तन होगा या उनका वर्तकाल पर अन्वय प्रभाव पड़ता था और अनैतिकता बढती थी। इसका फल यह हो रहा था कि उन्मूलकता वैचारिक दृष्टता मानसिक सम्बन्धना तथा अनैतिकता का बातावरण निर्मित होता जा रहा था। यहाँ तक कि इस भ्रष्ट जन मनोवृत्ति के विरुद्ध कोई माणकधार न लड़ा जाता था और स्वयं भी उसी प्रकार के माणकों का सूचन करना आरम्भ कर देता था जिसकी माँग थी।

इस विद्वत्पणा का देखकर जेने ने यह धारणा बना ली थी कि जनता का बहुमत साहित्य की छेड़छाड़ की कसौटी कपास नहीं हो सकता। उसने मुक्तान्तक और मुक्तान्तक नाटकों का जन-प्रसंग स्वरूप निष्पन्न किया। इन दोनों का उसने महत्व और प्रभाव भी बिस्तेरित किया। उसने मुक्तान्तक नाटक की आवश्यकता और मर्यादा निर्धारित करते हुए कहा है कि उनके माध्यम से हास्य सृष्टि होनी चाहिए, परन्तु उससे किसी की आकानाओं को चोट नहीं पहुँचानी चाहिये।

भाष्य शास्त्र —

भाष्य शास्त्र पर विचार करते हुये जेने ने कहा कि भाष्य में बनना सरल की उपाय करना है। इसका मुख्य कारण यह है कि भाष्य में कृत्रिमता बहुत अधिक होती है। बकनामक बननी जान को छद्म भास और अनिच्छा रूप से अनुप्रास के साथ बहने हैं। फल यह होता है कि उनमें धोनामों का भरती उचित या अनुचित बात को ईमानदारी सिद्ध करने की जुन हो जाती है। उच्च वादि में विने जान जाने भाष्य शास्त्र के लिये जेने के विचार से उच्च कोटि की कला आवश्यक है। और यह कला है वास्तव की विषय का पूर्ण ज्ञान। उसने कहा है कि प्रवृत्ति ज्ञान तथा अभ्यास यह भाष्य कला का रहस्य है।

जेने का यह अनुभव था कि उसके समकालीन भाष्य शास्त्रज्ञों में इन गुणों का सर्वथा अभाव है और उन्हें भाष्य कला का सम्यक ज्ञान नहीं है। इसीलिए उसने उन दोनों की कटु आलोचना की। यही नहीं उनका स्वयं और यदात देवदर का स्वयं इस क्षेत्र में सर्वथा निरक्ष हो गया और उनका यह विचार दुर्बल होता गया कि भाष्य कला का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

समीक्षा :—

जैसे समकालीन विद्वानों शास्त्रज्ञों तथा भाष्य शास्त्रज्ञों का ज्ञान के प्रवर्धन विषय और महत्त्व दिखा है उन्ने यह अनुभव हुआ है कि वह शास्त्र

अथवा मापन साधन का बिरोधी था। वस्तुतः ऐसा नहीं है। क्योंकि यदि ऐसा होता तो उसने इन विषयों की पूर्ण उल्लेख की होती और जरूरी अनेक सम्भाव सम्बन्धों में इनके स्वरूप निर्धारण की भी कोई श्रेष्ठता न की होती।

वास्तव में प्लेटो को सबसे अधिक श्लेष यह वैश्व कर होता था कि उसके समकालीन बौद्धिक लोग इन विषयों का यथार्थ महत्त्व और वास्तविक विस्तृत नहीं समझ रहे थे और स्वयं के अज्ञानबोध पाठकों दर्शकों और श्रोताओं को मोहता दे रहे थे। चूँकि उन्हें स्वयं भी इसके यथार्थ महत्त्व का किम्बिधन मात्र भी ज्ञान नहीं था इसलिए वे उनसे सामान्यतः होने के स्थान पर पण्डित ही होने जा रहे थे। यह स्थिति उसके जैसे ईमानदार विचारक के लिये असह्य थी। अपने समकालीनों की आलोचना उसने इतनी कटूता के साथ इमीलिये की है क्योंकि वह उन्हें ही इस परिस्थिति के लिये उत्तरदायी समझता था।

प्लेटो मूलतः एक राजनीतिक चिन्तक था। जिस प्रकार से उसने आदर्श राज्य के आवश्यक मापदण्डों की कल्पना की थी उसी प्रकार से साहित्य के क्षेत्र में भी उसकी सारी चारणायें आदर्शवादिता से व्यापृष्ट थीं। वह उच्च और सात्विक तत्वों से पूरित साहित्य को ही समर्पित करता है। इसलिए जिस प्रकार से वह अपने समय की अव्यवस्थित राज्य व्यवस्था को वैश्व कर अग्रमुद्रण हुआ था और उसने एक आदर्श राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप स्पष्ट करते हुए एक आदर्श राज्य का प्रतिपादन और समर्पण किया था उसी प्रकार से युगीन साहित्य की पञ्चगोमुख प्रवृत्तियों से असन्तोष और बिरोध व्यक्त करते हुए उसने आदर्श साहित्य के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण किया था।

इस प्रकार से उसने कला नाटक काव्य आदि का सीमा निर्धारण किया और इनकी निषिद्ध मर्यादा पर बल देते हुए इनके स्वरूप को स्पष्ट करने वाली विशिष्ट परिभाषाओं का प्रतिपादन किया। इसके साथ ही साथ उसने सतिष और उपदीपी के रूप में कला का वर्गीकरण किया। उसने मीट नाटक और महाकाव्य के रूप में काव्य को भी वर्गीकृत किया। वहीं तक नाटक का सम्बन्ध है उसने इस बात पर विशेष रूप से ध्यान दिया है कि उसमें किसिम और सुसंरचना जीवन की छाप होनी चाहिए।

अपने समीक्षा विषयक सिद्धान्तों में प्लेगे ने बताया है कि श्रेष्ठ आलोचक बही होगा या सुदुष्ट और साहस के गुणों से युक्त होगा। उसके विचार से समीक्षक का कार्य साहित्यकारों और पाठकों का पथ प्रदर्शन करना है। यह कार्य बही समीक्षक कर सकता है जो उपर्युक्त गुणों से अनिवार्यतः युक्त हो। समीक्षा के लिए उसने यह निर्देशित किया है कि उसे पाठ्य भाग से प्रभावित अथवा आकर्षित नहीं होना चाहिए, बल्कि सम्पूर्ण काव्य के स्वरूप प्रभावामकता तथा उद्देश्य को देखते हुए उसका विस्तृत विश्लेषण और सम्यक मूल्यांकन करना चाहिए। उसने प्राचीन यूनानी साहित्य का अनुमीलन करते हुए यह कहा कि अन्तः उस साहित्य में अनीतिकता और अपमानता को भ्रामक और रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है और इसी कारण से पाठकों के ऊपर बांछित प्रभाव नहीं पड़ा है।

महत्व —

प्लेटो आदर्शवादी समीक्षक था। कला और साहित्य का आदर्शीकरण भी उसके समय से ही हुआ माना जाता है। उसने कहा कि सत्य विषय और सुन्दर चीजों ही की छवि के प्रकटन हैं और चीजों समान हैं। इस प्रकार ने प्लेगे अपने समय का सर्व प्रमुख और प्राचीन यूनानी विचारकों में बड़ा सर्वप्रथम मनीषी है जिसने सिद्धान्त रचना की दिशा में ठोस कार्य किया था और इस प्रकार ने इसकी मुद्रा नींव डाली थी। परन्तु युगों में इस क्षेत्र में जो भी प्रगति हुई उसका श्रेय प्लेटो को ही है। उसके विचार भाये सहस्रों वर्षों तक साहित्य विमर्शों को प्रभावित करते रहे और अनेक बरवर्ती पीढ़ियों ने उनकी व्याख्या की तथा उनसे प्रेरणा ग्रहण की। इस प्रकार से नाबो युगों में प्लेटो के सिद्धान्त अधिक धाह्य तथा व्यवहार योग्य हो सके। इसी कारण उसे चौबी छान्नी ई० पू० का महान्तम विचारक माना जाता है।

आइसॉक्रीटीज

परिचय और विचार —

आइसॉक्रीटीज का समय ४३६ से लेकर ३३८ ई० पू० तक माना जाता है।¹

1 "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey p 403

यह प्लेटो का समकालीन था। प्राचीन यूनानी चिंतकों में उसका नाम भी लिया जाता है। यद्यपि उसके विषय में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है और न ही उसकी रचनाओं के विषय में ही कोई विधेय जानकारी मिलती है। इसका जन्मेक पिस्तन ने अपने एक घामेट में किया है।^१

अपनी समकालीन विज्ञा व्यवस्था से उसे बड़ा वर्तमान हुआ था। उसमें सुधार करने के उद्देश्य से उसने स्वयं एक अलग विद्यापीठ की स्थापना स्वयंभूत रूप से की थी। इससे पूर्व प्लेटो यह कह चुका था कि संसार में जीवन के दो ही प्रकार हो सकते हैं। एक तो शारीरिकों का जीवन और दूसरा राजनीतिज्ञों का जीवन। आइसोस्टीज बाहुता था कि जीवन के इन दोनों प्रकारों में किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सके। इसके लिये वह इन दोनों की अन्तराहियों का विचार करना बाहुता था परन्तु अपने इस कार्य में उसको सफलता न मिल सकी। परन्तु फिर भी उसकी बनना यूनान के महान् विद्या छात्रियों में की जाती है। यद्यपि उसके विचारों में न प्लेटो ही गहनता थी और न सुकरात का गाम्भीर्य।

प्लेटो की ही भाँति उसने 'आदर्श राज्य' के नाम से एक विमलमय योजना प्रस्तुत की जो 'ग्रेट डिमाइन' के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु यह प्लेटो के आदर्श राज्य भाँति पूर्ण रूप से कल्पनात्मकता पर ही नहीं आधुन भी चरन् इसका आधार व्यापक हारिक था। हाँ उसमें प्लेटो की भाँति नीतिकता का अभाव है। इसकी महत्ता इसी बात से है कि उसने कभी भी संतुष्टि वृष्टिकोत्र से किसी समस्या पर चिन्तन नहीं किया। इसीलिये उसकी योगता भीवी बनायी के चार महान् विचारकों में की जाती है।

महत्त्व —

आइसोस्टीज के सिद्धान्तों का परिचय उसके स्पष्ट चरित्रों से ही मिलता है क्योंकि उसकी रचित किसी भी कृति के विषय में कोई विधेय जानकारी उपलब्ध नहीं है। उसने कुछ सामयिक समस्याओं के निदान निवर्तनार्थ कुछ पत्र भी संकलित किये हैं। इन पत्रों का आसाधारण महत्त्व इस बात से भी बोधित होता है कि परवर्ती काल

१. यही पृ० ४०३।

2. "A History of Greek Political Thought" T. A. Sinclair pp. 138-159

य रोमीय आलोचकों ने तो इनमें निर्दोषित सिद्धान्तों को अपनाया ही अनेक अंग्रेजी लेखकों ने भी आधी युग में इनका अनुकरण किया ।^१

आइसॉनेटीज का प्रथम विचार लीज केवल भाषण शास्त्र ही है । उसने ओटो के मत के विपरीत भाषण शास्त्र की असाधारण महत्ता प्रतिपादित की और इसके विविध तत्वों अनुकरण दोषी विषय भाषा व्यापि का बहुत विस्तारपुरुष, वैज्ञानिक और साम्यक विस्तरेषण किया । अगले जाने जाने समय में अरन्तु तथा अन्य विचारकों ने भाषण शास्त्र पर जो कुछ भी मिला आइसॉनेटीज के सिद्धांत ही उनका आधार रहा ।

ईस्किमस

परिचय और सिद्धांत —

ईस्किमस का समय १२१ स सेक्टर ४१६ ई०पू० तक माना जाता है ।^१ यूनान के प्राचीन दार्शनिकों में उसका नाम भी उल्लेखनीय है । उसके रचे हुए ग्रन्थों की संख्या १० क लगभग बतायी जाती है । यों तो उसने विविध विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं परन्तु उसकी मुख्य देन नाट्य शास्त्र के क्षेत्र में मानी जाती है । यूनान के प्राचीन समीक्षा शास्त्रीय इतिहास में उसने सर्वप्रथम सम्भाव्यतामय नाटकों का प्रवर्तन किया । उसके पहले का नाटक अभिनीत होत थे उनमें प्रायः आत्म-व्यथारमकता के तत्वों की बहुलता होती थी । उसकी पुष्कलक नाटक की कला की देन ही विमेष रूप से महत्वपूर्ण है ।

साफ्रोक्लीज

परिचय और सिद्धांत —

सोफोक्लीज का समय ४९५ स सेक्टर ४०६ ई०पू० तक माना जाता है ।^१ उसने

- १ "आलोचना-इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एच० पी० लक्ष्मी, पृ० १९ ।
- २ "नाटक की परम्परा", डॉ० एच० पी० लक्ष्मी पृ० ११ ।
- ३ वही पृ० ११ ।

वह प्लेटो का समकालीन था। प्राचीन यूनानी विद्वानों में उसका नाम भी लिया जाता है, यद्यपि उसके विषय में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है और न ही उसकी रचनाओं के विषय में ही कोई विशेष जानकारी मिलती है। इसका उल्लेख गिब्सन ने अपने एक सानेट में किया है।^१

अपनी समकालीन शिक्षा व्यवस्था से उसे बड़ा असंतोष हुआ था। उसमें सुधार करने के उद्देश्य से उसने स्वयं एक अलग विद्यापीठ की स्थापना स्वतन्त्र रूप से की थी। इससे पूर्व प्लेटो यह कह चुका था कि संसार में जीवन के दो ही प्रकार हो सकते हैं। एक तो दार्शनिकों का जीवन और दूसरा राजनीतिज्ञों का जीवन। आइसाक्रेटीज चाहता था कि जीवन के इन दोनों प्रकारों में किसी प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सके। इसके लिये वह इन दोनों की अन्धकारों का मिश्रण करना चाहता था परन्तु अपने इस कार्य में उसको सफलता न मिल सकी। परन्तु फिर भी उसकी मरना मूनात के महान् शिक्षा शास्त्रियों में की जाती है यद्यपि उसके विचारों में न प्लेटो सी गहनता थी और न सुकृष्ट का गाम्भीर्य।

प्लेटो की ही भाँति उसने 'कार्ब्स राज्य' के नमूने पर एक विलक्षण योजना प्रस्तुत की जो "सेट डिजाइन" के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु यह प्लेटो के कार्ब्स राज्य भाँति पूर्ण रूप से कल्पनात्मकता पर ही नहीं आधारित थी बल्कि इसका आधार व्यावहारिक था। हाँ उसमें प्लेटो की भाँति मौलिकता का अभाव है। इसकी महत्ता इसी बात से है कि उसने कभी भी संकुचित दृष्टिकोण से किसी समस्या पर विचार नहीं किया। इसीलिये उसकी मरना मूनात की भी अग्राणी के चार महान् विचारकों में की जाती है।

महत्त्व —

आइसाक्रेटीज के सिद्धान्तों का परिचय उसके स्कुट वक्तव्यों से ही मिलता है क्योंकि उसकी रचित किसी भी कृति के विषय में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। उसने कुछ सामाजिक समस्याओं के निदान निर्दिष्टार्थ कुछ पत्र भी संकलित किये थे। इन पत्रों का आद्याचार्य महत्त्व इन बातों से भी चोटित होता है कि परवर्ती काल

१ इ. ५०४-५०९।

2. "A History of Greek Political Thought" T. A. Sinclair pp. 138-139

में रोमीय भासोचकों ने तो इनमें निवेशित सिद्धान्तों को अपनाया ही अनक अंग्रेजी मखकों ने भी भाबी युग में इनका अनुकरण किया ।^१

आइमोन्टेटीज का प्रधान बिचार लज केबल मापन शास्त्र ही है । उसने प्लेटो के मत के विपरीत मापन शास्त्र की मसाधारण महत्ता प्रतिपादित की और इसके विविध तत्त्वों अनुकरण सौपी विषय भाषा भादि का बहुत विस्तारयुक्त, वैज्ञानिक और सम्यक् विवेचन किया । माप खाने खाने समय में भरल्ल तथा अन्य बिचारकों ने मापन शास्त्र पर जा कुछ भी सिखा आइमोन्टेटीज के सिद्धांत ही उनका आधार रह ।

ईस्तिस्स

परिचय और सिद्धांत —

ईस्तिस्स का समय ३२३ से सन् ४३६ ई०पू० तक माना जाता है ।^१ यूनान के प्राचीन दार्शनिकों में उसका नाम भी उल्लेखनीय है । उसक रचे हुए ग्रन्थों की संख्या ५० व लगभग बतायी जाती है । यों तो उसने विविध विषयों पर अपने बिचार प्रकट किये हैं परन्तु उसकी मुख्य देन नाट्य शास्त्र के क्षेत्र में मानी जाती है । यूनान के प्राचीन समीक्षा शास्त्रीय इतिहास में उसने सर्वप्रथम सम्भाषात्मक नाटकों का प्रवर्तन किया । उसके पहले जो नाटक अमिणीत होते थे, उनमें प्रायः भाव-कथामयता के तत्त्वों की बहुलता होती थी । उसकी दुखान्तक नाटक की कला की देख ही विशेष रूप में चरित्रपूर्ण है ।

सोक्रोक्लीज

परिचय और सिद्धांत —

सोक्रोक्लीज का समय ४९३ से सन् ४०६ ई०पू० तक माना जाता है ।^१ उसने

- १ "भासोचकाः इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ० एल० पी० जर्जी, पृ० २१ ।
- २ "नाटक की परम्परा", डॉ० एल० पी० जर्जी, पृ० ११ ।
- ३ वही, पृ० १२ ।

अपनी सर्वप्रथम नाट्य कृति की रचना ४९८ ई०पू० में की थी। उसके सिवां हुये कुल नाटकों की संख्या एक सौ बीस बतायी जाती है, यद्यपि इनमें से केवल सात उपसम्बन्ध हैं। बिद्य प्रकाश से इसके पूर्व ईस्विस्व नाम के नाटककार ने नाटक में एक से बढ़ाकर दो पात्र किये थे। उसी प्रकार से सोफोक्लीज ने उनकी संख्या दो से बढ़ाकर तीन कर दी।

इसके अतिरिक्त नाटक के क्षेत्र में उसने कुछ अन्य भी महत्वपूर्ण सैद्धांतिक परिवर्तन किये। उदाहरण के लिये उसने सहपात्रों की संख्या १२ से बढ़ाकर १५ कर दी तथा उनकी वेषभूषा आदि में भी पर्याप्त परिवर्तन कर दिया। इसके अतिरिक्त नाटक के परस्पर अन्तर्सम्बन्ध चार खंडों को विषय वस्तु की दृष्टि से भी स्वतंत्र कर दिया।^१ यों उसने नाटक के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक रूपों के क्षेत्र में कुछ मौलिक परिवर्तन किये और यही उसकी महत्ता का प्रमुख कारण है।

सोफोक्लीज के समय में नाटक के क्षेत्र में रचनात्मकता की प्रधानता थी, आलोचनात्मकता की नहीं। इसका फल यह दिखायी दे रहा था कि जो भी परिवर्तन नाटक के क्षेत्र में हो रहे थे उनका सम्बन्ध नाट्य रचना और उसके व्यावहारिक पक्षों से था जिनका आचार रचनाधीन था। इसीलिये यद्यपि सोफोक्लीज नाट्य शास्त्रीय सिद्धांतों के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं प्राप्त कर पाया परन्तु व्यावहारिक तथा रचनात्मक दृष्टि से उसने इस क्षेत्र में जो परिवर्तन किये उनका महत्व न केवल उसके युग में बल्कि उसके परवर्ती समय में भी असाधारण सिद्ध हुआ। यहाँ तक कि आगे चलकर अरस्तू ने बुखान्तक नाटक के क्षेत्र में जिन आचरणों का निवर्धन किया वह भी सोफोक्लीज के नाटकों में ही मूलतः विद्यमान थे।^२ इसके नाटकों की श्रेष्ठता इससे भी प्रकट होती है। इसीलिये यूनान के महान् क्रियात्मक नाट्य शास्त्रियों में सोफोक्लीज का स्थान है।

यूरीपाइडिज

परिचय तथा सिद्धांत :—

यूरीपाइडिज का समय ४८० से ४०६ ई० पू० तक माना जाता

१ "नाटक की परत", डॉ. एस० पी० चक्रो, पृ० १३।

२ "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत" श्री सीमापर गुप्त, पृ० ९३।

है।^१ उसने सुकरात से घिषा ग्रहण की थी। यद्यपि साहित्य के क्षेत्र में उसका प्रवेश १८ वर्ष की ही अवस्था में हो गया था, परन्तु अपने जीवन के अन्तिम काम में ही उसे प्रसिद्धि मिली। उसका कार्य क्षेत्र साहित्य में प्रायः नाट्य रचना तक ही सीमित रहा। कहा जाता है कि उसने लगभग सौ नाटकों की रचना की थी, यद्यपि उसके भिन्ने हुए केवल अठारह नाटक ही उपलब्ध हैं।^२ नाट्य रचना में इसकी रस महत्वपूर्ण और अनन्तकारी मानी जाती है। इसने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों, विशेष रूप से ईस्मिन्स और सोफोक्लीज द्वारा किये गये नाट्य रचना के क्षेत्र में व्यावहारिक और क्रियात्मक परिवर्तन को पूर्ण किया तथा इनके अनिश्चित अन्य उल्लेखनीय संशोधन भी किये। उदाहरण के लिये सोफोक्लीज के समान इसने भी नाटक में सद्गुणों का महत्व घटा दिया। परन्तु इसने सबसे बड़ा काम यह किया कि नाटकों के बचाने के लक्ष्य में सर्वप्रथम सामाजिक राजनैतिक तथा नैतिक समस्याओं को समावेशित किया और उन पर विचार किया। उसके इस प्रकार के मौलिक विचारों का यद्यपि उसके समकालीन कलाकारों द्वारा स्वागत नहीं हुआ परन्तु वे नाटक से सम्बन्ध रखने वाले सैद्धांतिक विचारों का आधार सिद्ध हुये।

अरस्तू

परिचय तथा जिनियाँ —

प्लेटो के सर्वाधिक शिष्य अरस्तू का समय ३८४ से ३२३ ई०पू० माना जाता है।^३ उसका जन्म स्टेजीरिया (मैसिडोनिया) में हुआ था। उसके पिता मैसिडोनिया के शासक के चिकित्सक थे। अरस्तू ने आरम्भ में अपने पिता ही चिकित्सा शास्त्र के विषय में थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त किया। अपने पिता की मृत्यु के बाद वह एवेंस चला गया और वही उसने प्लेटो से उसके विद्यापीठ में घिषा ग्रहण की। इस समय प्लेटो की आयु साठ वर्ष और अरस्तू की आयु २० वर्ष थी।

१ "नाटक की परत", डॉ० एस० पी० खत्री पृ० १४।

२ वही पृ० १४।

३ "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey P 34

प्लेटो भरस्तू की असाधारण प्रतिभा से बहुत अधिक प्रभावित हुआ। वह उस अपने विद्यापीठ का सबसे बुद्धिमान विद्यार्थी मानता था। भरस्तू वहीं लगभग २ वर्ष तक रहा। उसे यह आशा हो रही थी कि प्लेटो के पश्चात् वह स्वयं विद्यापीठ का प्रधानाचार्य बनाया जायगा, परन्तु जब ऐसा न हुआ और प्लूटोपीबस को वह पद दे दिया गया, तब यह हरमियास के राजदरबार में जाकर एक शिक्षक और चिकित्सक के रूप में रहने लगा। फिर ३४३ ई० पू० में जब हरमियास को क्लान्ति के फलस्वरूप शासनाधिकार से वंचित कर दिया गया, तब भरस्तू को मैसिडोनिया के राजा फिलिप ने बुला लिया और अपने पुत्र सिकन्दर का शिक्षक नियुक्त कर दिया, जिसकी अवस्था उस समय १३ वर्ष की थी।

सिकन्दर के राज्याभिषेक के पश्चात् वह एथेंस लौट आया और उसने स्वयं अपने विद्यापीठ की स्थापना की तथा अध्यापन कार्य करने लगा।^१ यहाँ उसने अपने अनेक योग्य शिष्यों को शिक्षा दी तथा अपने ही अधिकार महान् ग्रन्थों की रचना की। उसके जीवन का यही भाग सबसे अधिक महत्वपूर्ण भी है। परन्तु सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसे सन्दिग्ध दृष्टि से देखा जाने लगा। फिर वह फ्रास्कीस (यूकोबा) में आकर रहने लगा और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी।

विषय क्षेत्र —

भरस्तू के मिले हुए समस्त ग्रन्थों की संख्या लगभग ४०० बतायी जाती है।^२ इनमें यंत्र शास्त्र, गीतिक शास्त्र, शरीर शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र, वाचा शास्त्र, कला काव्य शास्त्र, अर्थ शास्त्र तथा राजनीति शास्त्र आदि विषयों का समावेश हुआ है। इन सभी शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक क्षेत्रों में भरस्तू की देन अद्वितीय मानी जाती है। उसके बाद के कई सौ वर्ष तक यह बात कल्पना से परे समझी जाती थी कि किसी विषय में भरस्तू से किसी की मतभेद भी हो सकता है अथवा उसका मत असुद्ध हो

१ "पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास" भी कम्प्यूतात्मात वर्मा पृ० १४३।

२ वहीं पृ० १४४।

सकता है। इससे इस बात का परिचय मिलता है कि भरतू की रचनाओं का उसके समय में तथा उसके परवर्ती समय में किन्ना अधिक मान था।

भरतू की ये सभी रचनाएँ प्रायः नौ श्रेणियों में उपभक्त हैं। एक तो मुख्य टिप्पणियों के रूप में और दूसरे मौखिक पाठ्यों के रूप में। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का आलोचन करने वाली भरतू की ये रचनाएँ सहस्रों वर्ष अतीत हो जाने के परवाह मान भी विभिन्न पाठ्यक्रमों में निर्धारित हैं तथा अद्यतन रूप में मान्य हैं।^१

कवि, काव्य और कला —

भरतू ने कवि की सृष्टि कहा है, क्योंकि वह कथानक की सृष्टि करता है। और चूँकि वह अपना कथानक स्वयं निमित्त करता है, इसलिये इसी गुण के कारण उसने कवि के घुनाती वर्ष रचविठा (पोइन्ट) का समर्पन किया है।^१ इसी कथा वस्तु को भरतू काव्य भी मानता मानता था। सामान्यतः कवि भरती कथावस्तु का चयन मनुष्य के जीवन से ही करता है। इन जीवन के अनेक पक्ष और क्षेत्र हैं इसलिए काव्य में ही अपनी ही विस्मृता और विस्तार की सम्भावनाएँ रहती हैं। परन्तु कवि जीवन के जितने रूप को अपनी कविता में प्रस्तुत करता है वह अनिवार्य रूप से सत्य नहीं होता। उसमें कल्पना के लिए बहुत स्थान रहता है। इसीलिये कभी कभी वह पूर्ण रूप से कल्पित मान्य होनी है अथवा ही उसका चयन यथार्थ जीवन से किया गया हो।

भरतू बहुतों से यह निर्देश करता है कि कवि चूँकि अपने काव्य के लिए कथानक और उसे निमित्त करने वाले घटना ज्ञान का चयन जीवन से करता हुआ भी उसे सम्मानजनक आचरण में प्रस्तुत करता है इसलिए वह उसके माध्यम से जिन सत्य का निरूपण करता है वह सम्भाव्य सत्य होता है, व्यावहारिक सत्य से उसका कोई सम्बन्ध सम्भव अपना आधार होना आवश्यक नहीं होता इसलिए वह किसी भी स्थिति में नहीं कहा जा सकता कि कवि दास प्रस्तुत किया गया जीवन और उसका प्रतिनिधित्व करने वाले पात्र काल्पनिक नहीं होते, और कवि को मूढ़ भी नहीं कहा जा सकता।

१ "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey p. 59

२ "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत" श्री सीताधर गुप्त, पृ० १७६।

इसीलिये अरस्तू ने यह कहा था कि काव्य का सत्य इतिहास के सत्य में अधिक पन्नीर होता है क्योंकि मूलतः यह कवि द्वारा पवित्र और अनुभूत मर्मार्थ जीवन से गृहीत होता है। परन्तु अरस्तू का यह विचार था कि यदि काव्य में प्रस्तुत किया गया यह जीवन दीप्तमय गंभीरता लिये छुटे हो तो वह अधिक आकर्षक हो सकता है। इसीलिये उसने यह निर्देश कवियों के लिये किया है कि "तुम्हें अपने भाषाओं को पारदेसिक (फैरिन) रूप देना चाहिये क्योंकि घीसी के सम्बन्ध में मनुष्य ऐसे ही प्रभावित होते हैं जैसे कि दूसरे देश के नागरिकों से प्रभावित होते हैं।"^१

काव्य के उच्च स्तरीय प्रश्नों के हल के लिये अरस्तू ने एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आशय दिया। उसने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य भी चित्र कला की भाँति एक कला ही है, क्योंकि उसमें अनुकूलि का गुण विद्यमान है। अपने इस कथन की व्याख्या और पुष्टि अरस्तू ने कई प्रकार से की है। जैसे वह कहता है कि चित्र कला के माध्यम से चित्रकार जीवन की प्रायः तीन दृष्टियों से प्रस्तुत करता है। एक तो जैसा वह देखता है उसी रूप में दूसरे, उसने अज्ञेय रूप में और तीसरे, उससे बराबर रूप में। ठीक इसी प्रकार से एक कवि भी जीवन के चित्रण में इन्हीं तीन दृष्टियों का आशय लेता है। इन प्रकार से अरस्तू का यह विचार है कि काव्य भी प्रकृति का एक अनुकरण है, एक ऐसा अनुकरण जिसका माध्यम भाषा है।

अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त —

इस प्रकार से अनुकरण को अरस्तू ने अनेक कलाओं की भाँति काव्य कला का भी मूल सोच माना है। इसलिये अरस्तू के काव्य सिद्धान्तों और काव्य विषयक दृष्टि कोष को समझने के लिये उसके अनुकरण के सिद्धान्त पर भी एक दृष्टि डालना आवश्यक है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि अरस्तू ने समस्त कलाओं का मूल तत्त्व तो अनुकरण को माना ही है चाय ही काव्य की तो सार्था ही वह अनुकरण को बताता है। परन्तु उसके परवर्ती पाश्चात्य समीक्षकों ने उसके इस सिद्धान्त का अर्थ और व्याख्या विभिन्न प्रकार से की है।^२

१ "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत" श्री जीतावर पुस्त, पृ० २३१।

२ विरोध विवरण के लिये देखिये :—

1. Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art' Bouchere, p. 113

2. "Aristotle on the Theory of Poetry" Murray p. 18.

3. "The Making of Literature" Scott James, p. 58.

एतिहासिक दृष्टिकोण से अरस्तू ने पूर्व प्लेटो ने अनुकरणात्मकता की प्रकृति पर बहुत विचार से विचार किया था और काव्य को इसी कारण हेतु तथा अनुपयोगी बताया था क्योंकि इसमें भीतिभ्रम अमृत होती है। अरस्तू ने काव्य सहित समस्त कलाओं का मूल तत्त्व अनुकरण की ही मानते हुये कला के दो भेद किये हैं। प्रथम भेद के मन्वयन उसने मूर्त कलाओं को रखा है और द्वितीय के अन्तर्गत काव्य कला और उससे विविध रूपों का। अरस्तू के कला के वर्गीकरण विषयक उपर्युक्त दृष्टिकोण के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उसने काव्य नाटक तथा संगीत की अनुकरण के विविध प्रकार ध्यान कर यह बताया है कि इनमें मुख्यतः विषयगत और अभिव्यक्तिगत पारस्परिक मिश्रण ही विद्यमान है।

इस प्रकार से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि अरस्तू के पूर्व प्लेटो आदि विचारकों ने भी अनुकरणात्मकता पर अपने विचार प्रकट किये थे और अरस्तू के पूर्व इस पक्ष का प्रयोग उनके द्वारा किया जा चुका था परन्तु अरस्तू ने ही इस सिद्धान्त की सर्व प्रथम विस्तृत और सम्यक् व्याख्या की। इसके अनिश्चित इस क्षेत्र में उसकी यह भी विशेषता रही है कि उसने इस क्षेत्र का एक नया अर्थ दिया क्योंकि उसी में इसका मौलिक बिबेचन प्रस्तुत किया। उसने यह निर्दिष्ट किया कि काव्य अपार्ष का अथवा मौलिकता का अनुकरण मात्र नहीं है।

इस प्रकार से उसने अनुकरणात्मकता की प्रकृति के विषय में अपने पूर्ववर्ती विचारक प्लेटो से मत विपर्यय प्रकट किया और बहुत वैज्ञानिक रीति में तर्क प्रस्तुत करते हुये अपने मत का महान किया। उसने काव्य की वर्णन तथा इतिहास आदि से युक्तता करते हुये यह प्रतिपादित किया कि वही तर्क दार्शनिकता का सम्बन्ध है वह इतिहास की अपेक्षा काव्य में अधिक होती है तथा काव्य में वर्णन की अपेक्षा कुछ विविध तत्त्व विद्यमान रहते हैं। यद्यपि एक कवि और दार्शनिक की प्रेरणा समान होती है और काव्य तथा वर्णन दोनों ही राय का निरूपण समान रूप से करते हैं।^१

१ विवेक विवरण के लिये हेतु—

1. "Western Political Thought" Bowle.
2. "A History of Political Philosophy", Cook.

काव्य का उद्देश्य और स्वरूप —

अरस्तू के मतानुसार काव्य का ध्येय उपदेशात्मकता तथा आनन्दानुभूति है। उसने काव्य के इन दोनों उद्देश्यों को यद्यपि पृथक्-पृथक् ही स्वीकृत किया है परन्तु इसके साथ ही उसने यह भी स्पष्टता निर्देश किया है कि इन दोनों में तत्पगत एक-त्मकता होते हुये भी इनमें से द्वितीय को विधिष्ठ माना जा सकता है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उपदेशात्मकता से अरस्तू का आशय नैतिक आदेश से है। उसने बताया है कि काव्य चूँकि सत्य का निरूपण करता है और उससे यह अपेक्षा भी की जाती है, इसलिये उसकी आवश्यकता का कारण भी यही है।

काव्य विषयक प्राचीन ग्रन्थ संसार की अनेक भाषाओं में मिलते हैं। यूनानी साहित्य की परम्परा में भी इस विषय पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। परन्तु पाश्चात्य भाषाओं में इस विषय पर लिखा गया प्राचीनतम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ अरस्तू का “पोयटिक्स” ही है। इसमें अरस्तू ने काव्य क्या काव्योंमें तथा काव्य क्यों आदि का शास्त्रीय विवेचन किया है। इसके प्रथम खण्ड में नाटक और महाकाव्य तथा द्वितीय खण्ड में प्रहसन आदि की व्याख्या है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि संसार में ‘पोयटिक्स’ ग्रन्थ का प्रयोग भी अरस्तू के इस ग्रन्थ की रचना के साथ ही आरम्भ हुआ था।

‘पोयटिक्स’ के अतिरिक्त अरस्तू लिखित ‘रिटोरिक’ नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी है, जो असंकार शास्त्र पर एक स्वतंत्र रचना है। इसमें से ‘पोयटिक्स’ में अरस्तू ने जिन विषयों की विवेचना की है उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध काव्य की परिभाषा और स्वरूप से है, यद्यपि अरस्तू ने कहीं भी स्पष्ट रूप से काव्य की कोई परिभाषा नहीं की उसकी व्याख्या ही की है। ‘रिटोरिक’ में प्रस्तुत किये गये अरस्तू के विचारों का सम्बन्ध गद्य और उसके स्वरूप से है। अरस्तू ने अपने इन ग्रन्थों की रचना ई० पू० चौथी शताब्दी में की थी इसलिये उसे संसार का सर्वप्रथम काव्य शास्त्री कहा जाता है। उसने इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन करते हुये इस शास्त्र का सम्पूर्णता से विश्लेषण किया और काव्य शास्त्र के उन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की जिनका प्रभाव सभी पाश्चात्य साहित्य चिन्तकों पर पड़ा।

इस दृष्टि से भी अरस्तू का स्थान अपने विषय के प्रवर्तक भाषाओं में है। अरस्तू पर अपने पुर प्लेटो का भी काफी प्रभाव था यद्यपि प्लेटो के अनेक मतभेदों का उसने

मुद्रापूर्वक बंदन किया है। परन्तु कहीं कहीं भरतू के विचार उन्हीं नियमों से सम्बन्ध रखने वाले व्येटी के विचारों के पूरक माने जाते हैं और ऐसा लगता है कि भरतू का उद्देश्य व्येटी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की ही विवेचना करना था। कुल मिलाकर, इन दोनों विचारकों का व्यक्तित्व अत्यन्त विमर्शपूर्ण था।^१

काव्य के भेद—

भरतू ने काव्य का वर्गीकरण करते हुये उसके तीन भेद किये हैं, दुष्कान्तक नाटक, मुलान्तक नाटक तथा महाकाव्य। भरतू ने इन विविध काव्य भेदों की पारस्परिक निम्नता भी स्पष्ट की है। उदाहरण के लिये उद्यम बताया है। निम्न शब्द के अन्वय ही नाटक तथा महाकाव्य में वैभिन्न्य होता है। यों महाकाव्य एक विशिष्ट समाज के लिये अर्थ रखता है जो मुनसूत है और इस दृष्टि से उस अभिनीत करने की आवश्यकता है। परन्तु नाटक निम्न कोष्ठ के समाज के लिये भी हो सकता है। इसी कारण उद्यम महाकाव्य वा स्थान नाटक की अपेक्षा उच्चतर प्रतिपादित किया है।

दुष्कान्तक नाटक—

यूनानी विचारकों में सर्वप्रथम भरतू ने ही दुष्कान्तक नाटक के स्वरूप का शास्त्रीय विवेचन किया है। उसके विचार से दुष्कान्तक नाटक “किसी गम्भीर, महत्वपूर्ण तथा विद्यालय कार्य का रंगस्थल पर अनुकरण है जो माया के माध्यम से शौन्दर्ययुक्त तथा आनन्ददायी बन कर भय और क्रोध द्वारा हमारी मानवी भावनाओं की प्रति का परिमार्जन करता है। सम्पूर्ण कार्य से तात्पर्य एत कार्य से है जिसका आदि, मध्य और अन्त पूर्व रूप से सुगठित रहे और जिसका कार्य से तात्पर्य ऐम हीना से है जो न तो बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा।”

रचय भरतू के शब्दों में दुष्कान्तक नाटक या “नासरी बिनी गम्भीर, स्वतः पूर्ण तथा निरिच्छत आयात स युक्त कार्य की अनुवृत्ति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के

१ विविध विवरण के लिये देखिये—

1. “Plato and Aristotle” Barker and
2. “Political Philosophies”, Maxey
- ३ “नाटक की रचना”, डॉ॰ एन॰ पी॰ खन्ना पृ॰ २५।

मित्र मित्र रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भापा होती है जो समाक्यान रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिसमें कदना तथा भास के उल्लेख द्वारा इन मनोविचारों का उचित विवेचन किया जाता है। "अलंकृत भापा" से मेरा अभिप्राय ऐसी भापा से है जिसमें तथ्य, सामंजस्य और गीत का समावेश हो जाता है। विभिन्न "आभरण नाटक के अलग अलग भागों में" (पाये जाते हैं) इस उक्ति से मेरा तात्पर्य यह है कि कुछ भागों में केवल पद्य के माध्यम का प्रयोग किया जाता है और कुछ में गीत का भी समावेश रहता है।^१

दुस्साप्तक नाटक के तत्त्व —

अस्तु के विचार से दुस्साप्तक नाटक के ६ तत्त्व होते हैं (१) कथानक (२) चरित्र चित्रण (३) पद्य रचना, (४) विचार तत्त्व (५) दृश्य विधान तथा (६) गीत।^२ इनमें से प्रथम तत्त्व अर्थात् कथानक को उसने दुस्साप्तक नाटक की आत्मा माना है।^३ क्योंकि इसी की चरम मुख्यता रहती है। कथानक के उसने तीन प्रकार बताये हैं (१) रक्तकथा मूलक (२) क्रन्दना मूलक, तथा (३) इतिहास मूलक। इससे स्पष्ट है कि यह दुस्साप्तक नाटक के कथानक की रचना के तीन घुस झोत बताता है और कथानक से उसका आशय इन्हीं आधार शेषों से निश्चित उस वस्तु से होता है, जो दर्शकों पर प्रकट होती है। इसी प्रकार से चरित्र चित्रण के विषय में अस्तु ने बताया है कि पात्रों में चार गुण होने चाहिये (१) ओष्ठला (२) भावा प्रयोग की स्वाभाविकता, (३) साधारण मानवता तथा (४) समक्ष्यता।^४

दुस्साप्तक नाटक की रचना के विषय में अस्तु ने बताया है कि उसमें आवि मध्य और अन्त होने चाहिये। इन तीनों के विषय में उसने स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि आवि यह होता है जिसके पूर्व कुछ न हो, परन्तु जिसके पश्चात् कुछ हो

१ "पादपात्य काव्यशास्त्र की परम्परा," सं० डॉ० सावित्री सिन्हा, पृ० २९।

२ "अस्तु का काव्यशास्त्र," अनु० डॉ० मनेन्द्र तथा श्री महेन्द्र अनुमोदी पृ० २०।

३ वही पृ० १९।

४ वही, पृ० ३८-३९।

५ "नाटक की परम्परा," डॉ० एस० पी० ज्ञानी, पृ० २५।

तथा मरुत बह होता है जिसके पूर्व तो कुछ हो, परन्तु जिसके पश्चात् कुछ न हो ।^१ उसके विचार से दुस्मान्तर नाटक के स्वाधी भाव शोक और भय ही हैं प्रसंगा नहीं ।^२ उसने दुस्मान्तर नाटक की "परीक्षा भावोत्तेजना के आधार पर की । उसका यह निर्णय या कि कदम (दुस्मान्तर नाटक) शोक और भय इन दोनों स्वाधी भावों को उत्तेजित करके इनका शोध करता है और इस शोध से प्राप्त हुआ आनन्द ही कदम का निश्चित रस है ।"^३

इससे भी स्पष्ट है कि वह इन दोनों रसों की बहुत महत्त्व देता है । इसीलिये यह कहा जाता है कि अरस्तु ने "अपनी पोइटिक्स" में शोक और भय को ही भावों का उत्तेजक किया है । अरस्तु ने दुस्मान्तर नाटक को महाकाव्य में अधिक घेष्ट बताया है, "क्योंकि वह संगीत और अभिनय के अवयवों के कारण ज्यादा बेसीवा है, क्योंकि वह रसमंच पर खेले जाने के कारण ज्यादा स्पष्ट होता है और उसके पढ़ने में भी स्पष्टता भी अधिक अनुभूति होती है, क्योंकि कदम में महाकाव्य के देखते हुये अधिक ऐक्य होता है ।"^४

दुस्मान्तर नाटक :—

अरस्तु के विचार से दुस्मान्तर नाटक या "कामरी वा लज्ज होता है यमार्थ जीवन की अपेक्षा मान का हीन तर चित्रण और आसपी का लज्ज होता है भव्यतर चित्रण ।"^५ इसलिये उसके विचार से दुस्मान्तर नाटक समाज के ह्येय व्यक्तियों के जीवन का अनुकरण प्रस्तुत करता है । उसने दुस्मान्तर नाटक का मूल भाव हास्य बताया है, हर्ष नहीं । इसका कारण यह है कि इसका विषय ही ह्येय जीवन का चित्रण करना होता है । और उसके पात्र भी हमी बर्ग से बने जाते हैं । अरस्तु कि छन्दों में "कामरी" (वा प्रहसन) में निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है । यहाँ "निम्न" शब्द का अर्थ विस्तृत

१ "पाश्चात्य साहित्याभिव्यक्ति के सिद्धांत", श्री भीमापर गुप्त पृ० १०१ ।

२ वही पृ० १९० ।

३ वही पृ० ७१ ।

४ वही, पृ० ७२ ।

५ वही, पृ० १७४ ।

६ "अरस्तु का काव्य शास्त्र", डॉ० जोगेंद्र तथा श्री जोगेंद्र अनुबेदी, पृ० ११ ।

बही नहीं है जो "बुद्ध" का होता है क्योंकि अभिहित तो "कुरुप" का एक उपमाय भाग है उसमें कुछ ऐसा रीप या महापन रहता है जो क्लेश या अमंगलकारी नहीं होता। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये—प्रहसन में प्रयुक्त छद्ममुख विरूप और महा ठो डोठा है पर क्लेश का कारण नहीं।^१

इस प्रकार से भरतू ने यह स्पष्ट रूप से निर्देशित किया है कि सुखान्तक नाटक में हास्य वा व्यंग्य तो समाविष्ट होना ही चाहिये परन्तु इसका आधार कोई क्लेशजनक उपकरण नहीं होना चाहिये। वह कहता है सुखान्तक नाटक में मनुष्य की उन दुर्बलताओं और सीमाओं का चित्रण होना चाहिये जो पूर्णतयापूर्ण हों और चित्रण प्रत्यक्ष प्रदर्शन से दर्शकों के मन में हास्य की उद्भावना हो। किसी भी प्रकार से किसी को पीड़ा पहुँचाना सुखान्तक नाटक का उद्देश्य नहीं होना चाहिये।

सुखान्तक एवं सुखान्तक की तुलना —

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण करते हुये भरतू ने सुखान्तक तथा सुखान्तक नाटकों के विषय में लिखा है— "आठवीं को किन अधिक परिवर्तना से अनुकरण पड़ा और उनके प्रकर्षक कौन हैं यह विज्ञात है पर कामरी का कोई इतिहास नहीं है क्योंकि भारत में किसी ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया। बाद में अरबी ने किसी कवि को हास्य भय सहमान की अनुज्ञा दे दी थी। तब तक अभिनेता स्वेच्छा से उसका निष्पादन करते थे। अब से कामरी कवियों का इस विशिष्ट नाम से उत्प्रेक्ष्य भिन्नता है उससे बहुत पहले ही कामरी का एक निश्चित स्वरूप बन चुका था। उसमें छद्ममुख या प्रस्तावना का समावेश किसने किया या पात्रों की संख्या किसने बढ़ा दी यह या इस प्रकार का अन्य विवरण अज्ञात है। वहाँ तक कथानक का सम्बन्ध है वह मूलतः चिचिली से आया था किन्तु एबेंस के लेखकों में सबसे पहले क्लेश ने ही हिमाचिक या अचपीति रूप को त्याग कर अपने विषय और कथानक का आधारभूतकरण किया।"^२

महाकाव्य :—

महाकाव्य के विषय में भरतू ने लिखा है— "वहाँ तक ऐसी काव्यानुकृति का प्रथम है जिसका रूप समाख्यानान्तात्मक हो और जिसमें एक ध्वन्य का प्रयोग किया गया हो

१ "भरतू का काव्यान्तर", डॉ० नगेन्द्र तथा श्री महेश्वर कपुर्वेदी, पृ० १७-१८।

२ वही पृ० १७।

यह स्पष्ट है कि उसके कथानक का निर्माण जायगी की तरह माध्यम सिद्धांतों के अनुसार ही होना चाहिये। उसका आधार भाषा मध्य अवसामयुक्त एक समय एवं पूर्ण कार्य होना चाहिये इस तरह अपनी अस्थिति में यह काव्य रूप एक जीवन्त प्राणी का प्रतीक होगा और अपना विविध आनन्द प्रदान करेगा। संयुक्त में वह ऐतिहासिक रचनाओं से भिन्न होगा क्योंकि वह एक काम को नहीं करेगा एक काम सड़ को और उस बात सड़ में एक या अनेक व्यक्तियों से सम्मिश्रित सभी चटनाओं को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है चाहे वे जन्मार्थ परस्पर असम्बन्ध ही क्यों न हों।^१

महाकाव्य के प्रकार —

इस प्रकार से महाकाव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुये भरतु ने उसकी व्याख्या की है। उसने बताया है कि यह कई अर्थों में दुस्मान्तक नाटक से साम्य रखता है। उसने इसका विषय क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तारयुक्त स्वीकार किया है। उसने लिखा है कि दुस्मान्तक नाटक की तरह महाकाव्य के भी उतने ही प्रकार हैं अर्थात् सरल, बटित नैतिक और कदम। 'गोड एवं बुद्ध विमान के अतिरिक्त दोनों के अर्थ भी समान ही हैं क्योंकि इसमें भी स्थिति विपर्यय अनिज्ज्ञान एवं याचना के बुद्ध आचरण होते हैं। साथ ही विचार उत्पन्न एवं पदावली भी कमालमक होनी चाहिये।'^२

महाकाव्य के मूल तत्व :—

भरतु के विचार से दुस्मान्तक नाटक तथा महाकाव्य में पर्याप्त साम्य होते हुये भी कई विषयों में असाम्य है। उदाहरण के लिये इन दोनों में कथा के आकार और छन्द का अन्तर है। परन्तु महाकाव्य में एतद्वत एकारमकता होनी आवश्यक है। उसने महाकाव्य के चार मूल तत्व माने हैं जो कथानक पात्र विचार और भाषा हैं। महाकाव्य का विषय और क्षेत्र विस्तार का सम्बन्ध में उसने लिखा है 'महाकाव्य में एक बड़ी विविध घटना हाजी है अपनी सीमाओं का विस्तार करने की और इसके कारण भी समय में जाता है। नाटकी में हम एक ही समय में प्रभावित कार्य की अनेक बातों का अनुकरण नहीं कर सकते हमें मंच पर निष्पादित कार्य और अभिनेताओं के कार्य

१ 'भरतु का काव्य पाठ्य', डा० जयगुप्त तथा श्री महेश्वर चतुर्वेदी पृ० ६१।

२ वही पृ० ६२, ६३।

कसाप तक ही अपने को सीमित रखना पड़ता है, किन्तु महाकाव्य में, उसके समाख्या नात्मक रूप के कारण, एक ही समय में घटित होने वाली घटनायें प्रस्तुत की जा सकती हैं और यदि वे विषय संगत हों तो इनसे काव्य को जनता और गरिमा प्राप्त होती है। महाकाव्य को यह बड़ा लाभ है जिससे उसकी प्रभाव गरिमा की वृद्धि होती है, श्रोता का मनोरंजन इष्टा है और विविध उपाख्यानों के द्वारा कथा की एकरसता दूर होती है। घटनायें यदि एकरस हों तो सामाजिक बड़ी जल्दी ऊब जाता है और रंगमंच पर नाचही विफल हो जाती है।^१

भाषण कला :—

भाषण कला पर भी भरतृ के विचार बहुत मौलिक और विस्लेषण पूर्ण हैं यद्यपि इसके पूर्व भी इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका था। उसके पूर्ववर्ती विचारकों में प्लेटो तथा आइसॉक्रेटीज ने इस विषय पर अपने विचार स्पष्टता और विस्तार से प्रस्तुत किये थे। प्लेटो ने तो भाषण शास्त्र का इसविधे विरोध किया था क्योंकि वह समझता था कि यह श्रोताओं को झुलाने का साधन मात्र है जिसमें बक्ताशब्द बाल से आवृत कर किसी सत्य को श्रोताओं के सामने इस प्रकार से प्रस्तुत करता है, जिससे उन्हें उसका किंचित भी आभास न मिल सके और झुलाने में जा जावें। आइसॉक्रेटीज ने अवश्य इसका महत्व समझा था और विस्लेषण भी किया था। परन्तु भरतृ का भाषण शास्त्रीय विवेचन उसकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण और पुष्ट है।

परिभाषा और विवेचन —

भाषण कला की परिभाषा के विषय में भरतृ ने लिखा है—“भाषण कला की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि वह अवस्था विरोध में प्रत्यय के उपसङ्ग साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति है। यह कार्य किसी अन्य कला का नहीं। कोई भी अन्य कला केवल अपनी विशिष्ट विषय वस्तु के सम्बन्ध में शिक्षा दे सकती है या प्रत्यय उत्पन्न कर सकती है। उदाहरणार्थ चित्रशा शास्त्र इस सम्बन्ध में कि स्वस्थ और अवस्थ क्या है, क्यामिति सामानों के गुणों के सम्बन्ध में, वनित वंशों के सम्बन्ध में। वही बात अन्य कलाओं और विद्याओं के बारे में सत्य है। परन्तु भाषण कला हम अपने सामने प्रस्तुत किसी विषय में प्रत्यय के साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति को मानती है। इसीलिने हम

यह कह सकते हैं कि अपने प्राथमिक स्वकार में, यह विषयों के किसी विशेष या निश्चित रूप से सम्बन्ध नहीं है।^१

वरन्तु ने इस प्रकार से भाषण कला की परिभाषा बताते हुये यह प्रतिपादन किया है कि भाषण कला तर्क कला की अनुपूरक है। उसने इसका विविध अर्थों विषय वस्तु ऐसी भाषा अलंकार, प्रयोग, तथा उसके युक्तों की ओर संकेत करते हुये उनका विस्तार से विवेचन किया। उसने यह भी बताया कि भाषण कला का विशेष रूप ने व्यापक महत्व है क्योंकि इसका सम्बन्ध प्रायः जन साधारण से होता है और सभी व्यक्ति इसका बोझा बहुत प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार से तर्क कला भी है। इन दोनों में एक प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध है। भाषण करते समय तर्क की आवश्यकता होती है और तर्क करते समय तर्ककर्ता को अच्छा बोलना भी होता चाहिए।

इसलिये भाषण कला के ज्ञान की आवश्यकता सभी को होती है और सभी के द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। वरन्तु प्रत्येक के द्वारा इसका प्रयोग सुचारु रूप में नहीं हो पाता। क्योंकि या तो वे इसका प्रयोग अनापास ही करते-नियते हैं और या स्वाभाविक अभ्यास के कारण। उनके लिये यही दो उपाय सम्भाव्य भी होते हैं। इसीलिए उसने भाषण कला को पर्यवेक्षण की शक्ति माना है।

वरन्तु की रीति और महत्व २—

वरन्तु के विचारों पर समग्रता से एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि उसने भी जेम्स की ही शक्ति काव्य के विविध रूपों की आदर्शपरकता की सम्भावना पर विशेष रूप से चिन्तन किया। पूर्ववर्ती साहित्य चूँकि उसे अन्तर्प्रेरणा तथा अपनी भाव्यताओं के अनुसार स्वीय प्रतीत न हुआ था जगत् उसने कभी भी किसी पूर्ववर्ती इति वा इतिहास पर पूरा तौर से विचार विमर्श नहीं किया। व्यावहारिक समीक्षा के नाम पर भी उसने किसी मूलानी शास्त्रीय रीति या काव्य की समग्रता से आलोचना नहीं की और इस प्रकार से उसने समीक्षा के मूल प्रयोग की भी उपेक्षा की। काव्य के आध्य रूपों

१ 'आधुनिक काव्य शास्त्र की परम्परा' सं० डॉ० (बीजती) काकिनी लिखत, पृ० ४३।

कमाप तक ही अपने को सीमित रखना पड़ता है, किन्तु महाकाव्य में, उसके समाख्या नात्मक रूप के कारण एक ही समय में चटित होने वाली चट्टानों प्रस्तुत की जा सकती हैं और यदि ये विषय संगत हों तो इनसे काव्य को जनक और परिणाम प्राप्त होती है। महाकाव्य को यह बड़ा लाभ है जिससे उसकी प्रभाव गरिमा की वृद्धि होती है ओता का मार्गोन्मूलन होता है और विविध उपाध्यायों के द्वारा कथा की एकरसता दूर होती है। चट्टानों यदि एकरस हों तो सामाजिक बड़ी कबरी ऊब जाता है और रंगमंच पर भावही निरुत्पन्न हो जाती है।^१

मापक कला :—

मापक कला पर भी अरस्तु के विचार बहुत मौलिक और विस्तेषण पूर्ण हैं यद्यपि उसके पूर्व भी इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका था। उसके पूर्ववर्ती विचारकों ने प्लेटो तथा आइसॉक्रेटीज ने इस विषय पर अपने विचार स्पष्टता और विस्तार से प्रस्तुत किये थे। प्लेटो ने तो मापक शास्त्र का इसलिये विरोध किया था क्योंकि वह समझता था कि यह ओताओं को झुठलाने का साधन मात्र है, जिसमें वक्त्यालय कास से आवृत्त कर किसी धर्म को ओताओं के सामने इस प्रकार से प्रस्तुत करता है, जिससे उन्हें उसका किञ्चित भी आभास न मिल सके और धुलाने में जा पायें। आइसॉक्रेटीज ने अवरय इसका महत्व समझा था और विस्तेषण भी किया था। परन्तु अरस्तु का मापक शास्त्रीय विवेचन उसकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण और पुष्ट है।

परिभाषा और विवेचन —

मापक कला की परिभाषा के विषय में अरस्तु ने लिखा है—“मापक कला की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि वह व्यवस्था विधेय में प्रत्यय के उपलब्ध साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति है। यह कार्य किसी अन्य कला का नहीं। कोई भी अन्य कला केवल अपनी विविध विषय वस्तु के सम्बन्ध में धिक्का दे सकती है वा प्रत्यय उत्पन्न कर सकती है, उदाहरणार्थ चिकित्सा शास्त्र इस सम्बन्ध में कि स्वस्थ और अस्वस्थ क्या है न्यायमिति व्यापारों के गुणों के सम्बन्ध में, गणित ज्ञानों के सम्बन्ध में। यही बात अन्य कलाओं और विद्याओं के बारे में सत्य है। परन्तु मापक कला हम अपने सामने प्रस्तुत किसी विषय में प्रत्यय के साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति को मानती है। इसीलिये हम

यह कह सकते हैं कि अपने प्राथमिक स्वरूप में, यह विषयों के किसी विशेष या निरिच्छा रूप से सम्बन्ध नहीं।^१

अरस्तू ने इस प्रकार से भाषण कला की परिभाषा बताते हुये यह प्रतिपादन किया है कि भाषण कला तर्क कला की अनुपूरक है। उसने इसने विविध बर्णों विषय वस्तु ऐसी भाषा अलंकार, प्रयोग, तथा उसके गुणों की ओर संकेत करते हुये उनका विस्तार से विवेचन किया। उसने यह भी बताया कि भाषण कला का विशेष रूप में व्यापक महत्व है क्योंकि इसका सम्बन्ध प्रायः जन साधारण से होता है और सभी व्यक्ति इसका पोड़ा बहुत प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार से तर्क कला भी है। इन दोनों में एक प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध है। भाषण करते समय तर्क की आवश्यकता होती है और तर्क करते समय तर्ककर्ता को अच्छा वक्ता भी होना चाहिए।

इसलिये भाषण कला के ज्ञान की आवश्यकता सभी की होती है और सभी के द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है। परन्तु प्रत्येक के द्वारा इसका प्रयोग सुचारु रूप में नहीं हो पाता। क्योंकि या तो वे इसका प्रयोग अनायास ही करने लगते हैं और या स्वामादिक अभ्यास के कारण। उनके लिये यही दो उपाय सम्भाव्य भी होते हैं। इसीलिए उसने भाषण कला को पूर्ववैशेष की धृति माना है।

अरस्तू की दैन और महत्त्व :-

अरस्तू के विचारों पर समझता स एव दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि उसने भी प्लेटो की ही धृति काव्य के विविध रूपों की आवश्यकता की सम्भावना पर विशेष रूप से विचार किया। पूर्ववर्ती साहित्य क्षुब्ध उसे सम्बोधनक तथा अपनी भाष्यताओं के अनुसार स्तरीय प्रतीत न होता था अतः उसने कभी भी किसी पूर्ववर्ती दृष्टि या दृष्टिकार पर पूर्णता से विचार विमर्श नहीं किया। व्यावहारिक समीक्षा के नाम पर भी उसने किसी धुनानी शास्त्रीय कवि या काव्य की समझता से आलोचना नहीं की और हम प्रकार से उसने सभीका के मूल प्रयोजन की भी उल्लेख की। काव्य है वास्तव रूपों

उनके प्रकारों विविध अंगों तथा रचना के विषय में विचार करते समय उसने मनुष्य जागृकता का परिचय दिया है।

अनेक विषयों में अरस्तू के मन्तव्य बहुत महत्व के हैं। उसने ठीक साक्ष्य का विवेक के विज्ञान का रूप प्रदान किया। वह नीति शास्त्र के दैनिक जीवन में अनुमन पर बहुत अधिक बल देता है। यद्यपि उसने प्लेटो का सिद्धान्त ग्रहण किया था परन्तु वह उसकी भाँति साहित्य, काव्य अथवा नाटक का विरोधी नहीं था, बल्कि इसके विपरीत उसने इन्हें एक प्रकार की भाव की भाषा ही देखा, क्योंकि वह इसके व्यापक महत्व से परिचित था। उसने काव्य शास्त्र पर अपने महान् ग्रन्थ 'पोएटिक्स' की रचना की, जो अपने विषय और प्रकार का संसार का सर्वप्रथम मौलिक ग्रन्थ है। उसने काव्य में दार्शनिक तर्कों के महत्व का भी स्वीकार किया है।

अरस्तू ने "मराम फिलासफी" नाम की एक अन्य स्तुत्य रचना भी लिखी है जिसमें नीति दर्शन का पांडित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। उसने बताया है कि मों ठो काव्य और इतिहास दोनों में ही दार्शनिक तर्कों का समावेश होता है परन्तु दार्शनिक काव्य अविच्छिन्न मर्यादित स्वीकार किया जा सकता है। अरस्तू का यह निश्चित विचार था कि काव्य का प्रयोजन प्रकृति का अनुकरण करना और इस प्रकार से मनुष्य को आनन्द प्रदान करना है। इसी प्रकार से वह बुद्धान्तक के विषय में यह कहता है कि उसे किसी गम्भीर जीवन चित्र से सम्बन्ध कार्य का अनुकरण करना चाहिये। उसमें उदात्तता का गुण भी अनिवार्य रूप से समाविष्ट होना चाहिये। काव्य तथा नाटक, दोनों में ही अरस्तू ने प्राकृतिक भाषा के प्रयोग को ही अनिवार्यपूर्ण ठहराया है।

अरस्तू ने नाटक को काव्य का एक प्रमुख रूप माना है। उसने नाटक के बुद्धान्तक और बुद्धान्तक दो भेद किये हैं। बुद्धान्तक का उसने महत्व अधिक बताया है और उसके विषय में यह कहा है कि यह कार्य की अनुकूलि है जो कार्य व्यापार के रूप में होती है तथा जो करना यात्रि अनुसूतियों का विवेचन करती है। उसने बुद्धान्तक नाटक के छः भेद माने हैं जो कथानक प्राग्, पश्च रचना विचार, दृश्य योजना तथा पीठ है। इन सबका उसने पृथक् पृथक् विस्तरेण किया है। इसी प्रकार से उसने बुद्धान्तक नाटक की आवश्यकता तथा महत्व का विवेचन करते हुये यह स्पष्ट निर्देश किया है कि उसका सर्वोत्तम हास्य की अवतारणा होना चाहिये किसी के भावों को क्रोध पहुँचाना किसी भी स्थिति में नहीं।

भाष्य साक्ष्य पर विचार करते हुए अरस्तू ने बताया है कि इसका उद्देश्य श्रोताओं को कला के मत से प्रभावित करना है। श्रेष्ठ शैली के विषय में विचार करते हुये उसने दो विशेष गुणों का निर्देश किया है। ये गुण स्पष्टता और जीवित्व हैं। उसने यह प्रतिपादित करते हुये कहा कि शैक्षात्मिक दृष्टि से बोलने का उद्देश्य यही होता है कि श्रोतने वाले के मतलब को सुनने वाले साफ-साफ समझ लें और यह ठीकी होगा जब वह अस्पष्ट और गोपित्यपूर्ण न हो। स्पष्टता से शब्दों और वाक्यांशों का सम्बन्ध है। अतः इनकी ओर से भाष्यकर्ता को विशेष रूप से सचेष्ट रहना चाहिये। यों इस उद्देश्य के लिये शब्दचाल की भाषा अच्छी रहेगी परन्तु विषयानुसार उपयुक्त शब्दों और बलकारों के प्रयोग की छूट हो सकती है। संक्षेप में गद्य की शैली का अरस्तू ने दो वर्गों में विभाजन किया है। एक अक्रिय शैली और दूसरी सुस्त्रि शैली। इनमें से प्रथम में वाक्य अल्प्य शाय सम्बद्ध होते हैं और द्वितीय में स्वयं में पूर्णता मिले हुये।

परवर्ती साहित्य समीक्षकों ने वही एक ओर अरस्तू के महत्त्व को स्वीकार किया है, वही उन्होंने यह भी अनुभव किया है कि अरस्तू के विचारों में कुछ दोष भी हैं। उदाहरण के लिये अनेक विषयों पर अरस्तू ने जो विचार अपने प्रकट किये हैं वे पूर्ण नहीं हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि अरस्तू ने समय जो भी क्रियात्मक साहित्य उसके सामने था उसका क्षेत्र सीमित था। अरस्तू ने यूनानी गुणनात्मक साहित्य के अपने परिचय के आधार पर ही अपने साहित्य विचारों का निर्धारण किया है। एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अरस्तू के शैक्षात्मिक विचारों में एक प्रकार की प्रतिक्रियात्मकता लक्षित होती है। उसके युग में बुद्धान्तक पाठकों से सम्बन्ध रखने वाले नियम अपेक्षाकृत विरल थे।

पूर्ववर्ती युगों में मिले गये अनेक महाकाव्य, युगान्तक नाटक, सुशान्तक नाटक तथा इतिहास इत्यादि अरस्तू के सामने थे। इनका स्वरूप अध्ययन करने के पश्चात् उसने इनके सम्बन्ध और कलात्मक स्वरूप की कुरोषा का स्पष्टीकरण किया। ऐसा करते समय उनमें इन पूर्व उचित शब्दों का अनेक स्थानों पर बिरोध भी किया। उनमें यह भी अनुमान किया कि उनके पूर्ववर्ती महाकवियों तथा नाटककारों ने कलात्मक तत्व की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था और उनकी दृष्टियों में इस तत्व का अभाव भी था। अरस्तू ने इस तत्व पर बहुत अधिक गौरव दिया। उसने इसे युगान्तक नाटक की आत्मा बताया और वाक्य में कलात्मकता के समानेयों की अभिवान बताया। एक सम्भावना यह हो सकती है कि यदि अरस्तू के सामने कलात्मक तत्व में सम्यक रूप से युक्त युद्ध बादर्प

कृतियाँ होती तो उसके इस विषय पर विचार ठीक वैसे न होते जैसे कि है तथा जो सरुता है कि इसके कारण उसके काव्य शास्त्र विषयक दृष्टिकोण में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ गया होता ।

अरस्तू ने व्यापक दृष्टिकोण से अनुकरण सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुये यह कहा कि महाकाव्य बुद्धान्तक नाटक सुब्बान्तक नाटक, नीति काव्य मुरली बारन तथा पीया बारन के सब अनुकरण की विविध प्रणालियाँ हैं । परन्तु इन सबमें पारस्परिक मिश्रता यह है कि इन सबकी शैलियाँ पृथक्-पृथक् रूप से स्वतंत्र हैं ।

उसके विचार से काव्य में नैतिकता का भी विधेय स्थान है । नीति पर उसने इसलिये भी बल दिया है क्योंकि वह यह समझता था कि खिल बही है, जो नीतिपरायण मनुष्यों के लिए छिपे हो । अरस्तू काव्य को नैतिकता के प्रचार का साधन मानता था । परन्तु यह कार्य अत्यन्त और अप्रत्यक्ष रूप में ही होता है । अपने समकालीन आलोचकों की इस प्रवृत्ति का उसने विरोध किया था जो अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन महा कवियों तथा नाटककारों की कृतियों में अनैतिक स्थलों को अलग निकाल कर उन पर अबाधित रूप से टीका टिप्पणी करते थे । अरस्तू ने बताया कि काव्य में अनैतिक स्थलों का समावेश भी उस स्थिति में मर्यादित कहा जा सकता है जब वे किसी उपयोगी सन्दर्भ में लिखे गये हों । सिद्धांततः वह महाकाव्य के लिए नैतिक वस्तु को ही अधिक उपयुक्त समझता था ।

इस प्रकार से अरस्तू के विविध विषयक विचारों के परिचय के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उसका दृष्टिकोण अपने पूर्ववर्ती सभी विचारकों की अपेक्षा अधिक सांस्थीय और वैज्ञानिक था । उसने जिस विषय पर जो कुछ भी कहा उसकी तर्क के द्वारा सैद्धांतिक रूप से तो पुष्टि की ही व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी उसका पूर्ण रूप से मंजूर किया और उसकी उपयोगिता सिद्ध की ।

आभारत अरस्तू के सामने प्लेटो जैसे महान् विचारक के विचार उपसन्न थे और उसके सिधे इतना ही अभीष्ट और पर्याप्त था कि वह उनकी समीक्षा कर दे । सामान्यतः अरस्तू ने यही किया भी है । उसने जो कुछ भी कहा है एक दृष्टिकोण से वह सब का सब प्लेटो के उन्हीं विषयों पर आधारित वक्तव्यों के सन्दर्भ में है । उसने प्लेटो के वक्तव्यों का परीक्षण किया उनसे अनेक स्थलों पर अपनी असहमति प्रकट की और इसके पश्चात् स्वयं अपना मत प्रकट करते हुए अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया । इससे वह

सिद्ध होता है कि अस्तु के विचार प्रत्येक क्षेत्र में व्यावहारिक है। यही तक कि प्लेटो के मार्गदर्शक विषयक विचारों और धारणाओं को भी अस्तु ने पुरित करके पूर्ण और व्यावहारिक रूप प्रदान किया।^१

अस्तु के इन विचारों और सिद्धान्तों ने पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में एक क्रांति ली सा दी। उसके पश्चात् जो भी पाश्चात्य विचारक हुये उन सब के लिए अस्तु के मन्त्रम्यों ने एक प्रबल प्रेरणा का कार्य किया। सुन्न रूप में उन्हें प्रत्येक विषय का निर्देशन अस्तु के साहित्य में मिला और उन पर कार्य करने के लिए एक निस्तुत क्षेत्र दिखाई दिया। यही कारण है कि आगे आने वाली सताव्वियों तक यूरोप के अनेक देशों में अस्तु के विचार अकादम्य और सर्वमान्य रूप में व्याप्त रहे और यह कल्पना भी किसी ने नहीं की कि किसी भी ऐसे क्षेत्र में कुछ और मौलिक या नवीन कह सकने की सम्भावना यह सदी है, जिसमें अस्तु कुछ कह चुका हो। यह उसके असाधारण महत्व का सबसे बड़ा प्रमाण है।

पियोफैस्टस

परिचय और हस्तियाँ —

पियोफैस्टस का समय तीसरी सताव्वी ई० पू० माना जाता है।^२ यह अस्तु के प्रधान चिन्त्यों में प्रमुख था। मुख्यतः यह दार्शनिक और साहित्य साधक था। उसके विषय में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है। मनुष्य की बिकसितताओं और उनके कारणों का विश्लेषण करने वाली उसकी रचनाएँ असाधारण महत्व की सिद्ध हुईं। अस्तु की मृत्यु के बाद यह उसके विचारों का मुख्य प्रतिपादक हुआ तथा उसी ने उसके विचारों का प्रतिनिधित्व किया। परन्तु युग में अंग्रेजी निबन्ध के विकास पर उसके विचारों का पर्याप्त प्रमाण दिखायी पड़ता है। उसकी सर्व प्रसिद्ध कृति "डी इण्डर प्रिंटेशन" है। इस कृति का विषयगत सम्बन्ध प्रायः साहित्य साहित्य से ही अधिक है। यहाँ तक व्यावहारिक समीक्षा का सम्बन्ध है यह उसमें किसी प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध नहीं है।

१. विरोध विवरण के लिए देखिये—*"Plato and Aristotle"* Barker

२. *"The Oxford Companion to English Literature"* Sir Paul Harvey p. 780.

उसने सीसी का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया है (१) असंस्कृत (२) सामान्य तथा (३) मध्यम । उसके विचारों का परिचय उसके समकालीन लेखकों की कृतियों तथा वक्तव्यों से ही अधिकतर उपलब्ध होता है । कुल मिलाकर, उसका सबसे बड़ा महत्व अपने मुँह के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करने में ही है तथा उनसे सम्बन्ध कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों का विस्लेषण करने में भी । उसे प्रचीन युग के चार महान् विचारकों में एक माना जाता है ।^१

भाषण कला का विवेचन —

बियोफेस्टस ने अस्तु के भाषण कला के विवेचन की परम्परा का प्रसार किया । सेबन सीसी के विषय में उसकी भाष्यतायें जाने चलकर अत्यन्त सपास्य सिद्ध हुईं । यहाँ तक कि सत्रहवीं सताब्दी के अनेक अंग्रेज गद्य लेखकों ने उसके बताये हुये सिद्धान्तों का अनुगमन किया ।^२ बियोफेस्टस ने भाषण कला तथा गद्य सीसी के सिद्धे एवं चयन उचित प्रयोग तथा असंकार प्रयोग को आवश्यक बतलाया परन्तु उन्होंने जो सबसे मार्फ का सिद्धान्त बनाया वह विषय के निरूपण से सम्बन्धित था । उनका निश्चित सिद्धान्त था कि श्रेष्ठ लेखक वही बन सकेगा जो संयमित रूप से विषय निरूपण करेगा । यदि लेखक अत्यन्त विस्तार पूर्वक विषय के सभी अंग स्पष्ट कर देता है और पाठक की कल्पना के भिन्न कुछ भी नहीं छोड़ता तो उसकी रचना श्रेष्ठ न होगी । कला अपना अपूर्व आकर्षण सभी शिक्षार्थियों पर लेखक बात कहते-कहते अपनी लेखनी रोक लेता और संकेत मात्र देता उसकी कला उतनी ही उभर रहेगी । इसका कारण यह है कि पाठक अथवा श्रोतावर्य यह जानकर प्रसन्न हो जाता है कि लेखक ने उसको बुद्धिमत्ता जानकर उसकी कल्पना के लिए भी कुछ चीजें छोड़ दीं । ऐसा विस्तृत वर्णन जो संकेतहीन होगा पाठकों को आनन्दित नहीं कर सकेगा विस्तृत अथवा असंयत वर्णन सीसी पाठकवर्ग को बुद्धिहीन समझ कर अपना विस्तार करेगी । संयत सीसी वर्णन की प्राप्ति स्वक्या है । इस सिद्धान्त के निरूपण से समानोपक का मनोवैज्ञानिक ज्ञान सुबुद्धि तथा कला के श्रेष्ठ स्तरों की पहचान विहित होती है ।^३

१ "आत्मोचना- इतिहास तथा सिद्धांत", डॉ एच० पी० ज्ञानी पृ० २३ ।

२ वही पृ० ७१ ।

सॉजाइनस

परिचय तथा कृतियाँ —

साहित्य पाश्चातीय महत्व की दृष्टि से यह भरस्लू के बाद यूनान का दूसरा महान् विचारक था। इसका समय तीसरी सताब्दी ई० पू० माना जाता है।^१ अपने मूल के महानुत्तम समीक्षकों में इसका स्थान था। जार्ज सैंट्सबरी ने इसे भरस्लू के समकक्ष माना है।^२ यद्यपि इन दोनों में कुछ पारस्परिक मिश्रता भी थी। इसका सिद्धा हुआ ग्रन्थ "जान दि सम्राट्" एक स्पानी महत्व की रचना है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें समस्त प्राचीन यूनानी ग्रन्थों से दृष्टिकोमगत मिश्रता और इस दृष्टि से पर्याप्त नवीनता मिलती है। रचना काल के लगभग डेढ़ हजार वर्ष बाद सन् १५२४ ई० में इसका सर्वप्रथम प्रकाशन हुआ।^३

कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि यह ग्रन्थ लेखक की प्रामाणिक रचना नहीं है। यह भी विवाद है कि इस नाम के एकाधिक व्यक्ति थे।^४ कुछ भी हो सॉजाइनस की स्थाननामें कुछ इस प्रकार की है जिन्हें साहित्यालोचन के क्षेत्र में मूल रूप में ग्रहण किया जा सकता है और जिसका महत्व मात्र भी निर्विवाद है।

साहित्य में उदात्तता का विवेचन —

सॉजाइनस के ग्रन्थ "जान दि सम्राट्" में उदात्तता का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त उसने कला और साहित्य विषयक कुछ अन्य मूल सिद्धान्तों का भी विस्तरेष्य इसमें किया है। उसने उदात्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा है कि उदात्तता "अभिव्यक्ति की विविधता और उत्कृष्टता का नाम है।"^५ उसने केवल उसी साहित्य का लेख बताया है जो सदैव सबक तिय समान रूप से सुगमोपक हो।

1. "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey P 469

2. "A History of English Criticism" George Saintsbury p. 10.

३. "ग्रन्थ में उदात्तता", जेम्स डॉ० मयेन्ड तथा जी मेमिचण्ड ब्रदर, पृ० ७।

४. वही, पृ० ७-८।

५. वही पृ० ९।

उदात्तता के विषय में वह कहता है कि केवल अभिव्यक्ति या भाषा के गुण के फलस्वरूप ही संसार के अनेक महान् साहित्य स्रष्टा जन्म हुए हैं। वह उदात्तता को ही साहित्य की परत की कसौटी बताता है क्योंकि उसके बिचार से "मनुष्य की झेपछा उस ऊँचाई से बानी जाती है जिस तक वह बढ़ जाता है और उस नीचाई से नहीं जिस तक गिर जाता है।"^१ इसीलिए वह भाषा अथवा अभिव्यक्ति की विधिष्टता और झेपछा का सदैव समर्पण करता है और सुन्दर चम्पों को उत्कृष्ट भाषों और विचारों का प्रकाश बताता है, जो मानसिक ज्योति द्वारा उपलब्ध होते हैं।

उदात्तता की सम्मानार्था —

उदात्तता को भाषा और अभिव्यक्ति की उत्कृष्टता के रूप में फलीसूत होने का सम्मान देने के पश्चात् सौभाग्यवश इस समस्या पर विचार करता है कि साहित्य में इस उदात्तता के समावेश की सम्मानार्था किस प्रकार से दिखाई देती है। इस सम्बन्ध में वह कहता है कि साहित्य में उदात्तता का आविर्भाव पाँच तत्वों से जाता है। "पहला तत्व है महान् और ऊँचे विचारों को सोचने और ग्रहण करने की शक्ति जो नैसर्गिक प्रतिभा का फल होती है। अत्युदात्तता का स्वर महानात्मा से ही निकलता है। महान् शब्द अनिवार्यतः महान् प्रतिभा से ही उत्पन्न होते हैं। दूसरा तत्व है प्रबल और हुतकम मनोवैय जिसकी क्षमता की प्रकृति देती है। तीसरा तत्व है श्रमालंकार और अर्थालंकार का उपयुक्त प्रयोग। चौथा तत्व है पदरचना अथवा शैली। पाँचवाँ तत्व है शमलंकार प्रचयन। इन सब गुणों से सम्पन्न अत्युदात्त पहचान यह है कि इसने सद्गुण की आत्मा तत्व के उद्रेक से आनन्दमय हो उत्कृष्ट होती है। वहीं महान् साहित्य है जो नये मनन के लिए उत्तेजना देता है, जिसके प्रभाव को रोकना असम्भव हो जाता है, जिस की स्मृति अछिन्न और अमिट होती है। यह सर्वथा स्पष्ट है कि अत्युदात्तता के वही सुन्दर और सच्चे प्रमाण हैं जो सब कालों में और सब देशों में सद्गुणों को आनन्द देते हैं। अत्यानन्दमय प्रभावोत्पादकता ही सौभाग्यवश का साहित्यिक गुण आँचने का मानक है।"^२

१ "पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लीलाधर गुप्त, पृ० १३४।

२ वही, पृ० १३२-१३३।

कल्प और कला —

परम्परागत अर्थ के अनुसार कला का अर्थ्य ज्ञानन्द प्रदान करना और उपदेशात्मकता की वृत्ति स्वीकार किया गया था। सौंजाइनस ने इसमें से प्रथम पर विशेष रूप से गौरव दिया, क्योंकि उसके विचार से ज्ञानानुभूति को कला की एक वृत्ति के रूप में मान्य किया जा सकता था। इस दृष्टिकोण से भी सौंजाइनस की समीक्षा का प्रयोगन श्रेष्ठता की खोज करना स्वीकार किया जा सकता है। यही कारण है कि उसने कला या कल्प में श्रेष्ठता पर बल दिया है।

सम्भवतः वह इसी कारण से ही कल्प में कल्पनीयता के अधिकता से समावेश का भी विरोधी था क्योंकि उस वह आशय की कि इससे उसकी उन्नतता में अन्तर आ सकता है। परन्तु कल्प में कल्पना के माध्यम का उसने विरोध नहीं किया है। उसका विचार है कि कल्पना कवि की प्रतिभा की निर्यापकनी होती है। कल्पना का समावेश उसने कल्प में उन्हीं स्तरों पर भीषितपूर्व बताया है, जहाँ पर कवि अपने इच्छित दुःख को इस प्रकार ने निर्मित करे कि पाठकपक्ष भी उसको देखने में समर्थ हो सके। वास्तव में कल्पना ही वह बन्तु होती है, जिसके माध्यम से कवि के अनुभव का अनुभव पाठक करता है और कवि की अपनी मन स्थिति में पाठक विचरण कर सकता है।

साहित्य सिद्धांत —

सौंजाइनस ने स्पष्ट और बड़े रूप में यह प्रतिपादित किया गया है कि साहित्य की उन्नतता की एकाग्र कमीटी सर्वसुपीन ज्ञानानुदायी होना है। इसीनिम्ने यह एक समीक्षक के लिये यह निर्दिष्ट करता है कि उसका कार्य स्पष्ट साहित्य का रसास्वादन तथा पठन करना है। कल्प में श्रेष्ठता की सम्भावनाएँ सभी अपेक्षित होंगी जब कवि के विचार उन्नत हों क्योंकि अन्ततः उन्नत विचार ही स्पष्ट अभिव्यक्ति का माध्यम होते हैं।

उसने तत्पश्चात् अनुकृष्टता पर भी बहुत बल दिया है। उसने यह भी प्रतिपादित किया है कि एक कलाकार अथवा साहित्यकार के लिये परम्परापुष्पायी होना कई अपेक्षा में लाभदायक होता है। इसीनिम्ने उसे कईवर्ष बाल्य नियमों का उत्तरायन करनी चाहिए। सौंजाइनस के इन विचारों के सम्बन्ध में यह तथ्य ज्ञात में रखने योग्य है कि उसके साहित्य सिद्धांत विविध विषयक विभिन्न ग्रन्थों के उसके अध्ययन पर आधारित हैं। उनमें परम्परागत तथा प्रचलित नियमों की उद्घाटी भी दर्द है।

उदात्तता के तत्त्व —

साहित्य और काव्य उदात्तता के तत्त्वों की चर्चा करते हुये सौजाइनस कहता है कि इनका माग भाषा ही है। उसकी यह धारणा है कि किसी कृति की भाषा जितनी गरिमानुक्त होगी वह कृति उतनी ही प्रभावशाली बन पड़ेगी। वह भाषा की शक्ति को अपरिमेय मानता है। वह कहता है कि साहित्य का पारायण करने पर पाठक को जो आनन्दानुभूति होती है वह भाषा के भूगर्भक होने के कारण ही इस प्रकार से सौजाइनस व्यक्ति की ही उत्कृष्टता का पर्याय उदात्तता को मानता है। इसीलिये उसने उदात्त शैली के प्रमुख तत्त्वों का विस्तार से विश्लेषण किया है। यद्यपि उसने इस उदात्तता के स्वल्प निर्धारण का प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु उसके द्वारा किये विस्तृत विवेचन से वह स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

सौजाइनस की उदात्तता विषयक चारणा को अभी भाँति समझने के लिए यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उसने सर्वप्रथम उदात्तता को महान् आत्मा की प्रति ध्वनि बताते हुये पाँच ऐसे तत्त्वों या सूत्रों की चर्चा की है जो उसके उद्भव का आधार हैं और जिनका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। इन्हें उदात्तता के अन्तर्गत तत्त्व कहा जा सकता है। फिर उसने तीन और तत्त्वों की ओर संकेत किया है। ये अलंकार योजना श्रेष्ठ भाषा तथा रचना विधान हैं। इन्हें उदात्तता के बहिरंग तत्त्व कहा जा सकता है। संक्षेप में इन्हीं से मिलकर सौजाइनस की उदात्तता विषयक चारणा का स्वल्प निर्धारण हुआ है।

समीक्षक की योग्यतायें —

साहित्य के मूल्यांकन की समस्या पर विचार करते हुये सौजाइनस ने एक समीक्षक के लिये कुछ योग्यतायें निर्धारित की हैं। वह कहता है कि एक समीक्षक को समीक्षा का कार्य करने के लिये कला, धर्म, सौंदर्य शास्त्र तथा सभामोचना का सम्पूर्ण अध्ययन अनुभव और ज्ञान होना चाहिये। ऐसा होने पर उसमें आत्म विश्वास बनेगा और वह उन मानदंडों का अपने विवेक से निर्धारण कर सकेगा जिनकी इस कार्य में अपेक्षा है। उसने इस मत का प्रतिपादन किया है कि साहित्य की उत्कृष्टता की कसौटी सर्वव्यापी रूप से आगन्तवासी हुला है। प्रसंग रूप में उसने यह भी बताया है कि काव्य में कल्पना का योग कवि के समक्ष उसके इच्छित वृत्त का चित्रण करने के लिये होना चाहिये ताकि वह उस वृत्त को पाठकों को भी दिखाने में समर्थ हो सके।

ऊपर यूनान के महान् साहित्य विचारकों की ऐतिहासिक परम्परा का विवरण उपस्थित किया गया है। कुछ नाम इसमें आने से इन कारण रह गये हैं क्योंकि या तो उनका विषय सम्बन्ध साहित्य काव्य अपवा समीक्षा आदि से प्रत्यक्षतः या नहीं और या उनके विषय में किसी भी प्रकार के प्रामाणिक विवरण का पूरा अभाव है। कुछ भी हो ऊपर जिस अन्तिम विचारक का उल्लेख किया गया है वह सॉक्राइट्स है और उसका नाम इस सुदीर्घ परम्परा की अन्तिम कड़ी के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

परन्तु उपर्युक्त कथन का आशय यह नहीं समझना चाहिये कि उसके बाद इस महान् परम्परा में योग देने वाले अन्य विचारक हुए ही नहीं। वास्तव में जिस प्रकार से आइमाकेरीज आदि विचारकों का ऊपर सॉक्राइट्स के पूर्ववर्ती विचारकों में संकलित कारणों से उल्लेख नहीं किया गया है उसी प्रकार से साइबेनियस थिमिस्टेयस थूसियेन एपोस्टेट तथा फोटियस आदि विचारकों का उसके पूर्ववर्ती काल में भी उन्हीं कारणों से उल्लेख नहीं किया गया है। यद्यपि इन लोगों का अपना-अपना ऐतिहासिक महत्त्व है जिस मस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु इस तथ्य को भी स्वीकार करना होगा कि सॉक्राइट्स इस परम्परा का अन्तिम महान् विचारक है।

उसके पश्चात् यूनानी साहित्य चिन्तन का इस परम्परा का अन्त हो गया और मौर्य में साहित्य चिन्तन का प्रमुख केन्द्र यूनान में न रहा। इसके पश्चात् उसका स्थानान्तरण हो गया और अन्य स्थानों में उसका समुचित विकास और उन्नति हुई। इस इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि सॉक्राइट्स के बाद यूनान कला और साहित्य के चिन्तन का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र न रहा और न ही यूनान ने सुकृष्टतः प्लेटो अरस्तू और सॉक्राइट्स जैसे महान् तत्त्व-वेत्ताओं को ही जन्म दिया परन्तु संसार की प्रत्येक समृद्ध भाषा ने इन महापुरुषों द्वारा प्रेरितान्त्रित और मान्य सिद्धान्तों को ही ग्रहण स्वरूप ग्रहण किया और उनसे ही वास्तविक रूप से इन अर्थों में प्रगति भी पायी।

प्राचीन रोमीय विचारक और उनका समीक्षारमक दृष्टिकोण

प्राचीन यूनानीय समीक्षा शास्त्र की परम्पराओं के विकास को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर यह बात होता है कि प्राचीन यूनानी वैचारिक परम्परा के द्वारा

के पश्चात् यूरोप में साहित्य और कला का बिस्तृत केन्द्र यूनान से हट कर रोम पहुँच गया। रोम में ही लैटिन समीक्षा स्वतंत्र रूप में बहुत महत्वपूर्ण होते हुए भी अंशतः यूनानी परम्परा के अनुकरण पर ही विकसित हुई। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका प्रारम्भ होने का समय समयगत बुरी सलाखी है।

प्रारम्भ में रोमीय साहित्य बिस्तृत की इस परम्परा का विकास स्वतंत्र रूप में न हो सका, क्योंकि उस पर यूनानी बीजन और साहित्य का बहुत अधिक प्रभाव था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक रोमीय साहित्य शास्त्र प्रायः यूनानी साहित्य शास्त्र पर ही पूर्णतः आधारित था। यहाँ तक कि इस प्रारम्भिक काल में अनेक यूनानी भाषा के शब्दों का अनुबाध लैटिन भाषा में किया गया और भागों में होता रहा।

इस प्रकार के बसावरण में कसा बचन, साहित्य काव्य नीति शास्त्र तथा विज्ञान आदि के क्षेत्रों में जो भी नवीन विचार बारा रोम में प्रचलित हुई, वह-सूखत यूनानी आदर्श का ही आधार लेकर पनपी। यही कारण है कि उसमें मौलिकता कम और अनुकरणात्मकता अधिक मिलती है। यों वहाँ तक लैटिन समीक्षा के स्वतंत्र रूप में विकास का सम्बन्ध है, उसके विषय में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि यूनानी प्रभाव के आवमन के पूर्व ही उसकी आधार भूमि तैयार हो चुकी थी। यूनानी प्रभाव के कारण उसके विकास की गति अवश्य तीव्रतर हो गयी।^१

- १ "रोम के आलोचकों की तुलना का लाभ था क्योंकि उनके सामने यूनानी साहित्य उपलब्ध था। इसी लाभ के परिणाम स्वरूप वे यूनान की आलोचना से अधिक संयुक्तिक आलोचना छोड़ सकते थे। परन्तु रोम की प्रतिभा व्यवहार कौशल में जाहे जितनी उत्कृष्ट हो तत्पक्षः ग्रीकहीन भी और यूनानी प्रतिभा की अपेक्षा अपने को तुल्य समझती थी। रोम पीछ की साहित्यिक बातों में अपना बिलक और पथप्रदर्शक समझता रहा। और जिस उपयोगिता के दृष्ट-प्रभु ने यूनानी आलोचना को पक्षधर किया उसी बुढ़ाप्रह ने रोम के आलोचकों को और भी पक्षधर किया।"

"आश्वास्य साहित्यालोचन के सिद्धांत", श्री लीलाधर गुप्त पृ० १३३।

सिररा

परिचय तथा छुटियाँ —

रोम की माहिम्न चिन्तन की परम्परा का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर जा सर्वप्रथम नाम जससनीय प्रतीत होता है वह सिररा का है। उसका समय ई० पू० १०१ माना जाता है। उसने खुसियस सीजर का विरोध और रोम के मणराज्य का समर्थन किया था। सीजर ने उन किसी प्रकार का कोई हँड नहीं दिया। परन्तु उनकी मृत्यु के बाद सिररो ने जब अपने भापनां में मार्क एन्टोनी का भी विरोध किया तो उसका जय ई० पू० ४३ में कर दिया गया।^१

सिररो पर पर प्लेटो का बहुत प्रभाव पड़ा था। यों भी समकालीन रोमीय विचारधारा पर यूनानी पूर्व विमन का पर्याप्त प्रभाव था। इसलिये सिररो ने अपनी पुस्तकों का नाम भी प्लेटो के ग्रन्थों के आधार पर ही रखा। “डि रिपब्लिका” तथा “डि मेजिवन” उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है जिनमें उसने प्लेटो की ही मॉडि सम्भार ली है। अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। उसका नाम रोम के प्राथमिक साहित्य विचारकों में इसलिये भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसने लैटिन भाषा में वैज्ञानिक सम्भावनी तैयार की जो समीक्षा में सम्बन्ध रखती थी। साहित्य तथा राजनीति के अतिरिक्त उसने भाषण कला आदि पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। हम दृष्टिकोण में उसकी जससनीय इतिवृत्तों में “डि आरेटर” तथा “डि सैनिस्फूट” आदि हैं।

भाषण शास्त्र —

सिररा का विचार शेष मुख्यतः भाषण शास्त्र से सम्बन्धित ही था। इस विषय पर वह ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उन विचारकों में से एक था जिन्होंने भाषण कला के प्रचार और उपयोगिता पर बल दिया। भाषण कला तथा माहिम्न कला में वह भाषण कला की ही प्राथमिकता प्रदान करता था। उसके विचार में माहिम्न या पाप्य का महत्त्व वही तक है जहाँ तक के भाषण कला के नियम महत्त्व अपनाने लायक हों

१ “पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास” की कट्टीयात्तात बर्मा, पृ० २१२, २१३।

स्वतंत्र रूप से वह उन्हें अधिक महत्त्व नहीं देता था। उसका विचार था कि बुनीय परिस्थितियों को देखते हुये रोम में भाषण कसा ही अधिक उपयोगी छहुरती थी।

उसके समय तक रोम में जरस्तू तथा आइसाफ़ेटीज आदि मूनानी भाषा छास्त्रियों के द्वारा प्रवर्तित और प्रतिपादित भाषण कसा विषयक सिद्धांतों का ही मुख्य प्रचार था। सिसरो ने सबसे पहले रोम में भाषण छास्त्र के इन परम्परागत मूनानी नियमों और सिद्धांतों में परिवर्तन करके उन्हें युव जीवन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उसने भाषण छास्त्र के विकास को एक बुनीय आवश्यकता बताया और इस प्रकार से उसकी तात्कालिक उपयोगिता का निर्वहन किया।

परिभाषा—

सिसरो का विचार था कि भाषण छास्त्र एक माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी मनुष्यता का परिचय देने में समर्थ होता है। चाव ही वह मानवीय श्रेष्ठता का द्योतक और मानवीय सम्मता का प्रचारक भी होता है। इसलिये भाषणकर्ता को इस माध्यम का शुद्ध समझकर उसका निर्वाह करना चाहिये। सर्वप्रथम भाषणकर्ता के लिये यह आवश्यक है कि उसे अपने विषय का सम्यक ज्ञान हो। यदि उसे प्रासंगिक रूप से अपने मूल विषय के अतिरिक्त कुछ अन्य विषयों की चर्चा भी करनी हो तो उसके लिये उन विषयों का भी व्यावहारिक ज्ञान होना आवश्यक है। प्रभावशाली सम्भावनी से श्रोतागण को अधिक अवश्य किया जा सकता है किन्तु यदि भाषणकर्ता का यह चहूँस्व है कि श्रोतावर्ग उसकी बात से प्रभावित हो तो उसे निर्धारित नियमों का अनिवार्यतः पालन करना होगा।

विषय विवेचन :—

सिसरो भाषण के विषय विवेचन के सम्बन्ध में यह कहता है कि भाषण कर्ता को यथासम्भव आदर्श विषयों का ही चयन करना चाहिये। यों उसने मूलतः भाषण कसा के तीन आदर्श माने हैं—(१) मूल विषय तथा प्रासंगिक विषयों का आधिकारिक ज्ञान (२) श्रोताओं को विषय विवेचन तथा भाषा लैसी से प्रभावित करना तथा (३) श्रोताओं को निरन्तर प्रसन्न और समुष्ट रखना। इन तीनों को भाषणकर्ता को स्वयं को अनुशासित करके प्रस्तुत करना चाहिये।

इस अनुशासन की कपरेखा स्पष्ट करती हुए उसने बताया है कि भाषणकर्ता अपनी प्राकृतिक प्रतिभा का उपयोग भाषण कसा का सम्यक वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक

अभ्ययन तथा अभ्यास करना चाहिये। उसने आत्मकारिक भाषा के प्रयोग का अनुमोदन किया, क्योंकि उसके द्वारा प्रोतामय के प्रभावित होने की सम्भावनाएँ अधिक हैं। उसने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की है कि अन्ततः प्रोतामय ही भाषाव्यवस्था की श्रेष्ठता के निर्धारक होंगे।

काव्य के तत्त्व :—

सिखरो के विचार से 'काव्य' काव्य बड़ी होगा, जिसमें मृगीन आकर्षण के साथ ही साथ स्वाधित्व भी हो। इस कोटि के काव्य की सम्भावनाएँ सभी हो सकती हैं जब जब अपने कार्य के प्रति अधिक से अधिक ईमानदार हो। उसने काव्य को एक प्रकार की ईवी प्रेरणा का परिणाम माना है। उसमें भूँक कल्पना और यथार्थ दोनों का योग रहता है अतः उसमें मनुष्य को प्रभावित करने की पर्याप्त क्षमता विद्यमान रहती है। उसने भाषा के माध्यम की शुद्धता की ओर संकेत करते हुए बताया है कि एक समय जब अपनी भाषा तथा उसके रचना तत्वों की ओर कभी भी उपेक्षा भाव नहीं बिछायेगा क्योंकि उसकी भावनाएँ इसी के माध्यम से अभिव्यक्ति पावेंगी। कुल मिलाकर, जब भी काव्य की शुद्धता के विषय में निरन्तर संशेष्ट रहना चाहिये। उच्च कोटि के काव्य के लिये उसने उपदेशात्मकता तथा आत्मन्यायुक्ति दोनों तत्वों को आवश्यक बताया है यद्यपि इन दोनों में बहु प्रथम तत्व को अधिक उपारेय बताया है।

समीक्षात्मक विचार :—

रोमीय साहित्य विम्वन की परम्परा के प्रवर्तन में इस युग में व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में कुछ समीक्षक निर्व्यात्मक समीक्षा रीती को स्वीकार कर चुके थे। इस युग में इस रीती के विकास का एक कारण इसीलिये यह भी रहा है। रोमीय समीक्षकों ने हमने पूर्व तुलनात्मक समीक्षा का व्यवहार भी किया था जिसके उस समय तक कोई निर्धारित मानक न थे। सिखरो ने इस रीती को उसके स्वर्ण रूप में स्वीकार नहीं किया। उनका यह विचार था कि तुलनात्मक रीती वस्तुतः निर्धारक रीती का ही एक अंग है। तुलनात्मक रीती के स्वर्ण महत्त्व को उमने इस कारण से भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनका विचार था कि प्रत्येक युग में परिस्थितिगत वैषम्य के कारण साहित्यकार की प्रेरणा तथा सत्य में भिन्नता होती है। इसलिये उन्हें तीसरे किसी युग में मृगीन समीक्षा पर बनना अधिक सुविश्रमगर्भ नहीं लगता। इसलिये उसने निर्व्यात्मक रीती को तो अविवर्यपूर्व टहलया है, परन्तु उसमें तुलनात्मकता पर विवेक बल नहीं दिया है।

होरेस

परिचय और हस्तियाँ :—

होरेस का समय ई० पू० ६५ से ई० पू० ८ तक माना जाता है।^१ रोम के महान् कवियों और चिन्तकों में उसकी गणना की जाती है। होरेस ने पहले रोम में और फिर एब्रस में शिक्षा प्राप्त की। वहाँ पर वह यूनानी काव्य वर्सन और संस्कृति से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। उसने ४२ ई० पू० में किमिपी के युद्ध में भी भाग लिया। जीवन के अन्तिम वर्ष उसने अपनी ज़मीन में छान्तिपूर्वक व्यतीत किये। होरेस के पूर्व सिसरो ने रोमीय साहित्य जगत पर यूनानी प्रभाव का विरोध किया था। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा था कि न तो यूनानी अनुकरण पर ही साहित्य जगत् में प्रगति खोजी जा सकती हो रही थी और न स्वतंत्र रूप से ही उनका मार्ग निर्धारण हो रहा था।

इस गतिरोध की स्थिति का भी अनुभव सर्वप्रथम होरेस ने ही किया। उसने परिस्थितियों को देखते हुये यूनानी विचारधारा के अनुगमन को ही धैर्यपूर्वक समझा। उसने यह अनुभव किया कि यूनानी साहित्य के रूपों में हथिमता और बुद्धता का समावेश अधिक होता जा रहा है। इनका निराकरण करने के लिये उसने यह आवश्यक समझा कि यूनानी काव्यावस्था को ग्रहण करने का आन्वेषण पुनः आरम्भ हो। होरेस ने यह कार्य किया। चूँकि समकालीन परिस्थितियों का उसका अध्ययन और निदान ठीक था इसलिये वातावरण की अनुकूलता के कारण उसे अपने इस कार्य में सफलता भी प्राप्त हुई।

काव्य विवेचन —

होरेस सिसरो तथा क्विन्टिलियन के विपरीत एक ऐसा समीक्षक था जिसने साहित्य को मापन कला की अपेक्षा मुख्यता प्रदान की। वह स्वयं भी एक कवि था और उसे काव्य रचना का अच्छा ज्ञान था। उसकी सीमा यही थी कि उसे साहित्य धारण का सम्यक ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि उसने अपनी विचारधारा में जिन

निर्देशों का सी निरर्थक किया है, उनमें भीमिका बहुत अधिक नहीं है। वे पूर्ववर्ती युक्तियों सर्वप्रकारों के विचारों की छाया मात्र हैं।

हारेड ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "द एरोसन् टु द पीस" में राज्य में नीचिप्य पर सर्वाधिक बल दिया है। उसका विचार था कि यदि कोई अपनी व्यावहारिक बुद्धि से काम लेना चाहिये। आर्थिकारिकता स्वयंका सम्पत्ति विविधता दृष्टान्तकता तथा स्वयंका स्वयं प्रयास का उसने काम में मयादिष्ट धोषित किया है। इस बुद्धिकोष में हारेड का एक परम्परावादी समीपक स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि वह नीचिप्य या नीचिप्य का विरोधी था।

इन्तुन जैसा कि ऊपर कहा गया है हारेड को साहित्य साधक का सम्पूर्ण मान नहीं था। उन्ने अपनी इस कमी को अपनी विवेकशीलता से दूर करने का प्रयत्न किया। इसीनिष्ठे व्यावहारिक मूल मूल पर उसने अधिक बल दिया है। जहाँ तक नीचिप्य का सम्बन्ध है उसका यह अनुमान था कि यदि उसकी सम्पत्तिका न दित्तो दे रही हों तो उनकी माय काया अधिक उचित नहीं प्रतीत होगा क्योंकि नीचिप्य के नाम पर परम्पराओं का भी हट कर देने का वह विरोधी था। दूसरे शब्दों में वह प्राचीन नियम को ही नीचिप्य आचरण में प्रस्तुत करने का अनुमोदन करता था।

यूनानी साहित्य विचारों के साथ वह यह स्वीकार करना था कि यदि के सिद्धे सर्वत निर्देशों का ज्येष्ठ परिचय जाना आवश्यक है। वह राज्य को केवल दो कार्यों का मानता था। एक तो ज्येष्ठ राज्य और दूसरा हीन राज्य। उसका निश्चित विचार था कि यदि कोई राज्य भ्रष्ट राज्य नहीं है तो वह अनिवार्यतः निम्न काटि का होगा। राज्य के प्रयोग के सम्बन्ध में वह यूनानी विचारों के मन्त्रियों से सहमत था। उसका विचार था कि राज्य का ज्येष्ठ ज्येष्ठता तथा धान्यतागुणों दोनों ही हानी चाहिये।

काव्य और अनुकरणान्वयता —

हारेड ने राज्य में अनुकरणान्वयता का अनुमोदन दिया। राज्य को जीवन का अनुकरण मानते हुये उसने कवियों के निम्न यह निम्न किया कि वे यूनानी साहित्यिक भाषाओं को वास्तविक अनुकरण के चरण में हान्य प्राप्त में करें। यह युक्तियों की साहित्यिक जगद्विषयों के आर्थिक प्रयत्न था। उसने अपने समय में राज्य की रचना प्रक्रिया का निम्न किया और दो निम्नक बनाया। राज्य बना पर उन्ने कुछ कवि शायों का भी मूल्य दिया।

होरेस ने काव्य का वर्गीकरण करते हुये व्यंग्य तथा प्रहसन का भेद स्पष्ट किया। उसके विचार से व्यंग्य काव्य का प्रयोजन व्यक्ति अथवा समाज के दोषों का निराकरण करना है। इस प्रकार से उसने व्यंग्य काव्य को इन दोषों को दूर करने का एक साधन बताया। व्यंग्य का महत्व इस कारण भी अधिक होता है क्योंकि इसका फल तात्कालिक होता है। तर्क से जो काम नहीं हो सकता वह सरल व्यंग्य से सम्भव है। उसने बताया है कि व्यंग्य में तीव्रता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि तीव्रता से कटुता की भावना जन्म लेती है। व्यंग्यात्मकता की प्रतिक्रिया दोनों रूपों में सम्भव है। वह मनुष्य का संवृत्ति की ओर भी प्रेरित कर सकती है और उसे क्रुद्ध भी कर सकती है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि होरेस ने व्यंग्य काव्य को प्रहसन के अर्थ में न प्रयुक्त करके उससे भिन्न माना है। व्यंग्य काव्य तथा प्रहसन के चरित्रों का भेद स्पष्ट करते हुये उसने लिखा है कि जहाँ व्यंग्य काव्य के पात्रों का हास्य संयुजित और विवेकपूर्ण होता है वहाँ प्रहसन के पात्रों के हास्य में इन दोनों गुणों का अभाव होता है। राम ही व्यंग्य काव्य में सबसे उद्देश्यपूर्णता रखती है, जब कि प्रहसन निरुद्देश्य भी हो सकता है।

नाट्य कला —

नाट्यकला पर होरेस के जो विचार हैं, वे भी अधिकोक्त यूनानी विचारवाच, विशेष रूप से अरस्तू के विचारों से प्रभावित हैं। यूनानी सिद्धान्तों के अनुसार ही उसने नाटक के तत्त्वों में कथा कथा निकल्पन मात्र सैरी आदि तत्त्वों का विस्लेषण किया है। प्रायः इन सभी तत्त्वों के विषय में होरेस ने प्राचीन यूनानी नाट्य शास्त्र द्वारा प्रवर्तित नियमों का अनुमोदन किया है। व्यावहारिकता का समर्थन करते हुये उसने विषय, पात्र तथा सैरी आदि की पारस्परिक अनुकूलता पर सर्वाधिक गौरव दिया है। उसने निर्देश किया है कि नाटक में पाँच अंक होने चाहिये। एक दृश्य में पात्रों का प्रवेश ही नूतन संयुजित रूप में होना चाहिये। उसके विचार में एक दृश्य में तीन पात्रों का प्रवेश ही होना चाहिये और उन्हीं का वार्त्तानाप प्रस्तुत किया जाना चाहिए। पात्रों के चरित्र चित्रण के विषय में भी उसने परम्परागुणमिता को अधिकोक्त ठहराया है। उसने नाटक में क्रियाशीलता को आवश्यक बताया है। नाटक में नीतियों का समावेश उसने समर्थित किया है। जहाँ तक नाटक के प्रयोजन पर आदर्श का सम्बन्ध है, होरेस ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि नाटक में नीति तथा धर्म विषयक चित्रण हास्य तथा कटप्प की अपेक्षा अधिक सम्भव है।

दीर्घा विचार —

होरेस ने दीर्घा के विषय विचार करते हुए निम्नित दीर्घा का विरोध किया है। उसके विचार से दीर्घा का अपना स्वतंत्र रूप में तो महत्व होता ही है, चापा में प्रभावशालीता उत्पन्न करने की दृष्टि से भी है। उसने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि सामान्य सम्भावनी भी उत्कृष्ट दीर्घा में समीक हो उठती है। यदि भाषा सामरस्यपूर्ण न होकर सामान्य है, वह भी उसमें स्पष्टता होनी आवश्यक है। अनावश्यक सम्भावना का उसके मध्य से बहिष्कार होना चाहिये। स्पष्ट और सरल भाषा से भावनिष्पन्न की प्रक्रिया सरलतर हो जाती है। जो कवि भाषा की कम महत्व देता, वह कभी भी पाठक वर्ग को प्रभावित न कर सकेगा। भाषा में उपर्युक्त गुणों के साथ ही साथ विषयानुकूलता भी होनी चाहिये, क्योंकि सम्भावनी का अर्थ मुख्यतः विषय से ही सम्बन्ध रखता है इसलिये कवि को चाहिये कि वह विषय के अनुरूप ही भाषा को ही प्रयोग में लाये। जहाँ तक काव्य में छन्द प्रयोग का सम्बन्ध है, होरेस ने यह प्रतिपादित किया है कि छन्दों के प्रयोग में विविधता तो अवश्य होनी चाहिये, परन्तु वह विविधता विषय वीर्य के अनुसार ही हो तो अच्छा है। साथ ही, विविध काव्य प्रकारों के लिये निम्न छन्दों और भाषा का प्रयोग अनिवार्यपूर्ण होता है।

समीक्षात्मक दृष्टि और महत्व —

रोमीय साहित्य चिन्तन के इस विकास युग में होरेस की पर्याप्त महत्ता मिली। परवर्ती युगों में जोष बोयसो तथा वेन जानसन जैसे विद्वान् यूरोपीय समीक्षकों ने उसके प्रेरणा तथा प्रभाव ग्रहण किये। जहाँ तक उसके समकालीन समीक्षकों का सम्बन्ध है, होरेस ने उनका विरोध किया। वे कट्टर दृष्टिकोण वाले समीक्षक थे और उनमें जनशक्ति तथा पाठक वर्ग की उपेक्षा करते अपना निर्णय दूसरों पर लागू करने की प्रवृत्ति थी। होरेस ने उनसे सहमत न होते हुए यूनानी भाषाओं की ही आधार स्वरूप मानने का समर्थन किया। वह पाठक की सम्मति पर विचार कर सकता था परन्तु उसने ओटा वर्ग के निर्णय को मानने से इनकार कर दिया। उसका विचार था कि काव्य की स्पष्टता का निर्णय ओटावों के द्वारा किया जाना उचित नहीं है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसने कविताओं के रूप में अपने इन समीक्षा विचारों को स्पष्टकरके प्रस्तुत किया। उसके इन विचारों ने युगीन समीक्षा दृष्टि का राष्ट्रीय सीमा तक परिष्कार किया। संक्षेप में होरेस ने कुछ ऐसे धार्मिकनात्मक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो यूनानी भाषाओं पर आधारित थे और जिनके

माध्यम से युगीन साहित्य के गव निर्माण की दिशा में प्रेरणा मिल सकती थी। होरेस ने अनुकरणात्मकता के सिद्धान्त के स्वरूप तथा मर्यादा निर्धारण की दिशा में भी प्रयत्न किया। उसने अनुकरण की नयी परिभाषा बनायी और उसकी मौलिक प्रयोगात्मकता पर बल दिया। अपनी इन्हीं उपशब्दियों के कारण इसे परम्परा में भी विस्तृत नैतीय नैचारिक माध्यता मिली।

क्विटीलियन

परिचय तथा कृतियाँ —

क्विटीलियन के आदिमर्ग का समय प्रथम सताब्दी ई० के अन्तिम शताब्दी में माना जाता है। वह एक महान् रोमीय साहित्य शास्त्री था। नैचारिक दृष्टि से वह सिसरो से बहुत साम्य रखता था। सिसरो की ही भाँति उसने भी साहित्य और काव्य को आपन कला की अपेक्षा हीन माना। उसने अपनी महान् कृति 'डि इन्लीदुषान ओरेटोरिया' में यूनानी और रोमीय साहित्यिक इतिहास प्रस्तुत किया।

उसके समय तक पटिस्त्वियों में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था। एक नये आचारधर्म का निर्माण हो रहा था। पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों तथा मान्यताओं में पारस्परिक वैषम्य-विरोध की भावना इनकी अधिक थी कि उनके आधार पर किसी निर्माणिक तरंग की निर्मिति असम्भव थी। साहित्य शास्त्र तथा आपन छात्र विषयक प्राचीन मान्यताओं का विरोध हो रहा था और नये मूल्यों का निर्धारण हो रहा था। इसलिये क्विटीलियन विचारों का परिचय प्राप्त करने के पूर्व उसके गुण की उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना आवश्यक है।

समीक्षात्मक विचार और माध्यताएँ —

क्विटीलियन का समीक्षा विषयक दृष्टिकोण बहुत कुछ स्पष्टता लिए हुए है तथा उसमें अनेक साहित्यिक स्तरों की ध्वनि प्रतीत होती है। वह स्किबारी विचारधारा और छात्राधीनता की कट्टर अनुपाधिता का विरोध करता था। उसने इस उद्यम को समझा था कि साहित्य समकालीन सामाजिक आवश्यकताओं की अपेक्षा करके नहीं बन सकता। इसलिये उसने इस मत का समर्थन किया कि साहित्य काव्य या आपन में जन भाषा का पूर्णतः अधिकार करना उपयोगी नहीं है। भाषा और समी के क्षेत्र में उसके विचार विशेष रूप से महत्त्व पूर्ण हैं।

उसने यह बात स्वीकार की है कि साहित्य के विविध कर्तों का क्रमबद्ध दृष्टि से स्तरीय होगा एक अनिवार्य तथ्य है। यद्यपि यह ठीक है कि वह काव्य मर्मज्ञ न था और उससे सम्बन्धित प्रश्नों का सूक्ष्म दृष्टि से परीक्षण भी न कर सकता था परन्तु जहाँ तक युवीन परिस्थितियों को उनके सही रूप में समझने तथा नवीन मान निर्धारण का सम्बन्ध है उसमें असाधारण विवेक बस था। वह काव्य में बार्थनिक नतिक तथा धार्मिक तत्त्वों का बहुलता से समावेश करने का समर्थन नहीं करता था क्योंकि उसके विचारानुसार अन्ततः इनसे काव्य में कोसिलता का दोष ही जाता है।

महत्व —

इस प्रकार से विक्टोरियन ने अपनी समवासीन परिस्थितियों की माँग स्वर और आवश्यकता को पहचाना और यह भी अनुभव किया कि व्युत्पत्तिक रूप में वह एक प्रकार के गतिरोध जैसी स्थिति ही है। इससे मुक्ति पाकर नाबी प्रगति का मार्ग साज निकालने के उद्देश्य से प्रयत्न रत होने वाला वह सर्वप्रथम समर्थ साहित्य शास्त्री था। उसने रोमीय समीक्षकों में कदाचिन् सबसे पहले यूनानी अनुसमन के सम्मुख पर धन दिया। उसने यूनानी आदर्शों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति को दो अवरय प्रोत्साहित किया, परन्तु उसको वहीं अनुमोदित किया जहाँ वह नितास्त रूप में आवश्यक हो तथा परम्परा के विकास में उसका योग अनिवार्य हो। उसने भी अपने पूर्ववर्ती तथा समवर्ती समीक्षकों की भाँति अनुसरणारमकता का समर्थन किया परन्तु उसे अनुकरण न वह कर एक स्वतन्त्र रूप लेनी में प्राचीन का नवीनीकरण कहा। उसने यह भी प्रतिपादित किया कि इस नवीनीकरण से युगीन प्रतिभावों का ह्रास न होकर विकास ही होता है।

संक्षेप में लैटिन साहित्य और समीक्षा के चिन्तन की इस प्राचीन परम्परा के ऐतिहासिक और महान् क्षेत्र रोम के उन क्षेत्रों की समृद्धि और विकास का उपर्युक्त ही इतिहास है। ये परम्पराएँ उनमें योग दान देने वाले महान् साहित्यकारों और चिन्तकों की उपनयनों और परम्परा निर्माण के साथ ही जन्मज ह्रास की ओर बढ़ती जाती हैं। रोमीय साहित्य चिन्तन की परम्परा के विकास के इतिहास को यह यदि प्रायः पट्टी गजाली तब जानी है। इसके पश्चात् उसका पतन प्रारम्भ होता है।

परवर्ती काल में रोमीय साहित्य एवं समीक्षा क्षेत्र में यह तत्र चिन्ताशीलता भी अवरय-अक्षिप्त होनी है परन्तु यह समीक्षात्मक चिन्तन के मूल और आधार तत्त्वों से

हट कर उसके बीच तत्त्वों तक ही सीमित रहती है। साहित्य चिन्तन की परम्पराओं के इस ऐतिहासिक मास के अनेक कारणों में से कुछ राजनैतिक तथा सामाजिक भी हैं। साहित्यिक कारण तो प्राग्ग रहते हैं। वस्तुतः प्राचीन और नवीन का संघर्ष अनिश्चित विचार विमर्श, प्रवृत्तियों की उपेक्षा कृत्रिमपूर्ण साहित्य का प्रचार तथा साहित्य चार्ित्रियों के वैचारिक संघर्ष आदि ने कुछ ऐसा रूप धारण किया कि इन सबका अन्त इस परम्परा की समाप्ति के साथ ही हुआ।

पुनर्जागरणकालीन पाश्चात्य समीक्षा के मानदंड

प्राचीन यूनानी साहित्य शास्त्र तथा रोमीय साहित्य शास्त्र की इन महान् परम्पराओं के अन्त के पश्चात् ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यूरोप में साहित्यिक पुनर्जागरण सगमन चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। इस पुनर्जागरण काल से ही योरोपीय साहित्य शास्त्र की इस उच्च परम्परा के विकास की भावी सम्भावनाएँ हुईं तथा उसका मार्ग प्रसार हुआ। इस युग में एक बार पुनः लोगों का ध्यान प्राचीन यूनानी तथा रोमीय उपलब्धियों की ओर आकर्षित हुआ। परन्तु इस पुनर्जागरण काल के पूर्व के साहित्यिक चिन्तन का कोई ऐतिहासिक विवरण कमबख्त रूप में उपलब्ध नहीं है यद्यपि इस काल के बीच भी योरोप में ऐसी विभूतियाँ जन्मीं जिनकी साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में देन ऊपर है।

पुनर्जागरण काल के प्रारम्भिक अनेक वर्षों
हलचल मुरझा
की दिशा
यह कि
परम्परा
परम्परा,
यह भी कि
दिखाया है,
अब वे इन उ
भावना जगम
से मिल सकता

की ओर ही लगी रही है
क्रिये जाते रहे। इस
कि समाज अ,
है। इस
या रहेगे जो
समूहोंने
नि

रोमन साहित्य जगत की
प्राचीन ग्रन्थों के खोज
या कि अब लोगों में
में इन वैचारिक
अपनी इन प्राचीन
मिली थीं। वे
का माय
। इस कारण
की मा
प्रका

रूप में ध्यान दिया गया कि जो प्राचीन ग्रन्थ इन उपलब्धियों के प्रतीक हैं, उनकी सोच हा और उनमें ही विकास के भावी सूत्रों को ढूँढ़ा जाय ।

इसके साथ ही साथ खोजने प्रयोगों का अनुशासित कार्य भी प्रारम्भ हुआ क्योंकि इन ग्रन्थों में एक बड़ी संख्या उनका भी जो विविध यूरोपीय प्राचीन भाषाओं में मिले पय से तथा जिनका प्रयोग अब या तो पूर्ण रूप से समाप्त हो गया या और या अब कमया समाप्त होता या रहा था । इस प्रकार से अब एक स्वस्थ उपयुक्त और अनुकूल साहित्यिक वातावरण तैयार हो गया जब भावी विकास के सूत्र अपने साहित्य के विविध अंगों के विकास की भूमि नयी सम्भावनाओं के साथ बनने लगी ।

इस प्रकार की अवस्था लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक रही । सोसहवीं के प्रारम्भ से यूरोप में साहित्य के क्षेत्र में क्रियात्मक रूप से कार्यान्वयन हो गया और इस प्रकार एक नवीन परम्परा का प्रवर्तन हुआ । यह परम्परा अपने साथ पृष्ठभूमि के रूप में पूर्ववर्ती परम्पराओं के अनेक प्रभावों को लिये हुये थी जो इनके विकास का मुख्य आधार हैं । इसमिल पाश्चात्य समीक्षा के विकास की भावी ऐतिहासिक रूपरेखा को समझने के लिये इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि मूलतः यह पूर्ववर्ती वैचारिक परम्पराओं की एक नवीन कड़ी ही है, क्योंकि वे विज्ञान प्रगति अधिक निम्न नहीं हैं जो इन पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्पराओं के मूल प्ररक रहे हैं । और यही कारण है कि इन विभिन्न परम्पराओं में अन्त मत्त भिन्नता और विपरीतता होते हुये भी मूल मत्त एकरा के उक्ति निहित हैं ।

इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण तथ्य भी है जिसे पाश्चात्य समीक्षा के भावी विकास के इतिहास के सम्पर्क में ध्यान में रखना चाहिए । और वह यह है कि आगे चलकर विभिन्न साहित्य विज्ञानों का निरूपण किया गया वे प्राथमिक रूप में या तो पूर्ववर्ती विचारों के पुरक हैं और या उनके विरोधक । कहने का भाव्य यह है । के पश्चिम की प्रायः समस्त वैचारिक परम्पराओं के मूल में कुछ एक ही महान् विचारों के सिद्धान्त हैं जिन्हें आगे आगे आने वालों में पुनरावृत्ति बना कर धारण किया गया । परन्तु इस नवन का अर्थ यह भी समझना चाहिए कि परवर्ती यूरोपीय वैचारिक इतिहास के क्षेत्र में कभी कोई नवीनता न रही । बल्कि इन पूर्व विचारों के सबैव एक प्रकार की कुछ आधार भूमि का बाने किया है और इसीलिये अन्तिम में उन पर नवीन विचारों की गम्भीर दायें भी दर्शनात्मक जगि नहीं है ।

हट कर उसके नीचे तबों तक ही सीमित रहनी है। साहित्य चिन्तन की परम्पराओं के इस ऐतिहासिक ह्रास के अनेक कारणों में से कुछ राजनैतिक तथा सामाजिक भी हैं। साहित्यिक कारण तो प्रायः रहे ही हैं। बलुत प्राचीन और नवीन का संघर्ष अनिश्चित विचार सिद्धांत, सवृत्तियों की उपेक्षा कुरूपपूर्ण साहित्य का प्रचार तथा साहित्य शास्त्रियों के वैचारिक संघर्ष आदि ने कुछ ऐसा रूप धारण किया कि इन सबका अन्त इस परम्परा की समाप्ति के साथ हो गया।

पुनर्जागरणकालीन पाश्चात्य समीक्षा के मानवर्द्ध

प्राचीन यूनानी साहित्य शास्त्र तथा रोमीय साहित्य शास्त्र की इन महान् परम्पराओं के अन्त के पश्चात् ऐतिहासिक वृत्तिकोष से यूरोप में साहित्यिक पुनर्जागरण संगमन बीजहरी पत्रहरी छटाबी में प्रारम्भ हुआ। इस पुनर्जागरण काल से ही योरोपीय साहित्य शास्त्र की इस दृढ़ परम्परा के विकास की भावी सम्भावनाएँ हुईं तथा उसका भागे प्रसार हुआ। इस युग में एक बार पुनः लोगों का ध्यान प्राचीन यूनानी तथा रोमीय उपलब्धियों की ओर आकर्षित हुआ। परन्तु इस पुनर्जागरण काल के पूर्व के साहित्यिक चिन्तन का कोई ऐतिहासिक विवरण कमबख्त रूप में उपलब्ध नहीं है यद्यपि इस काल के बीच भी योरोप में ऐसी विवृत्तियाँ जगतीं जिनकी साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में दैन जमर है।

पुनर्जागरण काल के प्रारम्भिक अनेक वर्षों तक यूरोपियन साहित्य जगत की हलचल मुख्यतः खोज कार्य की ओर ही लगी रही और महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के शोध की दिशा में ही मुख्यतः प्रयत्न किये जाते रहे। इसका कारण यह था कि अब लोगों में यह चेतना जाग्रत हो रही थी कि समाज और वैश्व के विकास में इन वैचारिक परम्पराओं का फ़ितना अधिक महत्व है। इसके अतिरिक्त वह अपनी इन प्राचीन परम्पराओं की समृद्धि की भी अवगति पा रहे थे जो उन्हें विरासत में मिली थीं। वे यह भी अनुभव कर रहे थे कि अब तक जो उन्होंने इस दिशा में उपेक्षा का पाव दिखाया है, वह इन परम्पराओं के ह्रास के लिए फ़ितना बड़ा कारण है। इस कारण अब वे इन उपलब्धियों का संयोजन करना चाहते थे। क्योंकि उनमें विश्वास की वह भावना जगम रही थी कि इन खोजों के भावी विकास की दिशाओं का संकेत इसी प्रकार ही मिल सकता है। इसलिये इस युग में इस कार्य की ओर सबसे अधिक और प्राथमिक

रूप में ध्यान दिया गया कि जो प्राचीन ग्रन्थ इन उपलब्धियों के प्रतीक हैं उनकी खोज हो और उनमें ही विकास के भावी सूत्रों को ढूँढ़ा जाय ।

इसके साथ ही साथ घोषित ग्रन्थों का अनुवाद कार्य भी प्रारम्भ हुआ क्योंकि इन ग्रन्थों में एक बड़ी संख्या उनकी भी जो विविध यूरोपीय प्राचीन भाषाओं में लिखे गये थे तथा जिनका प्रयोग अब या तो पूर्ण रूप से समाप्त हो गया था और या अथ कमसे-कम समाप्त होता जा रहा था । इस प्रकार से अब एक स्वस्थ उपयुक्त और अन्तर्गत साहित्यिक वातावरण तैयार हो गया तब भावी विकास के सूत्र अपने साहित्य के विविध अंगों के विकास की भूमि नयी सम्भावनाओं के साथ बनने लगी ।

इस प्रकार की अवस्था अगम्य पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक रही । सोसहवीं के प्रारम्भ से यूरोप में साहित्य के क्षेत्र में क्रियात्मक रूप से कार्यारम्भ हो गया और इस प्रकार एक नवीन परम्परा का प्रवर्तन हुआ । यह परम्परा अपने साथ पृच्छभूमि के के रूप में पूर्ववर्ती परम्पराओं के अनेक प्रभावों को लिये हुये थी जो इसके विकास का मुख्य आधार हैं । इसलिये पाश्चात्य समीक्षा के विकास की भावी ऐतिहासिक रूपरेखा को समझने के लिये इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है कि मूलतः यह पूर्ववर्ती वैचारिक परम्पराओं की एक महीन कड़ी ही है क्योंकि वे सिद्धान्त प्रायः अधिक मिश्र नहीं हैं जो इन पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्पराओं के मूल प्रेरक रहे हैं । और यही कारण है कि इन विभिन्न परम्पराओं में कास वत भिन्नता और विपरीतता होते हुये भी सूत्र वत एकता के संकेत निहित हैं ।

इसके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण तथ्य भी है जिसे पाश्चात्य समीक्षा के भावी विकास के इतिहास के सम्बन्ध में ध्यान में रखना चाहिए । और वह यह है कि आये बसकर जिन साहित्य सिद्धांतों का निरखन किया गया वे प्राथमिक रूप में या तो पूर्ववर्ती विचारों के पूरक हैं और या उनके विरोधक । कहने का भाव्य यह है कि पश्चिम की प्रायः समस्त वैचारिक परम्पराओं के मूल में कुछ एक ही महान् विचारों के सिद्धान्त हैं, जिन्हें आये जाने वाले कालों में युगानुक्रम बना कर माध्य किया गया । परन्तु इस कथन का अर्थ यह भी न समझना चाहिए कि परवर्ती यूरोपीय वैचारिक इतिहास के क्षेत्र में कभी कोई महीनता न रही । वस्तुतः इन पूर्व विचारों ने सर्वत्र एक प्रकार की कुछ आधारभूमि का कार्य किया है और इसीलिये यद्यपि में उन पर नवीन निर्माण की सम्भावनायें भी अपेक्षाकृत अधिक रही हैं ।

सोसहृदी सताब्दी तक अंग्रेजी समीक्षा

सोसहृदी सताब्दी में प्रारम्भ यह पाश्चात्य साहित्य चिन्तन की परम्परा मुख्यतः अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही विकसित हुई। यद्यपि यूरोप की अन्य भाषाओं में भी बहुधा समय-समय पर महान् साहित्य चिन्तकों और क्रियात्मक साहित्यकारों का आविर्भाव होता रहा, परन्तु इतिहास कम की दृष्टि से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायः सभी यूरोपीय चिन्तकों ने महाद्वीप की सभी भाषाओं के साहित्यों और विचारों को समान और समग्र रूप से प्रभावित किया। इसलिये अपने पृष्ठों में पाश्चात्य समीक्षा का जो विकास कम ऐकात्मक सीढ़ी में प्रस्तुत किया जायगा, उसमें यह दृष्टिकोण होना कि अंग्रेजी समीक्षा की ऐतिहासिक प्रवृत्ति और उसके आधारभूत मानकों के समानान्तर ही यूरोप की अन्य भाषाओं के महान् साहित्य चिन्तकों की वैचारिक दृष्टि का भी संक्षिप्त लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाय।

प्रारम्भ में अंग्रेजी समीक्षा साहित्य के विकास की यह नबोदित परम्परा किसी कमिश्नरी उपसमिति का भाग न कर सकी। यह भी सत्य है कि प्रारम्भिक वर्षों में कोई ऐसी प्रतिष्ठा इस क्षेत्र में न आ सकी जिसकी देन का ऐतिहासिक तथा सर्वगुणित महत्त्व होता। यों जब तक चौसर तथा कैम्ब्रिज आदि विचारक स्कुल रूप में अपने समीक्षा विचारों को प्रस्तुत कर चुके थे परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में कोई स्वतन्त्र कृति ऐसी नहीं मिली गयी थी जिसका इस क्षेत्र विशेष में विशिष्ट और ऐतिहासिक महत्त्व होता। इस सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जाता है कि चूँकि अन्य साहित्यिक क्षेत्रों में भी इस काल में कोई विशेष क्रियाशीलता नहीं थी इसलिये समीक्षा के क्षेत्र में भी लेखन और विकास की भी सम्भावना कम ही थी। इस प्रकार से यद्यपि इस युग में स्वाधीन महत्त्व की कृतियाँ प्रायः कम ही मिली थीं परन्तु साहित्य तथा कर्त्तविक्रम साहित्य में लोगों की रुचि थी और इसके परिणामस्वरूप समीक्षा को भावी विकास के घुन अवसर मिले।

स्टीफेन हॉज

परिचय तथा कृतियाँ :—

इस प्रकार से पन्द्रहवीं सताब्दी के अन्तिम वर्षों तक अंग्रेजी समीक्षा का कोई रूप स्मर न हुआ था। सोसहृदी सताब्दी के प्रारम्भ में उसकी आधारभूत भूमि का निर्माण

अवस्थ हो गया। चौसर के काव्य और जीवन के मेरजा ग्रहण करके अनेक प्रभावों साहित्य के क्षेत्र में अपनी विचारमत्तता का परिचय देने लगी थी। इनमें स्टीफेन हॉज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका समय सोसहवीं सताब्दी ही माना जाता है।^१ यह चौसर के स्कूल का एक कवि था। इसकी पुस्तकों में 'दि पास्टाइन आफ प्थर' विशेष प्रसिद्ध है, अंग्रेजी साहित्य के क्षेत्र में एक समर्थ कवि के रूप में इसे मान्यता प्राप्त हुई थी। इसकी एक बड़ी बात यह भी है कि इस परम्परा के विकास के प्राथमिक काल में इसने अंग्रेजी साहित्य के स्वरूप निर्धारण की दिशा में भी महत्वपूर्ण योग दिया।

सर टॉमस बिस्सन

परिचय तथा कृतियाँ :-

साहित्यिक क्षेत्रों में यह प्रतिस्पर्धी हॉज के समय से विकसित होने लगी। हॉज और उसके समकालीन साहित्यकारों का इसमें महत्वपूर्ण हाथ रहा था। इस समय समुद्र की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा बहुत उन्नत नहीं समझी जाती थी। इस युग के अनेक लेखकों ने इस युग में साहित्य की सर्वांगीण उन्नति के निम्न प्रयत्न किया था। हॉज के बाद इस दिशा में उत्पन्न उल्लेखनीय नाम सर टॉमस बिस्सन का है। इसका समय सन् १५२५ से लेकर १५८१ तक अनुमानित किया जाता है।^२ इसकी शिक्षा कैम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में हुई थी। यह प्रिन्सी कीथिंग का सदस्य तथा सेक्रेटरी आफ स्टेट भी रहा था। इसने विभिन्न साहित्यिकों के स्वरूप निर्धारण तथा व्याख्या विस्तार के क्षेत्रों में प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्स्थापन की चेष्टा की। स्पष्ट रूप में उसने साहित्य के निम्न निम्न रूपों और उत्तमों पर अपने समीक्षामय विचार प्रस्तुत किये। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि उसके समय में सर्वप्रथम पात्रों की चारित्रिक यथार्थता और विश्वसनीयता का महत्व प्रतिपादित किया गया।

1 "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey p. 358.

२ इ.पू. ५०-८१३।

विस्सन ने सन् १५२१ में 'कम माफ रिमीजन' १९२३ में "आर्ट माफ रिटारिक" नामक पुस्तकें प्रकाशित कीं।^१ इन में से द्वितीय का अंग्रेजी साहित्य के विकास के इतिहास में विविध महत्व है। यद्यपि यह अपने विषय की सर्वप्रथम रचना नहीं कही जा सकती। इस पुस्तक में भी विस्सन ने भाषा सम्बन्धी अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। विस्सन के महत्व का एक कारण यह भी है कि उसने साहित्य और कला विषयक प्राचीन सिद्धान्तों का मूल्यांकन करते हुए समय की आवश्यकता के अनुसार एक नवीन दृष्टिकोण से साहित्य शास्त्र के पुनर्निर्धारण का प्रयत्न किया था।

भाषा पर विचार :—

विस्सन ने अपने युग की साहित्यिक गतिविधि को समझा और उससे सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं के हल ढूँढने की दिशा में कार्य किया। इसी क्रम में उसने भाषा के विषय में भी विचार किया और अपने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये। भाषा के सुधार और विकास की ओर विस्सन ने विशेष रूप से ध्यान दिया। इस सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण परम्परावादी था। भाषा को समृद्ध बनाने के लिये वह विदेशी भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने के पक्ष में नहीं था। परन्तु फिर भी भाषा की कुछ कमियाँ और अभावों को दूर करके उसे उपयुक्त बनाने के विचार से उसने इस बात का समर्थन किया था कि यूनानी तथा लैटिन भाषाओं के कुछ शब्दों को अपना लिया जाय। यों भी इन दोनों भाषाओं के साहित्य इस समय मूल प्रेरक स्रोत हो रहे थे। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विस्सन ने परम्परागुणमिता और शास्त्रीयता का समर्थन किया और नवीनता को प्रथम देने का विरोध किया।

महत्व —

विस्सन के विचारों का महत्व भाषा शास्त्र के विकास में भी विविध है। उसने भाषा शास्त्र के प्राचीन तथा शास्त्रीय सिद्धान्तों के पुनर्स्थापन की दिशा में आविष्कारी प्रयत्न किया। यद्यपि इस प्रयत्न की प्रतिक्रिया के रूप में कोई तत्कालिक क्रियात्मकता इस क्षेत्र में न अभिव्यक्त की जा सकी। परन्तु उसके इस कार्य का इतना परिणाम अवश्य हुआ कि कई अन्य विचारक भी इस दिशा में क्रियात्मकता का परिचय

द्वेने सग । इस सम्बन्ध में यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस युग में भाषण शास्त्र के किन्हीं नवीन तत्त्वों की स्थापना करने के प्रयत्न बहुत कम हुए । अधिकोद्यत प्राचीन साहित्य शास्त्रियों द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों का समर्थन और अनुमन ही अधिकोद्यत किया गया । युगीन परिस्थितियों के सर्वलौकिक ज्ञान को इस काल में भाषण कर्ता के लिये एक अतिरिक्त नियम के रूप में मान्य किया गया । भाषण शास्त्रीय सिद्धांत के परिचय की महत्ता प्रतिपादित करने के साथ ही साथ व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभव के सम्बन्ध में भी कुछ नियमों का निर्धारण हुआ ।

संक्षेप में विषय का सम्यक ज्ञान विषय के कक्षापूर्ण प्रयोग विषय के अनुरूप धीमी में अभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण भाषण के लक्ष्य बताये गये । असंस्कृत सामंजसिक परन्तु स्पष्ट धीमी पर विशेष गौरव दिया गया । धीमी की सफलता ब्रूक भाषा पर ही मुख्यतः निर्भर करती है, अतः विषयानुसार भाषा रचना के लिये उनके अनुरूप व्यवस्था की जा कर अनुमोदित किया गया । विदेशी भाषाओं के उन्हीं शब्दों का प्रयोग बांझनीय बताया गया जो आवश्यक हों । सामंजसिकता तथा सौन्दर्यमयता के तत्त्वों को भी समर्पित किया गया ।

सर जॉन ब्रूक

परिचय तथा कुतिया ३—

सर टॉमस बिस्मर के सहयोगी और समकालीन सर जॉन ब्रूक का समय लग १६९४ से लेकर १६९७ तक माना जाता है ।^१ यह एकदम अप्ठम का दूरदूर था । इसने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में ग्रीक के प्राध्यापक के रूप में शिक्षण कार्य भी किया था । इसने ग्रीक भाषा से लेटिन में अनेक अनुवाद भी किये थे । यद्यपि इसने भीतिक रचनाएँ बहुत कम लिखी थीं परन्तु इसकी सरल और प्रभावशाली भाषा धीमी इसकी श्रेष्ठ प्रतिभा का परिचय देने में समर्थ है । यह किसी महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना हास्यीक न कर सका

1 "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey p. 153.

परन्तु इसका महत्व उच्च साहित्य के अध्येता और अध्यापक के रूप में बहुत अधिक है। बीक के समय अंग्रेजी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में कुछ ऐसी समस्या उपस्थित थी, जिनका हल निकालने बिना उनके विकास की सम्भावनाएँ बहुत कम थीं। अपने सम-कालीन अन्य साहित्यकारों के साथ बीक ने भी इस बात का समर्पण किया कि विदेशी भाषाओं विद्यार्थी ग्रीक तथा लैटिन से आवश्यक शब्दों को ग्रहण कर लिया जाय। यों वह भाषा का विकास उसकी स्वाभाविक गति के अनुरार होने देने का पक्षपाती था। साहित्य के क्षेत्र में वह नवीनता के तत्वों का विरोधी और छात्राधीनता का समर्थक था।

राजर अशॉम

परिचय तथा कृतियाँ —

राजर अशॉम का समय सन् १४१४ से लेकर १४६८ तक स्वीकार किया जाता है।^१ इसकी शिक्षा बीसा कैम्ब्रिज के सेंट जॉस कालेज में हुई थी। वहाँ इन्होंने नैतिकशास्त्र साहित्य में विशेष योग्यता विकसित की और सन् १४२८ में बीक का पीछर हो गया। सन् १४४२ में इन्होंने अपना 'टाकसो बिसस' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया जो सम्भव है ही में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में इन्होंने शिक्षा में 'एडिबिकल ट्रेनिंग' के महत्व को भी स्पष्ट किया है। सन् १४४८ में अशॉम प्रिंसस एलिजाबेथ का ट्यूटर हो गया और सन् १५४०-४१ में इन्होंने सर टामस मोरीसन के सचिव के रूप में सारे महाद्वीप का भ्रमण किया। फिर यह महाद्वीपी मेरी का लैटिन सचिव बन गया। इसका "स्कूल मास्टर" नामक ग्रन्थ इसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में इन्होंने बच्चों की शिक्षा के स्वरूप और अनुशासन आदि पर अपने विचार प्रकट किये हैं। इन्होंने सरल अंग्रेजी धेसी के विकास पर बल दिया।

जीवन और साहित्य पर विचार —

अशॉम अशॉम की जिन पुस्तकों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त अशॉम के लिखे हुए ऐसे अनेक पत्र हैं जिनमें उसने प्रासंगिक रूप से साहित्य शास्त्र के विविध

1 "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey p 43,

पक्षों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। ये विचार उनके सिद्धान्तों का परिचय देने में समर्थ हैं। अर्थात् का यह मत था कि जर्मनी भाषा को अपने विश्व के विषय में अधिक अपने आप करनी चाहिये। भाषा की समृद्धि के लिये ही यदि आवश्यक हो तो वह कुछ विदेशी भाषाओं के उपयुक्त शब्द ग्रहण कर लेने के पक्ष में था। उसका साहित्य विषयक दृष्टिकोण परम्परावादी था और वह भी नवीनता के तथ्यों को अधिक प्रस्तावित देने का विरोधी था।

उसका यह भी विचार था कि अनुवाद कार्य शिक्षा के माध्यम के रूप में तो मान्य हो सकता है परन्तु उसने कोई साहित्य प्रगति नहीं कर सका। बुर्गिन साहित्यिक वातावरण के संदर्भ में अर्थात् का यह विचार बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि ऐसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है इस युग में प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों के अनुवाद की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जा रहा था। इस एक साथ यह तो अवश्य हो रहा था कि विविध विषयों पर क्लासिकल महत्व की पुस्तकें साहित्य में उपलब्ध हुई जा रही थी और लोगों को उनकी उपलब्धियों का परिचय मिल रहा था परन्तु उसके साथ ही साथ हमसे जो सबसे बड़ी हाजि हो रही थी वह यह थी कि कुछ लोग इस अनुवाद कार्य को ही अपने साहित्य के यन्त्रों के स्थान पर और कर्तव्यों की इति समझ बैठे थे। इसलिये अर्थात् ने इस तथ्य की ओर साहित्यकारों का ध्यान सबसे प्रथम आकर्षित करवाया।

अर्थात् साहित्य में नाटकीयता के तथ्यों के समावेश का भी बहुत अधिक समर्थन नहीं करता था क्योंकि वह यह समझता था कि इनके समावेश से साहित्य की उच्चता का हानन होता है। अर्थात् का यह भी विचार था कि स्वदेशी भाषा को किसी भी स्थिति में विदेशी भाषाओं के इतने अधिक शब्द नहीं ग्रहण करने चाहिये जिनके कारण उसकी स्वतन्त्र विशेषतायें समाप्त हो जायें और वह एक प्रकार की मिश्रित भाषा बन जाय। चीकें तथा सीडमर आदि से वह वैज्ञानिक मतभेद रखता था। यह एक उत्प्रेक्षणीय तथ्य है कि उसके समय तक जर्मनी गद्य की विकास पनि मन्द थी। इस कारण गद्य रूपों के वैज्ञानिक विवेचन की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया।

ऊपर जिन तीन समीक्षकों का उल्लेख किया गया है, वे तीनों "प्रथम दूरदर्शी समीक्षक" कहे जाते हैं।^१ ये तीनों ही समकालीन मित्र तथा कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के

सदस्य थे। इन तीनों में बीच ज्येष्ठतम था और उसका व्यक्तित्व इन सबमें सबसे अधिक प्रखर था। परन्तु वहाँ तक साहित्यिक महत्व का सम्बन्ध है उसकी रचना की अपेक्षा अर्थों और विस्तार की दृष्टि का महत्व ही अधिक माना जाता है। यों इस "ट्यूटर स्कूल" का मुख्य प्रतिनिधि अर्थों को ही माना जाता है। अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में उसकी उपलब्धियाँ अधिक मान्य हैं। एक साहित्य छात्रों के रूप में भी उसके विचार अपेक्षाकृत अधिक सुलझे स्पष्ट तथा निबिबाध रूप से महत्वपूर्ण हैं।

पुनर्जागरणकालीन साहित्य परम्परायें और समस्यायें

इस काल तक अंग्रेजी भाषा में काव्य के क्षेत्र में शास्त्रीय छन्दों को ही स्वीकृति मिलती थी। लयात्मकता को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। इस काल में क्लासिकल कृतियों का ही प्रचार अधिक था। शास्त्रीय छन्दों के प्रचार की दृष्टि से सबसे अधिक प्रारम्भिक प्रयोग इटली में हुये। यद्यपि इन्हें उस में भी प्रचलित किया जा चुका था। यों वहाँ तक फ्रांस का सम्बन्ध है वहाँ इससे पूर्व काल से ही छन्द शास्त्र के ठोस शास्त्रीय नियम निर्मित हो चुके थे और वहाँ इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। इटली में भी वहाँ के अनुकरण पर इसका प्रारम्भ किया गया और प्रयोगात्मक रूप से इंग्लैंड में भी इसका प्रारम्भ हुआ।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उस समय मुख्यतः तीन छन्द शैलियों का ही प्रचलन था जो एक दूसरे के विपरीत थीं। चौसर ने जो विभिन्न छन्द प्रचारित किये थे उनको अधिक प्रयोग में लाया जाता था। विभिन्न समाजीय यथा विभिन्न क्षेत्रीय छन्द शैलियों के मिश्रण पर नवीन छन्द शैलियों के रूप निर्माण की विद्या में भी इस काल में पर्याप्त सक्रियता रही। कुछ साहित्यकारों ने इटैलियन आदर्शों के अनुकरण पर भी अंग्रेजी काव्य की गठनात्मकता की दृष्टि से सुबुद्ध रूप प्रचार करने की चेष्टा की। ये प्रयोगवादा में अंग्रेजी साहित्य में "थीक वर्स" के माग से मान्य हुये। इस क्षेत्र में चौसर, सीगमैड तथा स्केलटन आदि की रचना विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार से इस परम्परा को कुछ समय के पश्चात् वायट सर तथा स्पेंसर के द्वारा विकास मिला। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि छन्द शास्त्र के निर्माण के क्षेत्र में इटली सक्रियता के होते हुये भी किन्हीं शास्त्रीय नियमों की रचना न

की जा सकी। कुछ प्रयोगों में यदि कुछ साहित्यकारों को सफलता प्राप्त हुई, तो अनेक में उनके प्रयोग से भाषा के सौन्दर्य और माधुर्य बाधित गुणों को समाप्त कर दिया। परन्तु प्रयोग काल के पश्चात् अन्त में कुछ विवेकशील साहित्यकारों ने इसी मत का प्रतिपादन किया कि अन्ततः दास्यीय छन्द ही उपयुक्त होंगे, क्योंकि वे देख रहे थे कि नये नये प्रयोगों से कोई उपलब्धि नहीं हो रही थी। पुनर्जागरण काल में पूर्ववर्ती आलोचना परम्पराओं के अनुसार तुलनात्मक समीक्षा की प्रवृत्ति को अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया गया। अब भी साहित्यिक आदर्श हीक और मैट्रिन साहित्यों द्वारा ही निर्धारित होते रहे। इस युग की अंग्रेजी समीक्षा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि स्वतन्त्र और व्यावहारिक समीक्षा के सिद्धांतों का सम्मिश्रण है।

बैसा कि ऊपर कहा गया है, इस समय समयगण ही वर्षों तक अंग्रेजी समीक्षा और साहित्य के विविध क्षेत्रों में जिन प्रांतिकारों का प्रभाव व्याप्त रहा उसमें टॉमस बाट्सन टायस ड्राइट एडमंड स्पेंसर, हार्ने जार्ज मैक्काइन तथा स्टीफेन मॉसिन आदि के नाम विशेष रूप के उल्लेखनीय हैं। इन सभी ने साहित्य और समीक्षा के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न प्रश्नों को उठाया और उनका सम्यक विश्लेषण किया। इस सारे समय के बीच साहित्यिक वातावरण आमरूपता से परिपूर्ण रहा। निम्न निम्न नार्मिक और राजनैतिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध प्रभावशाली व्यक्तियों ने भी साहित्यिक प्रतिनिधि को कवि के साथ बसोका और उसमें सक्रिय रूप से भाग लिया। इनमें से कुछ ने यदि साहित्य या कला के किसी विशिष्ट समर्थक बन से सहयोग किया तो बहुतों ने उससे भोर विरोध भी प्रकट किया। उदाहरणार्थ इस समय बहो प्यूरिटन दल वाले अधिक प्रभावशाली हो रहे थे। उन्होंने साहित्य और काव्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण करने वाले इन आन्दोलनों का तो विरोध किया ही मूलतः काव्य कला से ही उनका विरोध किया।

इसी प्रकार से अन्य लोगों और वर्गों ने केवल इस कारण से ही इस सारे साहित्यिक आंदोलन में भाग लिया और विविध साहित्यिक आन्दोलनों का समर्थन किया क्योंकि उन्हें उच्च दल विरोध का विरोध करना था जैसे ही वह साहित्य या किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो। कुछ भी हो इस सबका कम से कम इतना परिणाम अवश्य हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में विमोक्षता की गिरफ्तार बुझि होती रही। फिर कत्रण साहित्य विरोधी आन्दोलन भी क्षीण होने लगे। साहित्य की सीमाओं, मूल्यों और क्षेत्र आदि

से सम्बन्ध रखने वाले मत बावों का पुनर्वीक्षण हुआ और इस प्रकार से उसे भावी विकास की गति मिली ।

इससे एक बात यह भी हुआ कि प्राचीन साहित्यिक विचारधारामें में बिटनी कठिनायिता या अन्धविश्वास या भीरे-भीरे बह बचने लगा । अब साहित्यकार जन-नेतृता का प्रतिनिधि तो स्वीकार किया जाने लगा, परन्तु ईश्वरीय प्रतिनिधि नहीं । इसी प्रकार से साहित्य काव्य और कला के क्षेत्र में कार्य करने वालों में अपने मुहल्ले शामिल को समझा और उसके निर्बाह की विद्या में प्रयत्नशील हुए । इस प्रकार से समीक्षा के विकास की परम्परा की यह कड़ी अब अपनी छताम्बी से बड़ हुई ।

पिछली छताम्बी में टामस हूट आदि की सैन छन्द शास्त्र के स्वल्प निर्माण की दृष्टि से महत्व की है । उसने सैटिन छन्द शास्त्र के आधार पर अंग्रेजी छन्दों के नियम निर्धारित किये । अंग्रेजी साहित्य के माध्य समीक्षकों के इन नियमों को स्वीकृत और अनुमोदित किया गया । परन्तु यह एक विचित्र बात रही कि इनके द्वारा निर्धारित नियमों का पालन होने पर काव्य सौन्दर्य कमरा समाप्त होने लगा, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टि से सैटिन तथा अंग्रेजी भाषाओं में भारी बिपयता थी और एक के आधार दूसरे के लिये अनुकरणीय नहीं थे । वैस्कोगान और ईनियल आदि समीक्षकों ने सैद्धांतिक के स्थान पर अब व्यावहारिक आलोचना के विकास पर अधिक धन दिया । इन लोगों ने स्वयं भी काव्य समीक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया ।

यहाँ पर बह उत्पन्न है कि वैस्कोगान ने स्वयं अपने समय में प्रचलित काव्य सिद्धांतों से मत बदल्य प्रकट किया है । उसने भाषा और काव्य की अन्य विषयताओं और मर्यादाओं की ओर संकेत करते हुए प्रचलित छन्द नियमावली का विरोध किया । उसने काव्य में निबधितता तथा बक्यता पर अधिक गौरव दिया । उसने काव्य सिद्धांतों के प्रतिपादन के कुछ निबधित आदसों पर धन दिया और उनकी कदरेबा स्पष्ट करने का प्रयास किया । उसने यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया कि काव्य रचना में भाषा सत्त्व अनुरणीय नहीं ठहराया जा सकता और बहुत कुछ काव्य सौन्दर्य भाषा पर ही निर्भर करता है । अंत में उसने अंग्रेजी छन्द शास्त्र के पूर्ण रूप से संशोधन पर धन दिया और औसर आदि के सिद्धांतों का अनुगमन करने को हितप्रद बताया ।

अंग्रेजी साहित्य में इस समय जब धार्यामाय की जो ध्यापक सवस्या उपस्थित थी उसका निराकरण करने के लिये स्वैर ने यह अनुमोदित किया कि अंग्रेजी

समय बहार को सम्यक् बनाने के लिये बीच तथा सीटिंग भाषाओं में बृहत् संख्या में सम्यक् ग्रन्थ कर लेने चाहिये । साहित्य या काव्य विषयक माध्यमों के सम्बन्ध में वह व्यंज्य और अनुपम करने का पक्षपाती था । वह अंग्रेजी काव्य के कसारमक रूप विकास में विशेष अभिरुचि रखता था ।

स्वेंडर के प्रकाशक मैक्सिम हारने ने काव्य सिद्धांतों के निर्धारण में बहुत योग दिया । वह प्रचलित सूत्रों में से प्रत्येक को मान्य करने के पक्ष में नहीं था । यह ब्रिट के द्वारा प्रतिपादित निर्धारित सूत्र छात्सीय सिद्धांतों से सहमत रखता था । यह सर्वत्र इस बात पर बल देता था कि किसी भी भाषा के साहित्यिक विकास के लिये वैज्ञानिक व्याकरणिक तथा सैद्धांतिक सहायि विनाशक आवश्यक है । इसने व्यावहारिक अंग्रेजी समीक्षा की प्रणति को भी आवश्यक बताया ।

सॉड

प्रमुख विचार :—

सॉड ने काव्य सिद्धांतों के छात्सीय रूपों पर बहुत बल दिया है । वह यद्यपि अपनी मुक्तिपक्ष बातों का भी पुष्ट रूप से समर्थन नहीं कर पाया परन्तु उसने अपने उन विरोधियों को सर्वत्र कठोर उत्तर दिये जो उसके विचारों से अक्षरम ही साहित्य पर आरोप करते रहे थे । अपने समकालीन आरोपकों, विशेष रूप से मैक्सिम हारि के ठकों का उसने बहुत ही मुक्तिपक्ष उत्तर दिया । जैसा कि ऊपर उक्त किया गया है, इस युग में अनेक समकालीन अंग्रेजी व्यक्तियों ने साहित्य के क्षेत्र में अनाधिकृत रूप में प्रवेश या किया था । वे साहित्य की अर्थव्यवस्था बहाल करने और उसे प्रचारित होने देने के विरोधी थे । सॉड ने ऐसे मत बातों का यथोचित विरोध किया और विविध साहित्यिकों के पुर्नो के उन्हें परिचित करने की चेष्टा की ।

सर फिलिप सिडनी

परिचय तथा हस्तियाः—

सर फिलिप सिडनी का समय सन् १५२४ से लेकर १५९६ तक माना जाता

है।^१ यह बायरलैंड के तृतीय सार्ज डिप्टी सर हेनरी सिडनी का पुत्र था। इसकी शिक्षा बक्सफोर्ड में हुई थी। सन् १९७२ से १९७५ के बीच इसने फ्रांस वास्ट्रिया, वेनिस, जिनैवा पैरुवा आदि स्थानों का भ्रमण किया। यह "ऐरोपेगस" नामक कवय का सदस्य भी बना, जो एक साहित्यिक संघ था और जिसके प्रमुख सदस्यों में स्वीडर, फरक सेमीस, हारवे तथा डायर आदि थे। अपने युग के तथा परवर्ती कवियों पर इसका बसाधारण प्रभाव था। इसकी कोई भी कृति इसके जीवन काल में नहीं प्रकाशित हुई इसके ग्रंथों में 'आर्केडिया' का प्रकाशन सन् १९९० में हुआ।^२ इनके अन्य ग्रंथों में 'एपामोनी फर पोमट्री' (डिफेंस आफ पोमट्री) विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसका स्थाग इस युग की महत्वपूर्ण कृतियों में है।

सिडनी की काव्य विषयक मान्यताएँ :—

सिडनी ने काव्य विषयगत रोमांस का समर्पण किया है। जर्मनी समीक्षा क्षेत्र में सिडनी की काव्य विषयक मान्यताओं का महत्व इसलिये भी विविष्ट है, क्योंकि उसने काव्य कला को उसका पूर्ण गौरव प्राप्त कराने में महत्वपूर्ण योग दिया। वैसे कि पीछे कहा जा चुका है, इस समय तक काव्य विषयक सामान्य बारबाडा में परिवर्तन हो चुका था इस कारण काव्य को उसका गौरव पुन प्राप्त कराने के लिये यह आवश्यक था कि काव्य विषयक सामयिक बारबाडों को परिवर्तित किया जाय और काव्य विरोधियों के तर्कों का युक्तियुक्त उत्तर दिया जाय। सिडनी ने इस कार्य को सफलतापूर्वक किया। उसने काव्य के महत्व को प्रतिपादित करते हुये इतिहास नुसार उसकी मान्यता का विवरण प्रस्तुत किया।

कवि का महत्व :—

सिडनी ने इस मत का अनुमोदन किया कि कवि सर्वत्र होता है। इस कारण से उसका स्थान अन्य क्षेत्रीय विचारकों की अपेक्षा उच्च होता है। कवि का महत्व इस कारण भी है क्योंकि संसार में जिसकी भी कमी है, उन सबका प्रयोगन सद्-आचरण है और इस दृष्टि से उनमें और काव्य में कोई उद्देश्यगत भिन्नता नहीं है। उसने

1 "The Oxford Companion to English Literature", Sir Paul Harvey p. 723.

२ वही, पृ० ७२३।

बनाया कि काव्य से नतिक शिक्षा और सर्व-व्याख्यान की प्रेरणा मिलती है। साथ ही साथ काव्य इनके जन्म की संभावनाओं की भी सृष्टि करता और इन प्रकार के असद्व्याख्यान के लिये अधिक सुझाव नहीं रह जाती है। मिडनी ने सर्व इच्छा को ही मूल और तबिल प्रेरक दृष्टि माना है, क्योंकि अमर्ष इच्छा के माध्यम से कवि की पूर्णत्व का बोध नहीं हो सकता।

काव्य और अनुकरणात्मकता —

सिडनी काव्य का अस्तित्व की ही भाँति अनुकरण का माध्यम मानता था। मार्नकारिक भाषा में उसने काव्य को सबसे बिल माना जिसका उद्देश्य यूनानी भाषाओं के अनुसार आनन्दानुभूति और उपदेशात्मकता है। उसके मत के अनुसार काव्य कला अनुकरणात्मक होता है और इसीलिये काव्य एक बोधने वाले चित्र के समान होता है जिसका प्रदायन उपदेशात्मकता तथा आनन्द की सृष्टि है। इस प्रकार से उसने काव्य के इन्हीं दो उद्देश्यों पर बल दिया है क्योंकि वह उसी काव्य को खेच स्वीकार करता था जो इन गुणों से युक्त हो। ये गुण एक प्रकार की अन्तर्निर्मिता के सम्बन्ध से बढ़ हैं क्योंकि जो काव्य आनन्दमय नहीं है, उससे यह आना करना निश्चय है कि उसमें उपदेशात्मकता का गुण विद्यमान होगा।

इस प्रकार से सिडनी ने न केवल काव्य के उच्च प्रयोजन और गुणों की महत्ता प्रतिपादित की है, बल्कि उसके आधार पर उसने काव्य पर लपेटे जाने वाले अपने समकालीन समीक्षकों के आक्षेपों के भी उत्तर दिए हैं। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि सिडनी ने काव्य के इन गुणों को उसके अन्य रूपों के सम्बन्ध में भी सामान्यतः मान्य ही व्यूहाया है।

काव्य के रस —

काव्य के रसों के विषय में विचार करते हुए सिडनी ने बताया है कि अन्य उच्च काव्य के वर्णन का एक भाग है। उसके विचार से अन्य का महत्व बलिष्ठा के लिए इस कारण भी है कि क्योंकि वह उसके लिये आवश्यक है। अन्य कारण के निर्माण की समस्या के सम्बन्ध में उसने टामस हूट के बताये हुये नियमों का समर्थन किया यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से वे उपयोगी न प्रमाणित हुये। सैद्धांतिक क्षेत्र में वह शास्त्रीयता का समर्थन था और कला को प्लेटो की भाँति अनुपम के अनुभव के बहिष्कारीकरण का माध्यम मानता था।

जैसा कि ऊपर कहा गया है वह काव्य का सत्य इसलिये भी उच्चतर मानता था क्योंकि उसके विचार से वह जीवन के स्तरीकरण का माध्यम तो है ही स्तरीकरण की सम्भावनायें भी उदात्त करता है। इसीलिये उसने काव्य को अग्य ज्ञानों से भेष्टतर तथा कवि को अग्य शास्त्रज्ञों से उच्चतर पर का अधिकारी माना है। इस दृष्टिकोण का एक कारण यह भी है, क्योंकि उसने जीवन के स्तरीकरण के अग्य माध्यमों तथा साधनों की अपेक्षा काव्य को अधिक व्यवहृष्ट भी प्रतिपादित किया है।

सिद्धी की रेल :—

ऊपर सिद्धी की जिस पुस्तक 'एपॉलोनी फार पोयट्री' का उल्लेख किया गया है वह अपनी अनेक सीमाओं के होते हुए भी इस युग में निखी यमी कृतियों में असाधारण महत्त्व की सिद्ध हुई। सिद्धी के अधिकांश साहित्य सिद्धांत उसकी इसी पुस्तक में उपलब्ध हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है वह रोमांस का समर्थक था। उसने काव्य या साहित्य में क्या तत्व को सर्वत्र प्रादुर्भाव और मर्यादित माना है। मात्र की ही भाँति इसने भी वैसपन के विचारों का खंडन किया है। उसने काव्य को अनुकरण का माध्यम तो माना ही अनुकरण के प्रकारों की भी व्याख्या की। उसने इन प्रकारों का विषयों के अनुसार विभाजन भी किया। साहित्य में उसने पद्य की महत्ता पद्य से अधिक प्रतिपादित की है।

सिद्धी ने अपने युग में सर्व प्रथम अंग्रेजी काव्य से विकास का अध्ययन करते हुये उसकी उपसम्भियों को जीका। अंग्रेजी काव्य की अपरिपक्वता के कारणों की ओर संकेत करते हुये उसने बताया कि अंग्रेजी कवियों ने कभी भी शास्त्रज्ञों के हाथ निर्धारित और अनुमोदित सिद्धान्तों के पूर्णरूपेण पालन की आवश्यकता नहीं समझी। सिद्धी साहित्यिकों के मिथित कर्णों का सदा विरोधी रहा।

काव्य विभाजन :—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सिद्धी ने काव्य का विभाजन दो कौटियों में किया— (१) प्राचीन यूनानी काव्य तथा (२) आधुनिक यूनानी काव्य। इनमें से प्रथम वर्ग का काव्य अधिकांशतः मात्रा पर निर्भर करता था तथा द्वितीय वर्ग का काव्य संख्या उच्चारण तथा लय पर। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि अपनी पुस्तक 'एपॉलोनी फार पोयट्री' में उसने काव्य विषयक जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें अपने युग में

तो पर्याप्त साम्यता प्राप्त हुई ही परवर्ती काल में भी उनका बहुत व्यापक प्रभाव रहा। दूसरे शब्दों में यह कृति एक युग प्रवर्तक रचना सिद्ध हुई।

इसकी इस असाधारण महत्ता का एक कारण यह भी है कि इस पुस्तक में युमीन चेतना के स्वर बोधते हैं। परन्तु इस कथन का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि सिडनी का अपने समकालीन सभी चिन्तकों से सर्वोत्तम या अव्यय यह भी कि उसकी यह कृति सर्वथा निर्वोष है। वास्तव में सिडनी अपने समकालीन अनेक विचारकों से सर्वोत्तम न रहता था। बहुत सी साम्यताओं का भी वह बिगोबी था और बहुत से विषयों में दूसरों से मतभेद के बावजूद भी कुछ था। उदाहरण के लिये वह काव्य में तत्परमकता के तत्त्व का विरोधी न था। उसने काव्य के पसीकरण पर स्फुट रूप से कुछ विचार प्रकट किये हैं। दुर्भाग्यवश उसके इन विचारों ने समीक्षकों का ध्यान अधिक नहीं आकर्षित किया।

सिडनी के प्रमुख विचार :—

संक्षेप में सिडनी के प्रमुख विचार दो हैं। प्रथम यह कि काव्य में पद्य तत्त्व अनिवार्य है। परमपरमकता का तत्त्व काव्य में कुछ इस प्रकार से अनिवार्य रूप में समाविष्ट रहता है कि उसे छन्द से छूटा नहीं किया जा सकता। और द्वितीय यह कि विविध साहित्य रूपों में आधुनिक दृष्टि से ट्रेजेडी या कॉमेडी बहुत सम्मानित या स्तरीय नहीं हैं।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, सिडनी का यह दृढ़ विश्वास था कि पद्य गद्य से श्रेष्ठतर होता है। वह साहित्य में मिश्रित रूपात्मक या प्रसादात्मक रचना का भी सैद्धान्तिक विरोध करता था। वह काव्य को शरीर और आत्मा से युक्त मानता था। उसका विचार था कि जबकि काव्य में शरीर और आत्मा दोनों ही होते हैं इसलिये जहाँ तक उसके अलंकरण का सम्बन्ध है उसके शरीर को तो अलंकरण से सुन्दर बनाया जा सकता था परन्तु आत्मा को सर्वोत्तम युक्त बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसका विषय अथवा बहुत ध्यानपूर्वक किया जाय। दूसरे शब्दों में वह काव्य के बाह्य स्वरूप को सुन्दर बनाना आन्तरिक रूप को सुन्दर बनाने की अपेक्षा सरल समझता था।

सिडनी का महत्त्व :—

सिडनी अपने युग की सर्वप्रमुख साहित्यिक विभूति था। अंग्रेजी समीक्षा के इतिहास में उसका स्थान आज भी निश्चित माना जाता है। सिडनी के विषय में यह एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तथ्य है कि उसमें प्रगल्भ साहित्य के साथ ही साथ उच्च कोटि की

सृजनात्मक प्रतिभा भी विद्यमान थी। इसीलिये उसका साहित्यिक क्षेत्र केवल साहित्य सिद्धान्तों तक ही सीमित न रहा बल्कि विद्यात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उसने विभिन्न साहित्याचार्यों के माध्यम से अपनी भावनाओं और अनुभूतियों को कलात्मक रूप से अभिव्यक्ति प्रदान की।

युगीन वातावरण के सम्पर्क में यदि हम सिङ्गी के विचारों का अध्ययन करें, तो हमें इस तथ्य का परिचय मिलेगा कि सिङ्गी अपने समय में काव्य या साहित्य के प्रति दिखाये जाने वाले उपेक्षा भाव से बहुत अधिक असन्तुष्ट था। उसकी दृष्टि में वह एक विभिन्न स्थिति थी कि काव्य या साहित्य का महत्व उच्च कोटि की चेतना से सम्पन्न विचारकों की दृष्टि में घट जाय यद्यपि वह इसे प्रत्यक्षतः देख न अनुभव कर रहा था। एक प्रकार से उसके लिये ऐसी स्थिति अकल्पनीय और सर्वथा अतर्क्य थी। अतः उसने मुख्यतः इस बात का कुछ निराकरण कर लिया कि वह अहाँ तक हो सकेगा तत्काल इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले प्रामाणिक विचारों और मर्तों का निर्मूलन करेगा। उसने इस विद्या में कार्य करना आरम्भ कर दिया और उसे अपने इस कार्य में सफलता भी मिली।

सिङ्गी की कृति "एपालोकी आफ पोयट्री" को देखने पर यह प्रतीत होता है कि सिङ्गी की काव्य विषयक चारणाओं और विचार एक प्रकार के पुनीतता के भाव से परिपूर्ण हैं। इसीलिए वह स्वान स्वान पर कविता के माध्यम के लिये कविता की देवी जैसे शब्दों का प्रयोग करता रहा है, जो इस साहित्य माध्यम के प्रति उसकी अगाधता का परिचायक हैं।

सिङ्गी ने जो कवि को एक प्रकार का सप्टा कहा है। वह भी उसके इस माध्यम के प्रति उच्च भाव का सूचक है। ऐतिहासिक परीक्षण और युगीन अध्ययन के आधार पर सिङ्गी न कवि का अन्य कलाकारों और शार्समिकों से उच्चतर स्थान का अधिकारी बताते हुये यह कहा है कि एक सप्टा के रूप में कवि द्वारा की गयी सृष्टि मूल रूप से उसकी प्रतिभा द्वारा ही प्रेरित और उसी पर आधारित होती है। उसने इस कथन का विरोध किया है कि कवि द्वारा की गयी यह सृष्टि पूर्णतः वास्तविक ही होती है क्योंकि उसका यह विचार है कि कवि जो कुछ भी रचा है वह अपनी प्रतिभा से और उसकी उस योजना से जो पहले उसके मस्तिष्क में विचारों के रूप में तैयार हो चुकती है। इसीलिए कवि की रचना प्रकृति द्वारा निर्धारित सीमाओं का अधिकतम भी कर जाती

है। यह सम्भावना इसलिये होती है, क्योंकि कवि यह मृष्टि ईश्वर की प्रेरणा से करता है।

अस्तु के अनुकरण सिद्धान्त का मंडन करते हुये सिङ्गी ने कहा है कि काव्य अनुकरण की ही एक नशा है। काव्य का उपदेश प्राचीन बारणा के अनुसार ही उसने भी उपदेशात्मकता तथा मानव्यानुभूति बताते हुये कहा है कि इनमें से किसी के भी अभाव में काव्य अपनी उच्च पर्याप्त और महत्ता से हीन हो जाता है, अतः इनकी अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है।

काव्यात्मक अनुकरण की महत्ता और उपयोगिता सिङ्गी ने अनेक दृष्टियों से प्रतिपादित और सिद्ध की है। वह कहता है कि काव्यात्मक अनुकरण बहुत से ऐसे विषयों को भी सर्वसाह्य और सर्वमुन्नत रूप में जन साधारण के सामने प्रस्तुत करता है कि उसके अनुसरण की प्रेरणा स्वतः उत्पन्न होती है। इसलिये काव्यात्मक अनुकरण भी प्रभावशाली और मूलतः सत्य का ही अनुकरण होता है। यद्यपि यह दूसरे माध्यमों की अपेक्षा नहीं अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है क्योंकि इसमें कवि की प्रतिभा और कल्पना का योग रहता है। इसीलिये वह दूसरे अनुकरणात्मक माध्यमों-टूजेडी अपवा कामेडी को काव्यात्मक अनुकरण से हीनतर प्रतिपादित करता है।

कुल मिलाकर, सिङ्गी ने बहुतायतक अपने काव्य विषयक सिद्धान्तों और चार नामों का प्रतिपादन और प्रतिष्ठापन करते हुये यह बताया है कि काव्य अनुकरण का एक माध्यम है और अन्य सभी माध्यमों की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। इसके अतिरिक्त काव्य की प्रेरणा ईश्वरीय होती है। इसलिये कवि भी अन्य सभी विचारकों की अपेक्षा उच्चतर स्थान का अधिकारी होता है। कवि द्वारा की गयी रचना प्रकृति की रचनाओं से भी मोहक और आकर्षक हो सकती है क्योंकि उसमें कवि की प्रतिभा द्वारा अभिव्यक्त कल्पना का योग रहता है। इसलिये सिङ्गी स्पष्ट रूप से यह निश्चित करता है कि प्रतिभा के अभाव में किसी व्यक्ति में काव्य शक्ति का उत्पन्न सर्वना असम्भव है। केवल परिश्रम अथवा अध्ययन से कोई व्यक्ति कवि नहीं बन सकता। अतः सिङ्गी ने यह निश्चित किया है कि कवि बनने के लिये प्रतिभा प्राप्यिक और अनिवार्य है।

किंग जेम्स

प्रमुख विचार :—

सिङ्गी ने परवर्ती समीक्षकों में किंग जेम्स एडमंड स्पेंसर, विलियम बैब,

पुटनहाम हैरिंगटन, मियर्स बेम्सटर तथा बोस्टन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से किंग बेम्स के विचार काव्य में छन्य तत्त्व पर ही विशेषतः विशिष्ट हैं। इसके पूर्व सर फ्रिन्निप सिडनी ने यह प्रतिपादित किया था कि काव्य में समय तत्त्व अनिवार्य है। परन्तु किंग बेम्स उसका इस अन्तर्भूत से पूर्ण सहमति नहीं रखता था। इसका यह विचार था कि काव्य में समय तत्त्व का समावेश किया जा सकता है, परन्तु समय की आवश्यकता केवल विशिष्ट स्थलों पर ही होगी चाहिये। इसके अतिरिक्त वह सब प्रकार के कवियों को भी मान्यता देने के लिये तैयार नहीं था। उसने जयात्मकता का विशेष रूप से वर्गीकरण और विवेचन किया है। स्पेंसर की भाँति वह अंग्रेजी काव्य के इति में उसका सीमा निर्धारण कर देना आवश्यक समझता था।

एडमंड स्पेंसर

परिचय तथा कृतियाँ —

यह जान स्पेंसर का ज्येष्ठ पुत्र था। इसका जन्म सन् १५५२ में ईस्ट स्मिथ-फील्ड सन्तन में अनुमानित किया जाता है।^१ इसकी शिक्षा कैम्ब्रिज के मर्चेन्ट टेनर्स स्कूल तथा वेम्बोर्क हॉल में हुई थी। इसने “एरियोपेगस” नाम की एक साहित्यिक समस्या की स्थापना की थी जिसमें इसे सिडनी डायर तथा अपने अन्य साहित्यिक मित्रों सहायता और सहयोग मिला था। यह हारवे का भी मित्र था। सन् १५७० में यह लार्ड प्रिंसी बिस्टन का सचिव नियुक्त हुआ और उसके सहायक के रूप में कामरतबद्ध गया। इसके अग्रिम वर्ष से इसने साहित्य रचना में अपना अधिक समय देना आरम्भ किया। सर फ्रिन्निप सिडनी पर इसने अपना ‘एस्ट्रोपेग’ नामक शोक गीत इसी वर्ष लिखा।

कुछ समय पश्चात् इसने “दि क्वेन्स आफ टाइम” के नाम से सिडनी पर ही एक और शोक गीत की रचना की। सन् १५९१ में इसने ‘डाफनायडा’ धीरेक दे लार्ड बार्बडन की पुत्री डेगमस हार्बर्ट पर एक शोक गीत की रचना की। सन् १५९४ में स्पेंसर ने एमिजालेथ बायस से विवाह किया। सन् १५९७ में यह किन्सोमेन सौट

1 “The Oxford Companion to English Literature” Sir Paul Harvey p 742.

भाषा। इसका स्वास्थ्य बराबर हो गया था और मानसिक असंतोष भी था। सन् १५९८ में इसकी गंभीर ज्वर बीमारी थी। सन् १५९९ में सन्तान में मानसिक बसेस की स्थिति में इसकी मृत्यु हो गयी। इसकी विविध रचनाओं में “दि फायरी क्वीन” “मिपद्स केसंडर” “एमोरेटी” “एपिमसेमियन” “फोर हाइम्स” “यू थाप दि प्रेजेन्ट स्टेट आफ़ क्वामरलैड” आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।^१

जेसियस हारवे

परिचय तथा कृतियाँ —

हारवे का जन्म सन् १५६४ में हुआ अनुमानित किया जाता है।^१ यह एक रस्ती बनाने वाले का लड़का था। उसकी शिक्षा बीसा केम्ब्रिज के वाइस्टस कॉलेज में हुई थी। वहीं उसका परिचय स्पेंसर से हुआ था। इसी सम्पर्क के कारण उस पर उसका वैचारिक और साहित्यिक प्रभाव पड़ा। सन् १५७९ में उसने अपनी कुछ व्यापारिक कविताओं का प्रकाशन किया। सन् १५९२ में इसका “फाउरे लटर्स” प्रकाशित हुआ। फिर “पामर्स सुपरबरोमेसन” सन् १५९३ में और “द्विनिंग आफ़ टायस नाचे” सन् १५९७ में प्रकाशित हुई। इसने लैटिन भाषा में साहित्य वास्तव पर भी लिखा है।

इसने अपने समकालीन अन्य साहित्यकारों के साथ यह आशय उठाया कि अंग्रेजी में राष्ट्रीय छन्द रचना प्रारम्भ होनी चाहिये। वैसे कि पिछले कुछ साहित्यकारों के सङ्घर्ष में लिखा था चुका है, इस युग में साहित्य का स्वरूप धीरे धीरे निश्चित हो रहा था। इस कार्य में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी थीं और प्रायः साहित्य चिन्तकों में जो पारस्परिक मतभेद या बहद्दुई कठिनाइयों का लेकर था। इसलिये इस युग में प्रायः सभी विचारशील साहित्यकारों में इन शक्तों पर कुछ न कुछ अवश्य कहा है। इस प्रकार के प्रश्नों में एक मुख्य प्रश्न काव्य में छन्द का था। छन्द प्रयोग के विषय में

1 “The Oxford Companion to English Literature” Sir Paul Harvey p. 743

२ एच. जू १५९१।

कुछ लोग साहसीयता के अनुमन के समर्थक थे और कुछ उसका विरोधी। यह उस का कट्टर समर्थक था। इसको “अंग्रेजी पदपदी कविता का पिता” भी कहा जाता है।

विनियम वेब

प्रमुख विचार —

हारे के साथ ही विनियम वेब का नाम भी मिला जा सकता है। यह भी कैम्ब्रिज में रहता था। यह “टैब्लेड एण्ड गीसबंड” के रचयिता जॉर्ज विन्मोट का मित्र था। अंग्रेजी पद्य में इसकी महती रुचि थी। स्वेडर के विषय में वेब की चारणा लक्ष्मी थी और यह उसे एक नवीन प्रभावशाली और सशक्त कवि मानता था। यही नहीं इसकी दृष्टि में वह अंग्रेजी साहित्य का महानूतम कवि था। अपने समकालीन साहित्यिक चार विचारों में इसने क्रियात्मक रूप से भाग लिया।

युपीन पद्य में जो नयी प्रणाली आरम्भ की जा रही थी वेब ने उसका जोर विरोध किया। कुछ लोग उसकी इस मनोवृत्ति का कारण यह बताते हैं कि वह अंग्रेजी के श्रेष्ठ काव्यों से सुपरिचित न था और अपने अध्ययन की इसी अपूर्णता के कारण इतना मत वैविध्य्य रखता था। कहा जाता है कि इसको अंग्रेजी काव्य की उपसम्पत्तियों का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं था। परन्तु इसको साहित्याध्ययन में बहुरी अनिरुचि थी। यदि उसमें काव्य प्रविष्टा का अभाव न होता तो वह निश्चित रूप से एक सफल पद्य प्रवर्धक होता क्योंकि उसने काव्य की परिभाषा स्वरूप प्रकार तथा विषय पर जो विचार प्रकट किये हैं, वे पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं।

पुटमहाम

परिचय तथा कृतिशी —

पुटमहाम वेब का समकालीन था। उसमें यद्यपि साहित्य के प्रति उत्तनी अनिरुचि नहीं थी परन्तु अपनी संभवशीलता के कारण इसे एक सफल समीक्षक के रूप में वेब से अधिक मान्यता मिली। अपने “मार्ट आफ इन्सिडर पोयजी” नामक ग्रन्थ में इसने बहुत विवेकपूर्ण और स्पष्ट धैर्य में सुसंवदित और कमबख्त रूप में साहित्य सम्बन्धी अपनी

माध्यमों और निष्कर्षों का विवरण प्रस्तुत किया है। इनै लैंगिंग काव्य परम्परा का अच्छा ज्ञान था और यह उसकी उपसम्पत्तियों से भी अपरिचित नहीं था। काव्य के विषय पर विचार करते हुये पुष्पहाम ने उसमें दार्शनिक तर्कों के समावेश को मौजिदपूर्ण ठहराया है। काव्य के विविध रूपों और तर्कों पर इसने कितने हिलार से अपने विस्तेषात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं, उतने सम्भवतः इसके समकालीन किसी भी विचारक ने नहीं। इसने भाषा सीसी छन्द चपल छन्द रूप लय तत्त्व आदि का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्हीं कारणों से अपने समकालीन विचारकों में इसे बहुत मान्य स्थान प्राप्त है।

सेमुएल डेनियल

परिचय तथा कृतियाँ —

सेमुएल डेनियल का जन्म सन् १९६२ में हुआ था।^१ यह एक संगीत चिंतक का पुत्र था। सन् १९६२ में इसने अपनी अनुपस्थितियों का एक संग्रह "डनिया" के नाम से प्रकाशित कराया। इसके पश्चात् "कम्पार्सट आफ रोमान्स" नामक रचना भी इसी वर्ष प्रकाशित हुई। फिर सन् १९९४ में "विलबोपट्टा" सन् १९९९ में "मुसोमिस्त" या "डिफेंस आफ लनिय" सन् १९०२ में "डिफेंस आफ राइम" सन् १९०५ में "फिलोटास" तथा इसके पश्चात् अन्य कृतियाँ प्रकाशित हुई।

इसने काव्य में लय तत्त्व एवं विधेय रूप से बल देते हुये इस मत का प्रतिपादन किया कि काव्य में लयात्मकता की उपेक्षा करना उचित नहीं है। इससे समकालीन अन्य कई विचारक भी इससे पूर्व इसी प्रकार का मत अभिव्यक्त कर चुके थे। इसने भी काव्य में लयात्मकता तथा लयात्मकता की समस्या पर हुये बाह्य विचार से ग्राम लिया और अपने उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया। अपने मत के समर्थन में इसने यह भी कहा कि लयात्मकता है काव्य के सौम्य में तो बुद्धि होती ही है वह उल्टा काव्य

१ "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey n. 206

का एक लक्षण भी है। उसने यह भी बताया कि वह कवि के लिये एक प्रेरणा शक्ति का भी कार्य करती है।

फ्रांसिस बेकन

परिचय तथा कृतियाँ —

फ्रांसिस बेकन का जन्म सन् १५६१ में हुआ था।^१ यह सर निकोलस बेकन का छोटा पुत्र था। इसका जन्म स्ट्रैंड मन्दिर में यार्क हाउस में हुआ था। इसकी शिक्षा दीक्षा केंब्रिज के ट्रिनिटी कॉलेज में हुई थी। इसने कानून का अध्ययन किया था और इसका सम्बन्ध पार्लियामेंट से भी था। सन् १६०६ में इसने एलिज बर्नहम से विवाह किया था। सन् १६०७ में यह सांसद बनकर सन् १६१३ में एटर्नी जनरल तथा सन् १६१८ में लार्ड चांसलर बना। सन् १६२१ में इस पर ब्रुसबोरी का प्रयोग लगाकर जॉइन किया गया। इसलिये इसने अपने जीवन का अन्तिम भाग साहित्य और रचना के कार्य में ही लगाया। बेकन की किसी हुई अनेक दार्शनिक और साहित्यिक रचनाओं में 'एंगेज' सन् १५९७ "डी सेपाइडिया मैटिरम" सन् १६१०, 'एपायेम्स गू एंड जोइड' सन् १६२४ तथा "वि न्यू इंटेलिजेंस" सन् १६२६ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

काव्य में कल्पना तथा —

बेकन ने काव्य में कल्पना तथा को वैशिष्ट्य प्रदान किया है। कल्पना का काव्य में महत्त्व बताते हुये उसने इस साहित्य माध्यम के विषय में कुछ मौलिक धारणाएँ बताई हैं। वह कहता है कि काव्य एक प्रकार की असंतोषजनित प्रतिक्रिया है। यह प्रतिरिक्त कवि को इस बात के लिये प्रेरित करती है कि वह अपनी कल्पना को कोई भी इच्छित रूप दे। इसीलिये बेकन ने कल्पना को एक प्रकार की मानसिक शक्ति के रूप में माग्यता भी है।

काव्य विभाजन —

बेकन ने विविध काव्य रूपों का परीक्षण करके उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया—(१) कलात्मक काव्य (२) प्रतिनिध्यात्मक काव्य और (३) सांश्रणिक काव्य।

काव्य तत्व —

बेजन्त ने साहित्य और काव्य के तत्वों का भी विवरण दिया है। टीली के सबसे में यह कहता है कि टीली के मुख्य गुण सघनता तथा सहजता हैं। जिस साहित्यकार अथवा कवि की टीली इन गुणों से युक्त होगी उसकी सफलता की सम्भावनाएँ बढ़ जायेंगी। लेकिन टीली में इन गुणों का स्वतः अथवा स्वतन्त्र रूप से समावेश होने की सम्भावना नहीं होती। यह तभी हो सकता है जब साहित्यकार द्वारा उक्त कवन में निरन्तर सावधानी से काम लिया जाय।

इस प्रकार ने वह काव्य के विविध तत्वों को परस्पर अन्तर्सम्बन्ध प्रतिपादित करके सब उनका आपेक्षिक महत्व निर्धारित करता है। इसीलिए उसने भाषा और टीली की सफलता और युष्मात्मकता का भी एक दूसरे पर निर्भर बताया है। वस्तु तत्त्व को भी उसने महत्वपूर्ण माना है परन्तु उसने कहा है कि किसी साहित्य रूप में वस्तु तत्त्व को जोड़ होना आवश्यक है ही, साथ ही साक्षात्कारी भी अपेक्षणीय नहीं है। इसी कवन के आधार पर वह यह भी कहता है कि प्राचीन कवियों को उनके वास्तविक रूप में समझना तब तक सम्भव नहीं जब तक उनकी भाषा को भी भी नहीं समझा जाय। इस प्रकार से उसने इन तत्वों का स्वतन्त्र महत्व स्वीकार करते हुए भी उनकी संयुक्तता की उप-पायिका बताया है।

अन्य विचार और स्थापनाएँ —

बेजन्त के समीक्षात्मक विचारों का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि उसके द्वारा किये गये साहित्य के मान निर्धारण के पन्थीर प्रयत्नों के बीच नहीं-नहीं अत्यन्त रोचक निष्कर्ष भी मिलते हैं। उदाहरण के लिये वह कहता है कि काव्य की निर्दोषक शक्ति व्यक्त होती है उसी प्रकार से जैसे इतिहास की निर्दोषक शक्ति मेधा अथवा दर्शन की ज्ञान। काव्य की परिभाषा करते हुये उसने उसे व्यक्तता मय ज्ञान कहा है। नाटक की उमम सारणी बजाने वाली "बो" कहा है जिसकी गुण से प्रतिभावान प्राणी भी अमलित हो उठते हैं।

नाटक की प्रभावशालीकता के गुण का कारण उसने नाट्य गृह में बैठे हुये दर्शक रूप की सामूहिक मनोवृत्ति को माना है। इसका एक और कारण उल्लेख यह भी बताया है कि नाट्य गृह में कृत्रिम भावी संस्था में दर्शक मन एकत्र होते हैं, इसलिये उनमें रस संसार अभिव्यक्ति से होता है। बेजन्त ने सर्वप्रथम विज्ञान और साहित्य के भेद का भी

वैज्ञानिक स्पष्टीकरण किया। यों उसके जो निबन्ध मिलते हैं, उनमें समीक्षात्मक विचारों का प्रभाव है। विद्योत्तम बेकन तर्कमयता तथा निष्कर्षात्मकता को उपेक्षणीय मानता था।

अथ समीक्षक

इस युग की अन्य सम्प्रसन्न प्रसिद्धियों में सर जान हेरियटन कांसिस नियर्स जान बेम्बटर, विलियम वाचन बोस्टन पीयस तथा टामस कैम्पियन आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से जान हेरियटन का यह मत था कि साहित्य में सांख्यिक व्याख्या को अधिक महत्त्व देना मुक्तिसंभव नहीं है। नियर्स और बेम्बटर ने व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में ही अधिक क्रियाशीलता का परिचय दिया है। उपर्युक्त समीक्षकों में से अन्य ने प्रायः साहित्य और काव्य के कर्षों पर स्फुट रूप से ही अधिकारपूर्वक अपने विचार प्रकट किये हैं परन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि इन विचारों में मौलिकता कम है पूर्वकासीन समीक्षकों के मतों का प्रभाव अधिक।

उपर्युक्त लेखकों की कृतियों में टामस कैम्पियन की कृति 'बाल्फोर्बर्स इन दि थार्ट आफ इंग्लिश पोयज' ही सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई। कैम्पियन ने तयारमकता को काव्य में बहुत आवश्यक नहीं बताया है। यहाँ तक कि उसने काव्य में यथासम्भव समय तक के बहिष्कार पर भी बल दिया है। अपने कवन के पक्ष में उसने उन ग्रीक और लैटिन कवियों के उदाहरण दिये हैं जो समय की उपेक्षा करते थे। कैम्पियन ने उन छन्दों का भी काव्य में प्रयोग की दृष्टि से विरोध किया है, जो मापा के अनुकूल न हों।

वेन जॉनसन

परिचय तथा कृतियाँ —

वेन जॉनसन का जन्म सन् १६७२ में वेस्ट मिनिस्टर में हुआ था।^१ उसने वेस्ट मिनिस्टर स्कूल में ही प्राइमरी शिक्षा ग्रहण की थी। उसके प्रारम्भिक जीवन के विषय

2. "The Oxford Companion to World Literature," Sir Paul Harvey p. 419.

में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। सन् १८९७ में उसने हेंसलोव कम्पनी में अभिनय और नाट्य रचना का कार्य आरम्भ किया। उसके नाटकों में 'एबरी मैन इन हिज ह्यूमर' का प्रदर्शन सन् १८९४ में कर्टन में मार्ड वेम्बरसेस कम्पनी द्वारा हुआ। इसका एक अभिनेता चौकसीयर भी था। 'एबरी मैन आउट आफ हिज ह्यूमर' का प्रदर्शन म्मोव में सन् १८९९ में हुआ। उसके 'सिमियाज रिसेस' तथा 'दि पोयगास्टर' चौकसीयर नाटक क्रमशः सन् १९०० तथा १९०१ में 'क्वींस वेनस' में चाल अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किये गये।

सन् १९०३ में उसके 'सिजेनस' नामक पुष्कान्तक नाटक का प्रदर्शन 'म्मोव' में चौकसीयरस कम्पनी द्वारा हुआ। उसके अन्य सफलतापूर्वक प्रदर्शित नाटकों में 'मोस्मोम' (सन् १९०६), 'पीपीन' या 'दि साइसेंट' कूमन' (सन् १९०९) 'दि पास कैमिस्' (सन् १९१०) 'बाचोलोम्यू फेयर' (सन् १९१६) आदि हैं। सन् १९१६ में जॉस प्रचम ने पेंशन प्रदान की और उसका सम्मान किया। सन् १९१८ में वह स्काटलैंड गया। उसने अपने अन्तिम महान् नाटक 'दि स्टैप्स जाम्पूब' की रचना सन् १९२५ में की। सन् १९२८ में वह लन्डन में क्कनोलार्जर निर्दिष्ट हुआ। सन् १९२६ में 'दि म्यूज इन' नामक उसके पुष्कान्तक नाटक का प्रदर्शन हुआ जो सफलता न प्राप्त कर सका। उसके साहित्यिक मित्रों में बेकन सेस्सेन बेपमन, व्युमोट जेवर, डोन तथा चौकसीयर आदि के अतिरिक्त हेरिज सक्सिंग सर कैनेम डिम्बी तथा सार्ड पैम्मीड आदि भी थे। सन् १९३७ में उसकी मृत्यु हुई।^१

काव्य का स्वरूप तथा प्रयोग —

बेन जॉनसन एलिजाबेथियन युग का महानतम समीक्षक और साहित्यकार माना जाता है। उसका समय पुनर्जागरण काल के अन्तर्गत ही यहाँ रखा गया है, यद्यपि उसने अपने परवर्ती साहित्य विचारकों को व्यापक रूप से प्रभावित किया था। साहित्य शास्त्र के एक महान् अध्येता के रूप में उसने साहित्य तथा उसके विविध कर्षों पर विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं तथा उनमें विविध पक्षों का सम्यक् विवेचन किया। वह काव्य के महत्त्व का समर्थक था। किन्तु कारणों से उसकी पारणा अंग्रेजी कवियों

तथा नाटककारों के विषय में बहुत अच्छी नहीं थी। वह बहुतों उनका विरोध भी करता था। उसका अपना विचार यह था कि साहित्य के क्षेत्र में अधिक संतोषजनक प्रगति न हो पाने का एक मुख्य कारण भाषा की निर्धनता भी थी। उसकी प्रसिद्ध समीक्षा कृतियाँ "द्वि पोस्टास्टर" "कनवर्सेंस" तथा "डिस्कवरीज" आदि में अभिव्यक्त विचारों और प्रतिपादित सिद्धांतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि साहित्य विषयक उसका ज्ञान और विवेक बहुत ठोस और यथार्थ था। इससे यह भी पता चलता है कि उसकी साहित्यिक विचारधारा कितनी अधिक सुनियोजित है।

वेन बॉन्सन साहित्य के क्षेत्र में सांस्त्रीयता का पक्षपाती था। उस पर होरेस ड्रेनेका विश्वटीसिमन लौरेस तथा टेरेन्स आदि का भी प्रभाव स्पृणान्वित रूप में पड़ा था। उसने बहुत बुद्धतापूर्वक अपने इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया है कि काव्य रचना का मूल स्रोत सांस्त्रीय अनुकरण ही है। उसका विचार सं काव्य का मुख्य प्रयोजन जीवन की श्रेष्ठ विधि का संकेत है। इसलिये श्रेष्ठ कवि बनने के लिये श्रेष्ठ जीवन की स्वीकृति आवश्यक है। दूसरे शब्दों में कोई तब तक अच्छा कवि नहीं बन सकता जब तक कि वह अच्छा मनुष्य न बन चुका हो। उसने साहित्य के माननिर्धारण की दृष्टि में अपनी इसी धारणाओं के आधार पर प्रयत्न किया। वह काव्य में व्यवस्था तथा समानता पर बहुत अधिक गौरव देता था। उसके इस प्रकार के मन्तव्य उसके जगमग पांडित्य और प्रतिभा के चोख हैं।

कवि की योग्यताएँ :—

काव्य कला और सास्त्र पर बन्धीर विमर्श करने के पश्चात् वेन बॉन्सन ने अपनी "डिस्कवरीज" में एक कवि के लिये कुछ आवश्यक योग्यताओं का निर्देशन किया है। इनमें से प्रथम यह है कि एक कवि में स्वाभाविक बुद्धि होनी चाहिये। इसकी आवश्यकता इस कारण है कि केवल नियमित अभ्यास से और विविध सिद्धांतों का अनुगमन करने से ही काव्य कला को आत्मसात् करना सम्भव नहीं है और न कवि बन सकता है। बल्कि में नैसर्गिक प्रतिभा का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार से कवि में काव्य कला के प्रति जगमगात् प्रेरणा होना भी आवश्यक है क्योंकि यदि वह प्रीति अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् किसी अन्य प्रकार के आकर्षण से इस क्षेत्र में जायेगा तब तो यह सम्भव होगा कि वह दीप्तता से काव्य रचना कर सके परन्तु श्रेष्ठ काव्य रचना इसके न हो सकेगी।

बेन जॉनसन ने कवि के लिये अनुकरणात्मकता की प्रवृत्ति भी आवश्यक बताया है, परन्तु अनुकरण कोरा नहीं होना चाहिये। इस प्रकार के अनुकरण का यह भाव स्वतन्त्र होना चाहिये अन्यथा काव्य में मौलिकता की सम्भावनाएँ समाप्त हो जायेंगी। कवि के लिये सूक्ष्म महत् और व्यापक अध्ययन भी बहुत आवश्यक है। वस्तुतः यही अध्ययन कवि के जीवन की पूंजी होती है और इसी पर उसकी प्रतिष्ठा का भवन खड़ा होता है। जॉनसन भूक्ति स्वयं भी शास्त्रीयता का भारी समर्थक था और पूर्ववर्ती महत्त्वपूर्ण परम्पराओं की उपसम्भियों की भी अवगति रखता था इसलिये उसने कवि के लिये शास्त्रीय नियमों और सिद्धांतों का ज्ञान भी आवश्यक बताया है। उसके मतानुसार कोई कवि इनसे कितना अधिक परिचित होया अपनी प्रतिभा के योग से उतना ही काव्य विवेक अपने आप में जगा सकेगा और काव्य को परख भी सकेगा।

काव्य के तत्व —

बेन जॉनसन काव्य में नैतिकता के तत्व के समावेश का बड़ा हामी था। वह कहता है कि इसके समावेश के बिना काव्य खेप्ट नहीं हो सकता। इसी के साथ वह यह भी बताता है कि कवि के अपने जीवन में भी नैतिकता का बहुत महत्त्व है। जो कवि स्वयं नीतिवान नहीं है, वह खेप्ट काव्य का प्रयत्न नहीं कर सकता। काव्य में छन्द तत्व पर विचार करते हुये उसने न्यायात्मकता का विस्लेषण भी किया है। उसके विचार से काव्य में प्रयुक्त छन्द प्रकारों में दोहरे में जो न्यायात्मकता होती है, वह खेप्टतम है। इन विषयों में वह स्पेंसर, जॉन डन वीक्स्पीयर, एवाहम फॉक्सिड डेनियल तथा पेड्रार्क आदि का विरोधी था यद्यपि होरेस सेनेका तथा क्विंटीलियन की विचारधारणों का उसके ऊपर भारी प्रभाव पड़ा था।

वैटिन साहित्य की परम्परा से भी बेन जॉनसन बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। नैतिकता तथा अन्य तत्वों के काव्य में समावेश पर उसने इस कारण भी यीरज दिया है, क्योंकि वह यह समझता था कि काव्य की खेप्टता के लिये वह अनिवार्य है। उसके विचारों को देखते पर यह प्रतीत होता है कि उसने सर्वाधिक बल सर्वखेप्टता पर दिया है। उसाहरण के लिये वह यह निर्देशित करता है कि केवल सर्वखेप्ट साहित्यकारों की कृतियों का ही पाठ्यक्रम करना चाहिये। इसी प्रकार से केवल सर्वखेप्ट कलाओं के आयनों का ही भवण करना चाहिये। उसने यह भी निर्देश दिया है कि दैवी के क्षेत्र में निबटा और मौलिकता पर ही ध्यान केन्द्रित रखना चाहिये क्योंकि मुख्यतः साहित्यकार

अपनी निजी चीज़ों का ही परिष्कार कर सकता है। चीज़ों की संक्षिप्तता पर भी उसने जोर दिया है। उसने चीज़ों के विषय में लिखा है कि चीज़ों केवल वस्तु ही नहीं हैं बल्कि विचारों का शरीर भी हैं।

नाटक और उसके कर्णों का विवेचन —

क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में बेन जॉनसन एक सफल नाटककार के रूप में मान्य है। उसके लिखे हुए विभिन्न नाटक बहुत ठोस माने गये हैं। इसका एक कारण यह भी है कि उसके नाटकों में उन नाटकीय तत्त्वों और भावनामय पात्रों का अभाव है, जो नाटक में हस्तकान्त ला देते हैं। यह एक उत्सेहनीय तथ्य है कि शास्त्रीयता और नियम-नुपामिता का कट्टर समर्थक होते हुए भी उसने अपने नाटकों में सुमीन प्रचलित सभी नाट्य नियमों का पालन नहीं किया है, यद्यपि वे भी उसी प्रकार के थे। यों वह स्वभाव से ही व्यवस्था का पसपाठी था।

ट्रेजेडी —

नाटक के कर्णों में सर्वप्रथम ट्रेजेडी के विषय में उसने लिखा है उसमें शास्त्रीय नियमों का अनुगमन तो होना ही चाहिये साथ ही साथ उसकी कथावस्तु का आधार प्रचारात्मकता होनी चाहिये। उसके पात्रों में यन्मीरता होनी आवश्यक है। ट्रेजेडी की भाषा की और भी सजक को पर्याप्त ध्यान देना चाहिये। विषय रूप से इस बात का विचार करना आवश्यक है कि उसके पात्र जो भाषा बोलें वह उद्देश्य और तत्त्वपूर्ण हों।

कमिडी —

बेन जॉनसन ने ट्रेजेडी की अपेक्षा कमिडी की व्याख्या अधिक विस्तार से की है। उसने यह प्रतिपादित किया है कि इन दोनों में कोई उपकरणक भेद नहीं है। उसके मतानुसार इनमें लक्ष्यकथन भी नहीं है, क्योंकि दोनों का ही उद्देश्य आनन्दानुभूति और उपदेशात्मकता है। ट्रेजेडी अपने कथन कथनों की योग्यता द्वारा नैतिकता की शिक्षा देती है, परन्तु कामेडी मूर्खता को उपेक्षणीय कह कर नैतिक होने की प्रेरणा देती है। कमिडी में लेखक मानवीय चरित्र की कमियों की विवृति करता है जिससे लोगों का ध्यान उनकी मोर जाय और वे उनसे मुक्त होने की चेष्टा करें। इस प्रकार से इन दोनों का उद्देश्य समान है। यों ट्रेजेडी का सम्पूर्ण उद्देश्य एवं असाधारणता से होता है परन्तु कमिडी सामान्य अनुभवों पर आधारित होती है। इसके अतिरिक्त ट्रेजेडी का

बाह्य आभार भी होता है, परन्तु कमिटी का नहीं। उसने कमिटी में हास्य श्लेष को समाप्त सुधारक माना है।

बेन जॉनसन के नाटक और उसके विविध रूपों सम्बन्धी इन विचारों के निपट में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि उसके समकालीन नाटककारों द्वारा लिखी गयी कमिटी कृतियाँ उसकी माय्यताओं पर खरी नहीं उठती थीं इसीलिये उसने उन्हें प्राह्य नहीं ठहराया।

बेन जॉनसन की बेन —

पुनर्जागरणकालीन महान् समीक्षकों की कड़ी में ही बेन जॉनसन का भी उल्लेख किया जाता है, यद्यपि प्रभाव की दृष्टि से आगामी काल में ही उसका महत्त्व सिद्ध हुआ। वह शास्त्रीयता का अनुगामी और व्यवस्था का हामी था। उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों में यद्यपि व्यावहारिक दृष्टिकोण से कुछ कमियाँ स्पष्ट हैं, परन्तु उसने बुद्धि-पूर्वक उत्तम नियमन किया है। वह साहित्य में अपूर्वता और विविधीनता का विरोधी था। इन्हें वह साहित्यिक दोष मानता था और इस प्रकार की कमियों से बचने के लिये उसने शास्त्रीय आनर्जन का अनुमोदन किया है।

वहाँ एक ओर अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन अनेक समीक्षकों का वह नदृष्ट विरोधी था वहाँ दूसरी ओर कुछ चिन्तकों से पूर्ण सहमति भी रखता था, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह संक्षिप्तता क्रमबद्धता शास्त्रीयता तथा समरूपता पर बल देता था। उसके मतव्यों के निपट में प्रायः यह भी कहा जाता है कि वे अपूर्ण और एकांगी हैं। इसका कारण किसी सीमा तक उसके दृष्टिकोण का पूर्वाग्रह युक्त होना भी है। परन्तु उसकी समीक्षा पद्धति में सुगील विशेषताओं और प्रवृत्तियों का भी प्रतिनिधित्व हुआ है। अंग्रेजी के उन समीक्षकों में बेन जॉनसन अग्रगण्य है, जो समीक्षक के रूप में माय्यता प्राप्त होने के साथ ही साथ एक क्रियात्मक साहित्य सर्जक के रूप में भी सम्मान्य है।

सोमहर्षी शताब्दी तक फ्रांसीसी समीक्षा

विषय क्षेत्र —

सोमहर्षी शताब्दी तक फ्रांस में जो समीचारमक चिन्तन हुआ, उसका आधार प्रायः दोष और दोष की साहित्य शास्त्रीय परम्पराएँ ही थीं। इन्हीं परम्पराओं के आधार

पर वहाँ भी शास्त्रीय विषयों पर शास्त्रीय सीमा में विचार विमर्श होता रहा। भाषण कला, काव्य नीति दर्शन और धर्म के स्वल्प और मर्यादा के सम्बन्ध में इस समय वहाँ मिश्र-मिश्र सिद्धांत प्रचलित थे। सातहवीं शताब्दी में जब पुनः एक नवीन युग का आरंभ हुआ, तब फ्रांस में बोकेसियो और सेबिये आदि के विचारों का पर्याप्त प्रभाव था।

काव्य का स्वल्प —

इस समय तक काव्य के स्वल्प से सम्बन्ध रखने वाले जिन सिद्धांतों का फ्रांस में प्रचार था उनमें भी बोकेसियो सेबिये तथा सेबे आदि के ही नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उपर्युक्त तथा कुछ अन्य विचारकों ने काव्य के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं तथा साहित्य के विविध रूपों का विवेचन करते समय जिस दृष्टिकोण का परिचय दिया है, उसको देखने पर यह मालूम होता है कि ये विचारक काव्य नीति धर्म तथा वर्णन आदि विषयों को स्वतन्त्र रूप से मान्य और विवेचित नहीं करते थे। वे इन विषयों में एक प्रकार का अन्तर्सम्बन्ध समझते थे।

उपर्युक्त से वहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है, उनका विचार था कि उसमें एक प्रकार की असौकरिता है। इसके अतिरिक्त उनके समय तक धार्मिक काव्य और उसकी प्राचीनता भी निर्विवाद रूप से सत्य सिद्ध हो चुकी थी। अतएव ने भी धार्मिक काव्य को स्वीकार किया था और उसका उससे सम्बन्ध भी हुआ था। इसलिये ये विचारक समझते थे कि काव्य में यह घटित है कि वह सभी मनुष्यों को नीति और धर्म की शिक्षा दे सके। काव्य के अतिरिक्त विविध नाट्य रूपों के विषय में भी इसी प्रकार के ऊँचे आदर्शों और महान् सत्त्वों की सम्पत्ति इन विचारकों ने की।

भाषण शास्त्र :—

फ्रांस में सोसहवीं शताब्दी तक भाषण शास्त्र का भी पर्याप्त वैचारिक चिन्तन हुआ। इस सम्बन्ध में एक नवीन धारणा यह प्रचलित रही कि काव्य भी भाषण कला का ही एक प्रकार है। इस सम्बन्ध में जूव वेसे और गोसा आदि विचारकों में परस्पर बाह्य विवाद भी हुआ और अन्त में प्लेटो और अरस्तू आदि के द्वारा निर्धारित रेखाओं पर अनुकरण के सिद्धान्त का पुनर्परीक्षण हुआ तथा उसकी नवीन व्यवस्था प्रस्तुत की गई। अन्तर्देशीय सम्बद्ध विचारों की भी उपेक्षा न हुई और इन व्यवस्थाओं को पर्याप्त रूप से एक पूर्ण रूप प्रदान करने की चेष्टा की गयी।

जैसा कि हम ऊपर सूचित कर चुके हैं, इस शताब्दी तक देखिये मे समकालीन साहित्य चिन्तन की व्यापक रूप से प्रभावित किया। उसने साहित्य के विविध रूपों और शक्तों का सूक्ष्म विश्लेषण किया और महाकाव्य पुष्पाङ्कक नाटक, प्रसून और अन्य के रूपों की व्याख्या की। इन सबका निर्वण करने समय दृष्टिकोण में दो मोलिकता रही परन्तु उनका आधार यूनानी-य रोमीय सिद्धांत ही रहे।

सोलहवीं शताब्दी तक इटलियन समीक्षा

नव युग का प्रवर्तन शान्ते —

इटली की समीक्षा में सोलहवीं शताब्दी तक जो प्रवृत्तियाँ विद्यमान रही उनको देखने से यह प्रतीत होता है कि इस समय तक वहाँ एक नये युग का प्रवर्तन हो चुका था। इस युग की पुष्पाङ्कम का नियोजन करने वालों में शान्ते तथा पेद्रार्क आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शान्ते का महत्त्व समीक्षारमक दृष्टियों के परिचय की दृष्टि से असाधारण है। यह तुलनात्मकता पर अत्यन्त अतिरिक्त गौरव देता था। इसने रूप और भाषा पर भी विशेष बल देने का समर्पण किया।

इटली के मध्य युगीन रचनात्मक साहित्यकारों में भी शान्ते का स्थान सर्वोच्च है। इस दृष्टिकोण से इसकी रचना "डिवाइन कॉमिडी" इटलियन रचनात्मक साहित्यों की असाधारण उपलब्धि है। "डिवाइन कॉमिडी" के अतिरिक्त उसने कई अन्य कृतियों की भी रचना की थी जिसमें वैचारिक निरर्पण की दृष्टि से "कन्ताइलियो" का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस रचना में शान्ते ने अरस्तु के कुछ दार्शनिक सिद्धांतों का अनुमोदन किया है।

महाकाव्य का स्वरूप —

शान्ते लिखित "डिवाइन कॉमिडी" इटली के महान् रचनात्मक साहित्य में गिनी जाती है। इस महाकाव्य में उन्होंने जो कथा प्रस्तुत की है, उसका विभाजन तीन खंडों में किया है। शान्ते ने अपनी इस रचना की महाकाव्य मानते हुए उसके लिए "कॉमिडी" शब्द का प्रयोग किया था जिसका आशय साम्य भाषा और रोमी में मिथी मयी काव्य रचना से है। शान्ते की इस कृति की रचना के बाद से ही इस नाम का प्रचार बढ़ा।

११४] सतीता के भाल और हिंदी सतीता की विविष्ट प्रवृत्तियाँ

मैतिष्यकार्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी दान्ते की यह कृति विविष्ट है। इसने अपने इस महाकाव्य में बर्ग के व्यावहारिक अनुगमन की सम्भावनाओं का निदर्शन किया है।

२

पेट्रार्क

प्रमुख विचार—

दान्ते की प्रतिष्ठा ही पेट्रार्क की रचना थी इटली के अत्यन्त विवेकपूर्ण चिन्तकों में की जाती है। इसने अपने सामने दान्ते के ही विचारों को आदर्श रूप में रखा। इसने नवीनतावादी विचारों को विस्तृत प्रभाव नहीं दिया। स्वयं भी उसने किसी नवीन वैचारिक आन्दोलन का सूत्रपात नहीं किया। यही नहीं उसने नवीन कवियों का सुस्थापन कष्टे समय बिस प्रकार के दृष्टिकोण को अपनाया वह भी कुछ और व्यापक नहीं था। इसका मुख्य कारण यही है कि उसका आग्रह नवीनता की अपेक्षा प्राचीनता की ओर अधिक है। पेट्रार्क के कुछ विचार आत्मिकता हैं जो आधुनिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए वह काव्य का आत्मिक महत्व और उपबोधिता भी स्वीकार करता था। यह भी उसके परम्परावादी दृष्टिकोण का ही सूचक है।

अन्य विचारक

इस शताब्दी तक की अन्य प्रतिमाओं में बीटा डेनिसियो केस्टेनवेट्रो पेट्रिजी पोमिटियन तथा मिनटोनी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी साहित्य विचारक शास्त्रीयता के अनुशोध्यक थे। परन्तु इन लोगों के विचारों का परचमी साहित्यकारों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इसी कारण इन लोगों का महत्व इन परम्पराओं के विकास में योग देने के कारण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही अधिक है। पोमिटियन स्कालीयर और बीटा ने प्राचीन साहित्य के विभिन्न कर्षों और उनकी साधनशक्ति से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर विचार किया। बीटा ने प्राचीन शास्त्रीय साहित्य का अध्ययन किया और अन्त में सभी साहित्यिक माध्यमों की तुलना में महाकाव्य के अलंकारक महत्व पर गम्भीर ध्यान दिया हुआ। महाकाव्य के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रश्न उठाये गये। अनेक विद्वानों ने इसमें सक्रिय रूप से भाग लिया। इस विषय में जो दृष्टिकोणयत्

मेव पाया गया वह यह था कि कुछ लोगों के मत में रोमांटिक तत्वों के समावेश का महाकाव्य में अधिक महत्व था तथा कुछ के विचार से उदात्तता के तत्वों का ।

पुनीत मायतायें —

इटली में सोलहवीं शताब्दी तक साहित्य चिन्तन के क्षेत्रों में बहुत गतिशीलता रही । विविध साहित्य रूपों और उनके तत्वों का सैद्धांतिक विश्लेषण हुआ और प्राचीन यूरोपीय काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में भी विचार हुआ । अरस्तू के काव्य शास्त्र के ऐतिहासिक आधार के पक्ष विपक्ष में विवाद हुआ और उसकी प्रामाणिकता का परीक्षण किया गया । साहित्य के विविध रूपों के सम्बन्ध में नवीन सैद्धांतिक रचना की गयी, यद्यपि इसका आधार प्राचीन नियम ही रहे ।

इन शताब्दी के अन्त तक प्रायः यही स्थिति रही । यद्यपि अब तक साहित्य चिन्तन का स्वरूप कुछ स्थिरता प्राप्त करने लगा था । नवीनता अथवा प्राचीनता के प्रति विचारकों में कोई विशेष आग्रह या दुराग्रह नहीं रह गया था और उनके वैज्ञानिक परीक्षण के परचाहू जो निष्कर्ष सामने आये वे उनके आधार पर भाषी प्रवृत्ति का मार्ग निर्धारित हो चुका था । विविध साहित्य किशोरों के प्रति उदात्तता दूर हो रही थी और वैचारिक आन्दोलनों में लोगों ने रुचि लेना आरम्भ कर दिया था । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इस पुनर्जागरण काल में साहित्य के विविध रूपों के प्राचीन स्वरूप और मायताओं के विषय में अनेक कामचलायी सिद्धांतों की रचना की गयी थी और इस मत का समर्थन हुआ था कि साहित्य या कला के क्षेत्र में अन्य विषयों के सांख्यिक समावेश की मर्यादा निर्धारित हो जानी चाहिये जिससे किसी प्रकार का अतिक्रमण न होने पाये । विशेष रूप से काव्य इतिहास नीतिशास्त्र कला और दर्शन शास्त्र आदि की दृष्टक-दृष्टक सीमा और मर्यादा का निर्धारण किया गया ।

सोलहवीं शताब्दी तक स्पेनी समीक्षा

इतिशोर का आभिर्भाव —

स्पेन में समीक्षा के विकास के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि वहाँ पर समीक्षात्मक चिन्तन का आरम्भ सन् १५ शताब्दी के समय में ही आरम्भ हुआ । इस समय वहाँ पर धर्म भाषना के विशेष आग्रह के कारण सेंट इतिशोर आदि विचारकों

ने साहित्य यपना काव्य के सम्बन्ध में जो विचार बिमर्श किया उसमें भी धार्मिकता की प्रधानता रही। इसिडोर काव्य में कला और धर्म के सम्बन्ध का ही भावस मानता था। उसका विचार था कि काव्य के विभिन्न तत्वों का औचित्यपूर्ण समुल्लेख ही काव्य की कला है। उसने किमटीलियन आदि रोमीय समीक्षकों के कुछ विचारों का समर्थन किया है। वह धर्म या नीति का साहित्य के विकास में जारी योग मानता था। इसीलिए उसका यह निश्चित विचार था कि साहित्य में धर्म तत्व और नीति तत्व का अधिकता से समावेश होना चाहिये।

काव्य पर विचार —

इसिडोर ने उपर्युक्त कारण से ही ऐसे समस्त काव्य रूपों का विरोध किया है जिनमें धर्म और नीति के तत्वों का अभाव हो। उसका यह भी विचार था कि उपर्युक्त तत्वों से रहित साहित्य या काव्य असात्विक वृत्तियों के प्रोत्साहन का कारण होता है। वह यह भी मानता था कि काव्य रचना के प्रेरणा स्रोत मूलतः धर्म और ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं से सम्बन्ध रखते हैं। इसीलिए वही कवि यथार्थ रूप में अच्छे काव्य रचना कर सकता है जो एकेश्वरवादी हो क्योंकि जो व्यक्ति एकेश्वरवादी होगा उसकी भावना में अनन्यता होगी। इसके विपरीत जो कवि बहु ईश्वरवादी होगा वह काव्य सौन्दर्य के स्थायी तत्वों से हीन और केवल बाह्य शोभने आकर्षण से युक्त काव्य रचना कर सकेगा। उसका काव्य आन्तरिक महारस से पूर्ण नहीं होगा। उसमें गुण तत्व का पूर्ण अभाव होगा तथा उसका दृष्टिकोण भी विवेकहीन होगा।

अर्थ समीक्षा

इसिडोर के पश्चात् जो समीक्षा विकसित हुई, उसमें भी उसके प्रभावस्वरूप धार्मिक वृत्ति की प्रधानता रही। जबजब चार सौ वर्षों तक साहित्य और समीक्षा बिना धार्मिक दृष्टिकोण की वहाँ पर शास्य और प्रचलित रहा। इसके पश्चात् प्यारहवीं सताब्दी के मध्यम से इस दृष्टिकोण में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा और फिर सोन साहित्य समीक्षा के सन्दर्भ में धर्म तत्व की अपेक्षा वर्तन तत्व की धार्मिक महत्व देने लगे। इसके अतिरिक्त वहाँ तक कलात्मकता का प्रश्न है, उसकी दृष्टि से भी पूर्ववर्ती दृष्टिकोण की अपेक्षा यह अधिक संयत और पूर्ण था।

पारखर्षी घटाव्दी में जब स्पेनी समीक्षा के क्षेत्र में आबेम्पेस का आधिपति हुआ तब उसने इस मत का प्रतिपादन किया कि काव्य कला अन्य कलाओं की अपेक्षा उच्चतर कोटि की है। उसका विचार है कि इसी कारण से काव्य का सम्बन्ध बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक अनुभूतियों और भावनाओं से अधिक होता है और इसीलिए हृदय की उच्चतर भाव भूमि पर ही इसका आनन्द लिया जा सकता है। क्योंकि वहीं पर इसका उदात्त स्वरूप उद्घाटित होता है। आबेम्पेस के पक्षानु उसके इन विचारों का अनुमोदन मैमोनीडेस आदि ने भी किया। उन्होंने भी यही कहा कि काव्य का पर्याय सौन्दर्य एक आन्तरिक वस्तु है, जिसका बाह्य आनन्दन मिथ्या होता है।

इस प्रकार से पारखर्षी घटाव्दी तक आते-आते स्पेन में समीक्षामय चिन्तन का व केवल उदय हो चुका था वरन् उसका विकास भी समुचित रूप से होने लगा था। साहित्य और काव्य के विविध कर्तों तरफ़ एवं भावना कला आदि के विषय में परम्परागत मत व्यवधान कटते हुए विचारक परासम्पन्न मौलिक योगदान की भी चेष्टा करने लगे थे। परन्तु वैसे कि ऊपर कहा जा चुका है चिन्तन का दृष्टिकोण सामकित्ता और बाधें कटा से निविधन रूप से आपूर्णीत था।

विचारक सस

प्रमुख विचारक—

विगुद घास्नीय दृष्टिकोण से साहित्य समीक्षा पर विचार करने वालों में सत का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यही सबसे पहला चिन्तक था जिसने साहित्य के विविध रूपों और तारों पर गम्भीरतापूर्वक अपने विचार प्रस्तुत किये। रचनात्मक साहित्य के अनिच्छित उमने समीक्षामय साहित्य के विषय में भी अपने विचार प्रस्तुत किये। यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि समीक्षा घास्न विषयक उनके विचार भी बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनका दृष्टिकोण संयत और विवेकपूर्ण है। उनसे साहित्य कला की रक्षा हो गयीगी जो भी साहित्य न मानकर कला ही माना। समीक्षा की कला माने हुये उसने इसका गीपा सम्बन्ध व्याकरण साहित्य से माना। इसी प्रकार से उमने कला कला की भी विवेकपूर्ण व्याख्या की। उसने भाष्य

रूपा के उद्देश्य और क्षेत्र का विस्तार किया तथा उसके उद्देश्य भी गभीरतर दृष्टिकोण से निर्बंधित किये ।

सुई बिदे

प्रमुख विचार —

सोमहर्षी सताव्नी में सुई बिदे ने यूरोपीय आधुनिकतावादी मान्यमान से प्रभावित होकर स्पेन में भी मजबूतकरण का प्रयत्न किया । उसने इस प्रवृत्ति का विरोध किया कि सदैव प्राचीन साहित्यकारों का भी अनुकरण किया जाय । उसका विचार यह था कि इससे मनीषी प्रयोगों के लिये कोई सम्भावना नहीं रह जाती और इसलिये सदैव कक्षाबिठा ही व्याप्त रहती है । उसने व्यंग्यारमक शैली में प्राचीन व्यक्तियों की चित्नी सजाई और यह कहा कि उनका ऐतिहासिक महत्व जो भी हो परन्तु उनके मत धारण करने से प्राप्त नहीं हो सकते ।

किन्टीलियन जैसे महान् विचारकों तक के महत्व को अस्वीकृत करते हुये सुई बिदे ने उनके दोषों की ओर संकेत किया और इस प्रकार भी यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि प्राचीन चिन्तकों का पूर्ण अनुकरण नहीं किया जा सकता । वह यह कहता था कि यदि हमारे सामने प्राचीनता के जाबर्द सदैव सत्य के रूप में रहेंगे तब हम कभी भी सतनी संप्रति भी न कर सकेंगे जितनी प्राचीन साहित्यकारों ने की है । इसलिये हमें चाहिये कि हम प्राचीन सिद्धांतों प्राचीन साहित्य और प्राचीन उपलब्धियों की अपेक्षा करते कोई उससे भी ऊंचा जाबर्द अपने सामने रक्के तब हम अवश्य प्राचीन की अपेक्षा अधिक संप्रति कर सकेंगे ।

इसी प्रकार से उसने साहित्य के रूपों पर भी महत्वपूर्ण चिन्तन किया । उसका अनुमान था कि साहित्य के पद्य और पद्य नामक प्रचलित रूप कुछ अपूर्ण से मान्य होते हैं । इसलिये इस बात की आवश्यकता है कि कोई ऐसा रूप विचार्यत हो जिसमें संपूर्णता हो । सुई बिदे के उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि उसमें मौलिक प्रतिभा विद्यमान थी । उसके हृदय में प्राचीनता के प्रति एक प्रकार के विरोध की भावना विद्यमान थी । इसका कारण सम्भवतः यह था कि वह प्रत्यक्ष रूप से वह देख और अनुभव कर रहा

या कि साहित्य के विकास में निरन्तर ह्रासात्मक प्रवृत्तियों का संभाव्य होता था रहा है। इसके विचार से यह सब समझिये या क्योंकि सोच प्राचीनता का पूर्ण अनुगमन करते थे और अपनी प्रतिभा की सम्भावनाओं को इस प्रकार से खड़ा कर देते थे। लुई ब्रिगे के मत से सहृदय या असहृदय हो या न हो परन्तु इतना निश्चित है कि उसके लक्ष बहुत पुष्ट हैं और उसका चिन्तन बहुत यत्नीय।

बैचारिक निष्कर्ष —

इस युग में साहित्य शास्त्र का सम्यक् विकास इस वर्ष में भी हुआ कि उसके विभिन्न बंधों की ओर साहित्य चिन्तकों ने धृक्-धृक् रूप से भी ध्यान दिया। उन्होंने विभिन्न साहित्यिकों के लक्षों का समय-समय विवेचन किया और उनके सम्बन्ध में सूक्ष्मतर निवेष्ट किये। असाधारण के लिये उन्होंने भाष्यशास्त्र के विषय में विचार करते हुये इसके भिन्न-भिन्न लक्षों का विवेचन किया। साहित्य काव्य नाटक और भाष्य कला के सम्बन्ध में भाष्य के स्वरूप पर विचार किया और इस लक्ष्य का निदधन किया कि किन्न माध्यम के लिये किस प्रकार की भाषा का प्रयास बीचित्यपूर्ण है। इसी प्रकार से स्वतन्त्र रूप से भी भाष्य के स्वरूप पर भी विचार किया गया।

इसके अतिरिक्त नाट्य कला के विषय में सिद्धांतों का निर्वर्तन भी हुआ। नाटक के विभिन्न रूपों के स्वरूप की धृक्-धृक् रूप से जासोजना हुई और नाट्य रचना और नाट्य अभिनय के सम्बन्ध रखने वाले सूक्ष्मतर निर्वर्तों की भी उपेक्षा नहीं की गई और इन पर विस्तार से विचार किया गया। यह भी बताया गया कि कौन से नाट्य या साहित्य रूप किन्तु प्राज्ञ हैं। इसके साथ ही साथ साहित्य रचना की मूल प्रेरक शक्तियों या प्रतिभा पर भी विस्तार से विचार किया गया। प्रतिभा का विवेचन करते हुये यह निवेष्टित किया गया कि साहित्यकार की प्रतिभा लम्बजाव होती है। जो कवि प्रतिभा से मुक्त होकर नहीं काम करता उसके लिये सफलता भी बहुत कम सम्भावना रहती है परन्तु लम्बजाव प्रतिभा का उत्कर्ष निरन्तर अभ्यास और स्पष्टतम कौटिक के साहित्य के निरन्तर अध्ययन से ही संभव है। इसलिये इस सम्बन्ध में यदि और कोई विषय नहीं हो सकता तो कम से कम यह निदधन हो माध्य ही किया जा सकता है कि अच्छे साहित्य के अधिकतम सम्पर्क में रहा जाय। अभ्यास और प्रतिभा के विकास के लिये इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं हो सकता।

परबर्ती समय में स्पेनी विचारकों ने साहित्य चिन्तन के क्षेत्र का भी अधिक विस्तार किया। मेनडोज़ा न काव्य की भाषा की समस्या पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये। उसने यह प्रतिपादित किया कि काव्य की रचना पद्य और पद्य दोनों में ही हो सकती है, क्योंकि गद्य या पद्य के प्रयास से इस माध्यम की सम्भावना में कोई मन्दर नहीं पड़ता। जहाँ तक काव्य के क्षेत्र का सम्बन्ध है उसने यह बताया कि उसमें किन्हीं भी धार्मिक दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों का समावेश हो सकता है और ये सभी विषय इस माध्यम में काव्यात्मक ही सच्य हैं। उसने इसी सन्दर्भ में एक और महत्वपूर्ण बात कही है। उसने बताया कि वस्तुतः भाषा के विपरीत वह उत्कृष्ट होती है जो विषयगत वैमिश्र का सुचक होता है। इस प्रकार से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य के विषय के सम्बन्ध में किसी प्रकार की संकुचितता या सीमा को नहीं मानना चाहिए।

इस समय तक स्पेन में काव्य भी वर्णों ऐसे साहित्य चिन्तक हो चुके थे जिन्होंने साहित्य काव्य भाषण कला और इनके विभिन्न तत्त्वों तथा रूपों पर विस्तार से विचार किया था। यहाँ पर यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि यूनानी और रोमीय महान् चिन्तकों के प्रमुख सिद्धांतों का स्पेनी चिन्तकों की विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ित होता है। उदाहरण के लिये बहुत से स्पेनी साहित्य साधकोंने ने एक स्वर से इस मन्त्र का समर्पण किया कि जहाँ तक अनुगमन का सम्बन्ध है उस प्रत्येक भाषा के साहित्य या काव्य का अनुगमन किया जा सकता है, जो शास्त्रता के गुणों से युक्त हो और इसी कारण से उन्होंने यूनान रोम इटली और फ्रांस के चिन्तकों और साहित्यकारों के वैचारिक अनुगमन का समर्पण किया। इसका कारण यह था कि वे यह मानते थे कि उत्कृष्ट साहित्य का निरन्तर अध्ययन अभ्यास प्रेरणा और प्रतिभा की वृद्धि में सहायक होता है।

सोलहवीं शताब्दी तक समीक्षा क्षत्रीय उपसन्धियों

इस प्रकार से पुनर्जागरणकालीन समीक्षकों की उपसन्धियों पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि इस सोलहवीं शताब्दी में साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में यूरोप के विभिन्न देशों में जो विचारधाराएँ गतिशील रहीं उनका आचार भी अधिकतर परबर्ती माध्यमताएँ ही थीं। विद्युती शताब्दी में जो प्रमुख विचारधाराएँ इन देशों में थीं,

प्रायः उन्हीं को इस घटाव्ही में भी प्रसार मिला । उनसे अलग कोई मौलिक विचारपाठ प्रवर्तित न हो सकी । इसका एक कारण पुनीन परिस्थितियाँ भी कही जा सकती हैं । इतिहास के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि यह बहुधा था, जब कि धर्म जीवन का आधा अंग समझा जाता था । दूसरे दृष्टियों में जन जीवन की अधिकोद्य मति विधियों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से धर्मगत साम्यताओं से अन्तर सम्बन्ध होता था । इसके फलस्वरूप यह मनोवृत्ति सामान्य सी हो गयी थी कि प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः कड़िबारी साम्यताओं को ही प्रशस्ति प्राप्त होती थी । नवीनता का आविर्भाव नहीं होने पाता था क्योंकि उसे तुरन्त बिरोधी मतां से संघर्ष करना पड़ता था ।

इन युग में क्या साहित्य और काव्य के विविध पक्षों में सम्बन्ध रखने वाले जिन सैद्धांतिक नियमों की रचना हुई उनके विषय में भी उपर्युक्त कथन की सत्यता सिद्ध है । इस घटाव्ही में जो प्रमुख समीक्षक हुये उन्होंने सापेक्ष शास्त्र सुखान्तक नाटक दुःखान्तक नाटक मिथितान्तक नाटक, काव्य काव्याय आदि पर विचार किया । इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिये कि अस्तू ने काव्य के जिस अनुकरणात्मक सिद्धांत का प्रवर्तन किया था परवर्ती समीक्षकों में से अधिकोद्य ने उसका समर्थन किया । इस घटाव्ही में भी जो विधिष्ट समीक्षक हुये उनमें से प्रायः सभी ने इस सिद्धांत को मान्यता दी । उन्होंने इन मन्त्रव्य में सहमति प्रकट की कि अनुकरण कल्पनात्मक होता है । इसलिये कथाकार को चाहिए कि वह अपनी कृति में कल्पना के बोध से सफलता लाने की चेष्टा करे । अनुकरण का महत्व इसलिए भी अधिक होता है कि इसके माध्यम से साहित्यकार अपनी श्रियात्मक प्रतिभा को अभिव्यक्ति देता है ।

काव्य का विवेचन करते समय उपर्युक्त सिद्धांत को साहित्य विचारकों ने विशेष रूप से ग्रहण किया । इन युग के समीक्षकों ने यह भी स्वीकार किया कि काव्य का प्रयोगन उपदेशात्मकता तथा आनन्द की वृद्धि ही है । इस युग में यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकृत किया गया कि इन दोनों उद्देश्यों में द्वितीय का ही महत्व अधिक है । काव्य को मनुष्य समाज की एक आवश्यकता माना गया । यह भी प्रतिपादित किया गया कि अमृत काव्य सृष्टि मनुष्य की प्रतिभा का परिणाम होता है और वही उसका मूल साधारण है । इसलिए प्रतिभा द्वारा एवम् काव्य ही उत्पन्न होता है । अल्प योजना अर्त्त कार निरूपण और छन्द रचना बलुन श्रिमा पर ही निर्भर करती है । इस प्रकार से परवर्ती साहित्य समीक्षा को बरोहूर के रूप में इन युग की समीक्षारामक उपस्थितियों के रूप में भारी विकास की एक पुष्टि साधारण भूमि प्राप्त हुई ।

समग्रही याताव्यी में इटैलियन समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर यह ज्ञात होता है कि नवैसिक युगीन वास्तविक समीक्षा का आरम्भ इटली में हुआ था। परन्तु परवर्ती युगों में वह इसकी प्रगति का केन्द्र न बना रह सका। इसका मुख्य कारण यह है कि वहाँ उसे इस सीमा तक नियमबद्ध कर दिया गया कि स्वच्छन्द रूप से इसके विकास की सम्भावनाएँ ही समाप्त हो गयीं। इटली के समीक्षकों ने आधुनिक समीक्षा साहित्य के विकास का प्राथमिक युग में अपने सम्मुख आदर्श के रूप में ब्रित साहित्यकारों को रखा। उनमें मुख्यतः प्लेटो अरस्तू तथा होरेस आदि ही थे। दूसरे शब्दों में इन्हीं चिन्तकों के समीक्षारमक सिद्धांतों ने इटली के समीक्षकों का मार्ग दर्शन किया। इटली में व्याप्त हारिक समीक्षा का आरम्भ भी इन्हीं विगगजों की कृतियों पर टीका-टिप्पणी के साथ हुआ। कुछ समय तक इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वहाँ पर ऐतिहासिक समीक्षा के क्षेत्र में क्रियाशीलता रही।

इटली में समीक्षा के विकास के प्रथम युग की जो मुख्य प्रवृत्तियाँ थी उनमें से प्रथम सभी का आधार एक ही मान्यता या दृष्टिकोण था। काव्य के विकास में वहाँ अरस्तू के विचार सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे और यह मान लिया गया था कि काव्य प्रकृति का अनुकरण है, ऐसा अनुकरण जो प्रकृति और विधि के नियमानुक्रम है तथा यह भी कि काव्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करने के साथ ही उपदेश देना भी है। इस युग के विविध काव्य प्रकारों और कर्तों की परिमापार्थक्य उन्हीं के विषयों के अनुसार निर्मित की गयीं तथा उन्हीं के अनुक्रम उनके नियम और सिद्धांत भी बना दिये गये। अबाहरण के लिये यह प्रतिपादित किया गया कि एक बुद्धिमान नाटक में समय स्थान और कार्य की एकता होनी चाहिए। यह भी कहा गया कि बुद्धिमान नाटक की रचना पद्य में होनी आवश्यक है। इसी प्रकार से महाकाव्य के सिद्धांतों की भी रचना हुई। रोमांस को इसमें अधिक स्थान नहीं दिया गया। उसके लिये भी “एकताएँ” निर्धारित की गयीं, परन्तु नाटक की “एकताएँ” इनसे अधिक थीं।

इस युग में यह विचार बहुत सामान्य रूप से प्रचलित था कि पूर्वयुगीन साहित्यकारों ने समय-समय सभी प्रकार का साहित्य रच दिया है। यह साहित्य अपने अपने क्षेत्रों में सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इसलिये यह बहुत औचित्यपूर्ण कार्य होना यदि मान लें कि अनुकरण किया जाय। इस प्रकार की प्रचलित धारणाओं के समर्थक वाचस्पति भी समीक्षक थे क्योंकि यह एक उचिततम तथ्य है कि अनेक विद्वानों द्वारा अनुमोदित

न सांख्यिक नियमों का कट्टर अनुसरण किसी ने भी नहीं किया। कुछ भी हा इटैलियन समीक्षा ने अग्रणी समीक्षा साहित्य के विकास में जो योग दिया है वह बहुत महत्वपूर्ण है।

इस समय तक सामान्यतः समीक्षा को एक विज्ञान के रूप में ही मान्यता मिली थी उसका ककारमक और सांख्यिक महत्व नहीं समझा गया था। परन्तु अब अन्तर्कार साहित्यियों ने इसे अपने विषय के लिये बहुत उपयोगी समझ कर ग्रहण किया। परन्तु इस सारी प्रगति के मूल में प्राचीन कर्मीसिकस साहित्य के अनुगमन की ही भावना कार्यशील थी। यहाँ तक कि इटली के पुनरुत्थान युग के प्रसिद्ध समीक्षक बीडा ने भी क्लारमक साहित्यकारों के लिये यह निर्देश किया कि वे प्रकृति का अनुकरण करें, क्योंकि यही प्राचीन विचारक कह गये हैं तथा उसके कथनानुसार प्राचीन कवियों ने भी ऐसा ही किया था।

सत्रहवीं शताब्दी में इटली से जो समीक्षा लिखी गई उसकी प्रगति कोई विशेष संतोषजनक नहीं कही जा सकती। पुनर्जागरण युग में इटालियन भाषा में जो ठोस साहित्य चिन्तन हुआ था उसकी उपलब्धियों को देखते हुए यह आश्चर्य की बात नहीं कि आगामी शताब्दी में उसका विकास सम्पूर्ण रूप से हो सकेगा। परन्तु इस शताब्दी में विविध नवीन वैचारिक आन्दोलनों का इतना व्यापक प्रभाव इटालियन साहित्य समीक्षा पर पड़ा कि उस प्रभाव से हटकर किसी ने भी प्राचीन परम्पराओं का अनुगमन करना आवश्यक न समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक नए युग का आरम्भ हुआ जिसका प्राचीनता से कोई सम्बन्ध न रहा। पूर्व नवीन रूप में सैद्धांतिक रचना हुई और समीक्षा की नवीन सीमितियों का प्रवर्तन हुआ। "वैयानो शीकलनी" (१९१२) और "वैयानियो वीसीमार्ड" आदि महत्वपूर्ण साहित्यकार इस शताब्दी में हुए, जिनकी इस नवीन धारा के आरम्भ करने का श्रेय प्राप्त है।

इस शताब्दी की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना आर्केडियन एकाडेमी (सन् १९९०) की स्थापना है। बीदिघाबिना को इसकी स्थापना का श्रेय है और इसका उद्देश्य साहित्यिक क्षेत्र में व्याप्त मरणाशयता को दूर करके नई जेतना जगाना था। इस शताब्दी में जो मिठाई भोजन हुआ उसको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शताब्दी में भी भौतिक चिन्तन का अभाव न था यद्यपि पुरानता और नवीनता के विचार में इस युग में भी कुछ वैचारिक संश्लेषता के लक्षण दिखाई दिए परन्तु अन्ततः वादी विकास का मार्ग स्पष्ट होने लगा।

सत्रहवीं सताब्दी में इटलियन समीक्षा

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर यह ज्ञात होता है कि क्लासिकल युगीन पारंपारिक समीक्षा का आरम्भ इटली में हुआ था। परन्तु परम्परा में कुछ इसकी प्रगति का केन्द्र न बना रह सका। इसका मुख्य कारण यह है कि वहाँ उसे इस सीमा तक नियमबद्ध कर दिया गया कि स्वच्छन्द रूप से इसके विकास की सम्भावनाएँ ही समाप्त हो गयीं। इटली के समीक्षकों ने आधुनिक समीक्षा साहित्य के विकास का प्राथमिक युग में अपने सम्मुख आदर्श के रूप में जिन साहित्यकारों को रखा, उनमें मुख्यतः प्लेटो अरस्तू तथा होरेस आदि ही थे। दूसरे शब्दों में इन्हीं चिन्तकों के समीक्षात्मक सिद्धांतों ने इटली के समीक्षकों का मार्ग दर्शन किया। इटली में व्यापक हारिक समीक्षा का आरम्भ भी इन्हीं विगनों की कृतियों पर टीका-टिप्पणी के साथ हुआ। कुछ समय तक इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप वहाँ पर ऐतिहासिक समीक्षा के जन्म में क्रियाशीलता रही।

इटली में समीक्षा के विकास के प्रथम युग की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ थी जिनमें से प्रायः सभी का आधार एक ही भाव्यता या दृष्टिकोण था। काव्य के विकास में वहाँ अरस्तू के विचार सर्वश्रेष्ठ समझे जाते थे और यह मान लिया गया था कि काव्य प्रकृति का अनुकरण है, ऐसा अनुकरण जो प्रकृति और विधि के नियमानुसार है तथा यह भी कि काव्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करने के साथ ही उपदेश देना भी है। इस युग के विभिन्न काव्य प्रकारों और कर्मों की परिभाषायें उन्हीं के विषयों के अनुसार निर्मित की गयीं तथा उन्हीं के अनुसार उनके नियम और सिद्धांत भी बना दिये गये। सदाहरण के लिये यह प्रतिपादित किया गया कि एक बुद्धिमान नाटक में समय स्थान और कार्य की एकता होनी चाहिए। यह भी कहा गया कि बुद्धिमान नाटक की रचना पद्य में होनी आवश्यक है। इसी प्रकार से महाकाव्य के सिद्धांतों की भी रचना हुई। रोमांस को इसमें अधिक स्थान नहीं दिया गया। उसके लिये भी “एकताएँ” निर्धारित की गयीं, परन्तु नाटक की “एकताएँ” इनसे भिन्न थीं।

इस युग में यह विचार बहुत सामान्य रूप से प्रचलित था कि पूर्वयुगीन साहित्यकारों ने अत्यन्त सभी प्रकार का साहित्य रच दिया है। यह साहित्य अपने अपने क्षेत्रों में सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इसलिये यह बहुत अनिश्चयपूर्ण कार्य होना यदि मान लेंगे अनुकरण किया जाय। इस प्रकार की प्रचलित चारणाओं के समर्थक आनन्दन जैसे समीक्षक के अतिरिक्त यह एक उदात्तगीय तथ्य है कि अनेक विद्वानों द्वारा अनुमोदित

इन शास्त्रीय नियमों का कट्टर अनुसरण किसी ने भी नहीं किया। कुछ भी हा इटैलियन समीक्षा ने अपेक्षी समीक्षा साहित्य के विकास में जो योग दिया है वह बहुत महत्वपूर्ण है।

इस समय तक सामान्यतः समीक्षा को एक विज्ञान के रूप में ही मान्यता मिली थी उसका कलात्मक और शास्त्रीय महत्व नहीं समझा गया था। परन्तु अब अस्कार साहित्यों ने इसे अपने विषय के लिये बहुत उपयोगी समझ कर ग्रहण किया। परन्तु इस सारी प्रगति के पूर्व में प्राचीन क्लासिकल साहित्य के अनुगमन की ही भावना कार्यशील थी। यही तक कि इटली के पुनरुत्थान युग के प्रसिद्ध समीक्षक बीडा ने भी क्रियात्मक साहित्यकारों के लिये यह निर्देश किया कि वे प्रकृति का अनुकरण करें, क्योंकि यही प्राचीन विचारक कह गये हैं तथा उसके कथनानुसार प्राचीन कवियों ने भी ऐसा ही किया था।

सत्रहवीं शताब्दी में इटली से जो समीक्षा लिखी गई उसकी प्रगति कोई विशेष संतोषजनक नहीं कही जा सकती। पुनर्जागरण युग में इटालियन भाषा में जो ठोस साहित्य चिन्तन हुआ था उसकी उपलब्धियों को देखते हुए यह आशा की जा सकती थी कि आगामी शताब्दी में उसका विकास सम्यक रूप से हो सकेगा। परन्तु इस शताब्दी में विभिन्न नवीन वैचारिक आन्दोलनों का इतना व्यापक प्रभाव इटालियन साहित्य समीक्षा पर पड़ा कि उस प्रभाव से हटकर किसी ने भी प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण करना आवश्यक न समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि एक नए युग का आरम्भ हुआ जिसका प्राचीनता से कोई सम्बन्ध न रहा। पूरा नवीन रूप में सैद्धांतिक रचना हुई और समीक्षा भी नवीन धारणाओं का प्रवर्तन हुआ। "वैदिकानो-क्रिस्तियानो" (१९१२) और "वैदिकानो-वैदिकानो" आदि महत्वपूर्ण साहित्यकार इस शताब्दी में हुए, जिनकी इस नवीन धारा के आरम्भ करने का श्रेय प्राप्त है।

इस शताब्दी की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना आर्कोडियन एकाडेमी (सन् १९९०) की स्थापना है। जीदिघाबिना को इसकी स्थापना का श्रेय है और इसका उद्देश्य साहित्यिक क्षेत्रों में व्याप्त मर्यादितता को दूर करके नई नैतिकता फैलाना था। इस शताब्दी में जो सिद्धांत फैलने लगे उसको देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शताब्दी में भी भौतिक चिन्तन का अभाव न था यद्यपि पुरातनता और नवीनता के विचारों में इस युग में भी कुछ वैचारिक संकुलता के लक्षण दिखाई दिए परन्तु अन्ततः प्राचीन विचार का मार्ग स्पष्ट होने लगा।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी समीक्षा

सत्रहवीं शताब्दी में भी समीक्षा तीव्रतर गति से विकसित हुई। वहाँ खीम ही समीक्षा का स्वान महत्वपूर्ण हो गया यद्यपि प्रारम्भ में इसकी सम्भावनायें बहुत कम थीं और लोगों का इसके प्रति उपेक्षा भाव भी था। इस युग में दीबले तथा रोन्साई की समीक्षाय विविध महत्व रखती हैं। परन्तु इनके विषय में यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिये कि ये समीक्षायें बहुत सीमित क्षणीय थीं। फ्रांस में अपनी माया की प्रमति पर विशेष रूप से बल दिया जा रहा था। परन्तु फ्रांसीसी समीक्षा की आधुनिक युगीन मुख्य प्रवृत्तियाँ ऐतिहासिक ही रहीं। विविध साहित्यायों के क्षेत्र में नियम और सिद्धांत रचना का कार्य ही विशेष रूप से होता रहा। आधिक रूप से उसमें व्यावहारिक समीक्षा के तत्व भी समाविष्ट हुये प्रतीत होते हैं।

बोयसो

परिचय तथा कृतियाँ —

बोयसो का समय सन् १६३६ से लेकर १७११ तक माना जाता है। वह इस शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ यूरोपीय समीक्षकों में माना जाता है। फ्रांस के विचारकों में तो उसे अपने युग में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। सन् १६६० में उसकी व्यस्य रचनाओं की प्रथम पुस्तक "एक कवि का पैरिस नगर से अवधि" प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् सन् १६६४ में "रोमी नामकों के सम्भाव" और १६७४ में "काव्य कला" नामक कृतियाँ प्रकाशित हुईं।

प्रमुख विचार तथा महत्व—

बोयसो शायद का समकालीन था। उसे इस शताब्दी का फ्रांस का एक युग प्रवर्तक विचारक कहा जा सकता है। उसने साहित्य को कुछ सीमायों में बाँधने की कोशिश की ही, साहित्य के भ्रष्टाचारों में भी कुछ पूर्वाग्रह रहे। इसी कारण उस पर यह दोष लगाया जाता है कि व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में वह पक्षपात रहित न हो सका था। परन्तु उसकी महत्ता का एक निश्चित कारण यह भी है कि उसने दूसरे साहित्य विचारकों से जो कुछ भी ग्रहण किया, वह उनके विचारों और सिद्धांतों में सर्वोत्तम था। उसने एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से साहित्यिक प्रवृत्तियों के इतिहास का अध्ययन किया और विविध युगीन उपलब्धियों से स्वयं की अवगत करवाया।

अनुकरणात्मकता तथा यथार्थता :—

बोयसी ने प्राचीन यूनानी तथा अन्य कृतियों के अनुकरण की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की। वह यथार्थता पर अत्यधिक बल देता था। उसका विचार था कि वही वस्तु सुन्दर हो सकती है, जो यथार्थ हो। इसी प्रकार से वह यह भी मानता था कि प्रत्येक यथार्थ वस्तु प्रकृति में मिलती है। इसलिए साहित्य या काव्य के सुन्दर होने के लिये यह आवश्यक है कि वह यथार्थ या प्रकृति पर आधारित हो। उसने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन साहित्य इसी कारण से सौन्दर्ययुक्त है, क्योंकि उसके में ही दोनों आचार हैं। अतः उसने दार्शनिक साहित्यकारों के लिये प्राचीन साहित्य कार्यों का अनुकरण उचित बताया।

काव्य कला :—

सबहर्षी धर्माश्वी के कांस की इस सर्वप्रमुख साहित्यिक प्रतिभा ने अपनी इति "एन आर्ट पोयटीक" में काव्य कला पर बहुत गम्भीर विचार प्रस्तुत किये हैं। उसने बताया है कि काव्य चाहे किसी भी प्रकार या भाषा का हो उसमें विवेक का होना आवश्यक है। उसने काव्य में विवेक को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। उसका कहना है कि वह वस्तु वस्तुतः विवेक ही है, जिससे काव्य का महत्व आँका जाता है। काव्य इसलिये महत्वपूर्ण नहीं होता क्योंकि वह काव्य है, बल्कि वह इसलिये महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि उसमें विवेक समाविष्ट होता है। उसने तो यही तक कहा है कि यदि काव्य में विवेक नहीं होगा तो वह किसी भी स्थायी महत्व का नहीं सिद्ध हो सकेगा भले ही कवि उसमें विद्वत्ता अधिक मीलकता का दावा करे। इस प्रकार से काव्य में विवेक का महत्व प्रतिपादित करने के बाद उसने काव्य के विवेक युक्त होने का एक उपाय यह बताया है कि वह प्रकृति पर आधारित होना चाहिये।

सामग्रीय दृष्टिकोण :—

सबहर्षी धर्माश्वी में कांस में "कलासिध्दता" का अधिक प्रचार हुआ। इस समय चिन्तन का स्तर ऊँचा चढ़ चुका था। इस सम्बन्ध में प्रमुख उत्प्रेक्षणीय तथ्य यह है कि साहित्यिक अनुकरण की पूर्ण और विद्वत्संगीय व्याख्या की गई। मासेजब और बोयसी आदि विचारकों ने महत्वपूर्ण समीक्षायुक्त संप्रदायों का प्रवर्तन किया और प्रायः समन्वयकारी दृष्टिकोण से व्यावहारिक समीक्षा करने पर बल दिया।

इन समीक्षकों के अतिरिक्त मैगनिंग और लेवफिल दे बियो आदि भी वे जिनका बहुत से विषयों में वैचारिक मतभेद था। अनेक व्यावहारिक समीक्षकों में इन लोगों ने बाब बिहार के कुछ बड़े निकामे और उन पर पक्ष और विपक्ष में टीका टिप्पणी करते रहे। मासेमब की व्यावहारिक समीक्षा का वहाँ इस छठाव्वी में व्यापकता से प्रचार हुआ वहाँ दूसरी ओर कुछ लोगों ने इससे गम्भीर मतभेद भी प्रकट किया; परन्तु इसने उसकी व्याप्ति प्रतिष्ठा और माध्यमताओं में कोई विशेष अन्तर नहीं आया और वह व्यावहारिक तथा ऐतद्वास्तविक समीक्षा पद्धतियों के इतिहास में सर्वप्रथम विचारक के रूप में मान्य हुआ।

नाट्य-सिद्धान्त :—

नाटक के क्षेत्र में तुलान्तक सुलान्तक मिथितान्तक और वृत्तान्तक आदि पर बहुत विस्तार से विचार हुआ। इन नाट्य रूपों की नवीन व्याख्याएँ हुईं और इनसे सम्बन्ध रखने वाली सूक्ष्म निर्वेक्षण प्रणालियाँ प्रवर्तित की गईं। प्राग्य नाटक और प्रवृत्तन की उपेक्षा नहीं हुई। वहाँ तक साहित्य के पक्ष माध्यम का सम्बन्ध है, उपन्यास को विशेष रूप से माध्यमता मिली। महाकाव्य से उसकी तुलना की गई और उसे गम्भीर माध्यम स्वीकार किया गया। नीलिंग और कार्लोई आदि समीक्षक इस सिद्धान्त निर्धारण के क्षेत्र में विशेष रूप से क्रियाशील रहे और व्यावहारिक समीक्षा में छोटी छोटी बातों पर से लोग विचार करते रहे। इस सबका परिणाम इस अर्थ में अच्छा हुआ कि क्रियात्मक साहित्य के साथ ही साथ समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में भी पठिशीलता बढ़ी जो पूर्व में सम्भावनाओं का चोटन करती है।

सत्रहवीं शताब्दी में स्पेनी समीक्षा

सत्रहवीं शताब्दी में स्पेन में जिन समीक्षारमक विचारों का प्रचार रहा, उनका सम्बन्ध मूल रूप से साहित्य और कला के कुछ मूल प्रश्नों से है। उदाहरण के लिए नीति शास्त्र और शौच्य शास्त्र जैसे विषयों पर भी इस समय में विस्तार के साथ विचार किया गया। इसे सम्बन्ध में इस तथ्य का उल्लेख करना अर्थात् न होगा कि इस समय से पूर्व साहित्य कला नीति में शास्त्र तथा शौच्य विज्ञान के विषय में जिस प्रकार के मतों का प्रचार था उनको देखने से यह पता चलता है कि वे प्रायः इन विषयों

के पारस्परिक भेद की ओर संकेत नहीं कर पाते थे । वे इनके स्पष्ट स्वरूप का हा स्पष्ट करते थे और कभी कभी तो ऐसी सामान्य बातें इंगित करते थे जिनका सम्बन्ध सामूहिक रूप से इन सभी विषयों से होता था ।

उपयुक्त दृष्टिकोण से इस युग में कलात्मक चिन्तन का पर्याप्त विकास हुआ क्योंकि इस समय प्रत्येक कला शास्त्र और विज्ञान का पृथकीकरण कर दिया गया और ऐसा करते समय बहुधा इन्हीं विषयों के सम्बन्ध में प्रचारित प्राचीन मन्तव्यों का विरोध भी किया गया । पाश्चात् की सान्टो टीमास पीएन्सात् ने उपयुक्त विषयों के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट और बड़ा विचार अविव्यक्त किया । इसलिये इस क्षेत्र की सनतधियों का सबसे अधिक भेद उसी को है ।

मीथिदास और सौन्दर्य विज्ञान के क्षेत्रों में वैज्ञानिक चिन्तन का जहाँ तक सम्बन्ध है, जाने बल कर कमसे कममें कई दृष्टियों को समावेशित कर दिया गया । अनन्त विचारक ऐसे हुए, जिन्होंने इन क्षेत्रों में नयी उत्पादनाएँ करते हुए प्राचीन यूनानी और रोमीय चिन्तकों से असहमति और विरोध प्रकट किया । बहुत से ऐसे प्रश्न उठाये गए, जिनमें अनुकरण के स्वरूप कला के विविध पक्षों और सौन्दर्य के प्रेरक स्रोतों का विस्तार से विवेचन किया गया । जियोहेर्बियो तथा सूर्य की शानका बाहि विचारकों ने इस सम्बन्ध में रहस्यकारी दृष्टिकोण को अपनाया । कुछ लोगों ने इससे मिल्न दृष्टिकोण भी स्वीकार किया । इन लोगों में कामिस्को बाल्केस का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

इस प्रकार से इस समय में जो मुख्य विचार रहा उसका स्वरूप जाहे वैसा भी हो परन्तु उसका मूल में प्राचीनता के समर्थन अपना विरोध का ही इन्द्र है । प्राचीन विचारकों में दिनकर सबसे अधिक प्रभाव स्पेनी चिन्तकों पर था वे अरम्भ और विविधतामय हैं । कुछ लोगों ने प्राचीनता का समर्थन करते हुए इन विद्वानों के सिद्धान्तों का भी समर्थन किया है और कुछ ने प्राचीनता का विरोध करते हुए इनके महत्त्व को भी अस्वीकृत कर दिया है ।

इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि स्पेन में जो साहित्यिक चिन्तन होता था उसकी होड़ प्रायः इटली वालों से प्रत्यक्षत रहनी थी । इटली के चिन्तन क्षेत्रों में होने वाली उपसम्पत्तियों के सम्बन्ध में गुमनारमक दृष्टि से स्पेनी चिन्तक बहुत सबक और सतर्क रहते थे । इस युग के अन्त तक साहित्य क्षेत्रीय मौलिक चिन्तन की दृष्टि से बालतासार डी केस्पिडेस तथा प्राचीन अनुगमन की दृष्टि से मिगुयेल् डी सर्वेटी के नाम उल्लेखनीय हैं ।

स्वैनी समीक्षारत्मक चिन्तन के इतिहास में जो सूई बायीं सुई एस्कोम्बों की कार्वासीने का नाम इस सताब्दी के चिन्तकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने नाटक के सम्बन्ध में कुछ ऐसे सिद्धांतों का नियमन किया जो ऐच्छांतिक दृष्टिकोण से प्राचीनता के विरोधी होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक साह्य और उपादेय थे। दृष्टान्तक नाटक, सुखान्तक नाटक मिश्रितान्तक नाटक और द्वयान्तक नाटक के स्वरूप भेद के सम्बन्ध में बहुत विचार इस समय में हुआ। अनेक साहित्यकारों ने यहाँ एक ओर अरस्तु द्वारा निर्बंधित सिद्धांतों का समर्थन और स्वीकरण किया वहीं दूसरी ओर बहुतों ने उनका घोर विरोध किया और गवीनतम उत्तों को मान्य करने के लिए आन्दोलन किया। इस विषय में पक्ष या विपक्ष में जो कुछ भी कहा गया वह प्रायः अरस्तु के विरोध या समर्थन में ही था।

काव्य के उत्तों के विषय में भी पर्याप्त विचार विमर्श हुआ। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक सुलझे हुए विचार बुवा माटिलेन की बीरेयुई के हैं। उसने ऊपरी तौर से ऐच्छांतिक बाध विचार में पकड़ कुछ मूल्यपूर्ण उत्तों के विषय में स्पष्ट विचार प्रकट किए। अपने पूर्ववर्ती पीढ़ी की बेमेलिया का ऐच्छांतिक समर्थन करते हुए और काव्य की आत्मा के विषय में उससे सहमति प्रकट करते हुए उसने कहा कि अलंकार तत्त्व किसी भी प्रकार से काव्य की आत्मा के रूप में नहीं मान्य किया जा सकता, वरन् जो मूल विचार तत्त्व उसमें निहित रहता है वही काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित रहता है।

सत्रहवीं सताब्दी में जर्मन समीक्षा

जर्मनी में समीक्षारत्मक चिन्तन के इतिहास को देखने से यह पता चलता है कि आपुनिक रूप में समीक्षा के क्षेत्र में कार्य लगभग सत्रहवीं सताब्दी के पूर्व ही आरम्भ हो चुका था। इसके पूर्व किशारतमक साहित्यकारों के क्षेत्रों में तो कुछ उपलब्धियाँ हो चुकी थी परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में क्रियाशीलता का अभाव था। इतना अवश्य था कि समीक्षा क्षेत्रीय सम्भावनाएँ इससे पहले भी विद्यमान थीं और कभी-कभी इसका आभास भी मिलता था।

सत्रहवीं सताब्दी का अन्त होते-होते इस क्षेत्र में जागरूकता बढ़ी। फिर १७वीं सताब्दी में इसका और भी विकास हुआ तथा सार्वनीय समीक्षा का स्वरूप भी स्पष्ट होने लगा। समकालीन यूरोपीय वैचारिक आन्दोलनों की सहृदं यहाँ भी आई और उन

पर मित्र मित्र प्रकार की प्रतिस्पर्धाएँ भी देखी गईं। इस सबका परिणाम यह हुआ कि यहाँ पर जो भी साहित्य और समीक्षारमक विकास हुआ उसकी भूल प्रेरणा विदेशी रही।

सत्रहवीं सताब्दी में माटिन ओपिस्स (१५९७ से १६३९ तक) का जब आविर्भाव हुआ तब सामान्य रूप से उपर्युक्त स्थिति ही थी। माटिन ओपिस्स ने इस स्थिति को मनी प्रकार से समझा। उसने यह अनुभव किया कि यदि देश में साहित्य और कला के क्षेत्र में कुछ कोटि के मौलिक चिन्तन की सम्भावना नहीं है तो फिर समकालीन संकुचित दृष्टिकोण का प्रचार करनेवाले आन्दोलनों और विचारवादाओं का अनुगमन करने की अपेक्षा प्राचीनता का अनुगमन करना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। इसलिये उसने प्राचीनता का अनुगमन अव्यक्त रूप से हुए फ्रांसीसी शास्त्रीय सिद्धांतों का अनुमोदन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सत्रहवीं सताब्दी के अन्तिम वर्ष तक यहाँ के साहित्य और समीक्षा पर जहाँ तरकों का मुख्य रूप से प्रभाव पड़ता रहा जिसका निवर्तन फ्रांसीसी साहित्य शास्त्र और विचारवादा द्वारा किया था। अन्य अनेक कारणों के साथ यह भी एक बड़ा कारण था कि अंग्रेजी में मौलिक रूप से साहित्यिक विकास की सम्भावनाएँ कम हो गईं।

सत्रहवीं सताब्दी में अंग्रेजी समीक्षा

अंग्रेजी समीक्षा ने यद्यपि यूरोप की अन्य भाषाओं से भी बहुत कुछ प्रभाव ग्रहण किया, परन्तु इसके साथ ही उसका विकास स्वतंत्र रूप से भी होता रहा। इसलिये तथा ऐतिहासिक वैसे प्रतिमाओं ने अंग्रेजी समीक्षा को समृद्ध बनाने में योग दिया। अन्य देशों की विचारवादाओं ने अंग्रेजी समीक्षा के विकास में प्रेरणा का कार्य अवश्य किया, परन्तु स्वयं अंग्रेजी समीक्षा की परम्परा भी बहुत प्राचीन और समृद्ध होने के कारण उसके स्वतंत्र रूप में विकास की सम्भावनाएँ भी सदैव विद्यमान रहीं। इसलिये यह सम्भव है कि किसी युग की अंग्रेजी समीक्षा में पूर्णतः मौलिकता न हो, परन्तु इतना निश्चित है कि वह स्वयं प्रेरित एवं आत्म निर्भर सदैव से ही रही है। उसके साहित्य शास्त्रियों ने भी विभिन्न साहित्यांगों से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धांतों का निर्धारण करने का प्रयत्न किया। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि के बिरोध और समर्थन के कारण उनमें एकमतता नहीं रही। भाषा के विकास की ओर अंग्रेजी के समीक्षकों का बराबर ध्यान रहा। अर्थात् आदि ही अंग्रेजी भाषा की समृद्धि के लिये निरन्तर चैप्यधीन रहे।

इस महीन युग के अंग्रेजी समीक्षकों में से अविनाश ऐसे थे जो समीक्षा शास्त्र के विषय में पर्याप्त सैद्धांतिक ज्ञान रखते थे, परन्तु इन लोगों ने अपने इस ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग उचित प्रकार से नहीं किया। अपनी भावी प्रगति के विषय में वे इतने निश्चित रहते थे कि उन्होंने प्राचीन साहित्यिक और समीक्षात्मक उपलब्धियों की ओर बहुत उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया। उन्होंने कभी भी इस तथ्य का अनुभव पन्नीरठा पूर्वक नहीं किया कि सचमुचे में एक प्रसारित साहित्यिक इतिहास के प्रति इस प्रकार की भावना बहिष्कर सिद्ध होगी।

इसके अतिरिक्त इन समीक्षकों ने शीक और सैटिंग भाव्यों का अनुसरण भी अंग्रेजी समीक्षा के विकास में सम्यक् रूप से नहीं किया। पैट्रिकमोन बेब, पुटनहाम तथा सिडनी आरि समीक्षक-द्वारे वर्ग के समीक्षक थे जिनमें इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ नहीं थीं। परन्तु उनकी उपलब्धियाँ भी इतनी महती नहीं थी कि उन्हें सर्वश्रेष्ठ कोटि के समीक्षकों में स्थान दिया जाता। उपर्युक्त विचारकों में से सिडनी के विषय में हम उक्ति कर चुके हैं कि उसने अपने युग की सीखा बात को एक नयी दिशा दी थी। उसकी प्रख्यात कृति 'एपलोजी आफ पोयट्री' भी जो बाद में "डिफेंस आफ पोयट्री" के नाम से प्रसिद्ध हुई थी।^१ वह काव्य के दैवी स्वरूप और उसकी अतीतिक प्रेरणा का समर्थक था। इसी-लिए वह कवि को स्रष्टा मानता था। उसके विचार से काव्य तत् का उन्मेष और अस्तु का माध करने के लिए एक सफल माध्यम सिद्ध होता है।

अंग्रेजी समीक्षा के विकास में अंग्रेजी मध्य का भी पर्याप्त योग है। पैट्रिकमोन के समय से अंग्रेजी भाषा की समृद्धि की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा था। भाषा शास्त्रीय नियमों की रचना होने लगी थी तथा साहित्यिक एवं साहित्यिक उपलब्धियों का मुल्यांकन होने लगा था। मार्कविचप मार्कर की शोषणा तथा प्रभाव हैं जोसर और उसके पूर्व युग का अध्ययन किया गया। इटैलियन साहित्यिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप अंग्रेजी साहित्यकारों ने भी जैटो हाथ निष्पत्ति निबन्धों के अनुसार साहित्य रचना करना आरम्भ कर दिया। इस प्रवृत्ति के विकास में प्युरिटन तत्व ने भी बहुत योग दिया। कुछ मिला कर, ऐसा विचार किया जाता है कि शास्त्रीय अनुनामिता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप साम की अपेक्षा हासि ही अधिक हुई।

वहाँ तक आया और उसके रूपों का सम्बन्ध है स्पेंसर ने अपने "केनेडर" में जिस अनामरिक भाषा का प्रयोग किया है, उसकी बहुत आलोचना की गयी। किसी चीज़ तक यह उचित भी था। सिडनी ने भी इस विषय में यह देखने की चेष्टा की थी कि बजित साताबार या वियोकेंस ने भी ऐसा ही किया था अथवा नहीं। यदि किया था तब तो सब को उसका अनुसरण करना चाहिये और यदि नहीं किया था तो यह प्रवृत्ति निरर्थक ही लग्यगी। इस कड़वाही भावना के अनुसार यह माग्गटा प्रबलित थी कि प्राचीन कवियों ने जो कुछ सिखा उसका अनुसरण आवश्यक है और उन्होंने जो नहीं सिखा, उसे निषिद्ध समझना चाहिये।

यूरोपीय साहित्य और समीक्षा के क्षेत्रों में नवीनता के आधिपत्य न होने का सब से बड़ा कारण उपर्युक्त कारण ही थी। इसीलिए विविध विकास युगों में कविकल्प प्रायः पुनरुत्पत्ति के रूप में उन्हीं बातों और विषयों को दोहराते रहे जिन पर उनके पूर्ववर्ती विचारक विचार कर चुके थे। नवीन विषयों सम्भावनाओं और सिद्धांतों की ओर लोगों का ध्यान कम आता था और यदि कभी कोई उनके प्रवर्तन की चेष्टा भी करता था तो प्रायः उसका बड़ा विरोध किया जाता था।

सिडनी के समान ही जानसन भी विवेक पर बहुत अधिक बल देता था। वह अपने विचार ज्ञान और समीक्षा क्षेत्रीय बहुमुखी सतर्कता के लिए अंग्रेजी साहित्य में विख्यात है।^१ इन लोगों के प्रभाव के फलस्वरूप अठारहवीं शताब्दी में इस विषय की ओर बहुत लोगों का ध्यान गया तथा उन्हें और उनकी वैचारिक मान्यताओं को समर्थन भी मिला। विविध रूप से इन दोनों समीक्षकों के विचारों और शास्त्रीयता के अनुसरण से दृढ़ता भी प्रभावित हुआ। उसके धुंधलिरिक्त षोष और बोमियो ने भी उन्हें मान्यता दी। वेब पुटनहाम केमिडन डेनियल पियर्स तथा बोस्टन आदि का समर्थन और योग इस दिशा में लक्ष्य नहीं है।

इस युग के विभिन्न समीक्षकों में जेन जॉनसन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। उसने नास्तब में अंग्रेजी समीक्षा के विकास को गयी दिखाएँ दीं। उसकी समीक्षा दृष्टि अपेक्षाकृत विस्तारबुद्धि और उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह युग जीवन

की संकुचितताओं से मुक्त थी। उसने सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा कि क्षेत्रों में यद्यपि अपनी रुढ़िवादिता और पूर्वाग्रहों का भी परिचय दिया है, परन्तु इनके फलस्वरूप उसकी समीक्षा दृष्टि में संकुचितता नहीं जाने पायी है। उस बड़ी विवेक शक्ति और सूदम निर्भय शक्ति से सम्पन्न समीक्षक सम्पूर्ण यूरोप में इने गिने ही हुये होंगे। यह एक बिहम्बना है कि उसकी गवना डाइडन जैसे प्रथम बोमो के समीक्षकों में नहीं की जाती। यद्यपि इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वह अपने आपको सुपीन साहित्यिक हीन प्रवृत्तियों के प्रभाव से 'पुर्नय' मुक्त नहीं कर पाया और इसीमिये उसका आपेक्षिक महत्व भी अधिक रहा।

आधुनिक तथा प्राचीन साहित्य की मान्यताओं और प्रवृत्तियों के पारस्परिक विरोध और संघर्ष की भावना का आरम्भ सबसे पहले इटली में हुआ था, क्योंकि आधुनिक यूरोपीय समीक्षा के प्रारम्भिक विचारों का सर्वप्रथम केन्द्र वहाँ था। इटली से जब समीक्षा का केन्द्र फ्रांस बन गया तब यह विवाद की प्रवृत्ति भी वहीं स्वतन्त्र हो गयी। परन्तु मुख्य अन्तर तब यह पड़ा कि इसे वहाँ बहुत व्यापकता प्राप्त हुई, फ्रांस के उच्च कोटि के साहित्य विचारकों ने इसमें भाग लिया जिनमें बोमो जैसे व्यक्तित्व भी सम्मिलित थे। बोमो का प्रभाव डाइडन आदि पर भी है यद्यपि कुछ विषयों में डाइडन बोमो से अचलमति रहता था। बोमो के अतिरिक्त बीन व लीसेन्ड ने भी इस विवाद में विशेष रूप से रुचि ली। स्पेन में ऐस्कॅको सेमॅन (सन् १६१८) तिरी व मालिना (सन् १६२४) तथा एल्कॅनो नबिस्स व सनाब (सन् १६३३) आदि विचारकों ने भी प्राचीनता और नवीनता में इस संघर्ष में भाग लिया यद्यपि उनके विचारों को महाद्वीपीय मान्यता न प्राप्त हो सकी।

प्रारम्भिक समीक्षक सर विलियम बेवर्नेट

परिचय तथा कृतियाँ :—

नवीनतम रूप में अंग्रेजी साहित्यिक क्षेत्रों में अपेक्षाकृत कम विवादास्पदता समित होती है। इसका एक कारण यह भी बताया जाता है कि उन दिनों इंग्लैंड में सामाजिक धार्मिक संघर्षों की अधिकता थी और सामान्यतः लोगों का ध्यान इन्हीं क्षेत्रों की समस्याओं और गतिविधियों तक सीमित रहता था। इस सन्दर्भ में घटावरी के प्रारम्भिक विचारकों में सर्वप्रथम सर विलियम बेवर्नेट का नाम उल्लेखनीय है जिसका समय

सन् १९०९ से लेकर सन् १९६८ तक है।^१ इसका जन्म माक्सफोर्ड में हुआ और वहीं इसकी शिक्षा दीक्षा भी हुई। उसकी मातृप कृतियों की संख्या पच्चीस बतायी जाती है।^२ इनमें से सर्वप्रथम कृति एक मातृप रचना थी जिसका दीपक 'दि ट्रेजेडी आफ एस्कोवाइन' था और जो सन् १९२९ में प्रकाशित हुई थी। इसके पश्चात् सन् १९३० में 'वि क्लरिंग वॉटर' सन् १९३६ में 'दि प्लेटानिक सर्क्स' सन् १९३६ में ही 'दि बिट्स' सन् १९४३ में, 'वि अनसर्जुन' सर्क्स तथा सन् १९४९ में 'सब एण्ड मानर' नामक मातृप कृतियाँ प्रकाशित हुईं। इनमें से अनक प्रकाशन के पूर्व ही अभिनीत हा चुकी थी। सन् १९३८ में इसे 'पोपट सॉरिण्ट' घोषित किया गया। सन् १९४१ में इसका महाकाव्य 'पांडीबर्ट' प्रकाशित हुआ। सन् १९२९ में अपनी कृति 'सेब आफ रोहर्स' द्वारा इसने व्यावहारिक रूप से अंग्रेजी भाषा का प्रवर्धन किया। यह अपने साहित्यिक विचारों में प्लेटो के सिद्धान्तों का समर्थक था। इसने प्लेटो की कला विषयक मान्यता को विशेष रूप से स्वीकृति दी थी जिसके अनुसार कला किसी वस्तु के आदर्श मपार्थ को वस्तु में देखने के अनुभव को किसी माध्यम से अभिव्यक्ति देना ही है।

प्रमुख विचार —

डेवनेट का समीक्षक दृष्टिकोण अपेक्षाकृत स्पष्ट है। वह समीक्षा के उचित स्वरूप का बोध कराने की समता है। उसने होमर, बरिस स्क्रूटन स्टेमिपस आदि पर सफा समीक्षाएँ लिखी हैं। उसकी मूलम समीक्षा दृष्टि ने इन साहित्यकारों के गुण दोषों की सम्यक विवेचना करके उनका मपार्थ मूल्यांकन किया है। डेवनेट अनुकरण पर बहुत बल देता था और आधुनिक कर्म में उसका प्रयोग करता था। वह भाषा के विषय में सजगता को बहुत आवश्यक बताता था जिससे अनावश्यक शब्दों का दहिप्पर हो सके। काव्य को बहु संसार की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में एक मानता था वह काव्य साहित्य की विद्यानी सिद्धि समीक्षा कृतियों का भी विरोध करता था। काव्य के विषय में न केवल उसरी, पारणा बहुत उच्च थी वह काव्य का भारी प्रशंसक और उनमें सहरी रचि रखने वाला था।

1. "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey p 209
2. A Short Biographical Dictionary of English Literature John W Condon, p 107

टॉमस हार्मस

परिचय तथा कृतियाँ —

टॉमस हार्मस का समय सन् १९८७ से लेकर सन् १९७९ तक है।^१ इसका जन्म ऐम्मेसबरी में और शिक्षा बीजा बाक्सपोर्ट में हुई। अपने समय के फ्रांसिस बैकन, बेलीसियो वासेंडी डिस्केटस मॉरिने हारने, बेन जॉनसन काउसी तथा सिडनी गोडोल्फिन। आदि साहित्यकारों वार्शनिकों वैज्ञानिकों और गणितज्ञों के सम्पर्क में आया।

एक वार्शनिक के रूप में हार्मस ने प्रकृति और मनुष्य के विषय में चिन्तन किया है। उसने ईस्वीय सत्ता पर अधिक विश्वास नहीं किया। उसे "नामिनिस्मिस्ट" कहा जाता है अर्थात् ऐसे सिद्धान्त का अनुयायी जिसके अनुसार पुन केवल नाम में ही रहते हैं। "मेथिमेक्स" इसका प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जो सन् १९५१ में प्रकाशित हुआ था और जिसमें उसने अपने वार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या की है। उसके अन्य ग्रन्थों में "डेविज" (सन् १९४२) "ह्यूमन नेचर" (सन् १९५०) "दि कारपोर पीसिम्को" (सन् १९५३) "अ होमाइन" (सन् १९५८) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उसकी अंग्रेजी यह लेखन सीधी बहुत स्पष्ट पूर्ण और प्रभावशाली मानी जाती है।

डेवनेट और हार्मस में बहुत ठोस साहित्यिक बाध-विबाध हुआ। तत्कालीन यूरोपीय साहित्यों में विविध भाषाओं के बीच में भिन्न-भिन्न काव्य रूपों को लेकर बहुधा विवाद हुआ करता था। अरस्तु, होरेस, वेटोसियन आदि की इन काव्य रूपों विषयक धारणाओं को बाजार बनाकर ही इस विवाद में लोगों ने तर्क विवाद किया। हार्मस ने काव्य रूपों का विशासन बहुत वैज्ञानिक रूप में किया तथा इस सामान्य मन्त्र का बड़ा विरोध किया कि पद्य में सिली गयी प्रत्येक रचना अनिवार्य रूप से काव्य है। उसने यह मानना भी बखूबीकार कर दिया कि काव्य का विषय केवल मानव चरित्र के विविध रूपों का अंकन ही होना चाहिये। हार्मस ने आधुनिक भाषाओं के प्रविध्य में स्थायित्व के विषय में आशंका प्रकट की थी।

1 A "Short Biographical Dictionary of English Literature," John W. Conlin, p 191

जॉन मिस्टन

परिचय तथा कृतियाँ—

मध्यम युग के दूसरे महत्वपूर्ण व्यक्तित्व जॉन मिस्टन का समय सन् १६०८ से लेकर १६४४ तक माना जाता है ।^१ इसने केम्ब्रिज के सेंट पॉल्स स्कूल तथा क्राइस्ट्स चर्च में शिक्षा पायी थी । सन् १६२९ में बी० ए० तथा सन् १६३२ में उसने एम० ए० की उपाधि प्राप्त की थी । अपने जीवन के सत्रहवें वर्ष में उसने "आन दि डीप आफ ए डेपर इनर्सेट" नामक प्रसिद्ध कविता लिखी थी । इसी प्रकार से उन्नीस वर्ष की अवस्था में उसने "एट ए बीकेसन एक्सरसाइज" छीपक रचना की । इसने यों तो अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में ही अनेक कविताएँ लिखी थीं परन्तु वह रचना "आन दि मार्निंग आफ क्राइस्ट्स मैटिबिटी" ही थी जिसने सन् १६२९ में इसे ख्याति प्राप्त करायी । केम्ब्रिज छोड़ने के पश्चात् मिस्टन ने कोई व्यवसाय आरम्भ नहीं किया और अपना अधिकांश समय प्राचीन साहित्य के अध्ययन और काव्य रचना में ही देता रहा । इस समय उसने अनेक कृतुप्पदियाँ लिखीं जिनमें ॥ अधिकांश भावे बसकर महत्वपूर्ण सिद्ध हुई ।

सन् १६३७ से लेकर सन् १६३९ तक मिस्टन ने विशेष भ्रमण किया विशेष रूप से इटली घूमा । सन् १६९३ में उसने अपने जमर महाकाव्य "पीटाइज्ड मास्ट" की रचना सम्पूर्ण की । सन् १६६१ में उसकी दो महत्वपूर्ण रचनायें "पीटाइज्ड रीपेड" तथा "सैमसन एमास्टीज" प्रकाशित हुई । उसने लैटिन में भी अपनी अनेक कविताएँ लिखी । जीवन के अन्तिम काल में उसके नेत्रों की ज्योति जाती रही थी । मिस्टन ईसाई धर्म के प्रधान अध्यापक पोप तथा उसके समर्थकों का विरोधी था । क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में वह अपने युग की सर्वश्रेष्ठ विभूति के रूप में मान्य है ।

काव्य के तत्त्व तथा युक्तः—

मिस्टन के काव्य पर विचार करते हुये कहा है कि उसे भावात्मक तथा आनन्द दायी होना चाहिए । उसने काव्य में जप बल का कड़ा विरोध किया था यद्यपि वह

1 "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey, p. 209.

एक विशिष्ट तथ्य है कि उसके काव्य में स्यादमकड़ा अनेक स्वरों पर विशिष्ट रूप में मिलती है। उसने उपदेशात्मक काव्य के लिये जो गुण आवश्यक बताये हैं—(१) सरसता और (२) भावमयता। उसने यह भी निश्चित किया है कि जो काव्य उपदेशात्मक होगा वह तर्कात्मक काव्य से हीन कानि का होगा। उसने “स्मिथिकनस” में कवि की योग्यताओं की ओर संकेत करते हुये लिखा है कि जो व्यक्ति कवि बनने की इच्छा रखता है और इस विद्या में प्रयत्न करता है, उसे पहले स्वयं ही सच्चा काव्य होना चाहिए। उसके हृदय में स्वायत्त विवेक और कस्याय की प्रतिमाएँ स्थापित होनी चाहिये।

समीक्षा का सत्य और वास्तव —

मिस्टन के विचार से समीक्षा का सत्य विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से सत्य की विवृति करना है। इसलिये समीक्षा का कार्य करने वाले व्यक्ति को अपने वास्तवों को भी भली भाँति समझ लेना चाहिए। समीक्षा के वास्तवों का वर्णन करते हुए मिस्टन ने लिखा है कि उसे पलपाट रहित होना चाहिये। उसे धम्मनीयतापूर्वक इस बात का अनुभव करना चाहिए कि वह जिस उत्तरदायित्व का वहन करने का रहा है, उसका निर्वाह कितना कठिन है। मिस्टन के विचार से समीक्षा में अनावश्यक शर्ष माचना नहीं होनी चाहिये कि वह महान् साहित्यकारों के विषय में निर्णय देने जैसे महत्वपूर्ण कार्य को कर रहा है। उसे बिना किसी पूर्वाग्रह के किसी कृति को ठीक ढंग से समझने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे यह भी समझना चाहिये कि वह अपने समकालीन लेखकों जयबा परिस्वितियों के प्रभाव स्वरूप उसके विषय में उचित निर्णय देने में नुस भी नर सकता है। इसलिये उसे इस विद्या में विशेष सतर्कता से काम लेना चाहिए।

मिस्टन का महत्व —

मिस्टन के काव्य की एडीशन ने विश्वरता से समीक्षा करते हुये उसके महत्व का निर्द्शन किया है। “स्पेक्टेटर” में “पैराडाइज सौल्ट” पर एडीशन के लेख नियमित रूप से प्रकाशित हुये थे। एडीशन के अनुसार मिस्टन एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसने अपने महाकाव्य “पैराडाइज सौल्ट” में जो पाठित्य प्रवृत्ति किया है, उसका कारण मिस्टन की यही महत्वाकांक्षा है। उसमें ऐतिहासिक भौगोलिक तथा ज्योतिषिक विद्याओं के साथ ही साथ जो अन्य विषयक राष्ट्रीय उद्देश्य प्रस्तुत किये गये हैं, वे भी उपर्युक्त कारण से ही।

एडीसन ने मिस्त्र के काव्य की समीक्षा बहुत सूक्ष्मता से वस्तु, पात्र, भाव तथा भाषा के आधार पर की है। उसने "पैराडाइन लॉस्ट" की आलोचना इस कारण भी कटोर की है क्योंकि यह महाकाव्य भरतु के बताये हुये महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार सुकान्तक न होकर सुकान्तक है। एडीसन का यह विचार है कि मिस्त्र का प्रकृति विरामण बहुत कुछ परम्परागत और जमीनिक है। यह भी कहा जाता है कि ईसाई धर्म में मानव के ह्रास के विषय में विवरण तथा टोलेमी की ज्योतिष विषयक व्यवस्था मिस्त्र के इस महाकाव्य का आधार है। जहाँ तक मिस्त्र की निजी भावना का सम्बन्ध है, उसने स्वयं यह बताया है कि जब तक राजनैतिक स्वतन्त्रता कवि मध्य को नहीं होगी तब तक महान् साहित्य की रचना की सम्भावनाएँ नहीं हो सकेंगी।

एब्राहम काउली

परिचय तथा कृतियाँ —

एब्राहम काउली का समय सन् १६१८ से लेकर सन् १६९७ तक है।^१ अपने जब पन से ही उसने काव्य रचना आरम्भ कर दी थी और इस वर्ष की आयु में "पिरैन्स एंड मिस्त्री" नामक रचना मिली थी। इसी प्रकार से प्यारह वर्ष की अवस्था में उसने "कास्टेनिडा एंड बिसेटस" नामक रचना तैयार की थी। सन् १६३८ में उसने "लव्स एडमिन्" तथा सन् १६३८ में ही "जी क्रोवियम ओ कुसेयर" आदि कृतियों की रचना की। इसकी प्रसिद्ध कृतियों में "दि मिस्त्र" (सन् १६४७) "मिसेलेनीज" (सन् १६४९) "बर्सेज आन सेवरल अकेजेंस" (सन् १६६१), "दि एडवॉसमेंट आफ एक्स्ट पेरीमेंटल पिलासफी" (सन् १६६१) तथा "ए विस्कोर्ष बाई वे आफ विजन कम्पनिम आतिबर क्मनेल" (सन् १६६१) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

काउली इस युग की उन महान् विद्वतियों में था जिनकी समीक्षा ऐसी सर्वोत्तम मानी जाती है।^२ कालान्तरात्मक और तर्कमय शैली के क्षेत्र में वह एक महान् प्रतिभा समझा जाता है। उसके समीक्षा दृष्टिकोण में निहित अतिवाय वैज्ञानिकता के कारण ही

1 "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey P 151

2. "A History of English Criticism", George Saintsbury P 106

उसकी समीक्षा को शोषपूर्ण समझा गया। एक कवि के रूप में काउली के दो प्रमुख रूप हैं। प्रथम आध्यात्मिक काव्य रचना के क्षेत्र में और द्वितीय धार्मिक काव्य रचना के क्षेत्र में। इनमें ही प्रथम कोटि के काव्य में कल्पना तरंग का आधिपत्य है तथा द्वितीय कोटि के काव्य में रोमांटिक तरंग का म्यूनता से समावेश।

जॉन ड्राइडन

परिचय तथा कृतियाँ:—

जॉन ड्राइडन का समय सन् १६३९ से लेकर १७०० तक माना जाता है। उसका जन्म बार्थम्पटन शायर में हुआ था। उसने ट्रिनिटी कॉलेज कैम्ब्रिज में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। सन् १६४८ में उसने अपने प्रसिद्ध 'हीरोइक स्टोरास' क्रमवेस की मृत्यु पर लिखे थे। उसके प्रारम्भिक नाटकों में 'दि बाइबल गैसट' (सन् १६५३) तथा 'दि राइसल लैडीज' (सन् १६५४) उल्लेखनीय हैं यद्यपि ये कबि प्रसिद्ध नहीं हुये। सन् १६६२ में उसका 'दि इंडियन इम्पेयर' नामक नाटक विशेष रूप से विख्यात हुआ। उसकी प्रारम्भिक समीक्षा कृतियों में 'एने बाफ ड्रामेटिक पोयबी' बहुत प्रसिद्ध है।

ड्राइडन की अन्य कृतियों में 'अपान दि डेव आफ सार्ड हैस्टिन्स' (सन् १६४९) 'टु माई सार्ड बांसनर' (सन् १६६२) 'बर्सेज टु हर रायस हाइनेस दि डेव बाफ यार्क' (सन् १६६३) 'ब्रिटनिया रेडिक्वा' 'ए पैनेगिरिकल पोयम टु दि मेमोरी आफ दि कार्टिस बाफ एडिन्डम' (सन् १६६२) 'एन जोड आन दि डेव बाफ मि० ह्युनपी पसेले' (सन् १६९६) 'दि सेक्युलर मास्क' तथा 'दि पिस्त्रिम' आदि काव्य प्रबन्ध 'सीक्रेट सब' और 'दि मैडेन क्वीन' (सन् १६९८) 'सर मार्टिन मीर बास' और 'दि फीड इमोसस' (सन् १६९८) 'दि एसाइनेशन' और 'लव इन ए मनरी' (सन् १६७२) 'दि स्टेट आफ इनोसेन्स एंड फाल आफ मीन' (सन् १६७७) 'दि काइड कीपर' और 'मि० सैम्बरहैम' (सन् १६८८) आदि नाट्य कृतियाँ तथा 'ए साइफ बाफ प्युटार्क' (सन् १६८३), 'साइफ बाफ कृसियन' (सन् १६८३) आदि दस रचनाएँ तथा अनेक अनुबाधित और कथान्तरित कृतियाँ हैं।

काव्य सिद्धांत —

डाइडन के काव्य सिद्धांत युगीन समीक्षात्मक माध्यमों के स्वप्न में निहित महत्त्व के हैं। एक कवि के रूप में यद्यपि वह असाधारण काव्य शक्ति से युक्त न था परन्तु अपने काव्य की महत्ता और सीधता के गुणों के कारण उसे पर्याप्त माध्यता मिली। उसकी कविताओं में पाठकों का माहुरे की शक्ति है। उसमें एक सूत्रम मनो-वैज्ञानिक दृष्टि थी। उसने स्वयं भी अनेक कवियों की आलोचना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से की है। एक साहित्यकार के व्यवस्थित निर्माण का सूत्रम विस्तरेय करने वाली उसकी शक्ति का पता उसकी निम्नी हुई लूचिपन और प्लूटार्क की जीर्णानियों से लगता है। वे उसकी समीक्षा दृष्टि के समन्वयात्मक पक्ष को आश्चर्यजनक रूप में प्रस्तुत करती हैं।

डाइडन का यह विचार था कि प्रत्येक पाठि युग हैय तथा मनुष्य की अपनी निजी प्रतिभा होती है, जिसका स्वरूप उसी के अनुसार वैनिमय या वैशिष्ट्य से निर्धारित होता है। काव्य में अनुकरणात्मकता के विषय में वह पूर्ववर्ती विचारकों से सहमत रहता था परन्तु काव्य की प्रभावात्मकता के लिए वह मात्र अनुकरण को अनर्थात् समझता था। यह कलात्मक अनुकरण का समर्थक था। काव्य के प्रयोगन वह खान्धात्मकता और उपेक्षात्मकता ही मानता था।

काव्य और समीक्षा —

डाइडन का यह विचार था कि जब कोई साहित्यकार काव्य रचना के क्षेत्र में असफल हो जाता है तब उसका नैतिक पतन होने लगता है और वह समीक्षक बन जाता है। उसने इस कथन का आधार वे कवि से जो काव्य रचना के क्षेत्र में असफल होने पर काव्य बिरोधी हो गये थे। इसीलिए डाइडन ने समीक्षा के भी उपेक्षात्मक होने का बिरोध किया है। वह शास्त्रीय और ऐतिहासिक समीक्षा का समर्थक था। अपने ग्रीक तथा लैटिन साहित्य के पूर्ण ज्ञान के कारण उसने इन क्षेत्रों में अपनी धमका का भी परिचय दिया है।

वह काव्य में बहुत उपयुक्त शब्दावली के प्रयोग का समर्थक था। कविता में उसने नवपरी का बिरोध किया है। वह स्वेडर के प्रति भी प्रशंसा माहना इस कारण से न रन पाया क्योंकि स्वेडर ने नव परिचां मिली दीं। वह "प्रेमरी कवीन" के काव्य स्वरूप का प्रशंसक था। उसने बिस्मन के "पेराडाइज लॉस्ट" का नामक डीबल को

माना है, क्योंकि उसके द्वारा एवम को पराजित होना पड़ा। उसके इस प्रकार के विचारों का आधार मुख्यतः अस्तु के ही सिद्धान्त है।

काव्य में कल्पना और तथ्यात्मकता:—

ड्राइडन ने काव्य में कल्पना उत्पन्न के समावेश पर भी विस्तार से विचार किया है। उसने कल्पना को एक ऐसी शक्ति माना है जो मानव हृदय की अनुभूतियों को पूर्णता से अभिव्यक्ति कर सकती है। काव्यना उत्पन्न के समावेश का उद्देश्य कवि के अनीष्ट को कसारमक रूप में प्रस्तुत करना है। कल्पना की सहायता से कवि अपनी सामान्य अनुभूतियों को भी अत्यन्त प्रभावपूर्ण रूप से अभिव्यक्ति देने में सफल होता है। परन्तु ड्राइडन ने कल्पना को सर्वोच्च मानसिक शक्ति नहीं माना है। उसने यह भी बताया है कि विरोध से कल्पना शक्ति विकसित होती है। इसलिये कवि जितनी हार्दिक तन्मयता से काव्य रचना करेगा उसके लिये उतनी सरलता ॥ अभिव्यक्ति सम्भव होगी। उसने काव्य में तथ्यात्मकता का भी समर्थन किया है। उसका विचार है कि तथ्य से काव्य अछूट होता है। तथ्य तत्त्व स्पष्ट काव्य रचना की सम्भावनाओं को भी धम्म देता है।

काव्य और महाकाव्य:—

काव्य के विषय में ड्राइडन के विचार 'डिफेंस आफ़ दि एपे' में मिलते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में उसके विचार प्राचीन मान्यताओं से भिन्न नहीं हैं। वह काव्य के मुख्य प्रयोजन आनन्दानुभूति तथा उपदेशात्मकता ही मानता था। उसका विचार था कि काव्य में उच्च प्रयोग अभिव्यक्ति होता है केवल उसे आकर्षक बनाने के लिये नहीं। उसके विचार से वह काव्य का एक ऐसा अंग है जिसको उससे पृथक् करने का कोई प्रयत्न ही नहीं उठता। ड्राइडन ने महाकाव्य ॥ विषय में विचार करते हुए बताया है कि महाकाव्य में मानवोत्तर युगों से युक्त पात्र और उत्कृष्ट सीनी होती है। उसके पात्रों के क्रिया कलाप में भी एक प्रकार की दिव्यता सी आभासित होती है।

ड्राइडन का विचार था कि आधुनिक युग में महाकाव्य तथा नीतिकाव्य के क्षेत्रों में विशेष रूप से प्रगति हुई है। उसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि पूर्ववर्ती युगीन साहित्यकारों ने इस तथ्य का अनुभव नहीं किया था कि अंग्रेजी भाषा कितनी सीमर्य युक्त है। उसने बुझा पूर्वक यह भीषित किया है कि अंग्रेजी भाषा का साहित्य किसी भी प्रकार से फ्रांसीसी भाषा के साहित्य से हीन नहीं है। इसके विपरीत उसने

इस तथ्य की ओर भी संकेत किया कि बर्षाबी माया में जो सौम्यत्व है, वह स्वामाधिक है, परन्तु स्यासीटी माया के सौम्यत्व में एक प्रकार की कृत्रिमता भी लक्षित होती है।

नाटक—

“पाइपम सेडीव” की मूहिका में ड्राइडन ने नाटक के विषय में विस्तार से अपने विचार प्रकट किये हैं। उसके मत के अनुसार मनुष्य के जीवन का वह सजीव चित्र है। यही कारण है उसमें सघन और स्वाभाविक नाटकों को सर्वात्मिक नाटकों से घेष्टतर माना है। नाटक रचना के सिधे उसने पद्यात्मक माया अनुमोदित की है। उसने उसका स्वर बढ़ होता भी आवश्यक बताया है। वह नाटक में विधित रखों का विरोध नहीं करता था क्योंकि उसके विचार से सुकान्तक और दुःकान्तक परिस्थितियाँ मिसकर उसे विशेष रूप से प्रभावशालक बना सकती है।

महाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ड्राइडन के नाटक सम्बन्धी के विचार बहुत शास्त्रीय नहीं हैं और नहीं-कहीं तो शास्त्र विरोधी भी हो गये हैं। इसका एक कारण यह भी है कि ड्राइडन का वह विचार था कि नाटक रचना के क्षेत्र में शास्त्रीय नियमों के पूर्णकणेश पाबन की आवश्यकता नहीं है।

हास्य रचना तथा प्रहसन—

“प्रिफेसर्टु एन ईमिनिष् लभ” में ड्राइडन ने हास्य रचना तथा प्रहसन में अन्तर स्पष्ट किया है। उसने मिथिलान्तक का बहुत आनन्ददायक साहित्य रूप माना है। उसने बताया है कि प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने इस साहित्य रूप की उचित महत्ता का अनुभव नहीं किया था। तुलनात्मक दृष्टिकोण से उसने हास्य रचना तथा प्रहसन का महत्त्व निर्धारित करते हुए बताया है कि हास्य में निम्न वर्गीय पात्रों के जीवन का स्वाभाविक और समर्थ चित्रण होता है। इसके विपरीत प्रहसन में इन समार्पता और स्वाभाविकता का अभाव होता है। हास्य मनुष्य की दुर्बलताओं की ओर संकेत करता है। जब कि प्रहसन ऐसा नहीं करता। हास्य के पीछे एक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण होता है, परन्तु प्रहसन निरवरोध भी हो सकता है। उसमें यदि हास्य तत्त्व का समावेश हो तो तब भी वह विवेक हो सकता है। नून बिनाकर, हास्य समीप और प्रहसन दूरा की अवधारणा करता है।

कला और चित्रकला आदि—

ब्राह्मण कला विषयक साम्यताओं के क्षेत्र में प्लेटो का समर्थक था। उसका विचार था कि साहित्यिक तथा कलात्मक श्रेष्ठता कई प्रकार की भी हो सकती है। “ए.पेरसल आफ पोयट्री एंड पेंटिंग” में उसने चित्रकला पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं। उसके मत के अनुसार चित्रकला में कलाकार प्रकृति की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। वही चित्रकार अपने क्षेत्र में सफलता भी प्राप्त करता है जो सौन्दर्य को बिखटता से साक्षात्कार करके उसे आरमसात् भी कर चुका हो।

उसने कविता की तुलना भी चित्रकारी से की है। उसका विचार है कि ये दोनों कलाएँ पर्याप्त साम्य रखती हैं। परन्तु श्रेष्ठ चित्र उन्हीं वर्गों का स्वागत करते हैं जिन्हें कला की परख करने की शक्ति हो। काव्य कला के विषय में भी यही कह्य जा सकता है। इसके अतिरिक्त एक चित्र एक विशिष्ट पृष्ठभूमि में ही सुन्दर लगता है और चित्र कला की भाँति ही काव्य कला को भी विविध आचारों की आवश्यकता होती है जो पूर्वतः उनके अनुकूल हों।

अनुबाद की कला—

मीलिक साहित्य विषयक अपने दृष्टिकोण की विचष्टता से अभिव्यक्ति करने के साथ ही साथ ब्राह्मण ने अनुवित साहित्य और अनुबाद कार्य के विषय में भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उसने “प्रिन्सिपल्स ऑफ ट्रांसलेशन आफ ओरिएण्टल एपीकल्स” में अनुबाद के कार्य पर अपने विवेचनात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। उसने अनुबाद के कई प्रकारों की ओर उक्ति किया है। उसके विचार से प्रथम कोटि का अनुबाद यह होता है जिसे सम्मानुबाद कहा जाता है।

इस प्रकार के अनुबाद में अनुबादक मूलिक भाषा की शब्दावली को हटाकर उसका स्थान अनूदित भाषा की शब्दावली को दे देता है। इसमें वह प्रायः कोई शब्द चटाता बढ़ाता नहीं एक एक शब्द का अनुबाद करने की चेष्टा करता है। स्पष्ट है कि इसमें अनुबादक की प्रतिभा के लिये बहुत कम सम्भावना रहती है क्योंकि वह मूल कृति के कलात्मक और भावार्थक पक्षों की जेबता करके भाव शब्दावली परिवर्तित कर देता है।

द्वितीय प्रकार का अनुबाद यह होता है जिसमें अनुबादक मूल लेखक का भाष्य को अपनी भाषा में अभिव्यक्त कर देता है। इस कोटि के अनुबाद में वह शब्दावली पर

उत्तमा ध्यान नहीं देता क्योंकि वह सम्मानवाद से भिन्न होता है। तृतीय प्रकार के अनुवाद में अनुवादक मूल लेखक के चरित्रों और अभिप्राय का भी उत्तमा ध्यान नहीं रखता। यह एक प्रकार का स्वतन्त्र अनुवाद होता है। उसमें वह मूल लेखक के उद्देश्य को ध्यान में रखता है उसकी सम्भावनी और अभिव्यक्तियों का नहीं।

डाइडन ने बताया है कि उपर्युक्त तीनों में से द्वितीय कोटि का अनुवाद ही विशेष रूप से उपयुक्त होता है। परन्तु एक सफल अनुवादक को मूल और अनुवाद दोनों की ही मापामों का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। यदि वह दोनों मापामों से सुपट्टित न होगा तो वह अपनी प्रतिभा को मूल लेखक की प्रतिभा के अनुकूल न जास सकेगा जो अनुवाद की खेष्टता के लिए अनिवार्य है।

समीक्षात्मक विचार —

डाइडन ने साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में अनेक मौलिक विद्यान्तों की रचना और स्थापना की। समीक्षा के क्षेत्र में वह किसी चीज़ तक प्रभावशाली भी कहा जा सकता है। उसका विचार था कि किसी भी कृति का कलात्मक और साहित्यिक महत्त्व उसकी प्रभावशालिता से ही निर्णीत होगा। केवल विद्यान्तों की कसौटी पर सभी प्रकार की कृतियों की कसना अनिवार्यपूर्ण नहीं। पाठकों पर प्रभाव पड़ने के अनुपात से ही कृति की खेष्टता का निर्धारण होगा।

डाइडन के ये विचार साहित्यिक कृतियों के साथ ही साथ साहित्यिक क्षेत्रों के विषय में भी सत्य हैं। किसी चीज़ की खेष्टता भी उसकी प्रभावशालिता से ही निर्दिष्ट की जायगी। उसका विचार था कि चीज़ के विषय में भी विद्यान्तों की कसौटी पूर्णतः उपयुक्त नहीं है। खेष्ट चीज़ की महत्त्व प्रभावशालिता के साथ मान्यमानुभूति भी है। इसी प्रकार से खेष्ट साहित्य भी पाठकों को मान्यमान्य पर देता है। इसलिये ये खेष्ट साहित्य के लक्षण तो हैं ही उसके मुख्य प्रयोजन भी हैं।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से साहित्य में उपेक्षात्मकता का एक गौण चिह्न होता है। उसने बताया है कि समीक्षा का मुख्य उद्देश्य मीमांसा तर्कों की खोज करना और सोचने निरूपण है। समीक्षा एक निर्णायक मूल्य है। यह निर्णायक मूल्य तर्क पूर्णतः और तर्कालम्बता की भी बचीरी होगा। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस परामर्श की साहित्यिक स्थापनाओं को देखते हुए डाइडन की यह धारणा पर्याप्त भीतिवता रखती है।

डाइडन के समीक्षा सिद्धान्तों का क्रमिक विकास देखने पर यह ज्ञात होता है कि उसने क्रमशः अपने विचारों को समयानुसार परिवर्तित भी किया है। उसने इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि प्राचीन और नवीन विचारधारामों में प्रायः सदैव से संघर्ष होता आया है। उसने इस संघर्ष के मूल कारणों की खोज की और यह प्रतिपादित किया कि प्राचीन सिद्धान्तों का अनुसरण करना किसी सीमा तक आवश्यक तो है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि नवीनता की सदैव अपेक्षा की जाय। उसने इन दोनों के सीमा निर्धारण की दिशा में भी महत्वपूर्ण कार्य किया और बताया कि अनेक साहित्य क्लों में प्राचीनता का अनुसम आवश्यक नहीं भी है।

डाइडन का मूल्यांकन :-

डाइडन एक ऐसा समीक्षक था जिसे पूर्ववर्ती विभिन्न साहित्य परम्पराओं विशेष रूप से ग्रीक तथा लैटिन का विस्तृत ज्ञान था। वह अंग्रेजी भाषा के इतिहास से भी सुपरिचित था। वह एक कवि भी था और समीक्षक भी। उसके काव्य में रोमांटिक तत्वों की बहुलता है। उसकी काव्य क्षेत्रीय उपसम्पत्तियों को देखते हुए प्रथम क्षेत्री के कवियों में उसकी गणना की जा सकती है। परन्तु यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि एक समीक्षक के रूप में वह कवि या नाटककार की अपेक्षा अधिक महान् था। उसकी समीक्षा दृष्टि के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसकी तर्क शक्ति, विवेक शक्ति तथा निर्णय शक्ति भी कही जा सकती है।¹ उसका ज्ञान प्राचीन अंग्रेजी साहित्य में तो विशेष रूप से गहन था ही नवीन साहित्य की विविध क्षेत्रीय प्रतिविम्बि से भी वह अपरिचित न था। यों भी आधुनिक अंग्रेजी साहित्य के विकास में उसका योग असाधारण है।

डाइडन के साहित्यिक व्यक्तित्व की अपनी विशेषताएँ थीं। उसके समय तक शान्ते और गेटे का साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत हो चुका था। डाइडन ने अन्य समीक्षकों के व्यावहारिक समीक्षा विषयक विचारों का भी परिचय प्राप्त किया उसका अध्ययन किया और उन्हें स्वीकार लिया। परन्तु अपनी असाधारण विवेक शक्ति के कारण उसने अपने आप में साहित्यिक मूल्यांकन और निर्णय की असाधारण क्षमता उत्पन्न कर ली। उसके निम्ने हुए विविध निबन्धों से भी उसकी इस क्षमता का परिचय मिलता है। डाइडन

ने अपने समय के फ्रांसीसी तथा इटैलियन विद्वानों को अपनाया और स्पेन के आलोचकों के मतों का भी मन्त्र किया। किसी भी कृति या कृतिकार के विषय में अपना मन्त्र प्रकट करते समय वह इन आपाओं के विद्वानों की विचारधाराओं को तो ध्यान में रखता ही था प्राचीन विद्वानों द्वारा प्रसिद्धि सिद्धांतों की भी उपेक्षा नहीं करता था।

डाइडन की मरणाब्धि के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों में की जाती है। उसे साहित्य से व्यापक प्रेम था और वह साहित्य को कुछ संकुचित सीमाओं से बंध करने की प्रवृत्ति से मुक्त था। उसने साहित्य के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से व्यवसाय में अधिक विवेक का परिचय नहीं दिया, यद्यपि उसको समीक्षा दृष्टि बहुत तीव्र थी। वह अपने मत पर दृढ़ रहता था और समकालीन साहित्यिक मत-वादों से अधिक प्रभावित नहीं होता था।

उसकी एक विशेषता यह भी मानी जाती है कि अपनी समीक्षा दृष्टि की सीमाओं के होते हुये भी उसने कभी नौ किसी साहित्यकार या कृति की आलोचना करते समय पक्षपात की प्रवृत्ति नहीं दर्शाई। कुछ साहित्यकारों का उसका पूर्णता से अध्ययन नहीं भी किया था परन्तु उक्त व्युत्पन्न करते समय भी उसने पर्याप्त धैर्य और सहानुभूति से काम किया। इतक अतिरिक्त यद्यपि उसमें तीव्र विवेक शक्ति विद्यमान थी, परन्तु साहित्यिक उपलब्धियों के व्युत्पन्न और उनके तत्त्व ग्रहण करने की मायमा का उसमें सर्वथा अभाव था।

डाइडन के महत्त्व का एक और कारण यह भी है कि उसने साहित्य की सम्पूर्णता से देखने की चेष्टा की। वैसे कि ऊपर कहा गया है वह किसी भी साहित्यकार या कृति की समीक्षा एक निश्चित दृष्टिकोण से करता था। उसने कभी भी इस क्षेत्र में किसी पूर्वाग्रह से कोई धारणा नहीं बनायी। साहित्य या काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में वह आनन्दानुभूति पर बराबर बल देता रहा क्योंकि वह अन्तः काव्य या साहित्य का यही प्रमुख उद्देश्य भी मानता था। उसने वैयक्तिकता तथा वैविध्य पर भी बहुत धोरण दिया है। इसी कारण वह साहित्यकारों और कृतियों को स्वतन्त्र रूप से परीक्षित करना अधिक मनजता था। यही सब यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि डाइडन के ये समीक्षा विचार सर्वसुधीन और स्वीय समीक्षा के तत्त्वों के रूप में काव्य हैं।

ब्राइडन सचहूँ सतायी के अंग्रेजी समीक्षा साहित्य की एक महान् विभूति है। उसने अंग्रेजी समीक्षा को समृद्ध बनाने के लिये जिसका उत्सुकानीय योगदान किया उसका अन्य किसी साहित्यकार ने नहीं। यही नहीं, अंग्रेजी समीक्षा पद्धति को जो मान्यता प्राप्त हुई, उसका योग भी ब्राइडन को ही है। चूँकि वह एक कवि भी था, इसलिए इस क्षेत्र में भी उसकी प्रतिभा जियादीत हुई थी। परन्तु यह एक उत्सुकानीय तथ्य है कि एक कवि के रूप में उसकी उपलब्धियाँ महती नहीं हैं। यद्यपि उसकी समीक्षात्मक प्रतिभा के विषय में तो यहाँ तक कहा जाता है कि इस सतायी में ब्राइडन की रचना के अतिरिक्त अंग्रेजी समीक्षा साहित्य मर्याद है। और यह बहुत सीमा तक सत्य भी है। क्योंकि यह ब्राइडन के ही प्रयत्नों का फल था कि अंग्रेजी समीक्षा अन्य भाषाओं के समीक्षा साहित्य के समकक्ष हो सकी। प्राचीन और आधुनिक सिद्धान्तों के ज्ञान अनुकरण का ब्राइडन ने कभी भी समर्पण नहीं किया। इसके अतिरिक्त वह कड़वाविता का भी विरोध करता था परन्तु वह सिद्धान्तों के पालन करने का कभी विरोधी नहीं रहा।

इस सचहूँ सतायी में शीर्ष के विषय में इस सामान्य धारणा का प्रकार रहा कि शीर्ष शीर्ष श्रेष्ठ होगी जब वह विषय के अनुरूप होगी। साहित्य की परब के विषय में यह अनुभव किया गया कि पहले प्राचीन महान् कवि के गुणों की खोज करनी चाहिये। उनका ज्ञान हो जाने पर तब किसी आधुनिक आलोच्य कवि के साहित्य में भी उन्हीं गुणों की खोज चाहिये। इस प्रकार की अनेक धारणाएँ इस युग में नहीं और प्रचारित रहीं। इससे भी बड़ी विडम्बना यह थी कि इनका अनुगमन तोय करते रहे। सर्वप्रथम ब्राइडन ने ही इस स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया और इससे निश्चय मार्ग की खोज कर सकने में सफल हो सका। यों वहाँ तक समकालीन अन्य साहित्यिक विचारों का सम्बन्ध है, ब्राइडन काव्य या साहित्य में रोमांटिक तत्वों के समावेश का समर्थक था परन्तु उसने साहित्य में रोमांस विरोधी आलोचन से सम्बन्ध रखने वाले वाद-विवाद में विशेष ज्ञान नहीं लिया और सामान्यतः क्लासिकल साहित्य पर ही गौरव देया रहा।

टॉमस राइमर

प्रमुख विचारः—

इस सतायी के अन्य समीक्षकों में टॉमस राइमर एक विषम आलोचक के रूप में विख्यात है। यह एक विविध तथ्य है कि साहित्यिक सिद्धान्तों का राइमर को अद्यावत् ज्ञान

या परन्तु अपने हम अज्ञान का व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उचित रूप में आरोपण करने नहीं दिया है। इसका कारण यह है कि उसने समीक्षा को एक साहित्यिक अंगुष्ठ के समान माना है। उसका बिचार है कि साहित्यकारों पर समीक्षक कभी अंगुष्ठ घुना अनिवार्य भी है। जगत्वा के अनुचित स्वयम्भवा का दुस्प्रयोग करने लगते हैं। परन्तु दूसरी ओर वह यह भी कहता था कि समीक्षक को अपने कार्य की युत्वा को यही प्रकार से समझ लेना चाहिये। उसने युरोपीय काव्य के विकास का सम्यक् अध्ययन किया था। धरन्तु, बीसर डेबनैट काउली बर्जिस एरिक्स्टो, टासो मेरियानो बीपनीन सी मेस्तेन, ड्राइडन पीक्सपीयर आनसन फ्लेचर, बेमैट आदि साहित्यकारों की उपसम्प्रदायों पर भी उसने अपने बिचार प्रकट किये हैं।

अन्य समीक्षक

इस सनाढ्दी के अन्य समीक्षकों में टामस स्प्रैट का समय सन् १९१५ से लेकर सन् १७१३ तक माना जाता है।^१ इसकी शिक्षा बीसा भाष्यफोर्ड में हुई थी। यह एक बिपण था। इसके समकालीन सफल लेखकों में इसकी गणना की जाती है, यद्यपि इसकी साहित्यिक समीक्षा स्तरीय नहीं मानी जाती। इसी के साथ जिस अन्य समीक्षकों का उल्लेख आवश्यक है उनमें एडवर्ड फिलिप बिलियम बिस्तेमली लॉवेन तथा कुछ अन्य के नाम हैं। फिलिप का समय सन् १९१० से लेकर १९७५ तक है।^२ यह एक निर्माण लेखक था। यह मिस्टर का भतीजा था और फिलिप हर्बर्ट आदि का दृष्टदष्ट रहा था। इसने 'यू बार्ड आफ बर्ड्स' नामक भाषा वैज्ञानिक शब्द कोष का सम्पादन किया था जो बहुत प्रचारित हुआ था। फिलिप को एक साहित्य समीक्षक के स्थान पर एक साहित्य इतिहासकार के रूप में अधिक मान्यता मिली।

इसी प्रकार स बिलियम बिस्तेमली ने अपनी पुस्तक "ताइम्स आफ दि मोस्ट केमस इंग्लिश पोपट्स" में जिस दृष्टिकोण और स्तर का परिचय दिया है, उसके आधार पर उस द्वितीय श्रेणी का साहित्यिक इतिहासकार माना जाता है। उसकी यह

१ "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey p 759

२ वही पृ० ९१५।

पुस्तक अंग्रेजी कवियों के इतिहासों में विशेष सम्बन्धीय है। जर्मन की "एकाग्रित आठ दि ईंग्लिश ड्रामैटिक पोयट्स" नामक पुस्तक भी इसी परम्परा में आती है। इस कृति में उसका समीक्षामय दृष्टिकोण बहुत ही अग्रिम है यद्यपि इस कृति से भावी साहित्यकारों को इस क्षेत्र में कार्य करने की प्रेरणा मिली।

सर विलियम टेपुल

परिचय और कृतियाँ :—

सर विलियम टेपुल का समय सन् १६२६ से लेकर सन् १६९९ तक माना जाता है।^१ इसकी शिक्षा बीछा केम्ब्रिज के इमेगुमस कॉलेज में हुई थी। इसका राजनैतिक जीवन भी बहुत महत्वपूर्ण था। इसकी प्रमुख कृतियों में "ऐसे अपान दि प्रबेष्ट स्टेट आफ् मायरलैन्ड्स" (सन् १६६८) 'आम्बरबेरोस अपान दि नीडरलैन्ड्स' (सन् १६७२) 'दि एडवांसमेंट आफ् द्रुड इन आयरलैण्ड' (सन् १६७३) तथा "मिससीनिया" (तीन खंड सन् १६८०, १६९०, १७०१) आदि विशेष रूप से सम्बन्धीय हैं। इसकी राजनैतिक क्वालि इतनी अधिक थी कि इसे एक समीक्षक के रूप में अधिक प्रसिद्धि नहीं मिल सकी। अंग्रेजी समीक्षा को इसकी वेन विविध प्रकार की मानी जाती है।

रिचर्ड वीटसी

परिचय तथा कृतियाँ :—

वीटसी का समय सन् १६६२ से लेकर १७४२ तक माना जाता है।^१ इसका जन्म दाकशापर में और शिक्षा बीछा सेंट ऑथ कासेज केम्ब्रिज में हुई थी। "एपिस्टोला प्रुड विलियम" नामक इसकी रचना सन् १६९१ में लैटिन में प्रकाशित हुई थी जिससे इसे असाधारण क्वालि प्राप्त हुई। सन् १६९९ में यह ट्रिनिटी कासेज केम्ब्रिज में अध्यापक नियुक्त हो गया था। इसकी लिखी हुई "पीसेरिस" नामक इति कुपीन समीक्षा

१ "The Oxford Companion to English Literature," Sir Paul Harvey p. 774

२ वही पृ० ७१।

प्रवृत्तियों की एक प्रतिनिधि रचना मानी जाती है। यद्यपि मूलतः साहित्यिक विषयों पर ही इसने रूप लिया है।

जैरेमी कौलियर

परिचय तथा कृतियाँ —

कौलियर का समय सन् १६६० से लेकर सन् १७२६ तक माना जाता है।^१ इसने इंग्लिश और कैंब्रिज कॉलेज कैंब्रिज में शिक्षा पायी थी। इसकी क्रांति का प्रमुख कारण इसकी 'शार्ट रिग्यु ऑफ द इममोटैबिल्टी एंड प्रोफरनेस आफ दि इंग्लिश स्टैज' नामक रचना है जो सन् १६९२ में प्रकाशित हुई थी। उसने 'एन्क्लसिपेडिकल डिक्शनरी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन' के नाम से भी एक पुस्तक सन् १७००-१४ में प्रकाशित की थी। उपर्युक्त में से प्रथम रचना समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में एक ठोस कृति मानी जाती है। इस कृति के द्वारा अंग्रेजी समीक्षा के क्षेत्र में कान्तिदायी मोड़ों ने जन्म लिया था। इसे ग्रीक तथा अंग्रेजी समीक्षा परम्पराओं की उपलब्धियों की पूर्ण अवगति थी परन्तु अपने निष्कर्षों का व्यावहारिक आरोप यह समीक्षा पर सफलतापूर्वक न कर सका। मूलतः साहित्य को ही केन्द्र में रख कर उसने विरोध चिन्तन किया। साहित्य विषयक इसके स्पष्ट विचार इसकी 'पैनथ थिंकिंग सेबरल सम्बन्ध' नामक पुस्तक में मिलते हैं।

सर टामस पोप स्मार्ट

प्रमुख विचार :—

इस सत्रहवीं शताब्दी में उपर्युक्त विचारकों की परम्परा में अन्तिम कड़ी के रूप में सर टामस पोप स्मार्ट का नाम उल्लेखनीय है। इसकी कृतियों का भी इस शताब्दी की समीक्षामय रचनाओं में उल्लेखनीय स्थान है। इसने समीक्षामय प्रतिभा का अभाव था यद्यपि इसकी कृतियों में पर्याप्त प्रीकूसा मिलती है। इसके आलोचनात्मक विचारों की प्रमुख विशेषता उसकी ईमानदारी है, यद्यपि उनमें सीमितता और नकारात्मकता का अभाव है।

1 "The Oxford Companion to English Literature, Sir Paul Harvey p. 175.

सत्रहवीं शताब्दी में रहे नये यूरोपीय समीक्षा साहित्य पर एक दृष्टि डालने पर यह बात होता है कि इस शताब्दी में यूरोप की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में जो सन्तुष्टिपूर्ण समीक्षाएँ हुये हैं, उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में परम्परागत सास्त्रीय विचार धाराओं का अनुगमन करने के साथ मौलिक सिद्धान्त रचना का भी प्रयास किया। सोलहवीं शताब्दी के समीक्षकों में नवीन नियम रचना की इस प्रवृत्ति का अभाव था। वे प्राचीनता और सास्त्रीयता का अनुगमन करना इसकी अपेक्षा बेधुनक समझते थे। इस दृष्टि से उनमें कड़िनायिका व्याप्त थी। वे नवीनता को स्वीकारने की अपेक्षा प्राचीनता का अनुसरण करना प्रत्येक दृष्टि से हितकर समझते थे। इसके साथ ही साथ वे प्राचीन सास्त्रीय सिद्धान्तों और नियमों में अधिक गुन बोध ढूँढ़ने की चेष्टा भी नहीं करते थे और उसे आदर्श रूप में ग्रहण करते थे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जहाँ सोलहवीं शताब्दी में समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में क्रियारमक क्रियाशीलता का अभाव था वहीं इस शताब्दी में उसका अभाव नहीं था।

इस सत्रहवीं शताब्दी में जो समीक्षाएँ हुये, उन्होंने साहित्य सिद्धान्तों और नियमों के पुनर्निर्माण की दिशा में विशेष रुचि दिखायी और इस कारण ही इस क्षेत्र में विशेष रूप से सक्रियता का भी परिचय दिया। इस युग में साहित्य के विविध रूपों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया और उनके गुण दोषों का वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ। इस शताब्दी में सामान्य रूप से इस विचार को मान्य किया गया कि काव्य का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना तथा उपदेश देना ही है, परन्तु कोरी आनन्दानुभूति या उपदेशात्मकता निरर्थक है। इसलिये इन युगों के साथ ही साथ स्तर निर्वाह के लिये काव्य सिद्धान्तों का अनुगमन ही आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस सत्रहवीं शताब्दी में साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में एक प्रमुख प्रवृत्ति प्राचीनता और नवीनता के संघर्ष की भी है। यह धारणा ध्यात्मक बतायी गयी कि आधुनिकता सास्त्रीयता का विरोध करती है। आधुनिकता के समर्थक भी प्राचीनता के समर्थकों की भाँति सास्त्रीयता पर पौरुष बैसे थे। इसी प्रकार से वे ऐद्वैतिक अनुकरण तथा साधारणीकरण के भी समर्थक थे।

अठारहवीं शताब्दी में इटैलियन समीक्षा

अठारहवीं शताब्दी में इटैलियन समीक्षा में उस मानवतावाद का ऐद्वैतात्मक और व्यावहारिक रूप में विकास हुआ जिसका सूत्रपात पूर्ववर्ती युग में हो चुका था।

इस काम में राज्य की ओर से भी साहित्य को प्रमत्त दिया गया और उसका फल भी शीघ्र ही दिखाई दिया। म्युण्डोरी बीचा और गइसेप्पे बारीली के नाम इस घटावरी के वैज्ञानिक विद्या निर्देशकों के रूप में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस युग में मानवतावाद और व्यापकवाद के स्वरूप विपरीत दृष्टिकोण में विकास हुआ और अपेक्षाकृत नवीनतर दृष्टिकोण से प्राचीन क्लासिकल कविताओं की महान् कृतियों का पुनर्वरीक्षण हुआ। नवीन सैद्धांतिक व्याख्या हुई और मूर्त्याकन के गए आकार बने। इसलिए इस घटावरी के अन्तिम वर्षों में भी समीक्षारमक निष्कर्ष निकाले गये वे मन्वीर बाद-विचार के प्रमाण हुए। यूरोप के विभिन्न देशों के साहित्यिक अन्तर्सम्बन्धों में वृद्धि आई और उनका विकास हुआ। यूरोपीय वैचारिक आन्दोलनों का भी इस घटावरी की इटैलियन समीक्षा पर प्रभाव पड़ा।

इस घटावरी में भी इटली में प्राचीनता और नवीनता का विवाद होता रहा। प्राचीन साहित्य शास्त्र के अनुगमन को खेयस्कर महत्त्व बताया गया परन्तु उसकी नवीन व्याख्या पर कम धेरे हुए उसी को मान्य किया गया। जैसा कि उपर उल्लेख किया गया है। इस घटावरी में मानववारी विचारपाय को पर्याप्त प्रमत्त दिया गया। यह बाद जब तक अन्तराष्ट्रीय धृष्टभूमि का आधार लेकर विकसित होने लगा था। इसकी व्याख्या के प्रयत्न सर्वत्र हो रहे थे तथा उन पर स्वामीय चिन्तन का प्रभाव था।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्राचीन काम की वैज्ञानिक परम्पराओं में भी मानववाद के तत्त्व समाविष्ट थे। आगे चलकर सुस्पष्ट रूप से इस विचारपाय का विकास हुआ जो मुख्यतः मानव जीवन के उच्च आदर्श तथा कुलसंरक्षक रूप के उदात्तीकरण की समर्थक थी। आगे चलकर भी विभिन्न दृष्टियों से इसकी व्याख्या तथा इसके रूपों के विभक्त के प्रयत्न हुए।

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी समीक्षा

अठारहवीं शताब्दी में एक बार फिर से फ्रांस में नवीनता और प्राचीनता का विवाद शुरू हुआ। आरम्भ में होमर के “इलियड” के दो अनुवादों के संदर्भ में मस्तर्यों का संघर्ष हुआ। इसी के साथ ही साथ साहित्य के अन्य रूपों और तत्त्वों तथा बाद मय के विभिन्न प्रयोगों की चर्चा हुई। भीमती दारिए, हाउडाई व भीते वास्तेयर, बानेग्यु

की नाचीसी मिली दिवसे ग्रीक, रोमसेम्बर्त मारपीतेस कसो यात्रि बगलिय इस सताब्दी में क्रियात्मक साहित्य और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में क्रियाशील रहे। मगध्य सत्रों से लेकर महत्वपूर्ण विषयों तक सब पर साधिकार मस्तुब्ध प्रकाशन हुआ और काव्य के अग्य विषयों से अस्तसम्बन्ध का विस्सेपण हुआ।

साहित्य के साथ कला विज्ञान और रचन के तत्व चिन्तन की ओर भी ध्यान दिया गया। समीक्षा की अनेक प्रभासियाँ बिकासशील हुईं और उनकी व्यावहारिकता का परीक्षण भी हो गया। बहुत ही ऐसा भी हुआ कि वो भिन्न सम्प्रदायवाधियों में संघि भी हो गई। कभी-कभी एक विचार वाला दूसरे विचारवाले से सहमत होते हुए भी उसका इसलिये विरोध करता था कि वे दोनों वो भिन्न सम्प्रदायो के थे। बिबेसी प्रयावों का बागमन भी अनेक रूपों में हुआ और उसका समर्जन तथा विरोध दोनों हुए।

कलाधिकस सिद्धान्तों की भाव्यता विरोधी बाह विचार के बाजबूत भी अश्रुज रही। कसो बाधि ने इस सताब्दी में साहित्य चिन्तन की परिधि को प्रवस्त किया। अनेक राजनैतिक मतवाधों का भी व्यापक रूप से प्रचार हुआ और सकुचित दृष्टिकोण को त्यागने तथा उधार दृष्टिकोण को अपनाने के बारे लगाए गए। अन्त में इस सताब्दी की समाप्ति के समय भारी क्रियाशीलता के साथ आगामी सम्भावनाओं के जन्म की आशा बंधी।

अठारहवीं शताब्दी में स्पेनी समीक्षा

स्पेन के इस साहित्यिक नवयुग में सर्वप्रथम उल्लेखनीय नाम इग्न्यासियो डी लुजान का है जो अठारहवीं सताब्दी का सर्वप्रथम विचारक माना जाता है और जिसका समय सन् १७०२ से १७५४ तक है। यह नवसासनवादी सिद्धान्त का प्रवर्तक समीक्षक माना जाता है। इसका प्रमुख रचना क्षेत्र काव्यशास्त्र विषयक ही था। इसके विचारों से यह आभास मिलता है कि भूमत वह एक परस्परवादी विचारक ही था। अपनी रचनाओं में उसका दृष्टिकोण पुरातनवादी है जिसमें उसने यूनानी और रोमीय साहित्यशास्त्र का अनुगमन किया है। उसके बहुत से मस्तुब्धों का एक दूसरी विचारधारा राष्ट्रवादिता के समर्थकों द्वारा बहुत विरोध हुआ।

इस प्रकार से इस व्यक्ति का यदि पर्याप्त समर्जन हुआ तो दूसरी ओर उसे ओर विरोध का भी सामना करना पड़ा। मुख्यतः नवसासनवादी समीक्षकों का विरोध

इस नवदुःख के आरम्भ होने से कई सौ वर्ष पूर्व से जमा आ रहा था और कई सौ वर्ष परचाह तक चलता रहा। इनमें से जो नवसास्त्रवादी थे उनमें इम्पागियो डी मुरातिम के अतिरिक्त सीनियर निकोलास फर्नाण्डेज डी मुरातिम भी था जिसका नाम इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका समय सन् १७३५ से १७८० तक माना जाता है।

मुरातिम के बाद इस प्रवृत्ति का प्रभाव और प्रचार बहुत घट गया परन्तु उसके पुत्र थनियर निकोलास फर्नाण्डेज डी मुरातिम ने भी इस बाद का सम्पर्क से अनुभवमन किया। उसका समय सन् १७६० से १८२८ तक माना जाता है। कुछ ही समय बाद स्टेन के पत्राचीन हो जाने पर वैचारिक प्रवृत्ति दृढ़ हो गई और फिर से समुचित भव और बाद प्रचलित हो गए। स्वैरवाद का प्रचार आरम्भ हुआ और फिर प्रति क्रियावादी प्रवृत्ति का प्रचलन होने लगा। स्वैरवाद का प्रवर्तक एन्टोनियो ब्रातकाला पामियानो माना जाता है जिसका समय सन् १७८९ से लेकर १८६९ तक था और प्रतिवियावादी नेत्रा अस्वर्टो लिस्टाई आयेयोग हुआ जिसका समय सन् १७९५ से १८३८ तक है। आगे चलकर स्वैरवाद की जोड़े लारा ई सार्नेज डी कास्ट का समयन प्राप्त हुआ जिसका समय सन् १८०९ से लेकर १८३७ तक है।

अठारहवीं शताब्दी तक स्पेन में मुख्य चिन्तन प्रवृत्तियाँ उपर्युक्त प्रकार की ही रही। महाकाव्य मुक्तक काव्य मध्यकाव्य दुर्बान्तक नाटक सुबान्तक नाटक मिश्रान्तक नाटक इत्यान्तक नाटक तथा प्रहसन आदि के विषय में सैद्धांतिक रूप से तो गम्भीरता पूर्वक और विस्तार के साथ विचार विमर्श हुआ ही इन साहित्य कर्षों के क्षेत्र में क्रियात्मक रूप से भी पर्याप्त उपगति हुई। उच्च कोटि का चिन्तन हुआ तथा साहित्य कला सीनियर वर्गन नीतिशास्त्र और तर्क शास्त्र आदि के क्षेत्रों में क्रियात्मक चिन्तन हुआ। अनेक आध्यात्मिक विषयों पर भी गम्भीर विचार विमर्श हुआ। साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में बहुरी एक और निष्पन्न और तटस्थ बुद्धिजीव से वैचारिक प्रवृत्ति हुई बहुरी बृष्टी और बाह्यमुपमिता का आग्रह भी कुछ क्षेत्रों में रहा यद्यपि उसके कतस्वरूप भी यादी विकास की संभावनाएँ ही जग्यी।

इस समय तक प्रायः कठिनाचिता और कठि विरोध का ही संघर्ष प्रधान रूप से रहा क्योंकि शास्त्र, मय की जिस विद्या में भी सम्बन्ध रखने वाले विषय पर विचार विमर्श आरम्भ होता था अन्त में विचार उगी मूत्र पर आकर टहुर जाता था। यह परिस्थिति प्रायः बहुरी शताब्दी के अन्त तक रही जब तक कि स्टेन के पाछन मूर्खों में कोई केन्द्रीय परिवर्तन

गई हुआ। अठारहवीं शताब्दी में जब स्पेन का राज्याधिकार एक राजवंश के हाथ से निकल कर दूसरे राजवंश के हाथ में गया तब एक प्रकार का नवयुग का आरम्भ हुआ। इस नवयुग में सन् १७१४ में रायल एकेडेमी आफ दि लैंग्वेज की स्थापना की गई और इस प्रकार से साहित्य को राज्य की ओर से भी प्रथम धिय गया। इस प्रकार से साहित्य और कला के क्षेत्रों में नवीन विकास की सम्भावनाओं ने जन्म लिया।

अठारहवीं शताब्दी में जर्मन समीक्षा

अठारहवीं शताब्दी में जोहान क्रिस्टोफ वोट वोड (१७०० से १७६६) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके विषय में यह कहा जाता है कि अपने समय में वह घरे बेश के साहित्य क्षेत्रों में एक ज्ञान रूप से साधन करता रहा। अनेक पत्र पत्रिकाओं और विभिन्न संस्थाओं में प्रायः उसी के विचारों का बोलबाला रहता था। सन् १७३० में उसने एक पुस्तक प्रकाशित कराई थी जिसमें उसने समीक्षारसक विज्ञातो का उल्लेख किया था। इस ग्रन्थ के माध्यम से उसने अपनी विचारवाच का पूरा पूरा निदर्शन किया और अपने मन्तव्यों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति दी। इस प्रकार से यह ग्रन्थ समीक्षा शास्त्र विषयक एक सम्पूर्ण कृति के रूप में मान्य हुआ।

वोट वोड ने इस ग्रन्थ में साहित्य के विभिन्न रूपों और तत्त्वों पर विस्तार से विचार किया। काव्य और नाटक पर उसने विशेष रूप से चिन्तन किया और इनके उपकरणों की विस्तार और सूक्ष्मता से व्याख्या की। जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है वह यह कहता था कि उसका सबसे प्रमुख गुण उसकी सत्यता है। चूँकि काव्य का प्रेरणा स्रोत एक दूसरी वस्तु वर्णित प्रकृति है इसलिए प्रकृति के गुण काव्य में स्पष्ट होने चाहिए। प्रकृति एक यथार्थ वस्तु है और काव्य में प्रकृति सम्पूर्णता के साथ प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए काव्य में यह प्रतिबिम्ब अपने यथार्थ और आस्तविक स्वरूप में पड़ना चाहिए। इस प्रकार से यथार्थता पर अधिक ध्यान देते हुए उसने अन्य तत्त्वों को अप्राथमिक और त्याग्य बताया। काव्य की भाँति पोटवोड ने नाटक आदि के सम्बन्ध में भी कुछ महत्वपूर्ण निर्देश दिया। पोटवोड के विचारों में सबसे बड़ा गुण यह है कि उनमें अपूर्णता, अस्पष्टता और अस्थिरता नहीं है। वे पूर्णतः गीतिका जाहेन हों परन्तु उनमें एक प्रकार की निरवधारकता अवश्य विद्यमान है।

अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी में समीक्षा के क्षेत्र में जो प्रवृत्तियाँ रही हैं वे प्रमुख रूप से परस्पर विरोधी थीं। इनमें से एक यह छात्सीयता का अनुमोदन करती थी तो दूसरी परम्परा विरोधी थी। इसके अतिरिक्त कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी थीं जिनका विरोध या विवाद सैद्धांतिक रूप से न बाहर व्यावहारिक रूप में था। उदाहरण के लिए इस युग के कुछ महाकाव्यों की कुछ बेटी विदेशी समीक्षकों के अपर समीक्षकों में अनावश्यक बाध विवाद हुआ। इसी सम्बन्ध में विद्वान् तत्त्वों की भी परीक्षा हुई। काव्य के मुल तत्त्वों पर बहस हुई और अन्त में सारा विवाद परम्पराप्रामाण्यता और परम्परा विरोधता में सिमट गया। इसका प्रभाव समीक्षा के स्वरूप और स्तर पर भी पड़ा। परिणाम यह हुआ कि छात्सीय और सैद्धांतिक समीक्षा को लोगों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखना आरम्भ किया।

इस प्रकार से जर्मनी में समीक्षारमक इतिहास का एक युग एक प्रकार की अनिश्चयतामयता की स्थिति में समाप्त होता है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक न होना कि आगे चलकर साहित्य समीक्षा और कला के क्षेत्रों में जिन मान्यताओं का सूत्रपात हुआ उनमें उपर्युक्त विवाद और परिस्थितियों ने पृष्ठभूमि का कार्य किया। यदि जर्मनी के साहित्यिक क्षेत्रों में यह क्रियाशीलता न होती और उसका विकास भी संकुचित बरि और क्षेत्र में ही होता तो आगे चलकर न तो वह विशिष्ट महत्व के चिन्तकों को जन्म दे पाता और न यूरोपीय वैचारिक भाषा इतिहास में उसका कोई महत्वपूर्ण स्थान होता। इसलिए जहाँ एक ओर उपर्युक्त बाध विवाद से साहित्यिक विकास में रुद्धता आई वहाँ दूसरी ओर अनर्पुक्त कारण से ही उसे प्रगति भी मिली।

अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजी समीक्षा जॉन डेनिस

परिचय तथा कृतियाँ —

अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षा पात्रियों में सर्वप्रथम जॉन डेनिस का नाम उल्लेखनीय है। इसका समय सन् १६२० से लेकर १७१४ तक माना जाता है।^१ इसकी

पिला पीला हीरो तथा कैमस कासेज, केमिज में हुई थी। "रिलास्को एंड मामिडा" नामक इसका प्रसिद्ध बुखान्तक नाटक सन् १६९९ में प्रकाशित हुआ था। इसकी समीक्षा कृतियों को विशेष रूप से मान्यता प्राप्त हुई। इनमें "वि एडवांसमेंट एंड रिफारमेंशन आफ माडर्न पोयट्री" (सन् १७०१) "वि ग्राउण्ड्स आफ क्रिटिसिज्म इन पोबट्री" (सन् १७०४) तथा "एन एसे ऑन वि जीनियस एंड राइटिन्स आफ डेक्सपीयर" (सन् १७१२) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह ड्राइडन का विषय था और उसके द्वारा प्रवृत्त समीक्षा परम्परा का प्रसार करना चाहता था, परन्तु यह अपने इस कोश में अधिक सफलता न प्राप्त कर सका। सैदाभित्तक रूप से इसके विचारों और मन्तव्यों पर ड्राइडन का भारी प्रभाव सन्निहित होता है।

समीक्षात्मक विचार :-

जॉन डेनिस का अध्ययन यद्यपि बहुत गहन न था और न ही इसने साहित्य समीक्षा से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन किया था परन्तु उसे ग्रीकी क्लासिक्स बहुत अधिक प्रिय हुई थी। यहाँ तक उसकी समीक्षात्मक क्षमता का सम्बन्ध है, उसके विषय में कोई समझ नहीं किया जा सकता। उसने ग्रीक तथा लैटिन नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कहा था कि ग्रीक परिस्थितियों ने ग्रीक नाटक को जन्म दिया और जिनमें, उसका विकास हुआ उससे लैटिन नाटक की जन्म और विकासकालीन परिस्थितियाँ सर्वथा भिन्न थी। इसलिए उसने उन सौयों का विशेष किया, जो ग्रीक भावनों के पूर्ण अनुकरण पर ही बल देते थे। उसने यूरोपीय काव्य के विकास का समुचित अध्ययन नहीं किया था इसलिए उस विषय पर उसके विचार अधिक विषमसंख्य नहीं हैं। डेनिस अपने विचारों के प्रति बहुत आपुहीत था। वह तर्कमय चीज़ों का प्रयोग तो करता था, परन्तु उसके आधार पर जो निष्कर्ष निकालता उन पर कुछ रहता था।

डेनिस के काव्य पर विचार :-

जॉन डेनिस का यह विचार था कि काव्य को प्रकृति का अनिवार्य अनुकरण करना चाहिये। उसमें यदि कालिक कथाएँ हों तो समका सम्बन्ध स्वदेशी धर्म तथा उनका आधार पौराणिक होना चाहिये। साथ ही उसमें समाधिस्थितियों में पारस्परिक संतुलन भी होना चाहिये। डेनिस के काव्य विषयक ये विचार सौन्दार्यता और विरक्त के काव्य सिद्धान्तों से विशेष रूप से प्रभावित और जहाँ पर मूलतः आधारित हैं। वह काव्य को एक सजीव वस्तु मानता था जो ईश्वर के उसी प्रकार से अधीन है, वैसे

मन्यता । यही कारण है कि उसने काव्य में नायिक, पौराणिक जगत्वा नैतिक विषयों के समावेश पर बल दिया है । यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि जिन विषयों का उसने विशेष अध्ययन किया था उन पर उसके विचार बहुत ठोस तथा जिन विषयों का उसका विशेष अध्ययन नहीं था, उन पर उसके विचार बहुत उत्तरदायित्व रहित हैं ।

एडवर्ड विशी

प्रमुख विचार —

एडवर्ड विशी "शार्ट हाफ हॉमिड पोयट्री" नामक पुस्तक का लेखक था । इस पुस्तक में उसने उन काव्य विषयक सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत किया है जो अठारहवीं शताब्दी के प्राचीनक कालों में यूरोप में प्रचलित थे । उसने अनेकी कविताओं की साहित्यिक धारणाओं और माध्यमों का विवरण उपस्थित करते हुये अपने समीक्षामय मन्तव्यों का प्रकाशन किया है । उसने इस विचार का समर्थन किया है कि जहाँ तक अनुकरणत्मकता का प्रश्न है, सर्वत्र महान् साहित्यकारों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही पालन करना चाहिए । उसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि प्राचीन काल में जो साहित्यिक नियम और सिद्धान्त बनाये गये थे, वे परवर्ती युगों में निरर्थक घोषित कर दिये गये । उसने कहा कि यदि प्राचीन सिद्धान्तों का स्वीकारण आज तो पूर्ण रूप से ही स्वीकार्य थाय अन्यथा उनके आधिक अनुगमन से कोई लाभ नहीं है ।

मिरर

मिरर इस शताब्दी के अन्य अनेक समीक्षकों की भाँति सात्त्विकता का अनुगामी था । उसके विद्विष्ट बार्सिल गिडन ने काव्य के स्वरूप और कला पर अपनी दृष्टि "कम्प्लिट शार्ट हाफ पोयट्री" में विचार प्रकट किया है और काव्य की विस्तृत विवेचना की है, यद्यपि इस पुस्तक में अविश्वस्य उसके विचारों में ग्रीकता का अभाव है । गिडन के साथ मिपोलार्ड वेस्लेट का नाम भी उल्लेखनीय है ।

जोसेफ एडीसन

परिचय तथा कृतियाँ —

जोसेफ एडीसन का समय सन् १९७२ से लेकर १७१९ तक है ।^१ उसने सर्वत्र

^१ "The Oxford Companion to English Literature" Sir Paul Harvey p. 6.

कासेज आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की थी। आरम्भ में उसने लैटिन भाषा में सफलतापूर्वक कार्य रचना की। इसका राजनैतिक जीवन से भी बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। सन् १७७४ में उसकी 'वि कैम्पेन' दीर्घक रचना प्रकाशित हुई। अपने समकालीन लेखकों में स्विफ्ट स्टील आदि से इसका अच्छा परिचय था। उसने 'थी होस्टर' नामक राजनैतिक पत्र का सम्पादन भी किया था। अपनी प्रौढ़ावस्था में यह अंग्रेजी समीक्षकों में सर्वश्रेष्ठ माना जाने लगा था। यद्यपि अपने जीवन के अन्तिम भाग में इसे कट्टर आलोचना सहन करनी पड़ी थी परन्तु इसके एडीसन की क्वालि में कोई अन्तर नहीं आया। यह एक विश्वास है कि इतना सब होते हुए भी अंग्रेजी समीक्षा साहित्य के विकास में एडीसन का महत्व ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही रह जाता है, यद्यपि कुछ लोगों का यह विचार भी है कि वह एक क्रांतिकारी समीक्षक था और उसे अरस्तू तथा सॉक्राटस जैसे मनीषियों के समकक्ष एक माना जा सकता है।

काव्य पर विचार—

एडीसन 'स्पेक्टेटर' में विविध विषयों पर अपने विचार बच्चों के रूप में अभिव्यक्त करता रहता था। काव्य तथा महाकाव्य आदि के अतिरिक्त समीक्षा आदि से सम्बन्ध रखने वाले एडीसन के विचार भी इसी में प्रकाशित होते थे। मिस्टन के 'पैराडाइज लास्ट' पर उसने अपने विचार क्रमबद्ध रूप से इसी पत्र में अभिव्यक्त किये हैं। इस महाकाव्य की आलोचना करते समय उसने अरस्तू के सिद्धान्तों को आधार बनाया है। उसके समय में यों भी उन लोगों की संख्या बड़ रही थी जो अरस्तू के सिद्धान्तों के समर्थक थे। उसने मिस्टन के इस महाकाव्य में एक दोष यह भी बताया है कि वह दुर्बल है जब कि अरस्तू के अनुसार महाकाव्य की शुक्लात्मक होना चाहिये। उसने वर्जिस के काव्य को आदर्श माना है। उसने इस ओर भी संकेत किया है कि मिस्टन ने अपने महाकाव्य में जो अनावश्यक पांडित्य प्रदर्शन किया है, उसका कारण यह है कि वह एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसने अपने महाकाव्य में बर्ने इतिहास, ज्योतिष भूगोल तथा ईश्वर आदि से विषयों का आधिक और सार्थक रूप से समावेश भी इसी कारण से किया है।

काव्य में कल्पना तथा—

एडीसन का यह विचार था कि कल्पना का क्षेत्र यह प्रत्यक्ष संसार ही है। मनुष्य किसी ऐसी वस्तु या स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकता जिससे उसका सामाजिक पहलू न हो चुका हो। कल्पना एक ऐसी शक्ति है, जो यथार्थ वस्तुओं का

एक दूसरे से सुधान या वियोग कर सकती है। कल्पना प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में आत्म प्रदान कर सकती है। कल्पना से मनुष्य को सुगंध वातों और वस्तुओं में पारंगत बस सकता है और उसकी सहायता से वह दो असंगत वस्तुओं में भी सामंजस्य के दर्शन कर सकता है। वेद काय, समय और अर्थ सीमाओं की कल्पना का मार्ग वह नहीं कर सकती।

बोर्सट्रोम ने एरीसन को कल्पना को घेरना देने की कमीटी से साहित्य और काव्य का परीक्षण करने वाला सर्वप्रथम समीक्षक माना है। कहा जाता है कि बर्सेबी समीक्षा के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग भी सर्वप्रथम एरीसन ने ही किया। उसने साहित्य विमर्श अनेक समस्याओं को उठा कर उन पर विचार किया और उनका हल खोजने का प्रयास किया।

द्वय समीक्षात्मक विचार—

समकालीन साहित्यिक समस्याओं के विषय में विचार करते हुये एरीसन ने अनेक महत्वपूर्ण मन्त्र्य प्रकाशित किये हैं। उसका विचार है किसी भी साहित्यिक की मनुष्य पर प्रतिक्रिया का परीक्षण करना चाहिये और वह भी देखना चाहिये कि उसका अपने रचयिता की प्रकृति से कितना साम्य है। इस दृष्टिकोण से एरीसन पर प्रसिद्ध सांकेतिक लाल का प्रभाव स्पष्ट है। इसी प्रकार से एरीसन का यह भी विचार था कि एक समीक्षक को अपने समकालीन साहित्यकारों की कृतियों का पाठ्यक्रम और समीक्षा संहानुमति पूर्वक करनी चाहिये और पाठ्य दोन क्रम और अनर्थक उन्हें प्रस्तुत करते रहने की प्रवृत्ति से बचना चाहिए। उसका विचार था कि साहित्यिक लेखकों का कोई एक प्रकार न होकर अनेक होते हैं, वही समीक्षक को अपना दृष्टिकोण संकुचित नहीं रखना चाहिये।

एरीसन ने अपने “एकवर्त बाक हि ग्रेट्टेस्ट इन्माय पोयट्स” की रचना एक वय निवृत्त के रूप में की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे बर्सेबी काव्य के विकास के इतिहास का विचार मान न था। उसने स्पेंसर, मिस्टर काउसी आइडन कीवीस आदि के विषय में अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। एरीसन की रचनाओं में इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि उसे अपनी समकालीन साहित्यिक गतिविधि की भी पूर्ण अवगति न थी। परन्तु उसने अपना दृष्टिकोण साहित्य तक ही सीमित न रख कर साहित्य और काव्य के अतिरिक्त नैतिक और ध्यावहारिक विषयों पर भी टिप्पणियाँ तथा निवृत्त लिखे हैं।

माध्य कला और कल्प—

ऊपर एडीसन के 'स्कोपेयर' नामक पत्र का उल्लेख किया गया है। उसमें एडीसन के विविध विषयों पर लिखित निबन्ध नियमित रूप से प्रकाशित होते रहते थे। इन में से एडीसन ने साहित्य कला और जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उसके इन निबन्धों को पचास मामूला प्राप्त हुई।

वहाँ तक नाटक का सम्बन्ध है, एडीसन का यह विचार था कि आधुनिक दुष्काल नाटक प्राचीन दुष्काल नाटकों की अपेक्षा बेवजह है। इसका एक कारण यह भी है कि आधुनिक दुष्काल नाटकों में प्राचीन ग्रीक तथा रोमन दुष्काल नाटकों की अपेक्षा कथा तब अधिक सुसंगठित रूप में मिलता है। परन्तु प्राचीन नाटकों की अपेक्षा आधुनिक नाटकों में एक दोष भी मिलता है। और वह यह कि उनमें नैतिकता के तत्त्व अपेक्षा-कृत कम हैं।

अपेक्षा नाटक में उसने दुष्काल और सुकाल के मिश्रित रूप का विरोध किया क्योंकि उसका विचार था कि सुकाल नाटक में कमी भी हो कथाओं की समानांतर नहीं विकसित होगा चाहिये। वह नाटक में नाटकीय तत्वों तथा सत्यता का भी विरोधी था। उसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि बीस्मार्क ने सर्वाधिक सफलता पूर्वक अपनी माध्य कथियों में नाटकीय तत्वों का समावेश किया है।

सर रिचर्ड स्टील

परिचय तथा कृतियाँ—

सर रिचर्ड स्टील का समय सन् १६७२ से लेकर १७२९ तक माना जाता है। उसने आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की थी। सन् १७११ में उसने अपनी "दि क्रिस्टियन हीरो" नामक रचना प्रकाशित की थी। इसके पश्चात् सन् १७०१ में ही "दि फून्टनरल", सन् १७०३ में "द सार्जन्टल" सन् १७०५ में "दि टैंडर हर्वेड" तथा सन् १७२२ में "दि फायर सवर्स" नामक रचनाएँ प्रकाशित की। उसने राजनैतिक जीवन में भी सक्रिय रूप से भाग लिया था। उसने अपने समीक्षात्मक विचारों को बहुत संक्षेप में प्रस्तुत किया है। उसमें साहित्यिक विकास की अवधि का

पाश्चात्य समीक्षा साहित्य का विकास और विविध सिद्धांतों का स्वल्प

अभाव तथा अक्षर्य की प्रवणता थी। यह स्टीवर का प्रचंडक या मौर उत्तरी समोस बहुत प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत की है।

फ्रांसिस एटरवरी

परिचय तथा कृतियाँ —

फ्रांसिस एटरवरी का समय सन् १६६९ से लेकर सन् १७६२ तक माना जाता है।^१ उत्तरी गिला बीला बेरू मिनिस्टर तथा आक्सफोर्ड में हुई थी। यह एक कार्यात्मक, सामाजिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों के कार्य कलाप में नियामक रूप से भाग लेने वाली कृतियों में सन् १७४० में "सेरमोंस" सन् १७५९ में "मिसनीनियस ब्रक" सन् १९९९ में "डिस्कोर्स अकेजंड बाई दि डीब आण सेडी कट्स" प्रकाशित हुई थी।

यह स्टील की अपनी अधिक प्रतिभायुक्त समीक्षा का। यह एक बहुत सुपरिचित साहित्यिक तथा मंचा हुआ लेखक था। इसने मिस्टर आदि कविताओं के बारे में पांडित्यपूर्ण बातें की हैं। यद्यपि इसकी समीक्षा दृष्टि में अधिक सुबलता, तथा विस्तार न था। यही कारण है कि इसकी रचना अपने समय के प्रतिनिधि में तो होती है परन्तु महान् सर्वात्मकों में नहीं। इसने अपने समकालीन आलोचकों की भाँति काम में समालोचना का विरोध किया है।

जोसेफ स्विफ्ट

परिचय तथा कृतियाँ —

जोसेफ स्विफ्ट का समय सन् १६६७ से लेकर १७४२ तक माना जाता है। उसका जन्म डबलिन में हुआ था। उसका पिता डबलिन के ट्रिनिटी कॉलेज में

1 "The Oxford Companion to English Literature" S. Harvey p. 748.

2 यही है जो...

सन् १९१७ में "दि बेटन आफ दि बुक्स" नामक पुस्तक की रचना की जिसका प्रकाशन सन् १९०४ में हुआ था। उसी वर्ष उसकी "ए टेल आफ ए टब" नामक पुस्तक भी प्रकाशित हुई। वह राजनैतिक क्षेत्र से भी सम्बन्धित था और उसकी बनेक कठियों का सम्बन्ध राजनैतिक विषयों से है। अपनी लग्न को समय समय पर की बड़ी मात्राओं में उसका परिचय एडीसन स्टीव कोब्रीज, ईनीफैस आदि से हुआ था।

एडीसन के परवर्ती साहित्य समीक्षकों में स्विफ्ट का उल्लेखनीय स्थान है। ऊपर उसकी जिस "बेटन आफ दि बुक्स" नामक पुस्तक का उल्लेख किया गया है, वह समीक्षा के क्षेत्र में विविध महत्व की रचना मानी जाती है, यद्यपि इसमें अविव्यक्त उसके विचारों में पर्याप्त अंतर्पक्ष भी बतायी जाती है। इसी कारण इस पुस्तक की अपेक्षा उसकी दूसरी पुस्तक "ए टेल आफ ए टब" अधिक सम्बन्धित और ठोस मानी जाती है।

एनीक्वैडर पोप

परिचय तथा कृतियाँ —

एनीक्वैडर पोप का समय सन् १६८८ से लेकर १७४४ तक माना जाता है। सन् १७११ में उसकी अत्यंत प्रसिद्ध कृति "एन आन क्रिटिसिज्म" प्रकाशित हुई थी। उसकी "रैप आफ दि लाक" (सन् १७१४) तथा "बोड फार म्यूजिक आन सेंट सेसी मिमाज डे" (सन् १७१६) आदि काव्य कृतियाँ ऐतिहासिक महत्व की सिद्ध हुईं। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त उसकी अन्य भी बनेक कृतियाँ प्रकाशित हुईं जिनमें "विडसर फ्यरेस्ट", "इसिज्ड" तथा "माडेरी" के अनुबाव "बसंड हु वि मेमोरी आफ एन अनका क्जुनेट सेडी" "एनोसिया टु एवेसाई", "मी आबर्स मापटर मैरिज" (सन् १७१७) "ए पेयमेंट आफ ए सेटायर" (सन् १७१७), "मार्टिंस स्क्वेलर्स" "वि म्यू इन्सिदेड" (सन् १७४२), "एन एसे आन मैन" (सन् १७३३ ३४), "मारल एसेज" "आफ दि नासेज एंड करेक्शंस आफ मैन" तथा "आफ दि यूज आफ रिजेज" (सन् १७३१ ३२), "इनीटेयंस आफ होरेस", "एप्सस दु डा० जर्जनाट" (सन् १७३२), "बन पाउरीड

“वेनेन हृद्रेड एंड पय्डी एट” (सन् १७१५), “सेकायर्स आफ डा० डागे बर्सीकाइज” तथा “न्यू इक्व सिपेज” (सन् १७१२) आदि उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त पोप कुछ दि एपिसिस्त दु एयंग लडी (मिड ग्लाउन्ड) बिद दि बर्स्ट व्यायचर” (सन् १७१२), “आन हर लीविंग दि टाउन माय्न्स दि फारोमेयन्स” (सन् १७१७), “दू मि० जर्जिय बिद ड्राइडेंड ट्रांसलेयन्स आफ फर्सव्यायेस, बार्ड आफ पेंटिग” (सन् १७१६) “दू टावर्ट अर्ल आफ आक्सडोर्ड एंड अर्ल मादिमर” (सन् १७१२) “बर्टम्स पोमोना” “डेफो दू फायोब”, “दि पैबुल आफ योब” (सन् १७१२) “जेनुअरी एंड मे” “दि बाइफ आफ बाय हर प्रोमोव”, “दि मेरेयिज आफ डा० टावर्ट मोरिस” (सन् १७१३), “ए पुल एंड दू एकाइन्ट आफ ए होरिज एंड बारबेरस रिबैज बाई ग्राइडन आन—मि० एडमंड कर्न” (सन् १७१६) आदि ग्रंथ रचनाएँ हैं।

पोप के प्रमुख विचार —

पोप सामान्य विवेक ज्ञान में विश्वास रखता था। उसकी कविताओं को देखने से यह ज्ञान ही संकटा है कि यह बहुत बड़ा पंडित था, परन्तु एक विद्वान के रूप में उसे मान्यता नहीं दी गयी। इसका कारण यह है कि उसमें कवित्व छल्ले का अभाव नहीं था परन्तु उसमें उच्च कोटि की समीक्षायक प्रतिभा भी नहीं थी। यही कारण है कि उनकी अनेक काव्य रचनाएँ बहुत उत्कृष्ट थीं, परन्तु यह उत्कृष्टता उसकी ग्रंथ रचनाओं में नहीं मिलती। उसने लेखकीपर, आनसन, ड्राइडन तथा स्पेंसर आदि पर अपने समीक्षायक विचार प्रस्तुत किये हैं।

“एसे आन क्रिटिसिज्म” पोप की सर्वोत्कृष्ट समीक्षायक कृति है। इसमें उसकी समीक्षायक प्रतिभा का अधिकतम विकास देखा सकता है। यह रचना यद्यपि विद्वत्तापूर्ण अवश्य है, परन्तु समग्र और सतर्क समीक्षा दृष्टि के अभाव के कारण इसमें अनेक त्रुटि व अपूर्णता का आभास मिलता है। पोप की प्रकृति अनुकरण की विचारधारा के आधार पर उसे बहुत उत्कृष्ट कोटि का समीक्षक भी टहराया जाता है, परन्तु यह एक अस्वेच्छनीय तथ्य है कि उसकी प्रकृति निषेध धारणा तथा आधुनिक प्रकृति विषयक धारणा में बहुत अंतर है। काव्य के शुभ दोषों का जो विवेचन पोप ने अपनी इस रचना में किया है, वह बहुत ठीक है, यद्यपि काव्य सिद्धांतों के प्रतिपादन की दृष्टि से उसका अधिक महत्व नहीं है।

पोप अपने अध्ययन और व्यापकहारिक अनुभव के आधार पर इस निष्कर्ष पर आया था कि साहित्यिक श्रेष्ठता अनेक प्रकार की हो सकती है। अपने निष्कर्षों में उसने होरेस, वीटा तथा योयर्सों काहि से सैद्धांतिक मूल्य प्रकट किया है। वह ठर्कामक सीमा में विश्वास रखता था। उसका विचार था कि ठर्क से जो निष्कर्ष निकले वही सर्वमान्य होगा चाहिए। पूर्व युग में होरेस भी ठर्क मात्र में विश्वास रखता था। इस दृष्टि से पोप के विचारों पर उसका पर्याप्त प्रभाव मिलता है। पोप शास्त्रीमूढ़ता का समर्थक था। काव्य के क्षेत्र में वह नियमबद्धता और सैद्धांतिक अनुभव का पक्षपाती था। उसने बताया है कि प्राचीन यूनानी काव्य के अत्यधिक समृद्ध होने का कारण यह है कि वह काव्य सिद्धांतों के अनुसार और नियमबद्ध था। इसीलिए आधुनिक कवियों को भी होमर तथा वर्जिल का अनुचमन करना चाहिये।

समीक्षक के पुनः और दायित्व—

पोप का विचार था कि एक समीक्षक को सर्व प्रथम आलोच्य साहित्यकार के भावना प्रवाह में स्वयं को डूबने देना चाहिये। जब उसे वैसे ही अनुभूति होने लगेगी तभी वह उसकी समीक्षा उचित प्रकार से कर सकेगा। इसी प्रकार कि किसी कृति की समीक्षा करते समय समीक्षक को उस कृति का उसकी सम्पूर्णता में परीक्षण करना चाहिये। जो समीक्षक आलोच्य कृति का परीक्षण अंश रूप में करता है वह उसके साथ कभी भी स्वाद नहीं कर सकता। उसने बताया है कि एक समीक्षक को अपने उत्तर दायित्व का अनुभव और निर्वाह वही प्रकार से करना चाहिये, क्योंकि साहित्य के विकास में एक अयोग्य क्रियात्मक साहित्यकार की अपेक्षा अनुत्तरदायी समीक्षक अधिक बड़ी बाधा होता है। पोप ने एक महत्वपूर्ण बात यह भी कही है कि सच्ची प्रतिभा के समान ही परिष्कृत रुचि भी असाधारण वस्तु होती है उसने बहुत गम्भीरता से इस बात का प्रतिपादन किया है कि साहित्य की प्रकृति द्वारा निर्दिष्ट होना चाहिये। साहित्यिक सिद्धांतों और नियमों का बहुत ठक सम्बन्ध है, हमें प्राचीन साहित्यकारों का अध्ययन करके उन्हीं में उनकी जीव करनी चाहिये।

प्रतिभा और ज्ञान—

पोप ने बताया है कि किसी साहित्यकार की सबसे बड़ी योग्यता का परिचय इस बात से मिलता है कि स्वयं की प्रतिभा तथा वही का प्रयोग वह कितनी सफलतापूर्वक कर सका है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना अत्यंत ग होना कि पोप में साहित्य निर्देशन की असाधारण क्षमता थी। उसकी सबसे बड़ी कमी यह थी कि उसने स्वतंत्र

रूप से विविध समस्याओं को म डठा कर उन्हें मिश्रित करके असाध्यक बना दिया है। स्वतंत्र रूप से वह नाट्य, साहित्य या कला के विषय में उल्लेखनीय कथन करता है परन्तु जहाँ जहाँ उसने इन्हें अन्तर्बन्धित करके उनके स्वरूप का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की है वहाँ अत्यन्त आशंक निष्कर्ष निकाले हैं।

पोप का मत है कि कम ज्ञान होने की अपेक्षा अज्ञान अधिक घातक सिद्ध होता है। उसने इस तथा अन्य बहुत से लोगों के विषयों के लिये एक मात्र मार्ग प्राचीनता का अनुकरण करना बताया है। उसने स्वयं जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, उनका आधार भी प्राचीन साहित्य सास्त्रियों के विचार ही हैं। पोप के परवर्ती समीक्षकों में सार्स कैंन्ट हैरिड रीनदुब्यूरी, ह्यूम एडम रिमय टैप तथा कैंम्पबेल आदि उल्लेखनीय हैं।

ब्लेयर

प्रमुख विचार —

ब्लेयर की अंग्रेजी समीक्षा साहित्य को मुख्य देन उसके "कैम्ब्रिज आन रिटारिक" है। इस पुस्तक में उसने बहुत ही सरल शैली में अपनी गम्भीर और ठोस विचारों को प्रस्तुत किया है। इनके सम्बन्ध में यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि यद्यपि वे भावक बहुत ही मौलिक विचारों से परिपूर्ण हैं, परन्तु इनमें प्रतिपादित सिद्धांत व्यावहारिक दृष्टि से बाह्य नहीं हैं। यह कृति ब्लेयर की समीक्षामय समता की परिचायक है। उसने इस रचना में इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि आधुनिक युग में "रीटारिक" वा वास्तविक अर्थ समीक्षा ही है।

ब्लेयर अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेजी समीक्षकों में से उनका कहा बिरोधी था, जिसका साहित्य क्षेत्रीय ऐतिहासिक ज्ञान बहुत कम था तथा जो अनेक प्रकार के असाध्यक विचारों का प्रचार कर रहे थे। उदाहरण के लिये उसने उन लोगों से मत वैधिरूप प्रकट किया है, जिसका यह विचार था कि होमर एक असाधारण कवि है, जिसका बाध्य कला और सीमार्ग विहीन है। ब्लेयर का यह मत था कि ऐसे विचार से ही समीक्षक प्रकट कर सकते हैं, जिनमें रस प्राकृतिक की पद्धि का पूर्ण अभाव है।

ज्येवर ने होमर, इबरेज, सार्निम सेन्सपीयर, जोसियन अरस्तू, हेनरी होम सार्ड केम्स डा० बानसन आदि पर अपने समीक्षारमक विचार प्रस्तुत किये हैं। उपर्युक्त में से जोसियन पर “डिस्टेंशन आग जोसियन” नामक कृति भी उसने रची। सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में उसकी सिखी हुई “एसीमेंट्स आफ क्रिटिसिज्म” नामक कृति अपनी मौलिकता के कारण विशेष प्रशंसित हुई। अंग्रेजी समीक्षा साहित्य को एक प्रीक स्तर तक ले जाने का श्रेय किसी सीमा तक ज्येवर को भी है।

जेम्स हेरिस

प्रमुख कृतियाँ और विचार —

जेम्स हेरिस की कृतियों में “हर्म्स”, “फिलसाफिकल अरैजमेंट्स”, “डिस्कोर्स आग म्यूजिक” तथा “फिलसाफिकल इन्वायरीज आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से अन्तिम विशेष रूप से प्रसिद्ध है जिसमें उसने सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक अंग्रेजी समीक्षा का विकास प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में प्रस्तुत अधिकार्य विवरण इतिहास सम्मत नहीं भी होने पर उसका अपना महत्व है। इसका कारण यह है कि इसमें अनेक स्थलों पर हेरिस ने बहुत सी महत्वपूर्ण बातें कही हैं। उदाहरण के लिये उसने बताया है कि किसी भी भाषा के साहित्य में कोई भी असाधारण महत्व की कृति अकस्मात् नहीं लिखी जा सकती क्योंकि उसके लिए एक पुष्ट हीन और महान् परम्परा का होना अनिवार्य है। उसने प्रतिभाशाली साहित्यकारों के लिये सैद्धांतिक अनुपमन भी आवश्यक बताया है। मध्ययुगीन साहित्यकारों के विषय में लिखते समय उसने चौसर, पेदाक मैडेबिल मारकापोलो समाचार आदि पर अपने विचार प्रकट किये हैं। यह ज्येवर, केम्स तथा कैम्पबेल आदि से वैचारिक सहमति नहीं रखता था।

जान ब्राउन

प्रमुख कृतियाँ और विचार:—

जान ब्राउन की उल्लेखनीय कृतियों में “एस्टीमेट आफ मेनर्स” “डिस्टेंशन आग सी राइज आफ पोयट्री” तथा “हिस्ट्री आफ दि टाज एंड प्रोबैथ आफ पोयट्री” आदि

है। वह बहुत ही स्पष्टवादी समीक्षकों में माना जाता है, यद्यपि उसकी समीक्षारमक प्रतिभा बहुत उज्ज्वल कोटि की नहीं थी। उसका महत्व अंग्रेजी समीक्षा के इतिहास में अपने गुण का प्रतिनिधि समीक्षक होने के कारण ही प्रायः अधिक है। यों भी उसने समस्त अंग्रेजी समीक्षा साहित्य के विकास का इतिहास प्रमुख न करके अधिकतर अपने समकालीन साहित्य पर ही विस्तार से लिखा है। यह अंग्रेजों से विस्तृत प्रभावित नहीं हुआ था और उसकी "विक्टरियन माग ओसियन" नामक प्रसिद्ध कृति के विषय में भी उसकी मारका प्रचंडारमक नहीं थी।

डा० सेमुयेल जॉनसन

परिचय और कृतियाँ —

डा० सेमुयेल जॉनसन का जन्म सन् १७०८ में हुआ था। उसने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् कुछ समय तक आक्सफोर्ड में अध्ययन किया। यद्यपि वहाँ से उसने कोई उपाधि नहीं प्राप्त की। उसके जीवन के प्रारम्भिक वर्षों के विषय में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है। जब वह बरियसम में काम करता था तो वह "बर्मिंघम जर्नल" में बहुत लेखादि लिखता रहता था। सन् १७३७ में अपने कुछ दिव्यों के साथ वह सन्दम में आ गया जहाँ उसने अपने जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण माग व्यतीत किया। "दि बेंटिमेन्स मैगजीन" में भी उसने अपने अनेक निबन्ध विविध विषयों पर प्रकाशित किये। सन् १७३८ में उसने "सन्धन" दीर्घक कविता प्रकाशित की। सन् १७४४ में उसकी "साइम्ब्र बाउ वि पोयट्स" नामक कृति प्रकाशित हुई। सन् १७४७ में उसने अपने शब्द कोष की योजना लार्ड बिस्टरफील्ड के सामने प्रस्तुत की। सन् १७४९ में उसने अपनी सर्वश्रेष्ठ कविता "बेनिटी बाउ ह्यूमन बिरोब" तथा "बाइरैन" नामक बुलान्द नाटक प्रकाशित किया जिसमें अधिकतर नैतिक विषयों पर कथोपकथन हैं।

सन् १७५० में उसने "रैम्बलर" नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। सन् १७५५ में उसका शब्द कोष प्रकाशित हो गया स्मार्ट के "यूनिवर्सल डिक्शनरी" में अनेक निबन्ध प्रकाशित करने के पश्चात् उसने "मिटेरी मैगजीन" का सम्पादन आरम्भ किया। १७५७ में उसने सर टावस ब्राउन की जीवनी लिखी। १७५९ में उसका उपन्यास "रेडनाथ" प्रकाशित हुआ। सन् १७६२ में उसे लार्ड म्यूट ने पेंशन दी तथा अपने वर्ष उसकी मित्रता जेम्स बाइनेल से हुई। १७६४ में "मिटेरी क्लब" की

स्थापना हुई, जिसके सदस्यों में डा० जानसन, रोनेल्ड्स, बर्क मोल्डस्मिथ, मैसरर, सी० जे० फ्रांस तथा वासवेल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जानसन का समीक्षा व्यक्तित्व .—

जानसन के समीक्षा व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उसकी विचारिक गटलता है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उसने अपने समीक्षारमक सिद्धांतों की रचना बहुत कम आयु में ही कर ली थी परन्तु इनमें अन्त तक उसने किसी प्रकार क किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी। और उसके ये समीक्षा सिद्धांत किसी भी उच्च कोटि के समीक्षक के समान प्रौढ़ हैं। उसकी प्रमुख समीक्षारमक कृतियों में उसके ये सिद्धांत स्पष्टता से अंकित किये जा सकते हैं। “वि रेम्बर” में उसने मिस्टन का विवेचनारमक अध्ययन किया है। वह अनेकों छन्द शास्त्र को दोषपूर्ण समझता था। “सेमसन अगो निस्टस” के प्रति उसके विचार बहुत समुचित हैं। वह स्पेन्सर के प्रति प्रसंसारमक विचार नहीं रखता था। स्पेन्सर के अनुकरारमकता के सिद्धांत का भी वह विरोधी था। उसने बताया है कि स्पेन्सर की बहुत सी हीनताएँ इसी कारण से हैं। उसने राबर्टसन हपूम तथा विबन आदि के विषय में भी अपने विचार लिखे हैं। उसने अनेकी साहित्यकारों की ओ समीक्षा की वह उसके कृतिरम का बहुत महत्वपूर्ण अंश है।

नटक विवेचन—

जानसन न बुलान्त मिमिथ का जो विवेचन किया है वह कई दृष्टियों से महत्व का है। जानसन का विचार था कि नियमों तथा सिद्धांतों के क्षेत्र में कट्टर अनुगामिता स्वाभ्य होगी चाहिये। इसलिये मनीनता का इतना विरोधी नहीं होना चाहिये कि मनीन उपयोगी तथा प्राहम सिद्धांतों का भी विरोध हो। परन्तु इसके साथ ही साथ प्राचीनता का भी इतना कट्टर अनुगामी नहीं होना चाहिये कि साहित्य का सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय। वह ऐतिहासिक अनुगामिता के साथ ही कलारमकता पर भी बहुत बल देता था। इसीलिये वह कहता था कि उच्च कोटि की साहित्यिक रचना के लिये प्राचीन तथा शास्त्रीय सिद्धांतों का अनुगानुकरण नहीं होना चाहिये।

जानसन ने हास्य की विवेचना “इडलर” में की है। परन्तु उसके ये विचार अगम्य अमिष्यक्त विचारा की पुनरावृत्ति मात्र हैं। “रतेलास” में उसने बताया है कि प्राचीन कवियों में कला वीर प्रकृति दोनों का ही मिश्रण था। परन्तु कला का अर्थ मात्र प्रकृति का अनुकरण नहीं है वीर न ही मात्र अनुकरण से कोई कृति महान् हो जाती है।

यह साहित्यकारों के लिये विविध विषयक ज्ञान को आवश्यक बताता था। उसका विचार था कि विविध क्षेत्रीय ज्ञान के अभाव में महान् साहित्यकार बनना सम्भव नहीं है।

“प्रिफ़ेस टू द रोमन्सीयर” में जानसन ने रोमन्सीयर का सुल्झाकर दिया है। उसका विचार था कि रोमन्सीयर का अपने नाटकों में कथन और हास्य रसों का मिश्रण करना शास्त्रीय नियमों तथा सिद्धांतों के विरुद्ध है। क्योंकि शास्त्रीय नियमानुसार नाटक को या तो वृत्तात्मक होना चाहिये और या सुखात्मक मिश्रितान्तक नहीं। परन्तु कभी कभी ऐतिहासिक विषयों के विरुद्ध साहित्य रचना में भी एक प्रकार का नैसर्गिक सौन्दर्य लक्षित होता है। यह सौन्दर्य यदि कलात्मक और वास्तविक हो तो वह निश्चयतः मान्य होना चाहिये। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जानसन के समय से ही एक नयी प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी। उसके अनुसार शास्त्रीयता के अतिरिक्त अपने निजी सौन्दर्य के आधार पर ही किसी कृति की स्वाच्छन्द व्याख्या भी सम्भव है।

रोमन्सीयर ने शास्त्रीयता के विरुद्ध मिथितान्तक नाटकों की रचना करके उनमें हास्य तथा कथन रसों का अद्भुत रूप में संयोजन से प्रयोग किया है। इसलिए उसके नाटक कलात्मकता की दृष्टि से बहुत ही उच्च कोटि के हैं और इसलिए उन्हें प्रशंसा मिलनी चाहिये। वह कड़वाइता की अपेक्षा स्वाभाविकता का समर्थक था। उसका यह निश्चित विचार था कि साहित्यिक उत्कृष्टता अनेक प्रकार की हो सकती है। इस प्रकार से “प्रिफ़ेस टू रोमन्सीयर” जानसन की एक बहुत महत्वपूर्ण कृति है जिसमें उसने अपने युग की समीक्षा प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित किया है। जानसन ने स्पष्ट रूप से यह निर्देशित किया है कि प्राचीन सिद्धांतों का न तो पूर्ण अनुकरण ही करना चाहिये और न पूर्ण अहिंकार, बल्कि उनका पुनरीक्षण करके युगीन आवश्यकताओं के अनुसार उनका परिष्कार करना चाहिये। सभी के साथ ही हो सकते हैं।

काव्य विचारः—

काव्य के विषय में जानसन नियमबद्धता का विरोधी नहीं था। वह काव्य में रस छन्द अलंकार तथा भाषा तत्त्व आदि को मर्यादित मानता था। उसका प्रीक साहित्य का अध्ययन बहुत अच्छा था। यद्यपि सैटिंग भाषा और उसकी वैचारिक उप सधियों की उसे पूर्ण अवगति नहीं थी। वह अरस्तू आइडन तथा पोप से प्रभावित था। वह तर्कमयता में भी विश्वास रखता था। उसने अपनी महान् इति “लाइफ़ ऑफ़ दि पोप्टन” में अनेक कवियों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। व्यावहारिक

सनीखा के बहिरिक्त उसके इस ग्रन्थ में साहित्यात्मक सिद्धांतों का भी विश्लेषण मिलता है। जानसन की यह कृति बीबनी और समीक्षा का मिश्रित रूप है। उससे यह भी आभासित होता है कि जानसन का कवि जीवन के प्रति दृष्टिकोण कितना व्यापक एवं अध्ययन किम्बा यहन है। इसमें अनेक कवियों की समीक्षा किंचित कटु ढंग में ही की गयी है, किन्तु वह कवियों के गुणों को भी प्रकाशित करने में कभी उल्टा भाव नहीं प्रदर्शित करता है। किन्हीं कवियों की बीबनी के साथ प्रासंगिक रूप से उसने काव्य प्रवृत्ति का भी विश्लेषणात्मक विवेचन किया है जो उस कवि के काव्य में सामान्य रूप से पायी जाती है।

जानसन के अनुसार वह संघर्षी काव्य जो एमिलियेथियन युग में रचा गया था भावों तथा अभिव्यक्तियों की दृष्टि से अपार्य नहीं है। जानसन ने यह माना है कि एक कवि जिस प्रकार के आचरण या परिस्थितियों में रहता है, उसके जीवन एवं काव्य पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसीलिए उसने विभिन्न कवियों का वर्गीकरण करते समय ऐतिहासिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से भी उनकी परख की है। यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि उसने ड्राइडन तथा पोप की बीबनियाँ मिलते समय पूर्वाग्रहों से काम लिया है और इन कवियों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अनेक ऐसे संतर्पणों की स्थापना की है, जो भ्रामक हैं। इस सम्बन्ध में वह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि जानसन ने इस ग्रन्थ में काउसी मिस्टन ड्राइडन पोप कोलिम्स तथा जे आर्थर कवियों की बीबनी तथा काव्य का अध्ययन एक ही दृष्टिकोण से न करके प्रत्येक का अलग दृष्टिकोण से किया है। इस ग्रन्थ से यह भी पता चलता है कि जानसन का क्षेत्र तथा दृष्टिकोण कितना व्यापक था।

जानसन का महत्त्व :—

जानसन के इतिहास पर एक दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि उसे विभिन्न समीक्षात्मक सिद्धांतों का स्पष्ट ज्ञान था। यद्यपि उसकी अपनी भी कुछ सीमाएँ थीं परन्तु उसके गुण असाधारण हैं। बहुधा यह कहा जाता है कि जानसन एक असफल समीक्षक था। इसका कारण केवल यह हो सकता है कि उसका समीक्षा दृष्टिकोण मुनि जित न था। यह कहना उचित न होगा कि यह उसकी समीक्षा सिद्धांतों की अनभिज्ञता के कारण था। जानसन ने कभी कभी पूर्वाग्रहों से भी काम लिया परन्तु वह कभी भी अपनी समीक्षा के अन्त स्तर से नहीं हटा और इसके साथ ही उसका दृष्टिकोण उन्हें विरोधी भी नहीं होने पाया। यदि वह किसी साहित्यकार की कटु आलोचना करता था

तो यह उमड़े भिये कुछ पुष्प आधार भी रखता था । इस प्रकार से ज्ञानसंग्रह का स्मान केवल अपने युग के ही नहीं वरन् अंग्रेजी समीक्षा के इतिहास में एक समर्थ साहित्यकार और साहित्य समीक्षक के रूप में मान्य है ।

अठारहवीं शताब्दी में ज्ञानसंग्रह के समकालीन समीक्षकों में बोल्डस्मिथ का नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है । उसके समीक्षारत्मक सिद्धांतों का परिचय उसकी "इन्क्वायरी इन दू दि प्रजेक्ट आफ् स्टेट आफ् पोसाइट जनिंग इन यूरोप" तथा "एन्क्वा मारल एंड मिटररी" नामक पुस्तकों में मिलता है । स्काट आफ् एम्ब्रेस का नाम भी बोल्डस्मिथ के साथ ही निम्न जा सकता है जिसकी कृतियों में "क्रिटिकल एन्क्वा" तथा "प्रोवर हिल" आदि विनय रूप से उल्लेखनीय है ।

इन प्रकार से अठारहवीं शताब्दी की अंग्रेजी समीक्षा के इतिहास को चलने पर यह प्रतीत होता है कि विविध पक्षों के माध्यम से स्फुट आलोचना की प्रवृत्ति का विरोध रूप में प्रसार हुआ । इस युग में अनेक महान् समीक्षक हुये जिनके कारण समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में विशेष रूप से क्रियाशीलता रही और समीक्षा साहित्य का विकास हुआ इस शताब्दी से ही अंग्रेजी साहित्यकारों की गणना भी यूरोप के महान् साहित्यकारों में की जानी आरम्भ हुई ।

इस शताब्दी में यद्यपि अनेक समीक्षारत्मक विचारों का प्रतिपादन हुआ और नवीनता को ग्रहण करने का आग्रह रहा वरन्तु अधिकोत्तर इस शताब्दी में भी प्रायः प्राचीन सिद्धांतों का ही अनुगमन किया जाता रहा । जब स्वतन्त्र रूप से विविध अंग्रेजी साहित्यकारों का मूल्यांकन किया जाने लगा और आलोचना शास्त्र की सर्वांगीण उत्पत्ति होने लगी । समीक्षा क्षेत्रीय व्यापक सक्रियता के होते हुये भी इस शताब्दी में प्राचीन साहित्य की उपन्यासों के सम्यक मूल्यांकन की कैप्चरें कम हुईं और अधिकतर पतिविधि समकालीन साहित्यिक विषयों तक ही सीमित रही । इस युग की समीक्षारत्मक प्रगति की एक विशेषता यह भी है कि इसमें विविध साहित्यिक विषयक स्वतन्त्र एवं नवीन सिद्धांतों की रचना के क्षेत्र में भी विशेष क्रियाशीलता रही ।

आधुनिक युगीन इटैलियन समीक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी में इटली की समीक्षा में वैज्ञानिक मतभेद का स्वरूप कुछ परिचित हो गया और विचार के विषय क्षेत्र में भी विस्तार हुआ । मराम की स्तेल

जैसेसाम्रो मानवोनी ऊ० बी० फीस्कॉले फाम्पेस्कोए सामिस गियोसुए फार डुब्वी, कोचे और बी० ए० बोर्रीज के नाम विधेय रूप से सम्मेलनीय हैं जिन्होंने सक्रिय रूप से गंभीर भाव विवाद और सिद्धांत निवर्तन में भाग लिया। यथार्थवादी पद्धति का समर्थन और भावार्थमत्ता का विरोध हुआ। प्रभाववादी समीक्षा पद्धति को मान्य किया गया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण की सार्थकता सिद्ध की गई और सांख्यिक सिद्धांतों का नवीनीकरण हुआ किन्तु इन सबसे जगमग इस घटनाओं में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में की गई सहाचारण उपसम्भियाँ थीं। इसलिये वेनसेतो कोचे का आविर्भाव इस घटनाओं की सबसे बड़ी घटना है जिसने वर्तन नीति साहित्य और कला के सन्दर्भ में विचार करते हुए सौन्दर्यशास्त्र आदि पर अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए।

कोचे का आविर्भाव

आधुनिक युगीन इटैलियन विचारकों में कोचे का महत्व सबसे अधिक है। उसका समय सन् १८९९ से लेकर १९३२ तक माना जाता है। आधुनिक अभिव्यञ्जनावारी मान्योक्तन के विकास में उसका योगदान सहाचारण है। उसने सौन्दर्य सांख्यिक दृष्टिकोण से साहित्य और कला की समस्याओं पर विचार किया। उसके विचारों को व्यापक क्षेत्रीय मान्यता प्राप्त हुई तथा उसने परवर्ती विचारकों को भी बहुत प्रभावित किया। इस दृष्टि से ई० एफ० कैरिट^१ तथा जीमिंगरड^२ आदि के नाम विधेय रूप से सम्मेलनीय हैं।

अभिव्यञ्जनावार के मूल सिद्धांत कोचे के विचारों पर ही आधारित हैं। इस दृष्टि से उसकी रचना "एस्थेटिक्स" एक युग प्रवर्तक कृति है। इसमें उसने अभिव्यञ्जनावार के सन्दर्भ में अपने जो व्याख्यात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं जाने बलकर उन पर पर्यन्त विवाद हुआ। उदाहरण के लिए किस्त्रन कम ने उससे अग्रहमत्त होते हुए लिखा है कि

- १ रचनाएँ—I "The Theory of Beauty" 1940
2. "Philosophies of Beauty", 1931
3. "What is Beauty", 1932.

- २ दृष्टि—I "Principles of Art" 1932.

मीनर्य को मौलिक सत्य के रूप में नहीं मान्य किया जा सकता क्योंकि यह एक मानसिक या आंतरिक सत्य है और प्रत्यक्षतः मनुष्य के मीनर्यबोधोपलब्ध कार्य व्यापार से संबद्ध है।¹

कल्पना और अभिव्यक्ति —

क्रोचे का विचार है कि कवि के हृदय में कल्पना की स्थिति प्रतिभा के समान ही होती है। जिस प्रकार से कवि की प्रतिभा जगजात होती है उसी प्रकार से उसकी कल्पना कृति भी। चूंकि यही कल्पनात्मकता काव्य रचना में उसकी मूल प्रेरणा होती है अतः इसे कवि का मौलिक बल कहा जा सकता है। वह काव्य में जो कोई भी भाव अभिव्यक्ति करता है वह इसी कल्पना की अभिव्यक्ति होती है।

क्रोचे ने अभिव्यक्तिभाव के स्वरूप का जो विश्लेषण किया है उसके मूल में भी उसकी यही शारणा है। इससे स्पष्ट है कि क्रोचे ने कल्पना का काव्य अथवा कला में बहुत अधिक महत्व प्रतिपादित किया है। वह कल्पना को कला का जीवन बताना है और उस मन्त्रम्य का विरोध करना है जिसके अनुसार उस केवल बाह्य अभिव्यक्ति कह कर उसका महत्व घटाया जाना है। उसके विचार से मूल वस्तु यही कल्पना है जो अभिव्यक्ति कलात्मकता को प्राप्त होती है। इसीलिए वह कल्पना को आन्तरिक और अभिव्यक्ति को बाह्य तत्त्व मानता है।²

क्रोचे यह कहता है कि कला का क्षेत्र समस्त मानव जीवन है। इसलिये मनुष्य के जीवन का कोई भी पक्ष किसी कला किसी कृति के नियंत्रण में विषय हो सकता है। इस कथन में उसका भाष्य यह है कि विषय की दृष्टि से किसी कृति की श्रेष्ठता का निर्धारण नहीं हो सकता। वास्तव में श्रेष्ठता का सूचन कलाकार की उस तन्मयदृष्टि के द्वारा होता है जिसकी वह अपनी कला में अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार से हमने एक सर्वथा

1. "The beautiful is not a physical fact beauty does not belong to things it belongs to the human aesthetic activity and this is a mental or spiritual fact. ("The Philosophy of Croce")
2. "When we have mastered the internal world, when we have vividly and clearly conceived a figure or a stature when we have found a musical theme, expression is born and is complete, nothing more is needed." (Aesthetics" Croce p. 50)

नवीन मन्त्रालय की स्थापना की है जिसका मुख्य निर्णय विषयगत एकस्यता है क्योंकि कस्तूरामक श्रेष्ठता का निर्धारण बहु विषय को मानता ही नहीं। परन्तु ओचे के इस कथन का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि बहु विषय चयन को विस्मृत महत्व ही नहीं देता। वास्तव में बहु कस्तूरामक अभिव्यञ्जना को ही उत्कृष्टता का मापक मानता है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है ओचे ने अभिव्यञ्जना को एक आन्तरिक उत्पत्ति के रूप में माप्य किया है और कहा है उस प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित करते हुए उसी का सर्वोत्तम उत्पत्ति भी कहा है। यही नहीं बहु सीधर्य की परिभाषा के रूप में सफल अभिव्यञ्जना को रचता हुआ कहता है कि सीधर्य केवल अभिव्यञ्जना है और सफल अभिव्यञ्जना ही सीधर्य। असफल अभिव्यञ्जना अभिव्यञ्जना ही नहीं है।^१

इस प्रकार से इटली की समीक्षा पद्धति विविध क्षेत्रों से बढ़ती हुई विकास की दिशा में अग्रसर हो रही है। नवीन युग में बी० ए० डोगीज ने एक बार पुनः इटालियन समीक्षा चारों ओर आसपास की रूप देने की चेष्टा की और उसने समकालीन चिन्तन को भी प्रभावित किया परन्तु ओचे का प्रभाव अभी घटा नहीं है और एक बड़ी संख्या उन लोगों की है जो उससे प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त समय समय पर यूरोप में साहित्य और कला के क्षेत्रों में जो आन्दोलन होते रहते थे स्वभावतः उनका भी प्रभाव इस क्षेत्र के साहित्य चिन्तन पर पड़ता रहा। इसी सबके बीच इटली की नवीनतम समीक्षा चारों ओर अपना स्वयं निर्धारण कर रही है।

आधुनिक युगीन फ्रांसीसी समीक्षा

सन्नीसकी शताब्दी में आरम्भ से ही साहित्य चिन्तन के क्षेत्रों में चेतना जामा सित हुई। बोनाल आन्तेसेनिए, सेन्त ब्यूजे, रेना और ठीन बीमरी स्तेन जलुबिया विक्रम हूपुरो ज्यूबी संवरर आदि के नाम इस शताब्दी के आरम्भिक मान्यता प्राप्त व्यक्तियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस लोगों ने युग की आवश्यकता और प्रति

1) We may define beauty as successful expression, or better as expression and nothing more, because expression when it is not successful is not express." (Aesthetics" Croco.)

को पहचाना और उसके अनुकूल बात कहने का प्रयत्न किया। आरम्भिक वर्षों में सापेक्षवाद का विशेष रूप से प्रचार हुआ। इसके पक्ष और विपक्ष में गम्भीर विचार विमर्श हुआ। प्राचीनशावाद और नवीनशावाद का झगड़ा भी सनाटा न हुआ। स्वैरवाद का प्रचार भी कुछ विचारकों पर न्याय जिनमें सेंट थ्यूए का नाम विशेष रूप से प्रचारित है यद्यपि स्वयं उसने अपेक्षाकृत तटस्थ दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

सेंट थ्यूए के विचारों से रूना बहुत अधिक प्रभावित था और उसके विचारपूर्ण चिन्तन के कारण उस इस सताब्दी का सबसे अधिक विवेकशील समीक्षक कहा जाता है। इसी प्रकार से रूना भी सोल्ब्येयशास्त्र के सन्दर्भ में साहित्य का विवेचन करने वाला विचारक था यद्यपि उसकी ऐसी विमृष्ट रूप से वैज्ञानिक है। क्रिस्तात्मक और समीक्षा साहित्य के क्षेत्रों को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला इस युग का अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति प्राप्त लेखक एमाइस बोला है। उसके अतिरिक्त फ्रीमे पी० गोरवे बनानोले फ्रांस यूने सनेतरे, रेमीज गोरमो चार्ल्स मीरास आदि इस युग के अन्य व्यक्तित्व हैं जिन्होंने समकालीन विचारचार के साथ भावी चिन्तन की रूपरेखा भी निर्धारित की है। लेखक गए और पुराने मठों और संप्रदायों के विकास के अतिरिक्त इस युग में क्रिस्तात्मक साहित्य की भी उन्नति फ्रांस में हुई उसने फ्रांसीसी साहित्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित कर दिया गया।

बीसवीं सताब्दी में फ्रांसीसी समीक्षा का भी विकास हुआ उसने लिए पूरा आधारभूमि का निर्माण पूर्व युग में ही हो चुका था। इसलिए उसके विकास की गति अपेक्षाकृत सहज रही। बुनेतिष्ट, सिगनोर्बो बुस्तावास्तन ओवेक बेरिए, रानिए मोरने, बिस्पो पिरास यूने माछा आबेल लेकांक और बीजा प्योत्राई आदि ने स्वैरवाद सनेसवाद, मानवतावाद तथा अन्य बहुत से कारणों से सम्बन्ध रखनेवाले विचार विमर्श और वाद विवाद में भाग लिया। पिए साम चार्ल्स मीरा याने हेनरीयेया पीन बानेई आदि ने प्राचीन और नवीन मतधारों में वैचारिक योग दिया और साहित्य के रूपगत भेदीकरण का कार्य किया।

क्रिस्तात्मक साहित्य के क्षेत्र अविश्वामयवाद और प्रकृतिवाद आदि का विशेष रूप से प्रचार हुआ। इस सताब्दी में वर्गसुन बारे, मेमोले सीरस दुर्गमि नीटो तथा प्राउस्त चार्ल्स पैपू आल्फ्रेडीन यूतिन बेनी जल्बर्ट पिरीने हेनरी मामी आदि क्रिस्तात्मक तथा विचारक लेखकों ने युग के चिन्तन की दिशा को विविध मोड़ दिए। इस

प्रकार से प्रत्यक्ष में वर्तमान समय में उपभूत कुछ वैचारिक संप्रदाय के क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले दृष्टिकोण के आधार पर ही सजीवा का कार्य हो रहा है जिसकी संभावनाएं आशाजनक हैं।

इस प्रकार से इस सताव्सी में क्रांति में जितनी क्रियाशीलता रही उतनी सम्भवतः किसी भी प्राचीन युग में नहीं। आगे कृतियों लेबेर्, मार्स पिबो लफेजे आन्ड्रेमरादा, रिचर्ड ब्लॉक जेबस कोपू जेफरीमिए आदि ने साहित्य की गद्य और पद्य इभारमक प्रायः सभी विधाओं के क्षेत्र में योगदान दिया परन्तु इस सताव्सी का सबसे अधिक प्रसार व्यक्तिगत ज्यों पास सार्न है जो अस्तित्ववादी विचारक कहा जाता है। अस्तित्ववाद की नई परिभाषा और सम्यक विवेचन की दृष्टि से सार्न ने अपनी क्रियात्मक तथा दार्शनिक कृतियों के रूप में जो कार्य किया है वह असाधारण महत्त्व का है।

ज्यों पास सार्न

अस्तित्ववादी प्रमुख दार्शनिक के रूप में ज्यों पास सार्न का स्थान आधुनिक युग के विषय के महान् चिन्तकों में है। आधुनिक विषय साहित्य पर सार्न के विचारों का जितना व्यापक प्रभाव पड़ा है उस देखकर उसके महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि सार्न के विचारों को यदि विस्तृत क्षेत्रीय मान्यता मिली है तो उनके विषय में अनेक जनों का भी प्रचार है। साहित्यिक विचारों की दृष्टि से सार्न की सर्वप्रमुख पुस्तक "व्हाट इज सिन्डरेयर" है। इस पुस्तक में उनके विचार मुख्यतः दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो जलकी दार्शनिक और विवेचनात्मक सीमा का परिचय देते तथा उसकी साहित्य विषयक मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं तथा दूसरे वे जो विशेष रूप से यूरोपीय साहित्य के सम्दर्भ में अभिव्यक्त किये गये हैं। यद्यपि इस पुस्तक में अधिकता दूसरे प्रकार के विचारों की ही है।

सिद्धांत और कवि —

सिद्धांत और कवि के कार्य साम्य पर विचार करता हुआ सार्न सिद्धता है कि यद्यपि "यह यथार्थ है कि यद्यकार और पद्यकार दोनों ही लेखन कार्य करते हैं किन्तु उनके लेखन कार्य में इसके अतिरिक्त और कोई अभिन्नता नहीं है कि दोनों के हाथ समान रूप से परिवर्तित रहते हैं और दोनों से ही अक्षर रचना होती है। अन्वयात् इन दोनों के

संसार इतने भिन्न हैं कि इनमें कोई संयोग सम्भव नहीं है और एक के लिए जो उत्पन्न है वह दूसरे के लिए नहीं। यद्यत् स्वाभाविक रूप से उपयोगितावादी होता है। मैं सहर्ष पछकार का सन्तों की उपयोग करने वाले के रूप में परिभाषा करूँगा।”

भाषा पर विचार :-

भाषा के विषय में विचार करता हुआ सार्न लिखता है कि “हमने भाषा के आन्तरिक रूप का बहुत विश्लेषण किया है और अब उसके कुछ रूप का बाह्य रूप से व्यवहार करने का समय आ गया है।” अपने इस कथन की पुष्टि में तर्क करता हुआ वह कहता है कि एक व्यक्ति केवल किसी साधारण वस्तु को भांगने के लिए गद्य रचना करता है, दूसरा किसी देश के विषय कुछ को बोधना करने में। लेकिन एक अलग होता है। वह अनिश्चय होता है, प्रदर्शन करता है, भावना होता है, अस्वीकृति करता है अपेक्षा करता है, निवेदन करता है, अवज्ञा, तर्क तथा ध्वन्य करता है। परन्तु उन्हें बिना कम के करने से ही वह कवि नहीं हो जाता है। वह सैकड़ है, जो बातें करता है, कुछ कहता नहीं।^१

गद्य की कला :-

सार्न न बताता है कि गद्य कला का प्रयोग प्रस्ताव में किया जाता है अतः स्वाभाविक ही उसका साक्षात् सार्थक होता है। अर्थात् यद्यत् वस्तुएँ नहीं हैं उनके संकेत हैं। सर्वप्रथम यही कारण है कि किसी भाषा के विषय में यह बात करना आवश्यक नहीं है कि वह हर्ष की सुप्ति करती है या विचार की, बल्कि यह देखने की आवश्यकता है कि वह वस्तु या विचार का यथार्थ रूप में संकेत देने में समर्थ है या नहीं। बहुधा ऐसा होता है कि हमें सन्तों के द्वारा कोई विचार मिलता है और हम उसे प्रहम कर लेते हैं। फिर वह विचार हममें सदैव वर्तमान रहता है, यद्यपि वे शब्द स्मरण नहीं करते जिनके द्वारा हमने उन्हें प्राप्त किया था।

सार्न का कथन है कि गद्य सबसे पहले यस्तिक्य की एक स्थिति ही है। अब कोई व्यक्ति किसी आपत्ति या कष्ट में होता है, तब वह किसी हथियार को उठा लेता है।

१. ई “पुनर्विचार” दिसम्बर १९२७ पृ० ४६।

२. वही पृ० ४७।

विपत्ति दूर होने पर यह स्मरण नहीं आता कि जो हथियार उठाया गया था वह क्या था, एक हथौड़ा या छड़ी। उसे यह ध्यान भी नहीं था कि वह क्या उठा रहा है। उस समय उसे अतिरिक्त शरीर की आवश्यकता भी और वह कुछ चाहता था। वह एक प्रकार से छड़ी उँगली या तीसरा पैर कहा जा सकता है, जिसे उस समय खींचा गया था।

उपर्युक्त रोचक उदाहरण के आधार पर सार्ज यह समझाने का प्रयत्न करता है कि ठीक इसी प्रकार हमारा कवच और लबा रोम है, जिनके द्वारा हम अन्य लोगों से अपनी रक्षा करते हैं और हमें उनके विषय में सूचना मिलती है। वह हमारी ज्ञानेन्द्रियों का ही विस्तृत रूप है एक तीसरी आँख है, जिसकी सहायता से अपने पड़ोस वालों के हृदय को भाँपते हैं। हम भाषा के अन्तर्गत इसी प्रकार हैं, जिस प्रकार अपने शरीर के। हम अन्य सीमा क्षेत्रों का अतिक्रमण करने में उनका ठीक हाथ पैरों के समान ही अनुभव करते हैं। इसी रूप में हम तब भी अनुभव करते हैं जब कोई भाषा प्रयुक्त करता है। एक दम किसी क्रिया विशेष का विधिष्ट अंग होता है जिससे अलग वह निरर्थक है।

निष्कर्ष में साहब एक दृष्टिकार के विषय में यह कहता है कि वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसने द्वितीयक क्रिया को खींचा गया है और उसे हम ऐसी क्रिया कह सकते हैं जो उद्घाटन द्वारा सम्पन्न हो।

अन्य विचार —

साहित्य के स्वरूप के विषय में सार्ज का विचार है कि कुछ अधिम करने की आवश्यकता नहीं है। वह कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना स्वरूप आविष्कृत करता है और फिर उसका निर्धारण। यह यथार्थ है कि [संज्ञा का सुझाव विषयों से ही मिलता है, यद्यपि वे कोई आशा नहीं देते। सार्ज ने साहित्य सम्बन्धी अपनी मान्यताओं का व्यक्तिकरण और स्पष्टीकरण करते समय प्राथमिक रूप से अपने आलोचकों के विषय में भी वहाँ वहाँ अपने विचार प्रकट किये हैं। एक स्थान पर वह उनके विषय में कहता है कि उनके लिए सर्वाधिक [मुक्तिपूर्ण बात क्या के लिए क्या भाषे सिद्धांत का आधार से लेने की होती जो उनकी अप्रसन्नता में योग्य होती परन्तु वे इसे नहीं स्वीकार करते। यह भी एक विभिन्न बात ही है।

सार्ज के विचार से देखकर कई जगहों के होते हैं। उसका कहना है कि जो व्यक्ति अपने विचारों को किसी विधिष्ट ढंग से कह सकता है वही देखकर है, वह नहीं जो

केवल किसी बात को कहने का निश्चय कर लेता है। यही कारण है कि यद्यपि मूल्य इसकी सीसी में ही है परन्तु केवल सीसी से ही कोई अर्थ नहीं हा जाता।

सेवान कार्य क्यों किया जाय ? इस पर विचार करते हुए सार्ने कहता है कि इस विषय में प्रत्येक व्यक्ति के पास अपने कारण होते हैं। किसी व्यक्ति के लिए सेवान करना पलायन है और किसी के लिए विजय का साधन। परन्तु कोई माय कर आश्रम में भी पहुँच सकता है और पायनपन या मृत्यु के भुज में भी। कोई हथियारों की सहायता से विजय भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु इससे सेवान कार्य से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? पलायन करने या विजय प्राप्त करने के लिए किसी को सेवान कार्य नुस्तीकारने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि एक सेवान के विविध सख्यों में यहन और अति तात्कालिक कुछ ऐसे निर्णय लेने होते हैं जो हम सबके लिए समान हैं।

सार्ने का विचार है कि हमारी प्रत्येक प्रवेयता के साथ यह चेतना होती है कि मानवीय यथार्थ एक भवक है अर्थात् इसी के द्वारा अस्तित्व बोध होता है, या यों कहा जा सकता है कि मानव ही यह माध्यम है जिसके द्वारा वस्तुएं प्रकाश में आती हैं। हमारी ही उपस्थिति से संसार में सम्बन्ध विस्तार होता है। वह हम ही हैं जो इस पैर और इस नभ खंड में सम्बन्ध बनाते हैं। यदि हम यह जानते हैं कि हम ही अस्तित्व संघालित कर रहे हैं तो हम यह भी जानते हैं कि हमने उन्हें उत्पन्न नहीं किया है। हम बीम माय को प्राप्त होंगे ही और बरपी तब तक उबासीन रहूँगी जब तक कोई अन्य चेतना उसे जाग्रत नहीं करेगी। इससे स्पष्ट है कि अपनी आन्तरिक निरचयता से हम बेदक हैं परन्तु मेवित वस्तु के लिए हमारी अनिवार्यता भी सम्बद्ध है।

कमलामक रचना के विषय में सार्ने कहता है कि उसके मुख्य उद्देश्यों में यह भावना आवश्यक है कि हम सांसारिक सम्बन्धों में अनिवार्य हैं। वह स्वयं कहता है कि "मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपनी रचना के लिए अनिवार्य हूँ। मैं एक साथ रचना और भेदन नहीं कर सकता।" रचनात्मक कार्यों के लिए सुख आवश्यक है। सार्ने का विचार है कि साहित्य का अस्तित्व केवल उसकी गतिशीलता में ही है।

सेवान की और पाठक की स्थिति तथा सम्बन्ध के विषय में सार्ने कहता है कि सेवान के अपनी कृति पढ़ने तथा पाठक के उसे पढ़ने के भुंज में अन्तर होता है। यह यथार्थ नहीं है कि एक सेवान अपने ही लिए लिखता है। अपने इस मन्त्रम को स्पष्टीकृत

करने के परवान् वह कहता है कि ऐसी कोई भी नसा नहीं है जो दूसरों के हेतु अपना सगरे हाथ नहीं है।

सार्न ने लेखकों की स्वतंत्रता पर बहुत बल दिया है। उसका विचार है कि एक लेखक, चाहे वह निबन्धकार ही पुस्तिका लेखक, व्यंग्यकार, वा उपन्यासकार चाहे वह केवल वैयक्तिक भावनाओं का विवर्ण करता ही वा सामाजिक व्यवस्था पर आक्षेप करता हो, इसका एक ही लक्ष्य हो सकता है और वह है स्वतंत्रता। अन्त में, सार्न ने बताया है कि लेखक का कर्तव्य ईमानदारी और यथार्थनुकरी होना है।^१

आधुनिक युगीन स्पेनी समीक्षा

सन्नीसर्बी सताब्दी में स्पेन में जो समीक्षायुग प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं उनका देखने से यह भाव्य होता है कि इस समय तक साहित्य के क्षेत्र में स्थिरता के साथ ही साथ प्रगतिशीलता भी आ चुकी थी। जोसे मास ई सान्चेज डी कास्ट्र, मैक्स मिताई फोन्टा नास्स मार्सेलिनो मेनेराडेज ई पैनायो, कामिस्की कर्नाग्वेज ई. योंजानेज, लिओपोल्डो अलास, एमन मैक्रेज पिनाल आदि विचारकों के नाम इस सताब्दी के साहित्यिक इतिहास में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। साहित्य के विभिन्न माध्यमों के क्षेत्रों में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से इस सताब्दी में जो प्रगति हुई उसके फल स्वरूप इनमें अनेक नवीनतर उत्थों और प्रवृत्तियों का समावेश हुआ।

अनेक राजनैतिक कारणों के फलस्वरूप यद्यपि सन्नीसर्बी और बीसवीं सताब्दी में कभी-कभी ऐसे समय भी आये जब साहित्य के क्षेत्र में अतिरिक्त जैसी स्थिति प्रतीत हुई परन्तु अन्ततः सभी प्रगति की सम्भावनाएँ जम्मी और साहित्यिक माध्यमों का कलात्मक विकास हुआ। उपन्यास, नाटक, महाकाव्य और समीक्षा के क्षेत्र में कम्ति काफ़ी उपलब्धियाँ हुईं और परम्पराएँ से नई आति संकुचित दृष्टिकोण का यथा सम्भव परित्याग किया गया। इस प्रकार से स्पेन में यूरोपीय समीक्षा के विकास में योग देने के लिए यथावक्ति कार्य किया गया और इसमें उत्तरदायित्व यथासम्भव निर्वाहा गया। आधुनिक युग में साहित्य और कला के क्षेत्रों में यूरोप में जो आन्दोलन हुए उनमें स्पेन

भी प्रभावित न रहा और युरोप के अन्य देशों के समान वहाँ भी उसकी विविध प्रतिक्रियाएँ हुईं तथा साहित्यिक विकास पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा ।

आधुनिक युगीन जर्मन समीक्षा

उन्नीसवीं सताब्दी में और उसके बाद जर्मनी की समीक्षा का भी कुछ भी विचलन हुआ उसमें फ्रीडरिख स्तेफेन, आन्ड्रुस्ट बिनहेम, हीनरिख और जूनियस हाई एन्गेनबोल्फ, एम०बी० कोपड कोनराड लासबेटी, आर्नी होस्स, ओटो हास और लास्केर कैर आदि के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं । इन लोगों ने स्पष्ट रूप से प्रायः प्राचीन और नवीन समीक्षारतक दृष्टिकोनों का समर्थन किया । निर्णायक समीक्षा की प्रवृत्ति के स्थान पर अब दृष्टिकोश में ऐतिहासिकता आई । ऐतिहासिक दृष्टिकोश से जर्मनी की साहित्यिक परम्पराओं का विश्लेषण किया गया और दार्शनिक तर्कों की महत्वपूर्ण बताया गया । दार्शनिक तर्कों पर अधिक ध्यान देने का फल यह हुआ है कि साहित्य और समीक्षा में मातृभाषा और मातृभाषिकता की बुद्धि होनी लगी । कारलाइन और सेंट ग्यूस आदि के विचारों में भी इसी कारण से दार्शनिकता का एक प्रबल दिखाई देता है ।

उन्नीसवीं सताब्दी के अन्तिम वर्षों में एक बार फिर से साहित्यिक चेतना जागी और उन लोगों ने जीवन और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन किया । इनके मूल तर्कों की खोज की गई और यह माना गया कि पूर्ण साहित्य जीवन का अनुकरण है इसलिए उसमें अनिष्ट सम्बन्ध होना चाहिए । प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन हुआ और ये तर्क आदि के दृष्टिकोश की संतुष्टि बताया गया । बुडोल्फ वीनबार्थ और गीर्बार्थ सविनय ने क्रमशः वैयक्तिक और सांस्कृतिक समीक्षा का प्रतिनिधित्व किया । गीर्बार्थ और सैन्डबार्थ कठोरताओं की दृष्टि व्यापकता मिली । यह का कुछ भारग्य हुआ और यह तर्कों की जड़ें हटाने लगी । धीरे धीरे समीक्षा का विचलन हुआ और बौद्धिक संतुष्टि के भये गुण में नये-नये मानक प्रचारित हुए । जूनियस रिप्ट हैबिगन और रीनर आदि इस नए गुण के विविध समीक्षा व्यक्तित्व हैं क्योंकि इनोंने युगीन वैचारिक बलि को व्यापक रूप से बढ़ाया । इस प्रकार से यूरोपीय साम्यवादों से जर्मनी प्रभावित न रहा ।

वेसिंग के समय से जर्मनी की साहित्य समीक्षा में भी विचलन हुआ उसकी वजह से यह प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती समीक्षा की ओर वह बहुत शक्तिशाली हो चुकी थी ।

पूर्ववर्ती समीक्षा पद्धति अधिकोद्यत कठिनायी और परम्परानुगामी भी जब कि भावी समीक्षा पद्धति अधिक पूर्ण और प्रगल्भ थी। जाने-बनकर हीनरिक्त बिलहेम्स फोन फस्टैनवर्ग योहान गेम्बोर्न हामान योहान गौटफ्रीड हर्बर्ट, गेते आदि ने जर्मन समीक्षा को और भी प्रगल्भ किया। यह लोग अपने अपने समय के महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे और इन्होंने अपने विचारों और सिद्धांतों को सफल और बृद्ध रूप में प्रतिपादित किया। लेसिंग के समय से ही चूँकि साहित्य और कला को प्रायः सम्बद्ध करके सीम्पर्सबाही वृष्टिकोश से इनका परीक्षण करने का प्रयत्न हो चुका था इसलिए इस जाने-आने वाले समय में भी उसकी उम्मेदवाजी न की जा सकती। नीति तत्त्वों का महत्त्व निर्विवाद रूप से मान्य किया गया और अनुकरण का सिद्धांत भी समान रूप से प्रचलित रहा। उपर्युक्त कुछ विचारकों ने गेते आदि ऐसे भी थे जिनका स्थान विश्व साहित्य में है। उन्होंने अपेक्षाकृत ऊँची भाव भूमि का परीक्षण करने का समर्थन किया।

बीसवीं शताब्दी में महाद्वितीय गति और क्रांतिवाद के अनुसार जर्मनी के साहित्यिक क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। समीक्षा के वृष्टिकोश में अधिक विवेकपूर्णता और संयमता आई। विशेषी किम्वदन्त साहित्यकारों और साहित्य पद्धतियों के विचार यहाँ भी आए और साहित्यिक क्षेत्रों में विविधता दिखाई देने लगी। प्राचीनता और नवीनता के पुराने झगड़े को छोड़कर लोगों में नई चेतना जाग्रत हुई। मपाचैबादिता और व्यक्तिवादिता के लिए लोगों में विशेष आग्रह और समर्थन दिखाई देने लगा। लेसिंग ने जिस एक्सप्रेसिनिस्ट विचारधारा के बीच जब से पहले जो किए थे उसका पुनर्नवीनीकरण हुआ। साहित्य समीक्षारमक क्षेत्रों में जो चेतना सम्पन्नता इस समय दिखाई देने लगी थी, उसे देखते हुए कुछ लोग राष्ट्रीय समीक्षा का स्वर्ण युग कहते हैं। नवजातवाद और एक्सप्रेसिनिस्ट विचारधाराओं की भावी सम्भावनाएँ प्रगल्भ हुईं। एडोल्फ काटेंस बिलहेम्स स्टायन बिल बेस्पर और होल्म्स किम्मेमान आदि समीक्षक नवीनतम वैचारिक प्रवृत्तियों के पोषक थे। महायुद्ध में जर्मनी की पराजय के साथ समीक्षा की यह विकसित परम्परा लगभग समाप्त हो गई।

आधुनिक युगीन रूसी समीक्षा

रूस में समीक्षा पद्धतियों का जो विकास हुआ उसका आरम्भकर्ता विशेष रूप से नवजातवादी समीक्षा के क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में बाक्सिती फिओडोरोविच मेपाचीवस्को

माना जाता है। सैद्धान्तिक साहित्यशास्त्र के नियमन में उसी का योग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। उसने न केवल समीक्षाशास्त्र के क्षेत्र में खासगीय सिद्धान्तों का नियमन किया बल्कि कुछ विशेष काव्य कालों के नियम में उदाहरण के लिए द्रव्य काल आदि के क्षेत्र में विस्तार से विवेचना की। उसके परभाव मिखायल वासिल्येविच सोमोनोसोव ने साहित्यशास्त्र का पुनर्गठनीकरण किया। उसने काव्य व्याकरण, भाषा और टीली का विशेष रूप से वर्गीकरण और विवेचन किया।

इस घताब्दी के अन्य लेखकों पर भी सोमोनोसोव का पर्याप्त प्रभाव पड़ा, निकोले मिखायलोविच काराम्बिन और वासिली आन्तरेयेविच उकीवस्की आदि के नाम क्रियात्मक साहित्य और समीक्षात्मक आलोचनों का संचालन करने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह लोग इस बात के प्रयत्नशील थे कि महाद्वीपीय विचारधारा को समझते हुए यथार्थतः कोई भीतिक देन दे सकें। इसी लिए इस घताब्दी में जो कुछ भी कार्य हुआ उसे हम अभी समीक्षा की आधारभूमि के रूप में मान्य कर सकते हैं।

उन्नीसवीं घताब्दी में अनेक यूरोपीय आलोचनों का प्रभाव आ चुका था। इस घताब्दी में अनेक महान् लेखक और विचारक हुए जिनमें से उकोवस्की एलेक्सान्दर सरमेयेविच पुकिन और वारोन आन्तोनीविच देबविच विमानियन प्रिगोर्मेविच बेलिन्स्की निकोले माविकोविच चर्नोबिस्की अलेक्साइन्ड्रोविच बीबोत्स्युदोव हिमिटी आइवानोविच गिगारेव मिखाइल फोन्तान्तिनोविच मिखायलोपस्की पावेल वासिल्येविच आलेक्सेइ अपोलन अलेक्साइन्ड्रोविच प्रिगोर्मे आवादीमीर सर्वेविच सोमोनोव काउन्ट मिखो निकोलायेविच टीलस्टोय धूसी ऐबेन्वाल्ड और कोर्नी आइवानोविच चुकोवस्की आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उपपुस्तक विचारकों में सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम बेलिन्स्की का है। यह हीयन से विशेष प्रभावित था। उसका दृष्टिकोण मुक्तवादी था। उसका विचार था कि समाजवादी कभी जीवन का रङ्गन करने के लिए उपन्यास से धन्य माध्यम और कोई नहीं हो सकता है। चर्नोबिस्की और बीबोत्स्युदोव तथा गिगारेव आदि न प्रायः इस तथ्य की ओर संकेत किया कि समाजवादी साहित्य में कलात्मक कालों का हाथ होता या रहा है। वे चाहते थे कि क्रियात्मक साहित्य में गुण जीवन की उल्लास न भी जाए। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था और वे पुष्पजनपंथी दृष्टिकोण के बड़े विरोधी थे।

मानेन्ड्रोप प्रिगेर्येव और सोसोव्नेव आदि ने अपेक्षाकृत नग्न और दृष्टिकोण से साहित्य के सिद्धान्त पर विचार किया और अपने निष्कर्षों के आधार पर क्रियात्मक सोवियत साहित्य का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार से इस शताब्दी में सोवियत समीक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रवृत्तियाँ और विचारधाराओं का प्रचार रहा।

बैलिन्स्की ने उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के रूसी साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। उसने पारंगती और समकालीन यूरोपीय वैचारिक परम्पराओं का गहन अध्ययन किया था। वैसे कि हमें उम्मीद कर चुके हैं उसने आधुनिक रूसी समीक्षा का महीन रूप में प्रवर्तन किया। उसने कला को एक ऐसे महान् भाव की अभिव्यक्ति कहा जो इस संसार में अपनी समीक्षा के साथ व्याप्त है। यथार्थवाद के विषय में बैलिन्स्की ने जो विचार प्रकट किये हैं, उन पर कहीं कहीं हीगल आदि विचारकों का भारी प्रभाव दिखाई पड़ता है। यद्यपि उनमें उसकी मान्यताओं का विरोध और खंडन भी अनेक स्तरों पर किया गया है।

बैलिन्स्की का विचार है कि वर्गों और काल्य परस्पर विरोधी रहे हैं। उसका विचार था कि "जब केवल स्वप्नों के ही संसार में अधिक नहीं रहे, तब हमका हीन अस्तित्व के साम्राज्य में एक सामाजिक प्राणी भी है। हमारा उसे केवल लोकतंत्र के रूप में देखना नहीं चाहता बल्कि उसे आध्यात्मिक आदर्श जीवन के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में देखना चाहता है। एक ऐसे वेबता के रूप में जो बटिस से बटिस अमस्मानों (प्रशनों) का उत्तर दे सके --- "एक ऐसे महीन के रूप में जो सर्वसाधारण के दुःख एवं पीड़ा का भाव उनमें करने से पूर्व अपने में कर सके और उनको कविता की कपरेखा प्रदान करके उसका निवारण कर सके।"

बीसवीं शताब्दी में रूसी समीक्षा के क्षेत्र में मिखायलोवस्की आदि ने प्रवृत्ति की वैज्ञानिक व्याख्या की। उसने उन प्रवृत्तियों का विरोध किया जो बुन के स्वर से स्वर नहीं मिला पाती। टास्स्टाय वैसे महान् साहित्यकार इस युग में हुआ जिसने अन्तर्राष्ट्रीय रूपान्ति की औपन्यासिक और वैचारिक परम्पराओं को प्रभावित करनेवाली रचनाएँ प्रस्तुत कीं। टास्स्टाय ने काल्य और नीतिकता के अन्तर्द्वन्द्व

का विस्तरेय्य करते हुए उसकी महत्ता प्रतिपादित की है कि उसके कला सम्बन्धी विचार बर्मे प्रेरणा से अनुप्राणित हैं ।

टास्टराय का विचार है कि यथार्थ का रूप बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता । उसके विचार से कला मानवता के लिए अत्यन्त उपयोगी है । परन्तु उसकी महत्ता उपयोगिता उसकी मनीषता से ही सिद्ध होगी । इसलिए उसका उद्घाटन करने की क्षमता उसके लिए आवश्यक है ।^१ कलाकार का नैतिक रूप में उत्कृष्ट होना चाहिए । कला मानवीय इतिहास के विविध युगों को अन्तर्दृष्ट कर लेना ही एक कड़ी है । इसलिए वह उसकी उपयोगिता के विषय में कुछ विचार का स्थापन करता है । इस प्रकार से टास्टराय के कला सम्बन्धी विचार नेरनिगेवस्की बोबोस्कुबाव माइनेनोवेस्की तथा सोरेव आदि के पूरक समझे जा सकते हैं ।^२

टास्टराय के परवर्ती विचारकों में युनी ऐडेम्बाल और कोर्नी आइवानोविच आदि ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कवी साहित्य का पर्यवेक्षण किया और उसका इतिहास प्रस्तुत किया । इस घटामयी में १९१७ की प्रसिद्ध क्रान्ति हुई । क्रान्ति से पहले रूस में स्पर्शाव का व्यापकता से प्रचार हुआ जिसके विषय में अग्यब विज्ञा जायाया ।

आधुनिक युगीन अमेरिकी समीक्षा

अमेरिकी समीक्षा के इतिहास की देखने से यह मान्य पड़ता है कि वहाँ पर अठारहवीं शताब्दी में समीक्षा के क्षेत्र में स्पष्टता आमाहित होती है । अमेरिकी साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव अंग्रेजी साहित्य का पड़ा । इसलिए वहाँ की विचारधारा पर यह प्रभाव कुछ इस तरह से पड़ा कि आरम्भ में वहाँ पर अधिक मौलिकता नहीं रही । नवसात्प्रवाद का इन शताब्दी में अमेरिका में प्रचार होने के साथ ही साथ साहित्यिक क्षेत्र

1 "Vision & Design" Roger Frie p. 194

2. In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to what whole society and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by art. (—"What is Art ?" Tolstoy)

१ "भातोचना" २६ पृ० ९९ ।

में गतिशीलता बढ़ी। टियागी इवाइट जीन बिबरस्पून तथा जीन किन्सी एडम्सकी सी० बी० हाउन जोसेफ हेनी आदि के नाम इस प्रकार के साहित्यिक आन्दोलनों के समर्थकों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नवसाधनवाद का प्रचार अमेरिका में मारम्भ में बहुत व्यापक रूप से फैला रहा परन्तु धीरे-धीरे इसका विरोध होने लगा और उन्हें अकेली नवसाधनवादियों की गलत करने वाला बताया गया। नवसाधनवाद के विरोधियों में सबसे प्रमुख नाम डब्लू० सी० डायट का है। इस प्रकार *द अटलन्टीक* सप्ताह में साहित्यिक क्षेत्रों में जो गतिशीलता थी, वह प्रायः इसी आन्दोलन के समर्थन और विरोध से सम्बन्ध रखती थी।

बीसवीं सताब्दी में अमेरिका में एक और विचारवाय का प्रचलन था जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों की अधिकता थी। नीवापोर्टर और इमरसन आदि ने इसका विशेष रूप से समर्थन किया था। इस विचारवाय में दार्शनिकता के तत्व भी बहुतता से समाविष्ट होते हैं। कार्टीनिय भी इसी विचारवाय को मानता था। यह लोग समीक्षा दृष्टि यह तत्व माना चाहते थे। जो उत्कृष्टतर भूमि पर साहित्य परीक्षा कर सकें। इसलिए वे मानते थे कि कविता में आध्यात्मिकता के तत्त्वों का समावेश होना चाहिए क्योंकि यदि उसमें इस प्रकार के तत्व नहीं होंगे तो वह हमारे अन्तर पर प्रभाव नहीं डाल सकेगी। इसलिए इस समीक्षा पद्धति में दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता हो गई।

इससे यह स्पष्ट है कि विचारक साहित्य के माध्यम से और कला तत्व की अपेक्षा उसमें निहित गुण खोज या उसके भाव पर अधिक ध्यान देते थे। वे लोग किसी साहित्यकार या साहित्य कृति का मूल्यांकन करते समय भी उसकी भावनात्मकता पर ही विशेष रूप से दृष्टि रखते थे। इनका विचार था कि कलात्मकता की अपेक्षा भावनात्मकता से पाठक अधिक प्रभावित होता है। इस समीक्षा पद्धति की विशेषता यह भी थी कि इसमें उदारता और किसी चीज तक दायिमकता अधिक है। इमरसन आदि साहित्यकारों ने इनही दृष्टियों से साहित्य परीक्षा करने का समर्थन किया। यह यह मानता है कि एक समीक्षक का कार्य सामान्य पाठक को उपदेश देना सिखा देना पथ प्रदर्शन करना और उसमें विवेक कायम करना होना चाहिए। संक्षेप में आध्यात्मवादियों का यह विचार है कि वस्तुतः आध्यात्मिक शक्ति ही संसार में मुख्य माननीय गुण है और इसलिए साहित्य में उसी का समावेश और समीक्षा में इसी दृष्टि कोष की प्रधानता होना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी में अमेरिका में जो समीक्षा सिद्धी गई, उसका आरम्भिक रूप नवशास्त्रवाद का विरोधी है। इसके विपरीत उसमें समाजशास्त्र का स्वीकरण दिखाई देता है। इसलिये उसमें समाज शास्त्रीयता की प्रवृत्ति की ओर भी झुकाव है। आगे चल कर इसी संमिलती जुसली जो समीक्षाभारा विकसित हुई वह यथार्थवादी समीक्षा की प्रवृत्ति थी। हास्ट आइस्टमैन इस समीक्षाभारा का सबसे बड़ा समर्थक था। बिलियम डीन हायेस्स हैनरी जेम्स, हेमलिन यार्नेड एच० एच० बोयसन और एच० डम्बू० मैबी आदि के नाम इस प्रवृत्ति के मुख्य विचारकों में उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने यथार्थवाद के विषय में उसकी परिभाषा, स्वरूप और मर्यादा का गहन विवेचन किया तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रश्नों पर गम्भीर मन्त्रियों का निवर्तन किया। इस समीक्षा भारा के अनुसार यह निर्धारित किया गया कि एक लेखक की यथार्थता का र्याय नहीं करना चाहिए। साहित्य में सबसे जनता के जीवन को ही प्रतिबिम्बित होना चाहिए और उसका स्वर लोकतन्त्रीय होना चाहिए। यहाँ इस प्रकार के साहित्य की कसारमक महत्ता का सम्बन्ध है उसमें साधारणीकृत अभिव्यजना से ही कसारमकता का सूचन होता है। इस प्रवृत्ति के कुछ विचारकों ने नीति के सम्बन्ध में भी साहित्य और समीक्षा के प्रश्नों पर विचार किया। हायेस्स आदि के नाम इस सम्बन्ध में मुख्य विचारकों में लिया जा सकता है।

हैनरी जेम्स

आधुनिक विरम साहित्य में हैनरी जेम्स का स्थान विशिष्ट है। हैनरी जेम्स ने रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में तो अपनी प्रतिभा की मौलिकता का परिपक्व दिया ही है साहित्य के सैद्धांतिक पक्ष पर भी अपने विचारों पर प्रकट किये हैं परन्तु यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि हैनरी जेम्स, क ये सैद्धांतिक विचार विरोध रूप से कहा साहित्य के विभिन्न पक्षों से ही सम्बन्ध रखते हैं।

हैनरी जेम्स ने उपन्यास बना पर अपने विचार प्रकट करते हुए बताया है कि एक उपन्यास एक उपन्यास है उसी प्रकार जिस प्रकार एक जीवन एक जीवन है और हमारा उसके प्रति अधिक से अधिक कर्तव्य उसे निगलना है। कला के विषय में हैनरी जेम्स की यह धारणा है कि कला तर्क प्रयोग प्रयोगों की निश्चिन्ता विचारों के आदान प्रदान तथा आदर्श जपवा विज्ञानों की दुनिया पर निर्भर है। और यह एक कल्पना है कि ऐसे

समय जब किसी व्यक्ति को कला के सम्बन्ध में कोई विशेष बात न कहनी हो और किसी व्यक्ति के पास उनके प्रयोग का कोई कारण न हो यद्यपि ऐसे समय सम्मान के हो सकते हैं, विकास के नहीं होते। यदि होते हैं तो सम्भवतः कुछ शुष्कता छोड़कर। किसी कला का सफल प्रयोग एक अच्छा कौशिक है किन्तु सिद्धांत भी उभिकर होते हैं। बाव बिबाद सुझाव, सूत्रीकरण ये सब उपज के कारण हैं, यदि वे सत्य और स्पष्ट हों।^१

हैनरी जेम्स के अनुसार उपन्यास के अस्तित्व का एक मात्र कारण यही है कि यह जीवन का प्रतिनिधित्व करने का प्रयत्न करता है। जब वह इस प्रयत्न को त्याग देता है, उसी प्रयत्न को जिसे हम चित्रकार के टाट (पट्टे का बना हुआ एक मोटा कपड़ा) पर देखते हैं तब वह एक क्लिष्ट स्थिति पर आ जाता है। (चित्रकार के) चित्र से यह भाषा नहीं की जाती कि वह स्वयं को इतना सामान्य कर देना कि बना दिया जाये। और चित्रकार की कला तथा उपन्यासकार की कला में वहाँ तक में समझता है, पूर्ण समानता है। उन (शोनों) की प्रेरणा समान है, उनकी प्रणाली (विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग करने की) समान है एवं उनकी सफलता भी समान है। वे एक दूसरे से सीख सकते हैं तथा एक दूसरे की व्याख्या एवं रक्षा कर सकते हैं। उनके कारण समान हैं तथा एक का सम्मान दूसरे का सम्मान है।^२

हैनरी जेम्स के विचार से उपन्यास एक प्रकार का इतिहास है। यह केवल एक सामान्य विवरण है, जो इसके साथ व्यापक करता है और जो हम उपन्यास के सम्बन्ध में दे सकते हैं। किन्तु इतिहास भी जीवन का प्रतिनिधित्व कर सकता है, करने की स्वतंत्र है। उपन्यासकार का काम व्यापक कठिन इसलिए है कि उसे जीवन में से घटनाओं का चयन करना पड़ता है। उसका कार्य इसलिए अधिक महत्वपूर्ण भी है। कुछ लोग समझते हैं कि उपन्यास की विषय वस्तु कल्पित होती है, यह गलत है। उपन्यासकार भी सत्य की खोज करता है और सत्य को प्रकट करता है। कुछ लोग समझते हैं कि कला नैतिकता की विरोधिनी है और मात्र अल्पविश्वास के लिए है। यह भी अल्पविश्वास है। कुछ का विचार है कि उपन्यास में केवल अच्छे पात्रों की सृष्टि होनी चाहिए। कुछ कहते हैं कि अन्त सुखद रहना चाहिए, जैसे जीवन के अन्त में भीठी जीवन। मुख्य वस्तु

यह है कि उपन्यास कलात्मक हो। .. उपन्यासकार से हम एक मात्र माँग यह कर सकते हैं कि उसकी कृति रोचक हो।^१

उपन्यास की परिभाषा करते हुए हैनरी जेम्स ने बताया है कि उपन्यास अपनी व्यापक परिभाषा के अनुसार एक व्यक्तिगत तथा प्रत्यक्ष जीवन की छाप है, जो उनके मूल्य का निर्माण तथा महत्व का निर्धारण करती है। यह महत्व कम या ज्यादा होगा उस छाप की मात्रा और गुण के अनुसार। विन्तु जब तक उपन्यासकार को अनुभव करने और कहने की स्वतन्त्रता न होगी तब तक वह ऐसी छाप या प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा। एक उपन्यासकार अपना कार्य धीरे धीरे बाने बढ़ाता है अपने हाथवाले धाँई (चित्रकार) की तरह, जिसके सम्मुख में हम हमेशा कहते हैं कि उसने अपना चित्र ऐसे ढंग से रखा है जिसे केवल वह स्वयं ही अपनी तरह समझ सकता है। उसका ढंग ही उसका रहस्य है। यह हम आवश्यक रूप में गुप्त रहस्य नहीं। ऐसा मैं उपन्यासकार तथा चित्रकार के पौनोक्त्य साम्य का अनुभव करने पर ही कह रहा हूँ। चित्रकार इस योग्य है कि वह अपने सम्पास के मूल सत्य निभा सके। अपनी कृतियों का अध्ययन किसी चीज तक यह सिखाता है कि किस प्रकार एक चित्र बनाया जाय और किस प्रकार लिखा जाय।

हैनरी जेम्स ने उपन्यास में यथार्थता पर बहुत गौरव दिया है उसने अनिवार्यता यह स्वीकार किया है कि सत्यता के विरुद्ध के अभाव में किसी घेष्ठ उपन्यास की रचना असम्भव है। परन्तु इसके साथ ही अपने यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि इस सत्य को अपने जीवन में पाने की कोई निश्चित विधि बता सकना कठिन है। मानवता विद्या है और सत्य के असंख्य रूप हैं। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि किसी उपन्यास में यथार्थ की पम्ब होती है, किसी में नहीं।^२

हैनरी जेम्स ने बताया है कि साहित्यकार का लेखन कार्य करने के लिए पर्याप्त अनुभव होने की आवश्यकता है और अनुभव से ही सीखना भी चाहिए। परन्तु यह उसने एक अपर्याप्त संकेत माना है, क्योंकि अनुभव अनेक प्रकार के होते हैं। साथ ही अनुभव चारों ओर है और वस्तुनापीछ नसिच्छ छोटे से छोटे संज्ञित को जीवन रहस्य का बाह्य बना देता है। इसका विश्लेषण करते हुए उसने बताया है कि किसी देसी हुई वस्तु से

१. दे० "प्राबुलिक साहित्य", प्रकाशनासमय ई०पू०, पृ० ३५।

२. वही, पृ० ३६।

बिना देखी हुई वस्तु की कल्पना करना या किसी वस्तु की परीक्षा उसकी विभाजनित से करना या जीवन का ऐसा सामान्य अनुभव करना कि वेकते हों विशेष पकड़ में आ जाय यही अनुभव है। और यदि अनुभव प्रेक्षण से निर्मित होते हैं, तो यह कहा जा सकता है कि प्रेक्षण ही अनुभव है। किन्तु वह तो वह काम है जिसमें हम स्वाद लेते हैं। अतः किसी नये लेखक को मान इतनी सलाह देना कि 'अनुभव से भिन्नो' पर्याप्त नहीं है। उसके साथ ही उसे यह भी सलाह देनी चाहिए कि एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करो जो अनुभव का उचित उपयोग कर सके।^१

ऊपर के विवरण से यह भ्रम हो सकता है कि ईनरी जेम्स ने अनुभव को ही मूल माना है। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि उसने सुष्ठु सत्यता और विवरणरूपता पर भी बल दिया है। उसने यहाँ तक कहा है कि यथार्थ वातावरण की सृष्टि एक उपन्यास का मूल और सबसे बड़ा गुण है। इसी पर उसके अन्य सभी गुण निर्भर करते हैं। इस गुण के अभाव में सभी गुणों का होना निरर्थक है। यदि वह है तो वह उन प्रभावों का जटनी है, जिसके द्वारा लेखक ने जीवन के भ्रम को लड़ा किया। इस सफलता को पाने की प्रणाली उपन्यासकार की कला का प्रारम्भ और अन्त है।

ईनरी जेम्स ने उपन्यास को एक बहुत सघट्ट साहित्य माध्यम माना है। उसने बताया है कि उपन्यास एक लचील वस्तु है। वह किसी भी अन्य संवदन की भाँति एकठा पूर्ण, सतिमय तथा आनुपातिक होता है, क्योंकि प्राणवान् वस्तु में पामा जाता है। उपन्यास का सत्य जीवन से होड़ सेठा है, भिन्न से होड़ सेठा है।

उपन्यास के अन्य उपकरणों पर संक्षिप्त रूप में विचार करते हुए ईनरी जेम्स ने कहा है कि सारा जीवन उपन्यासकार का आह्वान करता है। जीवन के सुरुतम अंश का चित्रण भी एक बटिल व्यापार है। इस चित्रण के नियम कोई नहीं बता सकता। बहुत से तथ्य लेकर उपन्यासकार उनमें से कुछ को चुनता है। वही तक पात्रों का प्रस्तुत है, उसके विचार से उनका प्रचयन स्पष्ट रूप रेखा के अनुसार होना चाहिए। वर्णनात्मकता के तत्व के नियम में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उपन्यास में अधिक सम्ये वर्णन अपेक्षित नहीं। उसकी अपेक्षा कथोपकथन सेष्ठ तत्व ॥। वर्णनात्मकता के तत्व का उद्देश्य उपन्यास की कथा का प्रसार होना चाहिए।

उपन्यासों का वर्गीकरण हेनरी जेम्स ने बहुत रोचक ढंग से किया है। चरित्र प्रधान और कटना प्रधान उपन्यासों के जो वेद किये जाते हैं उन्हें उसने पुराना और निरर्थक माना है। उसके विचार से उपन्यास केवल दो प्रकार के होते हैं, बन्धे उपन्यास और बुरे उपन्यास। दूसरे शब्दों में सजीव उपन्यास और निर्जीव उपन्यास।

हेनरी जेम्स ने उपन्यास में कथानक उत्पत्ति को विशेष स्थान दिया है। उसके विचार से बिना कहानी का उपन्यास वैज्ञानिक है जैसे बिना नुई का कला। उसने उपन्यास की कला का एक बहुत उत्कृष्ट रूप माना है।

ज्ञान में निष्कर्ष रूप में हेनरी जेम्स ने बताया है कि कला के प्रश्नों का नैतिकता के प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं है। व इन दोनों में किसी प्रकार की समानता है और न इनमें समरता से मिश्रण का संकल्प है। उसने बताया है कि एक हिन्दू है, जहाँ किसी कृति की कथानक एवं नैतिक विवेचनाओं का मिलन होता है। वह हिन्दू है जप्य की अनुकूलि और उसकी कृति का मार्गदर्शक। वास्तव यह है कि जेम्स कृतित्व पूरी ईमानदारी बख्शा है। आसक्त कृति में जप्य का यथोक्त प्रतिबिम्ब होता है। साधारण यथोक्त से कभी असाधारण कृति नहीं निकल सकती। उपन्यासकार को चाहिए कि वह अपनी कृति में सभी प्रयोगों को प्रतिबिम्बित करने का प्रयास करे बिना वह अपने किन्तु एवं आपातिमन्त्र कृति द्वारा पूर्णतः आत्मसात् कर चुका हो। उपन्यासकार के लिए वह केवल एक सार रखता है। उसे पूर्वस्नेह ईश्वरदार होना चाहिए। यदि उपन्यास से निष्कर्ष निरासता वास्तविक ही हो, तो इसका म्याल उभा जाय कि उपन्यासकार का ज्ञान बहुत विलुप्त हो। उपन्यासकार का गृह्य कर्तव्य है कृति को पूर्ण बनाना उसे कलात्मक पूर्णता प्रदान करना, निष्कर्ष नीव बस्तु है।^१

समीक्षी समीक्षा में अनपेक्षित में निर्णायक समीक्षा पद्धति का भी प्रचलन का परम्परा स्वीकृत्य आदि के प्रश्नों का इस बुद्धिकोष से परीक्षण करने पर यह प्रतीत होता है कि निर्णायक समीक्षा में एक प्रकार के जीवितवाद के संकेत मिलते हैं।^२ उसका यह विचार था कि किसी कथ्य का जीवित निर्माण इस समीक्षा का लक्ष्य है। उसका यह मत था कि साहित्य समीक्षा के जो सिद्धान्त परम्परा से प्रचलित होते थे

१. ई० "साहित्यिक साहित्य", डॉ० प्रतापनारायण ईश्वर, पृ० १७१

२. "Nature and Elements of Poetry" E. C. Steadman, 1892.

रहे हैं उनकी उपेक्षा या विरोध उचित नहीं है, क्योंकि यह सिद्धांत हमारे लिए एक सीमा तक परिचित हो गए हैं और यह व्यक्ति सरसता से समझे भी जा सकते हैं। अपने पूर्ववर्ती और समकालीन विचारकों द्वारा निर्देशित विभिन्न दृष्टिकोणों की उसे अवगति थी परन्तु उसका चिन्तन किसी भी दृष्टिकोण से उनकी उपेक्षा कम मौलिक नहीं था। इसलिए यद्यपि वह उनके विचारों से पूर्ण सहमति नहीं रखता था परन्तु जहाँ कहीं भी वह उनसे सहमत था वह स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेता था। उसके कुछ मूल्य बहुत महत्व के हैं। उदाहरण के लिए वह काव्य की उत्पत्ति नाटकता की अपेक्षा सुन्दरता से मानना ठीक समझता था। इसके लिए तर्क यह देता था कि बीम और नीति परस्पर विरोधी तरह हैं। इसी प्रकार से समीक्षा के विषय में उसने कुछ बहुत महत्वपूर्ण बातें कही हैं। उदाहरण के लिए उसका विचार यह था कि "साहित्यिक विकास का रचनात्मक साधन समीक्षा ही हो सकती है।

इस सताब्दी की एक और प्रवृत्ति मानवतावाद के विचारों से जागृहीत थी। इसके अनुयायी प्रायः वे वे जो काव्य के सौन्दर्य तत्त्वों के समावेश को विशेष महत्व देते थे। इस सताब्दी में एडमर एलेन पो तथा सावेन आदि इनमें मुख्य थे। इनमें से पो कहता था कि समीक्षक में निर्णय की इनकी समता होनी चाहिए कि वह किसी साहित्यकार के कियारमक कौशल की अभिव्यक्ति की परीक्षा कर सके क्योंकि उसका काम केवल बसा की व्याख्या करना है उसका विचार है कि एक समीक्षक ऐसा सब तक नहीं कर सकता जब तक कि उसे निम्नी दृष्टिकोण से समीक्षा करने की स्वतन्त्रता न हो। वह यह कहता था कि प्रत्येक साहित्यकार की प्रतिभा में परिवेष्ट विन्न विन्न होते हैं। इसलिए उन सबके परीक्षण की कोई एक कसौटी नहीं बनाई जा सकती। अतः उसने यह मूल्य स्थापित किया कि जिस प्रकार से प्रत्येक किम्यात्मक साहित्यकार की प्रेरणा और कला का स्वस्व मिल जाता है, उसी प्रकार से प्रत्येक समीक्षक को भी प्रत्येक छति की समीक्षा करते समय स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखना चाहिए। इसी प्रकार से इस मत के दूसरे समर्थक सावेन ने भी अपने विचारों का स्थापन किया। वह यद्यपि किसी विशेष विचारमार्ग के प्रति आशीर्षन जागृहीत नहीं रहा परन्तु वह एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण से साहित्य का मूल्यांकन करने का समर्थक था। उसका विचार यह था कि साहित्य का परीक्षण करते समय समालोचक को साहित्य के विभिन्न तत्वों का वैज्ञानिक ज्ञान होना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक उसके लिए यह है कि वह नैतिक सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्पराओं की अवगति भी रखता हो।

कुल मिलाकर माक्स एक जगह कोटि का विचारक था और अमरीका के समीक्षारतन क्षेत्रों में उसका स्थान सीर्यस्थ है।

बीसवीं शताब्दी में अमरीका में समीक्षा के क्षेत्र में जो विकास हुआ, उसका आधार स्पिनमार्न ओएल इलियास आदि विचारकों के मत रहे। स्पिनमार्न सीम्ब्येबाही था इसलिए वह सीम्ब्ये को साहित्य और समीक्षा की परख की प्रधान कसौटी मानता था। स्पिनमार्न ने मूलतः सीम्ब्येबाही दृष्टिकोण से ही साहित्य विषयक समस्याओं पर विचार किया है। उसने काव्य और नीति तत्त्व पर विचार करते हुए उसकी निरपेक्षता बतायी है।^१ उसने काव्य के मूल तत्त्वों की कुकुहुता अन्य विज्ञानों और शास्त्रों की तुलना में भी संकेतित की है।^२ इसके अतिरिक्त अमरीका में क्रियात्मक साहित्य के क्षेत्र में एक प्रकार की पतितोष जैसी स्थिति का अनुभव करने के कारण क्रियात्मक समीक्षारतन चिन्तन की आवश्यकता का विचारकों ने अनुभव किया। पूर्वोक्त और मार्क्सवाद की होड़ पञ्चनैतिक सीमाओं का अतिक्रमण कर साहित्य के क्षेत्र में भी व्याप्त होने लगी और मौलिक चिन्तन के विकास में इस विचार ने पर्याप्त योग दिया। परन्तु कुछ अनिवार्य परिस्थितियों के कारण बड़ी मार्क्सवाद अधिक समय तक नहीं रह सका।

बीसवीं शताब्दी में अमरीका में साहित्य और कला के सम्बन्ध में सीम्ब्येवाद पर भी विस्तार से विचार किया गया। हैनरी थार० मार्शल (एस्थेटिक प्रिंसिपल्स) थानदयाना (सेन्स आफ क्रूटी) सी०सी० ऐबरेट (पोएट्री क्रमेड्डी एंड क्रूटी) देसेल

1. To say that poetry as poetry is moral or immoral is as meaningless as to say that an equilateral triangle is moral and isosceles triangle immoral or to speak of the immorality of a musical chord or Gothic arch ("American Critical Essays" XIX CN. Centuries, p 445)
2. Etymology Verification, Syntax are respectable sciences and have their proper place in the wide field of human knowledge. They are the anatomy and physiology of poetry But they do not help us to understand the secrets of poetic power for the simple reason that poetic power is independent of accidental and external resemblances." (Spingern—"Creative Criticism" p 11)

मकर (स्टडी इन सियेट्री आर साइकोलोजी आफ ब्यूटी) डेविड पारकर (दि प्रिंसिपल्स आफ एस्थेटिक) हरबर्ट मागफोल्ड (दि एस्थेटिक एपीट्यूड) एम० डब्ल्यू० पाम (दि एस्थेटिक जर्नमेंट) और (एस्थेटिक एनालिसिस) राबर्ट बीनडन (दि साइकोलोजी आफ आर्ट) तथा एम० सैंड डीसन (दि एस्थेटिक सेन्टीमेंट) और जॉन ह्यूबो (आर्ट एज एक्सपीरिमेंस) आदि विचारकों ने अपने अपने पृष्ठिकोम से इस विषय पर विचार किया। संक्षेप में इन विचारकों ने जोड़े से मिलते जुलते सिद्धान्त ही निर्धारित किए परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि इनमें मौलिक चिन्तन का अभाव था। वास्तव में इनके ग्रन्थों में सौन्दर्य धारण का जो विस्लेषण और इतिहास प्रस्तुत किया गया वह विशिष्ट उपलब्धि के रूप में मान्य होना चाहिए।

आधुनिक युगीन अंग्रेजी समीक्षा

आधुनिक युगीन अंग्रेजी समीक्षा के विकास के सन्दर्भ में सर्वप्रथम सर टॉमस ग्रे का नाम उल्लेखनीय है। सर टॉमस ग्रे ने ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि में साहित्य के मूल्यांकन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया। यद्यपि उसके साहित्यिक व्यक्तित्व का अधिक महत्वपूर्ण अंग उसके समीक्षायत्न रूप की अपेक्षा उसका कवि रूप ही था और उसकी व्याख्यात्मक उपलब्धियाँ ही अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण हैं, परन्तु उसमें समीक्षा विवेक का अभाव न था। अपनी "हिस्ट्री आफ इंग्लिश पोयट्री" वह कभी पूर्ण न कर सका। उसको अन्य साहित्यकारों के विषय में पर्याप्त ज्ञान था। उसने यह भी माना कि प्राचीन सिद्धान्तों का पूर्ण नाहिष्कार अनुचित है, क्योंकि साहित्य नास्नीय मनीन सिद्धान्तों में पूर्णता और पर्याप्तता नहीं है। उसने यह भी प्रतिपादित किया कि साहित्य की सर्वयुगीन कमीटियों से परख करना अनिहित्यपूर्ण नहीं है क्योंकि वह एक विशिष्ट युग जीवन में रची जाती है। अपनी "अपासोबी प्यर मिडगेट" में उसने इसी प्रकार से युगीन तत्त्वों को मर्यादित घोषित किया है। अपनी "लिटिक्ल आम्बरवेयर्स" नामक कृति में उसने विविध यहूती प्रतिमाओं पर अपने तुलनात्मक विचार प्रकट किये हैं।

ग्रे के परवर्ती समीक्षकों में "एसेज ऑन पोप" के रचयिता जॉर्जेफ बार्टन "आम्बरवेयर्स" तथा "हिस्ट्री आफ इंग्लिश पोयट्री" के रचयिता टॉमस बार्टन तथा "बर्नस" और "डिग्रेटेसन" के रचयिता डियर हर्ड के नाम उल्लेखनीय हैं।

इनके साथ ही "वि पावर आफ मन्वर्त्स एण्ड डि प्रिंसिपल्स आफ हारमोनी इन पोटेटिक कम्पोजीशन" तथा "वि पावर एण्ड हारमोनी आफ प्रोवाइड मन्वर्त्स" के लेखक जम्स मैसन, "इन्व्हायरी इंटू डि प्रिंसिपल्स आफ हारमोनी इन सीम्बल" के लेखक मिटफोर्ड "ट्रिस्टर्न पीसी" के लेखक जारेथ स्टर्न, "एसेज ऑन मेन एण्ड मेनर्स" तथा "वि स्कूल मिस्ट्रेस" के लेखक चरली माकि के नाम भी लिखे जा सकते हैं। सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि कोल को बचाना देने वाले यूरोपीय समीक्षकों में जार्ज यार्डन, गुस्टर, डेकार्ड बीको जाल्मे, लाफ, बर्क, एडम स्मिथ, एलिशन तथा एडवर्ड गिबन के नाम उल्लेखनीय हैं। ह्यूम की "सिम्प्लीसिटी एण्ड रिफाइनमेंट" में समीक्षा के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रथमता है। केटी सिमिथ "एसे ऑन टेस्ट" में अठारहवीं सताब्दी की अनेक साहित्यिक धाराधाराओं का आत्मक प्रस्तुतीकरण है।

यहाँ पर सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के समीक्षा में समावेश के विषय में कुछ कहना आवश्यक है। समीक्षा के क्षेत्र में इस नवीन विचारधारा के समावेश का यह परिणाम हुआ कि समीक्षा सिद्धान्तों का पुनर्निर्धारण आरम्भ हो गया। इस कार्य में सौन्दर्य कला और उच्चतम कला के विषय में नये सिद्धान्तों की रचना हुई जिसके फलस्वरूप अनेक परम्परावादी विचारों का विरोध होने लगा। अब इन्हीं नवीन सिद्धान्तों के अनुसार प्राचीन साहित्यकारों का मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति का भी प्रचार हुआ। अब साहित्य में वैयक्तिकता का महत्त्व बढ़ रहा था। इस क्षेत्र में लेखन तथा विद्वान के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विनियम बहसचर्चा तथा कोलरिज ने काव्य के क्षेत्र में अन्धकार उन्मूलन के साथ ही साथ काव्य सिद्धान्तों पर भी अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये। चार्ल्स लैंग ने अपनी "स्पेसीमैस आफ ड्रामेटिक पोयट्स" "रेस्पेक्टर" तथा "एनेज ऑन ईमिया" आदि कृतियों में अपने समीक्षात्मक विचारों की प्रस्तुत किया है। विनियम ईचमिड की "सेक्थर्स ऑन ईमिड पोयट्स" उसका अंग्रेजी काव्य विपदक जगाय ज्ञान की परिचायक है। "दि ब्लेज स्टीकर" "दि क्रायिक राइटर्स", "डेबिल टाक", "दि राउंड टेबिल" "दि रिपट आफ दि एज" तथा "स्केच एंड एसेज" उसकी अन्य कृतियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त "विबिसमापेरेकेडा क्रिटिका", "दि बार्न्स सेन्स" का लेखक एडवर्ड सरे "इमेजियन पोयट्स", "इमजिनेशन एंड फीसी", "विड एंड ह्यूमर" आदि का लेखक से हंट, "दि मेरिज आफ हेन एंड हेम" का लेखक विनियम ओक, "साइन्स आफ स्विनट एंड ड्राइडन" "बयापेरीज" "सिबेनरी रोमान्स एंड ड्रामा" का लेखक सर

वास्टर स्काट "सेन्सुस ऑफ पोयट्री" "स्पेसीमेन्स ऑफ लिटिचर पोयट्स" "डिरोमिडा" आदि का लेखक कैम्पबेल "सेटर्स" तथा "डिफेंस ऑफ पोयट्री" का लेखक परसी बिशी सेसी "दि कनवरसेयंस" का लेखक लेंडर, "साइन्स ऑफ पोप" का लेखक वाउस "सेटर्स" तथा "सेटर्स टू साई परे" का लेखक लार्ड वामरन "सेंसुरा मिटेरेरिया" "जुरिया-सिटीड", "क्रेस्स" "एमिनिटीज" का लेखक आइजक डिग्राइवली "दि लिटिचर बिम्बोग्राफर" "रेस्टेटूसा" तथा "सेंसुरा" का लेखक सर हर्पर्टन ब्राइन्स "मिटरेचर ऑफ यूरोप" "एसेज इन इमिचर सिठरेचर" का लेखक हेनरी हेनम तथा इनके अविरक्त मिडर्ट, वास्काट तथा पपाइस आदि समीक्षक भी इसी युग के उत्पन्न में सम्बन्धीय हैं।

इस युग में यह सामान्य रूप से स्वीकृत कर लिया गया कि साहित्य का सर्वांगीण विकास आवश्यक है। प्रत्येक साहित्यकार या साहित्य समीक्षक को कुछ अपनी विशेषताएँ आवश्यक होती हैं। इस युग में यह भी साम्य हुआ कि साहित्य विषयक कुछ सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण तो किया जा सकता है परन्तु प्रत्येक युग के साहित्य को उस युग की समीक्षा दृष्टि से परखना ही ठीक है। सिद्धान्त रचना में श्रेष्ठतम कोटि के साहित्य-कारों द्वारा प्रस्तुत किये गये उदाहरणों को ही ध्यान में रखना चाहिये। अनावश्यक नियमों की रचना भी निरर्थक होती है। साहित्य में वैविध्य की सम्भावनाओं को सर्वत्र दृष्टिगत रखना चाहिये। साहित्य का उद्देश्य ज्ञानानुभूति है। उसकी आत्मा कल्पना तथा चीसी धरीर है। साहित्य नीति के सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यवहार तथा यथार्थता से निर्देशित होता है। एक समीक्षक का यह अनिवार्य गुण है कि वह किसी कृति की प्रभावशालकता का अनुभव कर सके तथा उससे सम्बद्ध अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने की क्षमता से पूर्ण हो। उसके लिए अधिकतम ज्ञान अनुभूति किंवा यथा और उसे पूर्वाग्रहों से बचक करने की सहाय्य ही यथी। उसे चाहिए कि पहले वह प्रेमपूर्वक किसी कृति का पाठ्यपण करके उसकी विशेषता और कलात्मकता को समझ और प्रभाव पूर्वक रूप से निर्देशित करे।

सेमुअल टैमर कासरिज

प्रमुख विचार:—

सेमुअल टैमर कासरिज का समय सन् १७७२ से लेकर सन् १८३४ तक माना जाता है। वह यूरोप के सापुनिक गुपीन साहित्यकारों में एक कवि, दार्शनिक एवं

आलोचक के रूप में प्रसिद्ध है।^१ कालरिच का विचार है कि व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप निर्धारण एवं विकास रचना सिद्धान्तों के नियमन के रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।^२ वह काव्य के विनय में परम्परागुण प्रकृति की अनुकरण धारणा से दूर नहीं था और इसे बुद्धिमानी नहीं समझता था। उसके विचार से काव्य का प्रमुख गुण उसकी विश्वसनीयता होती है। वह कहता था कि काव्य तथा विज्ञान में इस दृष्टिकोण से मौलिक अन्तर है। काव्य का प्राथमिक उद्देश्य आनन्ददायकता की सृष्टि करना है, विज्ञान की भाँति सत्य का प्रायोगिक निरूपण करना नहीं।

टॉमस कारसाइल

प्रमुख विचार —

टॉमस कारसाइल का समय सन् १७९५ से लेकर सन् १८८१ माना जाता है।^३ उसकी समीक्षात्मक धारणा के विचार से समीक्षा का उद्देश्य प्रशंसा स्थापना करना है। वह कहता है कि इस विषय में बड़ी धारणा व्यापक रूप से वाक्य की जा सकती है। समीक्षा के विषय क्षेत्र के विषय में बहुबहुत उबारविचार रखता था और इसकी विषयता और विस्तार का पतावाही था। साहित्य का क्षेत्र यदि समग्र मानव जीवन है तो समीक्षा की परिधि भी उतनी ही प्रचलित होनी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वह समीक्षा का एक व्यापारिक माध्यम के रूप में भी स्वीकार करता था।^४ क्योंकि वह साहित्यकार और

- 1 "A Short Biographical Dictionary of English Literature" John W. Cousin, p. 89
- 2 The ultimate end of criticism is much more to establish principles of writing than to furnish rules to pass judgement on what has been written by others."
- 3 "A Short Biographical Dictionary of English Literature" John W. Cousin, p. 72.
- 4 "Criticism stands like an Interpreter between the uninspired and the inspired, between the prophet and those who bear the melody of his words and catch some glimpses of the material meaning but understand not their deeper import."

पाठक के बीच में एक प्रकार की सूनात्मकता का नियोजन करती है। उसने प्रभावशालि-
न्यकता की दृष्टि में भी समीक्षा के स्वरूप पर विचार किया है।^१ कारसाइस के विचार
से समीक्षा की सफलता इसी में है कि वह पाठक को साहित्य के यथार्थ महत्व की प्रतीति
कर सके।

मैथ्यू आर्नल्ड

प्रमुख विचार —

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिमी समीक्षकों में मैथ्यू आर्नल्ड का बहुत ऊँचा स्थान
है। उसका समय सन् १८२२ से लेकर सन् १८८८ तक माना जाता है।^२ ईदुसबरी ने
उसे उच्च कोटि की असाधारण प्रतिभा से युक्त समीक्षक माना है।^३ वह काव्य को जीवन
की व्याख्या करने का एक माध्यम मानता था। उसकी व्यावहारिक उपयोगिता और
आवश्यकता भी वह स्वीकार करता था। उसका विचार था कि काव्य में आन्तरिक
पक्षों का महत्व उसके बाह्य तत्वों की अपेक्षा अधिक होता है। परन्तु यह आन्तरिक

- 1 To have sensations in the presence of a work of art and to express them that is the function of criticism for the impressionistic critic." (American Critical Essays, XIX & XX centuries)
- 2 "A Short Biographical Dictionary of English Literature" John W. Cousin, p. 13.
- 3 "A History of English Criticism" George Saintsbury p 469
- 4 "It is important, therefore, to hold fast to this that poetry is at bottom a criticism of life that the greatness of a poet lies in his powerful application of ideas to life" (Mathew Arnold. "Essay in Criticism")
5. "More and more mankind will discover that we have to turn to poetry to interpret life for us, to console us, to sustain us. Without poetry our science will appear incomplete and most of what now passes with us for religion and philosophy will be replaced by poetry" (Mathew Arnold. "Essay in Criticism")

एक पूर्ण रूप से सामयिक चिन्तन और सूक्ष्मता से युक्त होकर विभित होने चाहिए। केवल उसी अवस्था में यह स्थानी महत्व की वस्तु हो सकेगा।^१ काव्य की महत्ता यह इस कारण भी सर्वाधिक मानता था क्योंकि उसके विचार से काव्य के माध्यम से ही मनुष्य बलिक्रम पूर्णता के साधन सत्य को उद्घाटित कर सकता है और इससे वह उसे मनुष्य के जीवन की व्याख्या मानता था।

मैथ्यू आर्नेस्ट के विचार से वास्तविक समीक्षा में विज्ञाता की दृष्टि की निहित और महत्व होता है। इस दृष्टि से समीक्षा की व्याख्यात्मक प्रवृत्ति का वह समर्थक था। वह यह मानता था कि उच्च और महती वैचारिक परम्पराओं की जीवनता का निर्वाह भी समीक्षा का ही कार्य है। यदि कोई समीक्षारमक रूप इतना ही करने में समर्थ है तो उसकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार स आर्नेस्ट ने समीक्षा में वचात्मकता की विशेषता और निष्पक्षता के गुण पर विषय बल दिया है। इनके होने पर ही समीक्षा का वह मन्त्र पूरा हो सकेगा जिसके अनुसार वह विश्व की सर्वोच्च बौद्धिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों की अवधि और प्रचार को ही समीक्षा का कार्य मानता था।^२

आई० ए० रिचर्ड्स

प्रमुख विचार —

बाहुलिक युगीन पारचात्य समीक्षकों में आई० ए० रिचर्ड्स का स्थान बहुत ऊँचा है। उसे बाहुलिक पारचात्य समीक्षा की नवीन चरित्र का प्रतिष्ठापक माना जाता है। रिचर्ड्स का महत्व इस कारण भी है, क्योंकि उसने पूर्ववर्ती तथा समकालीन

1 "Essay in Criticism" Matthew Arnold p. 38.

2 "But criticism, real criticism is essentially the exercise of this very quality (curiosity and disinterested love of a free play of mind) it obeys an instant prompting to try to know the best that is known and thought in the world." Matthew Arnold, "Essay in Criticism", p. 16)

विचार प्रवृत्तियों की अपूर्णता के कारण अस्मत्त्व का अनुभव करके ही नयी वैचारिक प्रणाली का सुपपाठ किया और उसके मंडन का प्रयत्न सांक्रिष्ट धर्म का आधार लेकर किया। अपने समीक्षात्मक दृष्टिकोण की महीनता तथा गुणानुकूलता के कारण उसने अपने समकालीन साहित्य विचारकों को व्यापक रूप से प्रभावित किया।

मुख्य तथा भाव प्रेरण—

रिचर्ड्स ने मुख्य तथा भावों की प्रेक्षणीयता को साहित्य विद्वानों का आधार स्तम्भ माना है। इसीलिए उसकी समीक्षा पद्धति में प्रेक्षणीयता की समस्या बहुत महत्व की है। क्योंकि उसने यह स्वीकार किया है कि प्रेक्षणीयता की बिना समानोचना का एक महत्वपूर्ण आधार है अतः उसने इस समस्या का कई दृष्टियों से विस्तरेषण किया है। उसके विचार से यह एक बहुत बटित समस्या है, जिसका समाधान सपन्न असम्भव है। उसने बताया है कि भाव प्रेरण का माध्यम वस्तुतः भाषा ही है। और भाषा को उसने बहु प्रतीक समूह माना है जो पढ़ने वाले को सिद्ध करने वाले की मानसिक अवस्था से परिचित करके उसमें भी वही भाव उत्पन्न करे। इस प्रकार है यह प्रेरण कार्य लेखक और पाठक के बीच संघातित होता है। परन्तु स्थिति कुछ ऐसी है कि भाव का पाठक बर्ष बसी उतना बेतनसोल नहीं जितना साहित्यकार बर्ष। क्योंकि वहाँ एक ओर पाठक अपनी अपनी पिछले युग को ही एक प्रकार से नहीं पार कर पाये हैं, वहाँ लेखकनय नय युग की बेतना की अवगति की बेवटा करते दिखाई देते हैं।

भाषा और विचार :—

रिचर्ड्स की धारणा है कि भाषा जीवन और साहित्य दोनों में जो कार्य करती है वह है अर्थ बहुत का। अर्थ निर्बंध करते समय उसने अपने भाष्य के अर्थ का विस्तरेषण किया है और फिर उसके भी अर्थ का विस्तरेषणात्मक निबान प्रस्तुत किया है। उसने यह भी बताया है कि किसी शब्द का अर्थ इस तथ्य से निर्धारण पावना कि उसका प्रयोग किस सम्बन्ध में किया गया है। उसने शब्दों के विविध स्थलों पर प्रयोग के फलस्वरूप उत्पन्न हुई अर्थ विविधता पर भी विचार किया है। उसने बताया है कि शब्द विशेष का प्रयोग अनेक भिन्न विचारों तथा भावनाओं को व्यक्त कर सकता है और गुणन बातों पर विविध प्रतिक्रियाएँ होती जा सकती हैं। कहने का आसय यह है कि एक शब्द का क्षेत्र विविधता की दृष्टि से बहुत विस्तृत होता है। परन्तु यह विस्तार अभी तक रहता है जब तक वह शब्द अकेला ही। जैसे ही उसे एक वाक्य में, या कहीं और

रक्त दिया जाता है उसका क्षेत्र वैयर्थ्य तुरन्त संशुभित हो जाता है। इस प्रकार से बताने सम्मर्प अर्थ तथा उनसे व्यंजित प्रवृत्ति का महत्व स्वीकार किया है।^१ भाषा के नियम में रिचर्ड्स ने बताया है कि उसके दो विस्तृत भिन्न प्रयोग होते हैं। परन्तु क्योंकि भाषा विज्ञान के अध्ययन का विषय वास्तव्य उन्निता रहा है इसीलिए प्रायः उन्हें ठीक से पहचाना नहीं जाता। भाषा की भाव करते हुए उन्नत कहा है कि सुसम्बद्ध शब्दों द्वारा निर्मित सम्बद्ध काव्य भाषा गद्य से अधिक प्रभावपूर्ण होती है।^२

समीक्षात्मक विचार :—

रिचर्ड्स की धारणा है कि बिना प्रतीकों के समाधान एक आलोचक सोचता है कि गहन होते हुए भी असाधारण रूप से दुर्बल नहीं होते। परन्तु बहुत से मौलिक प्रतीकों, जैसे एक अनुभूति दूसरे की अपेक्षा कितने व्योम उद्गार्य जा सकती है एक बिना की अपेक्षा दूसरा क्यों पसन्द किया जाता है, यह वैयर्थ्य का क्या कारण होता है, जिनका उत्तर समीक्षक को देना चाहिए। उन बुनियादी शब्दों के साथ आवश्यक है जैसे बिना क्या है, कविता क्या है संयोग क्या है अनुभूतियों की गुणना किस प्रकार की जा सकती है तथा मुख्य क्या होते हैं? क्योंकि ये उनके उपराम्बेय में सहायक होंगे। इसके बाद वह इस मन्त्रव्य का स्थापन करता है कि समीक्षक का कार्य किसी वस्तु के मूल्यों का निर्धारण करना है।

रिचर्ड्स ने समीक्षा का सर्वप्रमुख कार्य साहित्य का मुख्य जानना माना है। उसने बताया है कि मूल्यों का कसालमक इति- से कोई निर्धारण करना असम्भव है। यह किसी ऐसी दर्शन की विचारधारा के माध्यम से भी सम्भव है, जो किसी विधिष्ट

- 1 "Many arrangements of words evoke attitudes without any reference required on route. They operate like magical phrases. But usually references are involved as condition for or stages in, the ensuing development of attitudes, yet it is still the attitudes not the references which are important. It matters not at all in such cases whether the references are true or false. Their sole function is to bring about and support the attitudes which are the further response" ("Principles of Literary Criticism" I A. Richards, Ch. XXXIV pp. 267-8.)

स्वतन्त्रता का आचार लेकर चलती है और जिसका जीवन की यथार्थता से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में वह वस्तु मुख्य ही है, जो समीक्षा का आधार होती है।^१

मनोविज्ञान का आधार लेकर रिचर्ड्स ने इन मत का प्रतिपादन किया है कि पूर्ण स्वतन्त्र विचार सिद्धान्त अपने आपमें कोई महत्व नहीं रखते। उसकी आलोचना दृष्टि पर भी मनोविश्लेषण का प्रभाव स्पष्ट है। उसने "कला क लिए कला" के सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया है क्योंकि उसके विचार से कला जीवन से बहुत अनिच्छित और अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से वह जीवन पर विविध कर्मों में प्रभाव डोड़ती है।

मार्च ० ए० रिचर्ड्स की समीक्षा पद्धति का आधार वैज्ञानिक है। उसने समीक्षा शास्त्र को एक वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न किया है। उसने एक ऐसे सिद्धान्त के निर्माण की आवश्यकता पर बहुत अधिक ध्यान दिया है, जिसके आधार पर विविध साहित्यिक मूल्यों को निर्धारित किया जा सके। यदि ऐसा नहीं होगा तो कई प्रकार से हानि होने की आशंका है। सहायक के लिए इसके अभाव में मर्यादित और सम्पूर्णतः समीक्षा की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती हैं। और ऐसा सिद्धान्त इतना विस्तृत क्षेत्रीय होना चाहिए, जो सामान्य रूप से विविध साहित्यिक या कलात्मक मूल्यों के निर्माण कार्य में सहायक हो सके। क्योंकि जब तक ऐसा न होगा तब तक अनेक विरोधी आक्रमणों से विविध स्थापित मापदण्डों को सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा। आदर्शवादी धारणाओं तथा सामान्य मानव बचि के बीच का जो भेद है वह भी अभी समाप्त हो सकता है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, रिचर्ड्स की आलोचना दृष्टि पर मनोविश्लेषण शास्त्रीय प्रभाव स्पष्ट बना जा सकता है। इसीलिए वह भी कहा जाता है कि उसकी समीक्षा प्रणाली का स्रोत भी मनोविश्लेषण शास्त्र में निहित था। और यह एक महत्वपूर्ण बात है कि मनोविश्लेषणवादी निष्कर्षों का आधार लेकर चलने से समीक्षात्मक विकास की सम्भावनाओं में कृत्रिमता भी हुई। इसका स्वरूप रूप से एक कारण यह भी था कि इसके अन्तर्गत समीक्षा क्षेत्र में उन असंकोचयोग्य समस्याओं का

अतिक्रमण हुआ, जिनके कारण उसका रूप बेराबद्ध हो गया था और जो कृत्रिम मायताओं के अर्थ अनुकरण के कारण उससे झुंकारा नहीं पा रही थी।

रिचर्ड्स तथा बर्मे आदि की कृत्रिम मायताओं को रिचर्ड्स ने काव्य विरोधी माना है। काव्य शब्द निर्मित एक ऐसी वस्तु है जिसकी वैज्ञानिक यथार्थता की परत की कोई आवश्यकता नहीं है। साब हो यह एक सामान्य बात है कि काव्य की यथार्थता अतिरिक्त रूप में आवश्यक नहीं है। वास्तव में संसार में विज्ञान की सहायता से ज्ञान का स्वधीकरण इतने बिलग्न स्वीय प्रकारों से हुआ है कि अब काव्य को केवल वस्तुतत्त्वक मूर्तों का जास मानना अनुचित है। अब काव्य के लिए अनिवार्य रूप से यथार्थतामय तत्त्वों को समावेशित करने की मायता परिश्रम हो चुकी है। रिचर्ड्स ने कवि के वर्तन क्षेत्रीय स्वातन्त्र्य तथा प्रासंगिक तत्त्वों के काव्य में समावेश पर भी विचार किया है।¹

रिचर्ड्स ने एक अष्टम आलोचक की तीन योग्यताएँ बतायी हैं। एक आलोचक में यह समता होनी चाहिए कि वह विस्तृत कृति में निबद्ध अनुवृत्ति और उसके स्वरूप की बरीक्षा कर सके। दो उसमें उसकी सक्षमता का निषेध करके उसके सापेक्ष मूल्य का निर्धारण करने की योग्यता होनी चाहिए। और तीन उसे मूर्तों का ठोस और मन्त्रीर निर्वाहक होना चाहिए तथा मूर्तों के व्यापक दृष्टिकोण की चेतना होनी चाहिए क्योंकि तभी वह मूर्तों का काव्य समुचित रूप से कर सकेगा।

- 1 "A poet may distort his statements, he may make statements which have logically nothing to do with the subject under treatment, he may by metaphor and otherwise, present objects for thought which are logically quite irrelevant, he may prostrate logical nonsense, be as trivial and as silly logically as it is possible to be, all in the interests of the other function of language—to express feeling or adjust tone or further his other intention. If his success in these other aims justify him no reader can validly say anything against him (Practical Criticism" I A Richards pp. 187-88.)

प्रासंगिक रूप से रिचार्ड्स ने यह आदर्शका प्रकट की है कि भविष्य में साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता जायगा और काव्य मृतप्राय । उसने यह भी बताया है कि जाने बसकर साहित्य अधिक दुर्लभ होता जायगा और जहाँ तक काव्य भाषा के अधिक प्रभावपूर्ण होने की बात है, उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह प्रभाव अर्थ के चलन से जागृहीत है । उसके कहने का आशय यह है कि केवल धर्मों की सहायता से बहुत सरल और साधारण विचार ही समझाये जा सकते हैं । परन्तु चूँकि वैचारिक जटिलता क्रमशः बढ़ती जाती है, अतः विचारों के प्रेषण के लिए कठिनतर प्रतीक प्रयुक्त करना आवश्यक हो जाता है । इस दृष्टि से उसमें दुर्लभता अनिवार्य हो जाती है जिसकी और जाने बसकर वृद्धि होती जाती है ।^१

बैसा कि ऊपर कहा गया है रिचार्ड्स ने भविष्य में साहित्य के दुर्लभ हो जाने और क्षेत्र संकोच की आशंका प्रकट की है । वह जीवन का साहित्य से बहुत अनिष्ट सम्बन्ध मानता है । उसने अनुमान लगाया है कि भविष्य में साहित्य क्षेत्र का विस्तार इसलिये कम हो जायगा क्योंकि उसकी रचना का आधार ऐसी अनुभूतियाँ होंगी जो सामान्य जीवन से निम्न होंगी ।

टी० एस० इलियट

प्रमुख समीक्षात्मक विचार —

टी० एस० इलियट के समीक्षात्मक विचार भी प्रासंगिक रूप से सन्तुष्टियों पर मिलते हैं, जहाँ पर उसने यूरोपीय साहित्य के विविध क्षेत्रों पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है । यों यहाँ पर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इलियट के इस प्रकार के विचारों का महत्त्व उसके अपने साहित्य के सम्बन्ध में भी निश्चिन्त है । इलियट ने एक बहुत महत्वपूर्ण युगीन साहित्यिक समस्या की ओर संकेत किया है । आजकल बहुधा ऐसा कहा जाता है कि जहाँ एक ओर वैयिष्ट्य की प्रवृत्ति को

प्रोत्साहन मिल रहा है वहाँ दूसरी ओर वैविध्य की ओर भी साहित्यकारों का मुखाग्र दिशायी देता है। एक क्षेत्रीय साहित्यकार के दूसरे क्षेत्रों में रचनात्मक प्रयासों के मूल में यही प्रेरणा निहित रहती है। इसीलिए उसने परम्परानुगमिता की प्रवृत्ति को पुनर्जागरित की ओर संचालित किया है।¹

उपरोक्त प्रवृत्ति पर इतिवृत्त ने दूसरे दृष्टिकोण से बहने बिचार प्रकट किये हैं। उसने बताया है कि किसी कवि द्वारा प्रतिपादित समीक्षार्थक सिद्धान्त वैचारिक पूर्णता तथा स्वतन्त्रता की दृष्टि से तो महत्व रखते ही हैं साथ ही उस विविध कवि द्वारा रचे गये क्रियात्मक साहित्य के सन्दर्भ में भी वे अस्वतन्त्र नहीं होते। इसका कारण यह है कि किसी भी कवि की विचारधारा की एक निजी भाषा चुनि होती है। इसी भाषा पर उसका वह दृष्टिकोण निर्मित होता है जो उसके क्रियात्मक साहित्य में समाविष्ट रहता है। दूसरे क्षेत्रों में अपने दृष्टिकोष को वह अपने व्यापक माध्यम से व्यक्त करता तथा उसका पुनरीकरण करता है। ठीक इसी प्रकार से जब वह कवि कोई समीक्षार्थक बात रचता है तो उसमें भी उससे दृष्टिकोषगत एकता रहती है।²

इसी तथ्य को एक दूसरे रूप में भी समझा जा सकता है। वह इस प्रकार से जब क्रम्य तथा सदीक्षा इन दोनों माध्यमों से साहित्यकार अपने एक ही विविध दृष्टिकोष को अभिव्यक्त तथा पुष्ट करता है, तो उसे एक ही रूप में अधिक वाग्यता नहीं मिलती, बल्कि दोनों रूपों से उसका महत्व समान रहता है। इस प्रकार से कोई

1 "Tradition and the Individual Talent" T. S. Eliot.

2 "The critical mind operating in poetry the critical effect which goes to writing of it, may always be advances of the critical mind operating upon poetry whether it be one's own or some one's else. I only affirm that there is significant relation between the best poetry and the best criticism of the same period contemporary poet who is not merely a composer of graceful verses is forced to ask himself such questions as "What is poetry for not merely what am I to say but rather how and to whom I am to say it"

भी आगच्छ साहित्यकार अपने युग की चेतना की निर्मिति में यदि अपनी कविता द्वारा योग देता है, तो उनका समीक्षार्थक साहित्य भी उत अनिवार्य रूप में प्रभावित करना है। यह एक विचित्र तथ्य है कि इलियट का यह विचार सर्व उच्च स्तर की समान रूप से लागू होता तथा इस प्रकार से पुष्ट होता है। क्योंकि इलियट ने आधुनिक साहित्य कला को अपने काव्य में अतिशय प्रभावित किया है कम से कम उतना ही अपने समीक्षार्थक विचारों से भी।

इलियट द्वारा उपर्युक्त तथ्य का उद्घाटन एक और युवीन समस्या की ओर संकेत करता है। आधुनिक युग में बहुधा कविगण किसी न किसी मूल्य मानक के पोषक होते हैं और इनका काव्य उस मूल्य मानक के वैचारिक प्रकार का एक माध्यम होता है। ऐसी स्थिति में जब विपरीत समीक्षक कभी-कभी इनके साहित्य का मूल्यमानक निष्पक्ष भाव से नहीं कर पाते तब एक प्रकार का वैचारिक साहित्यिक युद्ध सा होने लगता है। उपर्युक्त संकेत द्वारा इलियट ने क्रियात्मक साहित्यकारों के लिए एक आवश्यकता बोधना की बात भी लगी है। एक साहित्यकार यदि युवीन बात चेतना से अपनी विद्वता तथा उसके प्रति आवश्यकता का परिचय देते हुये कोई मौलिक काव्य रचना कर सकता है तो उसमें यह सामर्थ्य भी होगी चाहिये कि अपने काव्य में प्रतिपादित विचारों का पुष्पीकरण वह अपने समीक्षार्थक साहित्य के माध्यम से भी कर सके।

टी० एस० इलियट ने एक और विविध तथ्य की ओर संकेत करते हुये बताया है कि परम्परा का अनुगामी होना सदा और निश्चित रूप से अनिवार्य होना नहीं है। उनका विचार है कि हमारी प्राचीन परम्पराएँ हमारे प्राचीन विकास की आवश्यकता होती हैं और हम प्रकार हमारे वर्तमान को प्रभावित करती हैं। इसी प्रकार से हमारी वर्तमान दृष्टि अतीत की उपलब्धियों का मूल्यमानक करती है। इससे इतना तो कम से कम निष्कर्ष निकल ही आता है कि अतीत की परम्पराओं की अपेक्षा सम्भव नहीं है।

अपने "दि फॉरेनर आफ़ क्रिटिसिज्म" शीर्षक निबन्ध में इलियट ने बताया है कि बहुत समीक्षा की कौन सी प्रभावितों उत्कृष्ट और कौन सी निरुद्ध प्रभावित

होती है। उसका विचार है कि उचित समीक्षा का मुख्य उद्देश्य हम में एक ऐसी दृष्टि निमित्त करना है, जो हमें साहित्य अध्ययन और रचनाकारों की समीक्षा करने के लिए प्रेरित करे।

इतिहास ने यह बात स्वीकार की है कि प्रत्येक नया पुस्तक अपने समय के मुख्य-मुख्य साहित्यिक परिवर्तनों की प्रतीति प्रदान करती है।^१ इस मुख्य परिवर्तन और मान-निर्धारण के अनुसार ही उस पुस्तक की उपलब्धियों का लेखा-जोखा बनाया सम्भव है। जहाँ तक अनेकी समीक्षा के विकास का सम्बन्ध है, इतिहास ने उसका सामान्य कान्ति-विचार के लिये दे दिया है।

इतिहास ने बताया है कि नाटक की रचना कठिन समय के ही प्रतीक बनना चाहिए, पथ का नहीं। काव्य के नाटक में समीक्षा हो जाने से वह अपने मुख्य उद्देश्य से हट भी सकती है। उसका विचार है कि नाटक के प्रयोग और विवेचन के सम्बन्ध में भाषा के प्रश्न भी होते हैं। क्योंकि समय वह है कि वे केवल एक माध्यम हैं। उसका विचार है कि या तो नाटक में माध्यम एक होना चाहिए और या पथ। उसने इन दोनों का समीक्षण यथासम्भव नहीं होना चाहिए। उसके अनुसार सामान्य रूप से प्रकृति में सरलता के साथ ही भाषा सरलता का गुण होना भी आवश्यक है। इसी प्रकार से काव्य में कल्पना का प्रयोग हो लेना है, परन्तु वह अतिशयता से नहीं होना चाहिए। कुल मिला कर वैदिक-युग का एक बड़ा गुण है।

इस प्रकार से इतिहास की वैचारिक साम्यताएँ वर्तमान यूरोपीय साहित्य के सम्बन्ध में विविध रूप से प्रकट की हैं, क्योंकि उनकी प्रकृति में वे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से कार्यरत रही हैं।

ई० एम० फास्टर

प्रमुख विचार :—

यूरोप के समीक्षकों में ई० एम० फास्टर का अपना स्थान है। फास्टर के समीक्षामय विचार भी अविचारित-कथा साहित्य के सम्बन्ध में ही अधिकतर मिले पते हैं। उसने साहित्य के एक क्षेत्र के विषय में विचार करते हुए अस्तु के विचारों को भी ध्यान में रखा है। उसने लिखा है, "अस्तु का कथन है कि वास्तव हमें मुक्त देते हैं,

रन्तु व्यवहार में हम आल्हादित या विजृम्भ ही होते रहते हैं। हम यह निर्णय कर चुके हैं कि भरतू बुलता है और अब हमें उस विरोध के परिणाम का साक्षात् करना चाहिए। भरतू कहता है कि समस्त मानवीय सीख तथा पीड़ा उस अच्युत जीवन में प्रामाण्य रखी है, जिसे हम व्यतीत करते हैं और जिसका उपन्यासकार अपने चित्रणों में स्पर्श करता है यह हम जानते भी हैं। अच्युत जीवन में हमारा आशय उस जीवन से है, जिसका वास्तव प्रमाण हमारे पास नहीं रहता। हमारा आशय किसी अस्मिता जीवन से नहीं भरतू उस जीवन से है जिसका व्याप्तीकरण किसी अद्वय विरोध का सम्यक् अर्थ प्रकट होता है। परन्तु सम्यक् या उपन्यास भी उतने ही प्रामाणिक है जितने कि भाषण या हत्या। य जिस जीवन की अभिव्यक्ति करता है। वह मानव से व्यवहार की ओर बढ़ता है। किसी प्रकार भरतू को विषय समय नहीं मिला। उतने कुछ उपन्यास में अद्वय के परन्तु आधुनिक नहीं। वह स्वभाव ही गीतज्ञ से विजृम्भ से था और वास्तव में वह मानवीय मस्तिष्क को एक ऐसी परत नहीं समझता था जिसमें कामकाज उसकी सारी बातों का पर्यवेक्षण हो सक और जब उसने उपर्युक्त शब्द कहे होते तब उसके मस्तिष्क में नाटक रहा होगा जिसके विषय में वे निश्चयपूर्वक सच भी हैं। नाटक में प्रत्येक मानवीय सीख या पीड़ा कार्य रूप ग्रहण करती है और उसे ग्रहण करना चाहिए भी अन्यथा वह अज्ञात ही रह जायगी। अब नाटक तथा उपन्यास में यही अन्तर है।^{१०}

कार्टर ने यह माना है कि उपन्यास आधुनिक युग में एक उद्योग और व्यापक माध्यम है। उसका विचार है कि उपन्यासकार न केवल एक प्रकार से सर्वज्ञ जैसा होता है जिसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। उपन्यास की यह विशेषता है कि उसमें लेखक अपने पात्रों के विषय में बात कर सकता है और उनकी भागी के समय हमारे सुनने का आयोजन भी कर सकता है। वह आत्मव्यथा का छु सकता है और उस स्तर से महारई में जाकर उप विवेचना का संयोजन या संज्ञा है। वास्तव में कोई अपनी अन्तर प्रज्ञा से बात नहीं करता। सुन या बुझ की जा अज्ञान अनुभूति उस होती है वह उन बारम्बार तक पहुँच जाती है जिसे वह स्वयं व्यक्त नहीं कर सकता। क्योंकि जैसे ही वह मुख या दुःख की इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के स्तर तक से जाता है वे अपनी

नीतिक प्रतिमिष्ठा या वेते हैं। यहाँ उपन्यासकार के लिए लीबातामी ली होती है। वह उन चेतना के संस्कारों के स्थिति को सीधे व्यवहार में ला सकता है जैसा कि एक नाटककार भी कर सकता है तथा वह उसे स्वयं जीपन से भी सम्बद्ध बिता सकता है। वह गोपनीय जीवन पर अधिकार रखता है। लेखक ने अपने मूल तथ्य को कैसे जाना वह उस समय पर बहुत नहीं रहा वह अपने अक्षेप से दृष्ट रहा है यदि प्रश्न बहुत कुछ म्यामात्र की ली प्रकृति रखते हैं। नाटक को जिस भाग में समाप्त है वह यह है कि यह गोपनीय जीवन तथा मनावेनों का कल्याण जाना अपराध है।

उपन्यास क्या तथा उपन्यास के मूल तथ्यों का विवेचन करने हुए फार्मर ने साहित्य के विविध पक्षों पर भी महत्वपूर्ण बिचार प्रस्तुत किये हैं। उसने लिखा है कि भविष्यक नाहित्यिक इतिवृत्तों में का तथ्य होते हैं, मानवीय चरित्र तथा कला। अब हम एक ऊँचे पर कथानक को लेते हैं। कथानक मूल पात्रों को जगह कुछ उद्गार को लेकर चलता है। वे कल्पित तथा अज्ञात भी होते हैं। उनका जीवन भाग सामर में ठहरते दिन पर्वत की तरह अन्तरस्थ रहता है। उनमें अस्तु हात कथित लोगों सम्बन्धक तरी का समावेश रहता है। अब हम तथ्यों का जम्मेप और व्यापार्य हो जाना है तब हमका एक एक ऐसा उपन्यास होता है जिस समय में नाटक जाना चाहिए का कि उन सामान्य उत्तेजना नहीं मिलती। वे उपन्यास मीन बैठ जाते हैं या कुछ क्षीन बसुरा उठाते नाटक है और कथानक उस जीवन की उत्तेजना में मूल्य रखता है। केवल यह कहने से काम नहीं चल सकता कि व्यापार्य एक आवश्यक गुण है। वास्तव में मेरी स्थिति कल्पितों पर ही निर्भर है, यह मैंने स्वयंस्वरूप से स्वीकार किया है। फिर भी यह पर्याप्त है कि वे सीमाएँ होती हैं और उन्हें अब पार किया जा रहा है। पात्रों को अनुमति नहीं होती चाहिए तथा उन्हें उन्हे बैठने सोड़ने में समय नहीं गन् करना चाहिए। उन्हें कुछ देना ही चाहिए, अन्यथा अनोखेन समाप्त हो जाएगा।

उपन्यास के प्रधान तथ्य कथानक को परिष्कार-क्याकरा करना तथा फार्मर कहता है कि कथानक भी पात्रों का जन्मा है। हमें मुन्यता कारकों की हाश है। "परा की मृत्यु पर रात्री का शोक" एक कथानक है। समय का लेखा हमें मुद्रित है। किन्तु सामान्यता का ज्ञान हमें दिया जाता है। इसी प्रकार पक्षी की मृत्यु हाजी है कोई कारण नहीं जानता। अब तक यह पता नहीं चल जाया कि राजा की मृत्यु के शोक के कारण ही ऐसा हुआ। वह एक कथानक है जिसमें मेरे हैं तथा यह एक ऐसा कथ भी है जिसे विस्तार दिया जा सकता है। यह समय साथ बिचार को समाप्त कर

सबटा है। यह कहा १ में रतनी दूर क्या जाता है बिताती दूर उसकी सीधा स्वीकृति देती है। यदि यह चप्पना किसी कथा के अन्तर्गत हो तो हम कहेंगे "तब फिर" यदि यह घटना किसी कथानक में हो तो कहेंगे "क्यों"? उपन्यास के दो मौखिक पलों में बड़ी एक भेद है। कथानक कथारसों के आध्यात्मिकों, किसानों कुलतानों अपना आधुनिक संसार छाया बाह की बगला को नहीं सुनाया जा सकता। उन्हें केवल बाहल रखा जा सकता है और तब के अपना कुतूहल उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु एक कथानक प्रतिभा तथा स्वरस धारिता की भी अपेक्षा रहता है।^१

फर्स्टर के विचार से कुतूहल मानवीय यस्तित्व में सबसे छोटी शक्ति है। ईशिक जीवन में आप देखते हैं कि जब लोग आश्चर्य प्रकट करते हैं तब प्रायः उनका स्वरस अपना और अन्त में निम्नचोदन हो जाता है। वह शक्ति जो आरम्भ में ही उनके माई बहनों की संरक्षा दृष्टता है, कभी सहानुभूतिपूर्व नहीं हो सकता और यदि एक वर्ष के उपरान्त वह फिर आपसे मिले तो सम्भवतः फिर पूछेगा कि आपके कितने माई या बहिनें हैं। उसका मुँह फिर से खटकर कपेगा तथा उसकी आँखें फिर से उन ही चढ़ेंगी। ऐसे क्षणों से निवृत्ता करना कठिन है। इसलिए भी कि वे कठोर व्यक्तियों का मित्र होना असम्भव होता चाहिए। कुतूहल स्वयं हमें एक छोटी पगड़ी तक के पाता है, वह हमें उपन्यास में किसी दूरस्थ चीज तक नहीं ले जा सकता। उसकी पहुँच केवल कहानी तक है। यदि हम कहानी को बहल करना चाहें तो उसमें प्रतिभा तथा स्वरस धारिता का भी हमें ध्यान देना चाहिए।^२

फर्स्टर के सिद्धांतों के दिग्गज में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अपने प्रतिभा को प्रायश्चित्तता दी है और उसे ही सर्वोपरि माना है। उनसे सिखा है कि "एक प्रतिभा सम्पन्न उपन्यास पाठक को एक कीमती प्रमाण पाठक है किन्तु होता है यस्तित्व से उसे ग्रहण कर लेता है। यह उसे दो दृष्टियों से देखता है। प्रथम रूप से तथा पूर्व पृष्ठों में पढ़े हुये पलों के सम्बन्ध रूप से। सम्भवतः वह उसे समझ नहीं पाता है परन्तु वह ऐसा करने का एकाएक निश्चय भी नहीं कर लेता। किसी सुबोधित उपन्यास के लिये किसी बहुवचनी के समान किसी वह व्यवहार जैसी प्रकृति के होते हैं

और एक दरक पाठक उसकी समझ तब तक नहीं पा सकता जब तक वह उसके अन्तिम सिरे के पास एक पहरे की पर नहीं बैठता। आश्चर्य या गौरवचर्य का यह लक्ष्य भी कभी कभी निष्प्राप्त रूप से "आमुनी" कह दिया जाता है क्योंकि मैं बड़ा महत्त्वपूर्ण होता हूँ। इसका अन्य समय के रहोवकम से हुआ है और जटिलता से घनिष्ठ हुआ है, जैसे "रानी का वैवाहिक जीवन क्यों हुआ" अत्यधिक विनम्रता, अर्थ अनुमानित विचार तथा सुझावों में इसका वास्तविक अर्थ कई पृष्ठ लामे दीक्षे गीन रखा है। यह अनोखता कथानक के लिए अप्रत्यक्ष आवश्यक है और प्रविष्टा के समर्थन में यह प्रयत्नशील भी नहीं है।

प्रतिभा के बाद फास्टर ने स्मृति की बात की है। उसने बताया है कि स्मृति तथा प्रतिभा का निष्कट सम्बन्ध है। इतिहास हम प्रविष्टा के अध्ययन के बिना उस नहीं समझ सकते। यदि रानी की मृत्यु एक आते आते हुए राजा के अस्तित्व को मुना कैंडे हो यह जानना हमारे लिये सम्भव नहीं हुआ कि रानी की मृत्यु कैंडे हुई। राजा हमारे ध्यान की खोज करता है और हम उससे यह खोज करते हैं कि वह क्या फाट करे। किसी कथानक की प्रत्येक गति या शब्द की गणना होनी चाहिये और यहाँ तक कि जटिल होते हुये भी उसमें अनोखता या रहस्यमयता हो किन्तु वह तब मान्य न हो। और वह जैसे जैसे अनावन होगा, पाठक की स्मृति उस पर संतुष्टि तथा प्रजा, विचार और योजना नवीन समस्याएँ, कारण तथा परिणाम की शृंखलाएँ, अन्तिम केवल समस्या या अज्ञेयता नहीं प्रस्तुत कीन्देवपूर्ण महत्त्व तथा ऐसा होना जिसे उपन्यासकार ने एकाएक प्रदर्शित किया हो किन्तु यदि वह सीधे सादे रख दिया जाता तो कभी सुन्दर न होना। यानी सीधे में यही हम दर्शनी बार सीधे तक बाधे हैं। सीधे उपन्यास का लक्ष्य कभी नहीं होता चाहिये यद्यपि उसके अन्तर्गत में उपन्यासकार असफल रहता है। वह सीधे की बात में क्या दोष देता है, उस बीच सीधे की सम्पूर्ण कथानक का ही एक भाग समझना चाहिये।

इस प्रकार से उपन्यास बनता और उसके अनुभव तत्त्वों पर विचार करता हुआ फास्टर अन्त में इस निष्कर्ष पर आता है कि हम "कथानक ही तात्त्विक-मीथिद दृष्टि के उपन्यास है। उसमें रहस्य होना चाहिये परन्तु बाह में उसका निरूपण नहीं होना

बाधिये। पाठक अनभिज्ञ विद्वत् में गले ही घटकता रहे, किन्तु मेझक तो उसे पत्र भ्राम्य बही करता। वह अपने कार्य का विषय अनुमती तब कहा जायगा जब एक प्रकार की किरण यहाँ तथा एक गहानी बून्की यहाँ लेते हुये वह अपने समृद्ध पात्रों से बात करेगा बिनकी रचना उसने मुन्दरतय की हो। वह कल्पना में अपनी पुस्तक की रचना कर लेता है, वह उसके ठहर रखता है तथा यह अपनी बलि और परिचाम से एक पूर्व निश्चय कर पाता है।

बीसवीं शताब्दी में जो अनेकी समीक्षा लिखी गई हैं उसको देखने पर यह बात होता है कि वह सदीसवीं शताब्दी में हुई उपमनियों द्वारा विद्वत् रूप से प्रभावित हुई। जन्मिसवीं शताब्दी में समीक्षा क लेन ये शों की विषय रूप से वतिपीसता रही थी। बीसवीं शताब्दी में जहाँ एक ओर पिछली शताब्दी से पर्याप्त वैचारिक प्रभाव सहक किया गया जहाँ दूसरी ओर अनेक सम्प्रदायों का विरोध भी किया गया। इस शताब्दी की यूरोपीय समीक्षा की विशेषता यह है कि इस शताब्दी में एक प्रकार की वैचारिक नवीनता की भावना अधिक व्यापक रूप से मिलती है। इस युग के प्रायः सभी सम्प्रदायों के किस्मों के समीक्षा साहित्य में जो वैज्ञानिक बातें हैं उनके विचारों में यही विशेषता मिलती है। मैक्स जार्जस बास्टर गेटर, जार्ज सैंड्सवरी टी०एस हसिगट एडमन् मास सिडनी क्रमफ्लि ए० स० ईडने तथा सी०एस० हारचर्ड आदि जो भी समीक्षक हैं, उन की विचारधारा में नवीनता की ओर झुकाव दिखाई देता है। यद्यपि यह समीक्षक भी पूर्ववर्ती समीक्षा सिद्धांतों का विरोध नहीं करते पाए और अधिक संयत सम्प्रदायी ही रहे। परन्तु फिर भी इन विचारकों के दृष्टिकोण में नवीनता तत्त्व समावेष्ट दिखाई देते हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पारम्पर्य समीक्षा वास्तव की उपर्युक्त परम्पराएँ प्राचीनता तथा महत्त्व की विचारता की दृष्टि से विविध हैं। प्रायः बीसवीं शताब्दी ई० पू० से लेकर अद्यतन आई हजार वर्षों तक इसका प्रसार मिलता है। प्राचीन यूनानी विचारक प्राचीन रोमीय विचारक मध्य यूसीय एवं आधुनिक यूरोपीय विचारकों के विचारकों के इसके विकास में योग दिया। साहित्य के प्रत्येक अंग और तत्त्व है सम्बन्धित व्यापक सिद्धान्तों का निष्पन्न उनके दृष्टिकोण में मिलता है। पारम्पर्य समीक्षा वास्तव के अन्तर्गत वैज्ञानिक विचार का कम अधिकांश रूप में परम्परायुक्तता का आभाव देता है। यूनानी चिन्तन की परम्परा से बिना व्यापक

प्रभाव रोमीय परम्परा में ग्रहण किया उतना ही युरीप की अन्य भाषाओं की परम्पराओं में भी ।

जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में सूचित कर आये हैं, विभिन्न दृष्टियों से साहित्य का मूल्यांकन करने वाले सिद्धांत पाश्चात्य विचारकों ने निर्दिष्ट किये । स्पेन इटली जर्मनी फ्रांस रूस इंग्लैंड तथा अमेरिका आदि देशों की विन्तन भाषाओं में जहाँ एक ओर वैचारिक विम्वता स्पृणाधिक रूप में पिबती है, वहाँ दूसरी ओर वैज्ञानिक संयुक्तता की प्रतीति भी उनके होती है । यही कारण है कि यूरोप की विविध भाषाओं में जो आन्दोलन वैचारिक क्षेत्र में हुए, उनका प्रसार अन्तर्महाद्वीपीय स्तर पर हुआ । आधुनिक विचारक अरस्तू, प्लेटो, अविश्व, सिपरी होरेस सिडनी तथा अयडन आदि महान् विम्वकों के ही सिद्धांतों से प्रभावित प्रतीत होते हैं । यह भी पाश्चात्य समीक्षा के मूल द्योत की पुकारमकता का ही परिचायक सम्य है, त्रिमुते त्रयदी प्राचीनता कीद वैज्ञानिक पुनरुत्थन का आभाव भी सिद्ध है ।

अध्याय ३

संस्कृत समीक्षा शास्त्र का विकास
और
विविध सिद्धान्तों का स्वरूप

अध्याय १

संस्कृत समीक्षा शास्त्र का विकास
और
विविध सिद्धान्तों का स्वरूप

प्राचीन संस्कृत समीक्षा शास्त्र का विकास

भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने पर हम तथ्य की अवगति होती है कि साहित्य विम्वन की परम्पराओं में संस्कृत का स्थान विशिष्ट है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसकी प्राचीनता वैदिक युग तक सिद्ध है। परवर्ती युगों में इसके अस्तित्व के केवल संकेत मात्र ही नहीं मिलते, बल्कि इसके वैज्ञानिक स्वरूप के विकास के भी प्रमाण उपलब्ध हैं। पाणिनि और पतंजलि आदि व्याकरणिक एवं छन्दशास्त्रीय लेखकों ने इससे सीधे-तिरिक्त प्रसार की सम्भावनाओं को जान से सहस्रों वर्ष पूर्व ज्ञान दिया था। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी संस्कृत भाषा की उत्पत्तियाँ असाधारण हैं। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य भारतवर्ष के ही नहीं बल्कि विश्व के प्राचीनतम और महान् साहित्यों में परिकल्पित होता है। संस्कृत साहित्य के विकास के प्रारम्भ से ही साहित्यानों में समीक्षा की विधि अथवा स्वीकार किया गया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रकाश पीछे राज-रीकार ने समीक्षा शास्त्र का इतना अधिक महत्व प्रतिपादित किया है कि उसे वेद का सातवाँ अंग माना है।^१ वास्तव में संस्कृत साहित्य इतना प्राचीन और इतना प्रसस्त है कि यह समझ करना बहुत कठिन है कि उसमें साहित्य शास्त्र का प्रारम्भ किस काल से हुआ और उसका प्रवर्तन करने वाली विधिति कौन सी थी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि वेदों या संहिताओं में समीक्षाशास्त्र या उसके किसी अंग का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसी कारण यह अनुमानित किया जाता है कि यद्यपि वैदिक युग में अर्थकारादि का समावेद भाषा में होने लगा था, परन्तु समीक्षा शास्त्र इस शास्त्र या काव्य शास्त्र विषयक स्वर्ण अध्ययन उन काल तक नहीं हो सका था।

१—अथारण्यकभाष्यकारः सप्तमर्ममिति यायावरीयः ।

अथै च टारण्यय र्गिज्ञानावेदार्थान्वयति ॥ (वाय्व मीमांसा)

संस्कृत साहित्य में समीक्षा शास्त्र का विवेचन उसके विविध सिद्धान्तों द्वारा होता रहा है। अनुमान लगाया जाता है कि इसका प्राचीनतम नाम 'क्रिया कल्प' रहा होगा। "क्रिया कल्प" शब्द का अर्थ कविता का विधान है। इस सम्बन्ध में यह ध्येय उल्लेखनीय है कि यह "क्रिया कल्प" शब्द अपने इस अर्थ में अधिक समय तक प्रयोग में न आ सका। बसवीं शताब्दी में राजसेखर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्य श्रीमांसा" में इस शास्त्र के उद्भव और विकास पर प्रकाश डाला। अनुमान लगाया जाता है कि "रस" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम "शृंगार" में मिलता है। परन्तु इस प्रयोग के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वहाँ इस शब्द का प्रयोग किसी शास्त्रीय अर्थ में नहीं हुआ है। इसलिए यह कहना अधिकृतपूर्ण न होगा कि वैदिक युग में रस शास्त्र का कोई अस्तित्व न था। इस प्रकार से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पहली शताब्दी से इस शास्त्र के विविध अंगों और पक्षों का निरूपण प्रारम्भ हुआ होगा। इसके पश्चात् संस्कृत में 'अलंकार शास्त्र' का विकास हुआ जो समीक्षा शास्त्र का ही पर्याय है। भट्ट मुनि के समय में "अलंकार शास्त्र" को "नाट्य शास्त्र" के अन्तर्गत समझा जाता था और उसी के एक अंग के रूप में इसे मान्यता प्राप्त थी। पाँचवीं शताब्दी में बामन ने अलंकार सिद्धांत का महत्व एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में प्रतिपादित किया। इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भट्ट के समय से ही इन शास्त्र के सम्मिश्र विकास की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। यहाँ संक्षेप में इस शास्त्र के स्वरूप विकास में जोय देने वाले तथा मान निर्धारण करने वाले आचार्यों की श्रेणी का विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

भट्ट मुनि

रचना और काल :-

संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रख्यात प्राचीन ग्रन्थ "नाट्य शास्त्र" के रचयिता भट्ट मुनि हैं, जिनका समय दूसरी शताब्दी के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। भट्ट

भुक्ति का "साध्य साधन" सूत्र भाष्य, कारिका तथा अनुबन्ध रत्नोक्त इन तीन विभागों में विभक्त है। अनुमान है कि इसका प्रथम विभाग बहुत प्राचीन सूत्रों का भरत द्वारा भाष्य है। द्वितीय विभाग में इस भाष्य की विस्तृत व्याख्या है और तृतीय में इनका पुष्टीकरण किया गया है। इस महान् ग्रन्थ में छठीस अध्याय तथा दस सहस्र श्लोक हैं। परम्परा युक्तों में "साध्य साधन" की अनेक टीकाएँ हुई, जिनमें से कुछ विशेष रूप से भाष्य हैं।

रस विवेचन

।

रस का मूल —

मरत को रस सम्प्रदाय का प्रबलक माना जाता है। मरत के अनुसार वह वस्तु रस ही है जिसका नाटक में प्राधान्य रहता है। मरत के "साध्य साधन" में रस की महत्ता का प्राधान्यपूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है। मरत ने रसानुभूति का विस्लेषण किया है। रस की अनुभूति किसी नाटक के रूप में किस प्रकार से नाटक देखने के पदार्थ होती है, इसका मरत ने बहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगादि रस निम्पति" अर्थात् विभाव अनुभव तथा व्यभिचारी आदि के संयोग से रस निम्पति होती है, जैसे सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। मरत का विचार है कि इन तीनों के सम्मिलन से ही रसों की रसानुभूति होती है।

रस का विभाजन —

मरत ने रस को आठ भागों में विभक्त किया है, भूषार, हास्य, कदन, रीर, और, वीर, तथा कर्मुत्त ।^१ यहाँ रस जल्दों नहीं माना है। यहाँ पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि मरत ने ये आठ रस नाटक के अनुसार ही माने हैं। यों काव्य में भी रस माने गये हैं, जिनमें भागे वसकर दो और जोड़े गये। वे वास्तव्य और अति के नाम से माध्य हुए। मरत का रस सिद्धान्त मूलतः उपर्युक्त आठ

१ भूषारहास्य कदनरीरवीरकर्मवसकः

वीरतापमृत रसो वीर्यवीर्य साध्य रसः स्मृतः । 'साध्यसाधनम्' (७.१५)

रसों पर ही वैश्रित है। भरत के अनुसार नाटक या काव्य में मूस और प्रधान तत्त्व रस ही है। उन्होंने रस को "नाट्य रस" कहा है। भरत के साहित्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है।

भाव वर्णन .—

भरत मुनि ने भावों का वर्णन करते हुए बताया है कि भाव उस वर्ण को कहते हैं, जो वाणी अर्थ और सात्त्विक भाव के अभिनय से स्पष्ट होता है। यह कवि के आन्तरिक भाव की भी प्रतीति करता है।^१ विभाव उसे कहते हैं, जिससे वाणी, अर्थ तथा अभिनय के आशय बाधे अनेक वर्ण विचरित हों।^२ अनुभाव उसे कहते हैं जिससे वाणी और अर्थों के अभिनय से वाणी तथा अर्थों उपायों से संयुक्त वर्ण अनुभावित हों।^३ भरत ने स्थायी भाव अथर्व में उही प्रकार सर्वोच्च और सर्व प्रधान माना है, जैसे पुष्पों में राजा तथा धिम्पों में भुव। इसी प्रकार से व्यभिचारी भाव वे होते हैं जो वाणी अर्थ सत्य से मिश्रित को वैविध्यपूर्ण अभिव्यक्त से रस में ले जाते हैं तथा सात्त्विक भाव उन्हें कहा जाता है जिसके अभिनय के द्वारा सत्य असीष्ट हो। भरत ने स्थायी भावों संघाटी भावों और सात्त्विक भावों का भी वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि यदि हास शोक क्रोध उत्साह, भय भृगुप्सा तथा विस्मय नामक आठ स्थायी भाव, 'निर्वेद प्पादि शंका, असुखा घब, भय, आसन्न, ईर्ष्य विन्ता मोह, स्मृति, चिन्ता शीघ्र अपतता हर्ष, आवेग, अकृता यर्ष विपाद शीतुक्य विद्या अपस्मार, सुप्त प्रबोध समर्प अवहित्य उद्यता मति व्यभि, सम्प्राप्ति, मरण नास, तथा वितर्क नामक सैंतीस व्यभिचारी

- १ विचार्यमाहृतो योऽर्थस्तन्नुवाचैव वक्ष्यते ।
वर्णमुत्तत्वाविवक्ष्ये स भाव इति संक्षिप्तः ॥ (नाट्यशास्त्रम् ७१)
- २ बहुवीर्या विजाग्रन्ते चार्णङ्गाभिनयाप्यिताः ।
अनेन धत्तासेनाये विभाव इति संक्षिप्तः । (वही ७४)
- ३ चार्णङ्गोविबोधेह यत्तत्त्वार्थोऽनुभा व्यति ।
चार्णङ्गोर्वाय संयुक्तस्तन्नुवाचस्तथा स्मृतः ॥ (वही ७५)
- ४ यथा नराणां भूपतिः शिखायां च यथा युक्तः ।
एवं हि चर्मावलीनां भावा स्थायी महानिह ॥ (वही ७६)
- ५ रतिर्यस्यैव शीघ्रमय कोयोत्साहो नय तथा ।
द्रुमुप्ता वित्त्वयस्यैति स्थायिमायाः प्रकीर्तितः (वही ९१७)

१०२] समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विविध प्रवृत्तियाँ

होती है, क्योंकि वीर का कर्म अद्भुत है तथा भीमत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है, क्योंकि भीमत्स का वर्णन भयानक है ।^१

रस वर्ण :—

ऊपर बताये गये साठों रसों के वर्णों का वर्णन करते हुए भुनि भरत कहते हैं कि भुवार का वर्ण श्याम हास्य का द्रोह, कश्यप का कपोत के समान रौद्र का मान वीर का मोह भयानक का काया, भीमत्स का नीला और अद्भुत का पीला होता है ।^२

रस देवता —

भरत भुनि ने भुवार रस का देवता विष्णु, हास्य का प्रमद रौद्र का शक्र, कश्यप का यम, भीमत्स का महाकाल, भयानक का कालदेव वीर का महेश्वर तथा अद्भुत का ब्रह्मा को बताया है ।^३

१ शृंगारराशि भवेद्वात्यो रौद्रात् कश्यो रसः ।

वीराकर्षणीद्भुतोत्पत्तिर्भीमत्साश्च भयानकः ॥

शृंगारानुकृतिषी तु स हास्य इति संज्ञितः ।

रौद्रस्यैव च यत् कर्म त अयो कश्यो रसः ॥

वीरस्यापि च यत् कर्म लोद्भुतः परिकीर्तितः ।

भीमत्सदर्शनं यच्चभवेत् स तु भयानकः ॥

(भाट्टमन्नास्त्रम् ६, १९४०, ४१)

२ श्यामो भवेत्तु शृंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः ।

कपोतः कश्यपश्चैव रक्तोरौद्रः प्रकीर्तितः ।

पीरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चापि भयानकः ।

नील वर्णस्तु भीमत्सः पीतवर्षीबाद्भुतः स्मृतः ॥

(वही ६, ४२, ४३)

३ शृंगारो विष्णुदेवत्यो हास्यः प्रमदवैभतः ।

रौद्रो श्यामिवैभतः कश्यो यमवैभतः ॥

भीमत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।

वीरो महेश्वरेव स्याद्भुतो बहुवैभतः ॥

(वही ६, ४४-४५)

रस वर्णन भूयार —

भरत मुनि ने रसों का वर्णन करते हुए बताया है कि शृंगार की रचना रति नामक स्थायी भाव से होती है। उसके दो भेद होते हैं, सम्भोग शृंगार और विप्रसम्म शृंगार। सम्भोग शृंगार में जलु, मात्सा, भ्रूषण, प्रियजन अनुमन भवज, दर्शन भीड़ा आदि विभाव, अभिनय कटाक्ष आदि अनुभाव तथा मय आसक्त्य उग्रता और वृणा के अतिरिक्त दोष सभी अभिचायी भाव होते हैं। इसी प्रकार से विप्रसम्म शृंगार में निर्भय स्तानि, दांका, शम चिन्ता उत्कंठा निद्रा सुप्त स्वप्न उन्माद, अपस्मार, जड़ता तथा भरण आदि अनुभाव होते हैं। भरत मुनि ने यह निर्दिष्ट किया है कि इस रस का अभिनय उपर्युक्त प्रकार से करना उचित होगा। यह रस तीन प्रकार का होता है बाधारमक नैपथ्यात्मक तथा क्रियात्मक।

हास्य —

हास्य रस का स्थायी भाव हस्य है। इसकी उत्पत्ति अव्यवस्थित वेस भूषा, चंचलता प्रमाद व्यंग्य आदि विभावों से होती है। हास्य रस के अभिनय में होंठ काटना नाक हिसाना दृष्टि सकोच आदि अनुभावों का प्रयोग करना चाहिए। आसक्त्य, अवहित्वा ऊँच निद्रा स्वप्न, आमरण आदि इसके अभिचायी भाव होते हैं। हास्य के आसक्त्य और परस्व दो प्रकार होते हैं। आत्मस्य हास्य सब होता है जब पात्र स्वयं हँसे और परस्व हास्य सब होता है जब वह दूसरे को हँसावे। यह रस स्त्री तथा नीच प्रकृति से युक्त लोगों में अधिक होता है। इसके चार भेदों में से प्रथम अर्थात् स्मित हास्य बहो होता है जहाँ कपोल हँसते से प्रतीय हों कटाक्ष छींछनपूर्ण हों और दांत न झूले हों द्वितीय अर्थात् हसित हास्य बहो होता है, जहाँ नेत्र, मुख और गाल खिंच हों, तृतीय अर्थात् विहसित हास्य बहो होता है, जहाँ आँख और नास संकुचित हो और हास्य मधुर स्वर पुष्ट हो चतुर्थ अर्थात् अपहसित हास्य बहो होता है, जहाँ नाक फूली हो दृष्टि कुटिल हो और कम्पा, सिर संकुचित हो पंचम अर्थात् अपहसित हास्य बहो होता है जहाँ अक्षय्य हँसना हँसते में चेना कम्पा सिर हिलाना आदि हो और पृष्ठ अर्थात् अतिहसित हास्य बहो होता है, जहाँ आँखों में आँसू उमड़ आयें स्वर में तीव्रता हो आदि। हास्य की तीन प्रकृतियाँ उत्तम मध्यम और अधम होती हैं इन सबके योग से इसके अभिनय में पूर्णता आती है। यह रस तीन प्रकार का होता है, बंद नैपथ्य तथा नायक द्वारा उत्पन्न।

कटव ३—

कटव रस का स्थायी भाव शोक है। इसके विभाव कसदा विषोय, बीमर हानि, वध, वधन, दुर्घटना आदि हैं। इस रस का अभिनय आँसू गिराना मुँह फीका पड़ना,

ठंडी साँस लेना आदि अनुभावों से होना चाहिए। मिर्बेद आगि, बिस्ता, उत्कंठा, बावेल, मोह्र भय, भय, विषाद, बीनना, ब्याधि, जड़ता, उम्माद आत्मत्व, भुत्तु आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। यह तीन प्रकार का होता है, बर्मापकात् से उत्पन्न, बीजता द्वारा उत्पन्न तथा बीक द्वारा उत्पन्न।

रौद्र —

इस का स्थायी भाव क्रोध होता है। इसके विभाव बपमान, जनादर, असत्य भावध, कठोर वचन, विद्रोह आदि हैं। इसके अनुभाव रक्तिय बाँधें डेढ़ी भीह बाँठ पीसना, बौठ बबाना आदि तथा व्यभिचारी भाव उम्माह, उत्साह अपजता उधता स्नेह, रोमांच आदि होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है। अंग नेपथ्य तथा बावध द्वारा उत्पन्न।

वीर —

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। इसके विभाव बसंमोह अध्वनसाय, नीति विनय, पराक्रम, दक्षि, प्रताप, तथा प्रभाव आदि अनुभाव स्थिरता, दूरता, भीरुता स्वान कतुछा तथा व्यभिचारी भाव बृति मति, एवै बेव उग्रता, बमर्प स्मृति तथा रोमांच आदि होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है, बालवीर, बर्मवीर तथा दुदवीर।

भयानक —

भयानक रस का स्थायी भाव भय विभाव विद्रुत भावाओं वाले पशुओं को देखना भय व्याकुलता आदि अनुभाव कीपटे हुए हाव पीर, रोमांच मुँह कारंज छोका पड़ जाना, जानाज बबन जाना आदि तथा व्यभिचारी भाव स्तम्भ स्नेह रोमांच कम्पन स्वर परिवर्तन सँका मोह्र शुष्य भय तथा मरण आदि होते हैं। यह तीन प्रकार होता है बहाने, अपरप्य वीर भय से।

बीमस्त —

इसका स्थायी भाव बुपुछा विभाव असुखर तथा अश्रिय दर्शन मरण तथा कथन आदि अनुभाव अंगों की क्षिन्नता मुँह की सक्तीर्यता बमन आदि तथा व्यभिचारी भाव अपस्मार, बेन मोह्र व्याधि तथा मरण आदि होते हैं। बीमस्त रस तीन प्रकार का होता है बीम से उत्पन्न, भुद्र तथा उत्रेव जनित।

अद्भुत :-

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय, विभाव अलौकिक वस्तु बर्णन मनोरामना पूर्ति इन्द्रबास आदि, अनुभाव बाँझ पैलाना, अपलक दृष्टि से देखना रोमांच, अम्, स्नेह हर्ष आदि तथा व्यभिचारों भाव अम्, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, आदेग अङ्गना प्रत्यय आदि होते हैं । यह रस दो प्रकार का होता है, प्रथम विषय और द्वितीय आनन्द से उत्पन्न ।

अलंकार विवेचन

उपमा —

भरत मुनि ने अलंकारों का विवेचन करते हुए बताया है कि प्रधानतः नाटक में चार अलंकार उपमा, रूपक, वीपक, और यमक होते हैं ।^१ इनमें से उपमा उसे कहते हैं, जिससे काव्य में किसी वस्तु की सम्यक्ता से उपमित किया जाय । उपमा पुनः और भावति पर निर्भर करती है । एक से एक की अनेक से एक की, एक से अनेक की तथा अनेक से अनेक की उपमा की जानी चाहिए ।^२ इनमें से चारों प्रकार का उदाहरण देने के बाद मुनि भरत ने उपमा के पाँच भेद प्रसंसा निम्ना कल्पित समुची तथा किंचित् समुची सावाहुरण बताये हैं ।

रूपक:-

भरत मुनि ने बताया है कि जिसमें रूप का सम्पूर्णता से वर्णन हो उसे रूपक कहते हैं ।^३

- १ उपमा रूपक वीपक यमक तथा ।
अलंकारास्तु विशेषाद्वचनारो नाटकप्रयोगाः ॥ (नाट्यशास्त्रम्, १७, ४१)
- २ यत्किञ्चित् काव्यबन्धेषु सावृत्त्यधीपनीयते ।
उपमा नाम विज्ञेया गुणावृत्ति सजायया ॥
एकस्मैकेन सा काव्यनिकेनाद्वयवत्ता युक्तः । अनेकस्य तथैकेन बहुना बहुमित्तया ।
(बही, १७ ४४, ४५)

- ३ नामाद्वयानुपपन्नार्थधीपनीयम् गुणावृत्तम् ।
रूपनिर्बन्धानुवर्तं तद्वत्कविभिः स्मृतम् । (बही, १७ ३७)

दीपकः—

विभिन्न विषयक सम्भावनी का दीपक की तरह एक भाव में संयोग होने पर दीपक असकार होता है ।^१

यमकः—

जहाँ पर शब्दों की पुनरावृत्ति हो वहाँ पर यमक बर्णकार होता है ।^२

काव्य से शेषः—

भरत मुनि ने काव्य के चतुर्दश दोष गूढ़ार्थ अर्थात्तर अर्थ हीन भिन्नार्थ एकार्थ अभिप्युक्तार्थ स्यादपेक्ष विषयम विरुद्धि तथा व्यर्थ च्युत बताया है ।^३ इनमें से जहाँ परम शब्दों से कथन किया गया हो वहाँ गूढ़ार्थ जहाँ अव्यवनीय का वर्णन हो वहाँ अर्थात्तर, जहाँ असम्बद्ध अर्थ हो वहाँ अर्थ हीन जहाँ असम्य अथवा साम्यार्थ हो तथा जहाँ एक के स्थान पर दूसरा अर्थ कहा जाय वहाँ भिन्नार्थ जहाँ अप भेद या अर्थ साम्य की उपेक्षा कर एक अर्थ कहा जाय वहाँ एकार्थ जहाँ वाक्यार्थ सदिष्ट हो वहाँ अभिप्युक्तार्थ जहाँ प्रमाण रहित कथन हो वहाँ स्यादपेक्ष जहाँ छन्द दोष हो वहाँ विषम जहाँ सन्धि हीन सम्ब हों वहाँ विरुद्धि और जहाँ असम्ब का बोध हो वहाँ व्यर्थच्युत दोष होता है ।

१ मानाधिकारवस्थानां शब्दानां संप्रदीपता ।

एकवाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमुच्यते ॥ (भाष्यभास्करम् १७ ६०)

२ सम्भाव्यासत्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।

विशेषवर्धनं चास्य यस्ततो नै विधीयते ॥ (वही १७ ६२)

३ अपुङ्गवर्तान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमिकार्थमभिप्युक्तार्थम् ।

स्यादपेक्षं विषयं विसन्धिं शब्दच्युतं चैव यस्तु काव्यदोषः ॥ (वही, १७ ८८)

४ पर्यायशब्दाभिहितं गूढ़ार्थमभिसंक्षिप्तम् ।

अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तत्रवर्तितरमिष्यते ॥

अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सा त्वसैवार्थमिषं च ।

भिन्नार्थमभिधीयमानसम्यं साम्यमैव च ॥

विबभित्तोऽप्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन विद्यते ।

काव्य क गुण—

पुनः परत मे काव्य के दस गुणों द्वाये प्रगाद, समता, समानि भाव्युय ओर पर सीकुमार्य अथ व्यक्त उवाच ॥ तथा कान्ति ना भो उत्तम कृपा है ।^१ हममें से हय गुण नहीं होता है जहाँ दृष्ट अर्थों से परस्पर अन्तर्भाव्य पदों की विज्ञता हो । प्रसाद गुण नहीं होता है जहाँ शब्द ओर अर्थ के सरल संयोग होने पर भी लभ्याय स्फुट ना जाय^२ समता गुण नहीं होता है जहाँ अन्तर्कार और पुन समान रूप से अभिव्यक्त हों^३ समानि गुण नहीं होता है, जहाँ उपमा द्वारा व्यञ्जित अर्थों का अतिसंयोग हो^४ भाव्युय गुण नहीं होता है जहाँ अन्तर्कार बहुत गुणन पर भी किसी भावम से उद्भिन्नता न हो^५

मित्रार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविषयवा
पृथक्पर्यायमिवायं यत् तदेकार्थमिति स्मृतम् ।

अभिप्युक्तार्थं मित्रेयं यत् पावेन समस्यते ॥

गद्यापदैर्लक्षितेयं प्रमाणापरिवर्धितम् ।

कृत (सौम्य) मन्त्रोपेयं नाम तत् यवेत् ॥

अनुप्रविष्टाद्यर्थं यत् तद्विशिष्टमिति काव्यम् ।

सम्यग्ज्ञेयं च विज्ञेयमसम्बन्धं च योजयाम् । (भाट्टपादसूत्रम् १७ ८९, ९३)

१ 'स्तेय' प्रसाद समता समानि भाव्युयोनोऽथ परस्परानुसार्यम् ।

अर्थस्य च व्यक्तित्वधारता च काव्यविषय काव्यस्य गुणा इति ॥

(बही १७, ९९)

२ ईप्सितेनामजातेन सम्बन्धानुपरस्परम् ।

मित्रप्यता वा वदामा हि स्तेय इत्यादिधीयते ॥ (बही १७, ९८)

३ अन्वयानुवर्तते कुर्वन्त्येव दन्त्याद्यर्थो वा प्रतीयते ।

कुल शब्दार्थ सम्बोधनम् प्रसाद परिधीयते ॥ (बही १७ ९९)

४ अन्वयसम्बन्धो यथा तथा दृष्टान्तोपपन्नम् ।

अन्तर्कारमुपपन्नम् समतात् समता यथा ॥ (बही १७ १००)

५ उपमास्वियुक्त्यानां अर्थानां मल्लसत्तया ।

प्राप्त्यानां वातिसंयोगः समानिः परिधीयते ॥ (बही, १७ १०१)

६ कृप्यो यथाहृतं भाव्यं उत्तमं वापि पुनः पुनः ।

नोद्वेगवर्ति दस्मादि तन्माधुप्रीतिरिति स्मृतम् ॥ (बही १७, १०२)

शोक मुन नहीं होता है जहाँ अनुदान होने पर भी सवारता हो,^१ लीकुमार्य मुन नहीं होता है, जहाँ काव्य सुस्मिष्ट सन्धि तथा मुकुमार अर्थ युक्त हो^२ अर्थम्यक्ति मुन नहीं होता है जहाँ प्रयोग के बाद अर्थ मन में प्रवेश कर जाय^३ सवारत मुन नहीं होता है, जहाँ सीष्टमपूर्ण तथा अर्थ विशेष से युक्त हो,^४ तथा कान्ति गुण नहीं होता है, जहाँ दम्भ अर्थ सुषकारक हो।^५

अभिप्रेत प्रकार —

भरत मुनि के अनुसार अभिप्रेत चार प्रकार के होते हैं आधिक बाधित बाह्य और आत्मिक। ये ही नाटक के आशय होते हैं।^६ इसी प्रकार बर्मी के शोक और नाट्य नामक भेद बता कर भरत ने नाटक की चार वृत्तियाँ, भाण्टी, आबन्ती, कोटिका और बारमरी तथा पाँच नाट्य प्रवृत्तियाँ आबन्ती बक्षिणात्या, बीरमागवी, पांचाली और मध्यमा बतायी हैं।^७

१ अथपीडाबिहीनोऽपि स्वाध्यासात्तमावकः ।

यत्र दम्भार्थम्यक्तिस्तदोक्तः परिकीर्तितम् ॥ (नाट्यशास्त्रम्, १७, १०१)

२ लुक्प्रयोग्यर्थम्यक्तं सुस्मिष्टं सन्धिकः ।

मुकुमारार्थसंयुक्तं लीकुमार्यं तनुज्यते ॥ (यही १७, १०४)

३ दम्भार्थानुप्रवेशन मनसा परिकल्प्यते ॥

अनन्तरं प्रयोगस्य साध्यम्यक्तिरुद्भासता ॥ (यही १७, १०२)

४ अनेकधर्मीधर्मैर्वैत् लुक्ती लीक्यार्थसंयुतः ।

उपेतमतिविचारार्थं उक्तं कीर्तयते ॥ (यही १७, १०६)

५ यो अनङ्गमीवविषयः प्रज्ञात जनको यजेत् ।

प्रत्यङ्गम्यः प्रयोपेणे च कान्त इति ज्ञायते ॥ (यही १७, १०७)

६ आधिको बाधितश्चैव बाह्यार्थः आत्मिकस्तथा ॥

अत्वारोऽभिनया ह्येते विज्ञेया नाट्यतन्मयाः ॥ (यही ९, २६)

७ लीक्यमर्मी नाट्य बर्मी बर्मी तु द्विविधः ।

भाण्टी सप्तमरी चैव बक्षिणवारमरी तथा ।

अतको, वृत्तयो होता यानु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।

महत्त्व और प्रभाव —

इस प्रकार से, ऊपर भरत मुनि के “नाट्यशास्त्र” में प्रतिपादित सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य शास्त्र की इस विस्तृत परम्परा के प्रवर्तक आचार्य के रूप में मुनि भरत का ही नाम धाम्य किया जाता है। अनुमान किया जाता है कि “नाट्यशास्त्र” एक युग की रचना न होकर अनेक व्यक्तियों के साहित्यिक प्रयास का परवर्त फल है।^१ यह भी अनुमान किया जाता है कि पालिनि की “अष्टाध्यायी” के एक अंशके अनुसार माटक के विद्वानों के संकलन “नटसूत्र” का भी उपयोग भरत के “नाट्यशास्त्र” में किया गया होगा जिसके रचयिता चित्तलि तथा कृष्णास्त्र थे।^२ इसीलिए इस कारण का भी प्रचार है कि भरत के “नाट्यशास्त्र” का उपलब्ध रूप उसके मौखिक रूप से पर्याप्त विश्व हो सकता है और इस कारण इस मूल पाठ की समस्या का समाधान कठिन है।^३ परन्तु भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में अनिवार्य विचारों का महत्त्व और परवर्ती युगों में माध्यता किसी तरह हुई, इसका अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है, कि उनके व्याख्याता कितने हुए और उनसे प्रभाव किन्हीं महत्त्व किया। भरत के विचारों पर यातुमुद्राचार्य उष्मट, मोस्मट, र्मुकुट, भट्ट नामक, हर्ष, कीर्तिधर तथा अन्निरवगुप्त आदि आचार्यों की व्याख्या महत्त्व की समझी जाती है। इनमें अन्निरवगुप्त की व्याख्या अपनी मौखिकता और सम्पन्नता के कारण विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, जिसके विषय में यथा स्थान विचार किया जायगा।

अन्य आचार्य

संस्कृत साहित्य शास्त्र की इस परम्परा में मुनि भरत के पश्चात् मेवाडी नाम के आचार्य का नाम उल्लेखनीय है। इनके विषय में निश्चित ऐतिहासिक विवरण उपलब्ध

माधवी दालिजात्या व तथा वैश्वदेव्यामी पांचासी मध्यामी लैव ओपा नाट्यः
प्रमुत्तमः (नटशास्त्रम् ६, २४ २५, २६)

१ “संस्कृत आलोचना”, १० अक्षरेषु उपाध्याय, पृ० २६०।

२ “संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास”, डा० रामजी उपाध्याय,
पृ० २७०।

३ “History of Sanskrit Poetics, Dr Sushil Kumar De, Vol. I P 23.

नहीं है। राजचरित्र कृत “काव्यमीमांसा” में भी इनका उल्लेख किया गया है। उससे यह भी पता चलता है कि यह जन्म से अच्छे थे। यद्यपि इनकी रचना के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है, परन्तु इनका श्रेष्ठ मुख्यतः अलंकार शास्त्र था। उन्होंने उपमा के सात रूपों का भी निदर्शन किया था।^१ मेघाक्षी के साथ ही अट्टि नामक आचार्य का उल्लेख किया जा सकता है।^२ उन्होंने अपने काव्य ‘राजमण्डप’ के वसुधै सर्व में अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया है जिनकी संख्या अड़तीस है। अलंकार के अतिरिक्त उन्होंने माधुर्य गुण नाविक भाषा सम आदि की भी सम्यक् व्याख्या की है।

भामह

रचना और काल :—

आचार्य भामह का समय छठी सताब्दी का सध्य काल स्वीकार किया जाता है। आचार्य भामह का लिखा हुआ “काव्यालंकार” नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के छः परिच्छेदों में छे प्रथम में काव्य के साधन लक्षण तथा भेद द्वितीय तथा तृतीय में अलंकार चतुर्थ में दोष पंचम में म्याम विरोधी दोष तथा षष्ठ में शब्द सुद्धि का विवेचन किया है।

काव्य साधन —

भामह ने बताया है कि जो व्यक्ति काव्य रचना की इच्छा रखता हो, उसे सव्य सव्य कौप द्वारा माग्य अर्थ ऐतिहासिक कथामों लोक व्यवहार, मुक्ति तथा कसामों का मनन करना चाहिए।^३ उसे सव्य और अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर विद्वानों का

१ ‘संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास’, डा० रामजी उपाध्याय, पृ० २७१।

२ वही पृ० २७१।

३ अथ सव्य सव्यमिमानार्थ इतिहासाध्यायः कथा।

लोको भुक्ति कलायवेति मन्त्रया काव्यपर्यायी ॥ (काव्यालंकार १, ९)

निरूप्य प्राप्त कर ही काव्य की रचना करनी चाहिए^१ और कभी भी सदोप काव्य नहीं रचना चाहिए ।^२

काव्य मक्षण —

रामह के अनुसार छन्द और अर्थ के मिश्रण से ही काव्य का नियाम होता है । उसके पद्य और पद्य दो भेद तथा संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश तीन प्रकार होते हैं ।^३

काव्य के भेद —

रामह ने दो दृष्टियों से काव्य के भेद किये हैं । पहले उन्होंने देवादि वृत्त का निरूपण कक्षाचित और सास्वाधित^४ तथा फिर महाकाव्य नाटक आख्यायिका कथा तथा मुक्तक^५ आदि भेद किये हैं ।

महाकाव्य —

इनमें से प्रथम अर्थात् महाकाव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हुए रामह ने बताया है कि महाकाव्य सर्वव्यापक महात्मा का निरूपक और महान् होता है । उसमें सुन्दर शब्द सुन्दर अर्थ अलंकार तथा सुन्दर वस्तु होनी चाहिए । उसमें पाँच सम्बन्धों मंत्र कृत, प्रमाण युक्त नायक का अभ्युदय होनी चाहिए । वह स्वयं और उत्कर्षणीय होता चाहिए । कुछ स्वभाव का वर्णन तथा विविध दृश निरूपण के साथ उसमें अर्थादि बर्णों का वर्णन होना चाहिए । उसमें पहले नायक का अलंकार दिखाने के बाद

१ छात्रार्थनवेये विज्ञाप्य कृत्वा तद्विदुषासमानम् ।

विशोद्यमान्य निवर्तमान कार्य काव्य विचारतः (वही १, १०)

२ सर्वथा वरमप्येकं न निगाद्यमवद्यतम् ।

वितर्यका हि काव्येन दुस्तुतेनैव निरुद्धते ॥ (वही १, ११)

३ छात्रार्थी तद्विती काव्यं गद्ये पराव्य तद्विती ।

संस्कृतं प्राकृतं अपभ्रंश इति त्रिधा ॥ (वही, १, १५)

४ वृत्तदेवादिचरितप्रति चोत्पाद्य वस्तु न ।

कलापानामप्येति चतुर्षां निरुद्धे पुनः ॥ (वही, १, १७)

५ सांख्योपनिषदार्थं तर्कशास्त्रादि—

अनिवृत्त्यं काव्यारि तद्विदुषः पदमावृत्ते ॥ (वही १, १८)

नहीं कराना चाहिए । यदि नायक का उत्कर्ष किसी कारण से न दिखाना हो तो उसका माध्यायन तथा स्तुति भी निरर्थक है ।^१

नाटक :—

नाटक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए भागह ने बताया है कि उसमें अभिनय योग्य वर्णन होना चाहिये तथा क्षिपरी चम्पा रासक स्फुरक आदि होने चाहिये ।^१ उसमें नायक के वृत्त तथा चेष्टा का वर्णन होना चाहिये । वक्त्र तथा अपरवक्त्र दोनों का प्रयोग तथा जगत्तर के अनुसार भविष्यत् अर्थ निरूपण भी होना चाहिये ।^१

कथा —

कथा की व्याख्या करते हुये भागह ने बताया है कि कथा कवि के अभिप्रायपूर्ण कथनों से युक्त होती है । उसके नियम कथा का हरण युक्त तथा वियोगादि होते हैं ।

- १ सर्ववन्द्यो मृदाकार्ण्यं मृदुताञ्जलमहृत्तव्यं यत् ।
अधान्यसम्बन्धमर्थ्यञ्चसार्त्तकार्यं तत्राश्रयम् ॥
मन्त्रवृत्तप्रयाजाजिनायकाभ्युदयैव यत् ।
वैचमिं सन्धिमिषु क्तं नाति ज्यम्येयमुद्रिमत् ॥
चतुर्वर्गमिवावैर्षिं धूमसाधोर्वैराजित् ।
मुक्तं लोक स्वभावेन रघैरथ सक्त्रं युषक ॥
नायकं प्राप्नुवन्त्यस्य ब्रह्मवीर्यमुताविनि ।
न तस्यैव ब्रह्मं नृपावग्योत्कर्षांमिबिस्तया ॥
यदि काम्यहारीरस्य न स व्यापितयेष्यते ।
न चाभ्युदयमक्तस्य सुभावी ग्रहणस्तथी । (कव्यार्त्तकाट, १, १९, २३)
- २ नाटकं क्षिपरीचम्पारासकस्फुरकादि यत् ।
उक्तं तदभिनयेपार्यमुक्तोऽप्यैस्तस्य विस्तारः । (वही १, २४)
- ३ प्रकृतानाकुलभयमद्यन्वार्थयत् नृतिना ।
यद्येन युक्तोदात्तार्त्तं सौख्यवासाक्यायिका यता ।
नृत्तमारयायते तस्यां नायकेन स्ववेष्टितम् ।
नयनवापरचरमञ्जर् काले माम्यार्थेष्टकिं च ॥

इसमें वचन, अपरवचन दोनों का प्रयोग तथा उद्बुधासों का समावेश होता है । इसमें संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग होता है । इसमें नायक स्वयं कुलीन पुरुष होने के कारण अपना युग वर्णन नहीं करता ।^१

गाथा :-

इसी प्रकार से गाथा की परिभाषा करते हुए आम्ह ने बताया है कि गाथा उसे कहते हैं जो कौनो मान की प्रशंसा उद्दिष्ट रहता हो । इसमें बन्धोक्ति तथा स्वभावोक्ति आदि सभी समाविष्ट होते हैं ।^२

वैदिक और पौड़ीय गैरा-

वैदिक और पौड़ीय भेद बताते हुए आम्ह ने कहा है कि उन्हें पुरुष नहीं मानना चाहिए । जिसमें कई पुष्ट न हों, बन्धोक्ति न हो तथा प्रकाशता, सरलता और कोमलता हो, तथा जो गीत की भाँति भिन्न और सुने में सुन्दर हो, वह वैदिक होता है तथा जिसमें संस्कार हो, परन्तु साम्य बोध, बन्धोक्ति या, काकुलता न हो वह पौड़ीय है और वैदिकों की इससे भिन्न नहीं है ।^३

१ कवेरिमित्राचर्य कथानि कविचरकृता ।

कव्याधुरकतपोमित्रतन्वीयमान्विता ।

न बरवावरकलान्या पुनता नोन्मत्तातवत्पि ।

संस्कृतसंस्कृता केवा कथापर्वजमस्तथा ॥

कवि स्वचरितं तस्या नामकेन तु लोच्यते ।

स्वमुनाविष्कृति कुपारिमज्जतं कवि जगत् ॥ (काव्यालंकार, १, २७, २०)

२ कविचरं पुनर्वाप्यसोकमात्रादि यन् पुनः ।

कुलं बरववाचोत्तमा सर्वमेवैतदिष्यते ॥ (वही, १, ३०)

३ अनुपार्थक्यबोधितं प्रसन्नपुनः कोमलम् ।

मित्रं मितमित्रं तु केवलं सुखिण्यतम् ॥

मनकारवत् काव्यमर्थं व्याप्यमवाकृतम् ।

मोहोद्यमपि कावीरो वेदमिति नाम्ना ॥

(काव्यालंकार, १ ३४, ३५)

नहीं करना चाहिए । यदि नायक का उद्देश्य किसी कारण से न विस्तार हो तो उसका आभास तथा स्तुति भी निरर्थक है ।^१

नाटक —

नाटक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ग्रामह ने बताया है कि उसमें अभिनय योग्य वर्णन होना चाहिये तथा क्षिपरी सम्पा रासक स्वरूपक आदि होने चाहिये ।^२ उसमें नायक के वृत्त तथा चेष्टा का वर्णन होना चाहिये । वक्ता तथा अपरवक्ता कर्तव्यों का प्रयोग तथा अक्षर के अनुसार अभिष्यत् अर्थ निरूपण भी होना चाहिये ।^३

कथा —

कथा की व्याख्या करते हुये ग्रामह ने बताया है कि कथा कवि के अभिप्रायपूर्ण कर्तव्यों से युक्त होती है । उसके विषय कथा का हरण, युद्ध तथा विपोगादि होते हैं ।

१. सर्गबन्धो महाकाव्यं महास्तोत्रमवतुल्यं यत् ।
महाम्यद्वयमर्ष्यमस्तोत्रकारं सत्रामयम् ॥
मन्त्रवृत्तप्रमाणानिनामकान्मुद्रयैव यत् ।
वचनं सन्धिमिमुक्तं नाति व्यक्त्येवमुद्रियत् ॥
चतुर्वर्गमिवापि ध्रुवसारोपदेशकम् ।
मुक्तं लोक स्वभावेन रसैव सक्तं पुनः ॥
नायकं प्रापुण्यस्य ब्रह्मवीर्यवृत्तविधिम् ।
न तस्यैव ब्रह्म ब्रूयाद्व्योक्त्यर्थानिमित्तया ॥
यदि काव्यकरीरस्य न स व्यापितयेष्यति ।
न चाप्नुयदमस्तस्य मुधावी प्रहृष्टतयी । (काम्यालकाट, १, १९, २४)
२. नाटकं क्षिपरीसम्पारासकस्वरूपकादि यत् ।
उक्तं तदभिनेपार्थमुक्तोऽर्थस्तस्य विस्ताः । (बही १, २४)
३. महास्तोत्राहुतमव्यक्त्यर्थपरं वृत्तिना ।
पद्येन मुक्तीवात्तार्था लोच्यवात्ताव्यापिका भता ।
वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वबोध्यितम् ।
वक्तावापरवक्तावर्णं काले नाव्यार्थोऽपि न ॥

उसमें बहव, अपरबहव रूपों का प्रयोग तथा उपह्रस्वसों का अभाव होता है । उसमें संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग होता है । उसमें नायक स्वयं क्षुब्ध होकर ही कारण अपना गुण वर्णन नहीं करता ।^१

गाथा —

इसी प्रकार से गाथा भी परिभाषा करते हुए आम्ह ने बताया है कि गाथा उर्ध्व गच्छते है जो इतने मात्र की प्रशंसा रहित रहना हो । उसमें यथोक्ति तथा स्वभावोक्ति आदि सभी समाविष्ट होते हैं ।^२

वैचर्म और गौडीय शैली—

वैचर्म और गौडीय शैली बताते हुए आम्ह ने कहा है कि उन्हें पुरुष नहीं मानना चाहिए । जिसमें कर्म पुष्प न हो, यथोक्ति न हो तथा प्रसादता, सज्जता और कोमलता हो, तथा जो गीत की भाँति निम और सुनने में सुन्दर हो, वह वैचर्म होता है तथा जिसमें अलंकार हो, परन्तु साम्य बोध, अपरिचित या आश्रुतता न हो वह गौडीय है और वैचर्मों को इससे निम नहीं है ।^३

१ कवेरिनिप्रादकृतं कथानि केरिचरहिता ।

कथाहरमसंज्ञायविश्रमम्बोदयान्विता ।

न अरवापरवचनान्यां पुत्रा भोग्यवाचयामि ।

संस्कृतसंस्कृता शैल्या कथावर्णनमास्तथा ॥

अम्बो स्वचरितं तस्या नायकेन तु लोचते ।

स्वमुक्तविकृतिं कुपौदनिमतः कथं कथः ॥ (काव्यालंकार, १, २४, २९)

२ अनिबद्धं पुनर्भावात्लोकभावादि तत् पुनः ।

पुनतं अरवचनानामेतयां सर्वमेवेतद्विद्यते ॥ (वही, १, ३०)

३ अनुप्यार्थवचकोरितं प्रवचनम् कोमलम् ।

निमं मेवनिवेवं तु केचनं भूतिपेयलम् ॥

अलंकारमव साम्यमर्थं न्याय्यमनाकुलम् ।

भोग्योपमपि तापीयो वैचर्मविधिं नाप्यथा ॥

(काव्यालंकार, १, ३४, ३५)

सबसे पहले सामहू ने नैवार्य विस्मृत अग्न्यार्च अवाचक, अमुक्त तथा गूढ सन्धों के प्रयोग रूप में सामान्य होप बताया है । फिर उन्होंने भुतिकुष्ट, अर्चकुष्ट कल्पनाकुष्ट तथा भुतिकुष्ट नामक बाणी दोषों की ओर संकेत किया है । इनके अतिरिक्त सामहू के विचार हैं अपार्य अर्च्य एकार्य ससंख्य अपक्रम सख्य हीन, यति अष्ट, निध दूत, विस्मिन् देश विरुद्ध काम विरुद्ध प्रतिज्ञाहीन हेतुहीन दृष्टान्तहीन आदि दोषों का भी काम्य में निषेध करना प्रतिपादित किया है ।¹

गुण्य वर्णनः—

काव्य के विविध गुणों का वर्णन करते हुए धामद ने यह प्रतिपादित किया है कि काव्य काव्य में बड़े समासों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, उस उनमें मधुरता और प्रसाद गुणों का सरस समावेश होना चाहिए।

महत्त्व :-

इस प्रकार से आचार्य भामह का नाम संस्कृत साहित्य शास्त्र की उपर्युक्त परम्परा में भरत मुनि के बाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। भामह का सबसे बड़ा कार्य अर्थकार सम्प्रदाय का स्वतन्त्र रूप में स्थापन है। इस सिद्धान्त की परम्परा

- १ नित्यार्थं क्लृप्तमप्यर्थमवाचकमपुनरुक्तम् ।
 पुनरुक्तमपि वाचकमप्यर्थमवाचकम् ॥
 भुक्तिपुण्यार्थपुण्ये च क्लृप्तमपुनरुक्तमपि ।
 भुक्तिपुण्यं तत्रैवापुनरुक्तं बोधं ननु विवक्षितम् ।
 क्लृप्तार्थं व्यर्थमप्यर्थं क्लृप्तमप्यपुनरुक्तम् ।
 क्लृप्तमपि न भुक्तिपुण्यं क्लृप्तमपि न भुक्तिपुण्यं ॥
 वैश्वकालकलाशौक्याप्यायनमित्येव च ।
 भुक्तिपुण्यं तत्रैवापुनरुक्तं क्लृप्तं च विवक्षितम् ॥ (काव्यालंकार, १ ३७. ४, १. २)
 २ क्लृप्तं नास्ति सप्तस्तार्थं कार्यं नपुनरुक्तमपि ।
 क्लृप्तमपि वाचकमप्यर्थमवाचकम् (वही, २, ३)

के प्रचलन के कारण उन्हें अनन्तर बर्ष का प्रचलन आचार्य कहा जाता है। भाष्य के पश्चात् जिन भाषाओं ने इस परम्परा में अपना योगदान दिया, उनमें "काव्यादर्प" के रचयिता बंटी तथा "अलंकारसारसंग्रह" के रचयिता जम्भट के नाम विशेष महत्व के हैं। यों इस परम्परा का प्रसार सुदीर्घ काल तक मिलता है, जिसके साथ अनेक भाषाओं का इतिवत् सम्बन्ध है।

२. बी

रचना और कालः—

सातवीं शताब्दी के आचार्य बंटी "काव्यादर्प" नामक ग्रन्थ के रचयिता थे। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भाष्य के पश्चात् बंटी का नाम लिया जाता है, यद्यपि इन दोनों भाषाओं के विषय में काल सम्बन्धी मजिद बहुत से विद्वानों में रहा है। कुछ लोग भाष्य को बंटी का तथा कुछ लोग बंटी को भाष्य का परवर्ती मानते हैं। कुछ का यह भी विचार है कि यह दोनों आचार्य एक ही शताब्दी में हुए थे। रास पुष्पा ने अपने ग्रन्थ में इस सम्भावना का उल्लेख किया है कि भाष्य बंटी के पूर्ववर्ती थे। बंटी इतिम भारत के सिंह बिन्दु नामक राजा की समाधि के पीछे थे। भाष्य के उपर्युक्त ग्रंथ का अनुवाद विष्णुदीपा में हो चुका है। इसके कुछ अंग कलम् (भाषाकविताय नारा) तथा विजयी भाषा (विजयनगर) में भी अनूचित हो चुके हैं। 'काव्यादर्प' नामक ग्रंथ में छाठे शती के लगभग श्लोक हैं। यह ग्रंथ चार परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें से प्रथम में काव्य के मूल तथा मेघ दीप्ति तथा वृत्तों की व्याख्या है, दूसरे में अर्थात्कार तीसरे में अर्थान्तर तथा चौथे में शब्दों का विवेचन किया गया है। बंटी का महत्व सीधे सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में भी मान्य है।

1 "Dandin had lived in all probability more or less in the same century as Bhamah, but there is no direct means by which we can conclusively fix the date of Dandin. On the whole the weight of evidence, though not conclusive seems to tend to the conclusion that is generally adopted that Bhamah was prior to Dandin." (Das Gupta, "A History of Sanskrit Literature" Vol. I, page 593)

काव्य के भेद—

हंसी ने काव्य के तीन भेद किये हैं । प्रथम छन्दबद्ध अथवा पद्य द्वितीय छन्द हीन अर्थात् पद्यबीर तृतीय पद्य बीर पद्य मिश्रित अर्थात् जम्पू । पद्यमें चार चरण बीर दो भेद जाति छन्द तथा बृत्त छन्द होते हैं ।^१

महाकाव्य—

हंसी के अनुसार महाकाव्य ऐसे कहते हैं । जहाँ बहुत से सर्गों में कथा वर्णित हो । महाकाव्य का आरम्भ आशीर्वाद समस्कार अथवा वस्तु निर्वेच हाथ होता है ।^२ महाकाव्य की रचना का आधार किसी ऐतिहासिक अथवा अन्य रोचक कथा को होता चाहिए । महाकाव्य का नामक बुद्धिमत् और उदात्त होना चाहिए ।^३ महाकाव्य में मन्द, समुद्र पर्वत श्वेतु, तथा जन्ममा सूर्य उपवन, जमकीड़ा मनु पात तथा प्रेमीस्वयं आदि के वर्णन होने चाहिए । इसमें प्रेम विरह, विवाह, कुमारोत्पत्ति विचार विमर्श, राजदूतत्व अभियान, युद्ध तथा नावक विषय आदि के प्रसंग होने चाहिए ।^४ इसमें विविध वृत्तान्त तथा विस्तृत वर्णन होने चाहिए । इसके सर्व सम्पुर्ण होने चाहिए । छन्दों का चयन भी अच्छा होना चाहिए ।^५ महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग का अन्तिम श्लोक विम्व छन्द में होना चाहिए । महाकाव्य को अलंकार पूर्व तथा लोक रंजक होना चाहिए, क्योंकि ये ही

१ पद्यं पद्यं च निबन्धं च तत् निबन्धं व्यवस्थितम् ।

पद्यं बहुवचनी एवम् वृत्तं जातिरिति द्विधा ॥ (काव्यामर्श, १, ११)

२ सर्वज्ञो महाकाव्यमुच्यते त्वस्य मतमम् ।

आशीर्भमनिक्रम्य वस्तुनिर्वेची चापि तत्प्रमुक्तम् ॥ (बही, १, १४)

३ इतिहासकम्योद्भूतमितरथा कथाभवम् ।

चतुर्वर्षकरोत्तं चतुरोदात्तमायकम् (१, १५)

४ मन्दार्थवतीतु आत्रा कीदृशवर्णकः । अत्रावस्यतिलकीया मनुमा मन्दोत्तरीः ॥

(बही १ १६)

५ विप्रसन्नविवाहोपक्रमारोदवचनैः ।

अन्यदुत्पन्नानामिनायकान्मुन्यैरपि ॥ (बही, १, १७)

६ अलंकरणसंश्लेषं रसवासविरम्यम् ।

सर्वैरवतिस्तीर्णैः धाम्यवृत्तैः सुसन्धिभिः (बही, १, १८)

गुण इसके स्वाध्याय में मह्यम्क होते हैं ।^१ यदि किसी महाकाम्य में उपर्युक्त गुणों में से किसी का अभाव हो परन्तु विषय वस्तु की दृष्टि से वह अत्यन्त समृद्ध हो तब भी उसे दूषित नहीं कहा जायगा ।^२ महाकाम्यकार की बाहिए कि वह पहले नायक के गुणों का वर्णन करे तब उसके द्वारा वस्तु की परामय का, क्योंकि यही पीति मनोहर है ।^३ महाकाम्य में नायक के रस शक्ति तथा विद्वत्ता आदि का वर्णन करने के पश्चात् उसे परामित करने के अथ नायक के उत्कर्ष का वर्णन होना चाहिए ।^४

वस्तु का व्यं के मेव आख्यायिका, कथा और चम्पू—

इसी के अनुसार जिस पर चम्पू में चरनों का अभाव हो उसे वस्तु (काव्य) कहते हैं । इसके दो भेद होते हैं, आख्यायिका और कथा । आख्यायिका उसे कहते हैं, जिसमें नायक के द्वारा कथा का वर्णन हो तथा कथा उसे कहते हैं, जिसमें अन्य वाच के द्वारा वर्णन हो । नायक द्वारा कथा वर्णन में उसके स्वयं के द्वारा पुनः वर्णन की श्रेय नहीं कहा जायगा ।^५ आख्यायिका और कथा ये दोनों एक ही जाति की होने पर भी उन्हें दो भिन्न-भिन्न भाग दिये गये हैं । आख्यायिका की अन्य जातियाँ भी इन्हीं दोनों में अन्तर्गत हैं ।^६ कथा हारण, मुद्र, व्रत विधु आदि का वर्णन होने के आख्यायिका के जो अन्तर्गत हैं, वे ही महाकाम्य

१ सर्वत्र विप्रवृत्तान्तेकैर्लोकैर्नवम् ।

काव्यं कथोत्तरस्यायि जायते तत्संहति ॥ (काव्यादर्श, १, १९)

२ मूलकप्यत्र ये चैविवर्तः काव्यं न कुम्पति ।

मनुष्यान्वु संपत्तिपारम्प्यति शोडश ॥ (वही, १, २०)

३ गुणतः प्राप्यपत्य नायकं तेष विधिपाम् ।

निरादरमनियेष कालं प्रवृत्तिमुत्तर ॥ (वही, १, २१)

४ कथावीर्यपुष्पादीनि वर्णयित्वा विधोरणि ।

तत्रमात्रापकोत्कर्षकपनं च विधीति च ॥ (वही, १, २२)

५ नायकैर्लव आख्याय्या नायकैर्नवरेव च ।

स्वगुणप्रतिभिर्योषी नाम भुवार्थप्रतिभः (वही, १, २४)

६ तत् कथाव्यापिकेयेका जातिः अत्रावकाङ्क्षता ।

अर्थवाग्वर्धिव्यति शीपा आख्याय्याव्यतः ॥ (वही, १, २८)

के भी होते हैं। इसीलिए इन्हें व्याख्यातिका के विशेष गुणों के रूप में नहीं माना जाता है।^१ नद्य और पद्य के मिश्रण से जो रचना होती है, उसे चम्पू कहा जाता है।

काव्य की रीतियाँ, गुण-दोष और हेतु —

काव्य की रीतियाँ अनेक हैं, जिनमें पारस्परिक सूक्ष्म भेद मिलते हैं। इनमें से वैदर्भी और मौढ़ी रीतियों में स्पष्ट अन्तर मिलता है।^२ वैदर्भी में श्लेष, प्रसाद मधुरता, सुकुमारता अर्थात् व्यक्तित्व, उच्चारता, शोभा कविता तथा समाधि नामक दस गुण हैं, जिनका मौढ़ी रीति में प्रायः विपर्यय मिलता है।^३

रस पूर्ण काव्य को ही माधुर्य गुण कहते हैं। रस की स्थिति शब्द तथा अर्थ में होती है। जब किसी शब्द समूह का उच्चारण होता है, तो उसमें समता का जो अनुभव होता है, वही अनुभव कव्य पर स्थिति से अनुप्रासयुक्त होकर रस की उत्पत्ति करता है।

जब कोई कवि लोक व्यवहार का पालन करते हुए अन्य अप्रस्तुत के वर्ण को किसी अन्य स्थान पर किसी वाक्यार्थ में पूर्णता से स्थापित करता है, तब उस वाक्यार्थ को समाधि गुण कहा जाता है।^४ यह समाधि गुण ही काव्य का सर्वस्व है, जिसे प्रामाण्य सभी कवियों ने मान्यता प्रदान की है।^५

- १ काव्याहुरजस्रप्रामादिसप्तमोदयादयः ।
सर्वव्यवसना एव नैते वैद्योक्तिका गुणाः ॥ (काव्यादर्श, १, २९)
- २ अस्त्यनेको गिरां मार्गः सुखमभितः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भमौढ़ीवी कव्येतिप्रस्तुताद्वयरी ॥ (वही, १, ४०)
- ३ श्लेष प्रसाद सप्तसा माधुर्य सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तित्वारत्नशोभा कान्तिसमाश्रयः ॥ (वही, १, ४१)
- ४ मधुरं रसमहावि बस्तुमपि रसः स्थितः ।
देन मज्जति भीमन्तो मधुनैव मधुवताः ॥
यथा कयापि भुत्वा यत् समानमनुसूयते ।
तदुपाधि यथासति तानुप्राप्ता रसमहा ॥ (वही, १ ३१ ३२)
- ५ सम्यग्दर्शस्तोम्यन लोकसीमानुपेक्षिता ।
साम्यगधीष्ठं यत्र स समाधि स्मृती यथा ॥ (वही, १ ९४)
- ६ तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिनिर्मितं यो गुणः ।
कवितायै समग्रीणि समेकमुपजीवति ॥ (वही, १, १००)

बंदी ने बताया है कि कवियों को काव्य मर्मज्ञ होना चाहिए और उसके गुण दोषों की यही गति जानना चाहिए, क्योंकि वही काव्य के गुण उसकी समृद्धि के कारण होते हैं वही दोष उसकी विफलता के सामान्यतः काव्य के दोष दोष होते हैं निरर्थक विरुद्धार्थक, अभिप्रायार्थक, सहायपूर्ण, कमहीन अपेक्षित घट्ट, यतिघट्ट, असंगत संविहीन तथा स्वाय समय कला ओक स्याय तथा भाग्य का विरोध । कवियों को इन दोषों दोषों को अपने काव्य में समावेश से रोकना चाहिए ।^१ बंदी ने अंत में यह भी बताया है कि यदि कवि प्रतिभावान है तो उपर्युक्त दोष दोष सीमा का अधिकतम करके दोष नहीं रह जाते हैं ।^२ स्वाभाविक प्रतिभा साधन ज्ञान तथा कठोर अभ्यास इन्हीं से कवित्व धनित समृद्ध होती है ।^३

असंकार विवेचनः—

असंकार काव्य के सौम्यतः कारण कवियों को कहा जाता है ।^४ असंकारों में उत्तम अतिशयोक्ति असंकार होता है । यह असंकार रस स्पष्ट पर होता है वही प्रस्तुत वस्तु के उत्कर्ष का वर्णन लोक मर्यादा का अधिकतम करके किया जाता है ।^५ प्रेम असंकार वही होता है वही अत्यन्त प्रीति कर भाव का वर्णन हो । रसवत् असंकार उसे कहते हैं,

- १ काव्ये दोषा गुणप्रधानं विज्ञातव्या विचक्षणैः ।
दोषा विपत्तये तत्र पुत्रा सपत्तये यथा ॥ (काम्यादर्थ ३, ११४)
- २ अपार्यं व्यर्थमिच्छार्थं सहायमपक्रमम् ।
समहीनं यतिघट्टं, मिश्रवृत्तं निरर्थिकम् ॥
वेदकाल कमालोक्त्यापापमविरोधि च ।
इतिरोषा बन्धिते बन्धनः काव्येषु सुरिभिः (बही १२३, २६)
- ३ विरोधः सकलोऽप्येव कदाचित् कवि कीदृशम् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणा भीषीं निपादते ॥ (बही ३, १०९)
- ४ नैसर्गिकी च प्रतिभा मूर्धं च बहुनिर्मलम् ।
अमररचाभियोषोस्या कारणं काव्यसंपदः ॥ बही, १ १०३)
- ५ काव्य शोभाकरान् वर्णनलकारान् प्रपद्यते ॥ (बही, २, ९)
- ६ विबला या विनेयस्य शोकोऽस्तिरिज्जनी ।
अस्मादतिशयोक्तिः स्यादसंकारोक्तया यथा ॥ (बही २, २१४)

वहाँ रस से उत्पन्न आनन्द वाचक भाव का वर्जन हो। इसी प्रकार से वहाँ मर्म का स्पष्टता है अमिष्यवतीकरण हो वहाँ ऊर्ध्वस्ति अन्तहार होता है।^१ स्नेह अन्तहार सभी बन्धोक्तियों की प्रीति में बुद्धि करता है। अन्ध एवभावोक्ति तथा बन्धोक्ति दो प्रकार का होता है।^२

महत्त्व —

बंदी का स्थान प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्रियों में विधिष्ठ है। उन्होंने संस्कृत साहित्य के विविध सैद्धान्तिक सम्प्रदायों में रीति मत का प्रवर्तन किया जो उनकी सबसे बड़ी देन है और उनके महत्त्व का मुख्य कारण है। कुछ लोगों का अनुमान है कि वाचिनात्प होने के कारण कवयित्री प्रधान पंडित परम्परा के अनुयायियों ने उन्हें नहीं स्वीकार किया।^३ बंदी के सर्वप्रमुख ग्रन्थ “काव्यावर्ष” पर परबर्ती युग के अनेक आचार्यों ने टीकाएँ रहीं। उनमें से एक वाचस्पति की व्याख्या किसी अज्ञात आचार्य की “हृदयपमा” तथा मुनिहरेण काव्यी कृत “कृत्युमप्रतिभा” टीका आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उद्भट

रचना और काल —

आचार्य उद्भट का समय अष्टम बंदी का उदात्तार्द्ध अथवा नवम् घटी पूर्वार्द्ध माना जाता है। यह नाम के समकालीन है। संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में अंतकार सम्प्रदाय के स्थापक के रूप में उद्भट का अग्रतम स्थान है। उनके सिद्धे हुए तीन ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें से प्रथम है “कव्यावर्षस्तत्कार संग्रह” द्वितीय है “नामह विवरण” तथा

१ प्रियः प्रियतराख्यानं रसनुरसपीयमानम् ।

तैजस्वि कडाहंकारं पुनरुत्कर्षं च तत् नयन् । (काव्यावर्ष, २, २७१)

२ स्नेहः सर्वाणि पुष्पाणि प्रायो बन्धोक्तिषु प्रियम् ।

निम्नं हिमा एवभावोक्तिर्यकोक्तिरनेति वाङ्मयम् ॥ (वही, १, १६१)

३ “संस्कृत साहित्य का इतिहास,” पोद्दार, खंड १, पृ० १५१ ।

४ “संस्कृत आलोचना”, श्री बलदेव उपपाध्याय, पृ० २६६ ।

५ “भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा”, डा० गणेश, पृ० ६२ ।

द्वितीय है "कुमार म बभ काव्य ।" इनमें से प्रथम सैद्धांतिक उगम है, जिसमें उद्भुत के काव्य सिद्धांतों का विवरण है । तृतीय, भाग्य के प्रथम की टीका है जो उपसम्भ नहीं है, परन्तु त्रिपदा उन्नेत प्रतिहारोद्भुत न किया है । चतुर्थ एक काव्य है, जिनमें उद्भुत के अन्त डाय प्रद्युन की गये लक्ष्मी के उदाहरण दिये हैं ।

अलंकार विवेचन —

नाटक में नौ रस शृंगार, हास्य कवन गौर वार भयानक, वीरस्य उद्भुत तथा घात होते हैं ।^१ द्विज काव्य में शृंगार जाति रसों का सङ्ग उदय हो, उसे रसवद् अलंकार कहते हैं । रसों का यह उदय दृश्यान्, स्वादी भाव से शरीर भाव, विभाव तथा अनुभाव से होता है ।^२ इसी प्रकार से यही रस जाति भावों के मुख्य अनुभाव जाति हास्य द्विज काव्य का रचना हो वह प्रेय अलंकार शृङ्ग काव्य होता है ।^३ काम, कोप, भाव के काव्य अनीचित्य में प्रथम भावों या रसों की रचना अर्थात् अलंकार कहलाती है ।^४ यही रस भाव रसाभास तथा भावाभास की शान्ति वर्जित हो तथा अन्य रसों के अनुभाव जाति से उपजा हो वह सहाहित्य अलंकार जाता है ।^५ यही किसी उद्भुत वस्तु या महापुरुष का प्रशंसा या लोभक वचन हो यही उदात्त अलंकार होता है ।^६

१ शृंगारहास्यकवनगौरवीर भयानका ।

वीरस्योद्भुत घातस्यैव नम नादौ रसा लभ्यते ॥

(काव्यालंकारसारसंग्रह ४, ४)

२ रसवद्भिन्नतत्त्वशृंगारादिरसोदयम् ।

स्वभावात्स्वभावितकारिनिभावाभिमयास्पदम् ॥ (वही ४, १)

३ रसवदिकानां भावानामनुभावविभूतयः ।

यत्काव्यं कथ्यते सतिस्तत्प्रेयस्वाहुहन् ॥ (वही ४, २)

४ अनौचित्य प्रयुक्तानां कामलोपादिकारणम् ।

भावाभास्य रसानास्यैव नम अर्थात् कथ्यते ॥ (वही ४, ५)

५ समामयतडाभासकृते प्रशंस्यजनम् । अग्न्यानुभाव निःशुभ्यकर्म यत्तत्समाहितम् ॥

(वही ४, ७)

६ उदात्तमूर्धिमवस्तु चरितं च महत्प्रमाणम् ।

उपलक्षणतां प्राप्ते नैतिवृत्तसमागतम् ॥ (वही ४, ८)

महत्त्व :—

जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके हैं सद्गुण की क्वालिटी का कारण मुख्यतः “काव्यालंकार छार संघर्ष” ही है। परवर्ती काम में इस संघ की दो उल्लेखनीय टीकाएँ हुईं। पहली टीका बमनी सताम्बी में मुकुल घट्ट के विषय प्रतिहारानु राव ने की थी और दूसरे टीकाकार राजानक तिलक थे, जिसकी “विबुद्धि” नामक टीका का प्रकाशन सन् १९३१ में बंबई से हुआ था।^१

शामन

रचना और काल —

आचार्य शामन का समय आठवीं सताम्बी का उत्तरार्ध है। यह कास्मीर प्रदेश अयापीव के मन्त्री न। इनका लिखा हुआ ग्रन्थ ग्रन्थ “काव्यालंकार सूत्र” है। जैसा कि इस ग्रन्थ के शीर्षक से ही स्पष्ट है, इसमें काव्य की आलोचना सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शामन का यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है और इसकी सूत्र संख्या तीन सौ अलीप्त है। शामन ने इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप तथा उपवेश का विवेचन और शीतिषों का वर्णन द्वितीय में काव्यदोषों का विवेचन तृतीय में काव्य सुषों का वर्णन चतुर्थ में अलंकार वर्णन तथा पंचम में शब्द भुक्ति का वर्णन किया है। संस्कृत काव्य शास्त्र के इतिहास में शामन का शीति सम्प्रदाय के आचार्य के रूप में विविध स्थान है।

काव्य और अलंकार —

आचार्य शामन के अनुसार काव्य की शोभा अलंकार से ही होती है। “काव्य” शब्द कुछ तथा “अलंकार” संस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए प्रयोग में आया जाता है। लक्षणा से केवल अर्थार्थ का बोधक समझा जाता है। उन्होंने अलंकार की परिभाषा करते हुए बताया है कि शीत्यर्थ को ही अलंकार कहते हैं।^२

१. “संस्कृत आलोचना”, श्री बलदेव उपाध्याय पृ० २६३।

२. “श्रीत्यर्थमलंकारः।” (काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १, १, २)

काव्य का प्रयोजन

बामन ने बताया है कि मुख्य काव्य प्रीति और कीर्ति होने के कारण द्रष्ट और अद्भुत दोनों प्रकार के फल प्राप्त होता है ।^१ इसीलिए काव्य रचना की प्रतिष्ठा यद्यपि काव्य का कार्य बताया जाता है और कुलावर रचना को नारीति का ।^२ विद्वानों ने कीर्ति को स्वार्थ रूप फल बावित्ति तथा अपवर्ग को नरक की दूरी कहा है ।^३ इस प्रकार से बामन ने कवि का दोष काव्य रचना से कीर्ति का प्राप्ति होने को ही काव्य का प्रयोजन प्रतिपादित किया है ।

काव्य के अधिकारी—

पहले बामन ने कवियों के दो प्रकार बताये हैं— १) अरोचकी तथा सत्साम्यवहारी ।^४ इन्हें उन्होंने विवकी और अविवकी भी कहा है । फिर इनमें से केवल प्रथम को ही क कवियों अर्थात् विवकी का ही काव्य का अधिकारी प्रतिपादित किया है ।^५ उन्होंने बताया है कि द्वितीय काटि के अर्थात् सत्साम्यवहारी व्यक्ति शास्त्रों के पारायण से भी स्वयं का योग्य नहीं बना सकते क्योंकि इसकोटि के व्यक्तियों में शास्त्र सिद्ध नहीं हो सकता ।

काव्य की रीतियाँ—

आचार्य बामन ने रीति का महत्व निर्धारित करते हुए बताया है कि रीति काव्य की आत्मा है ।^६ रीति की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि रीति विविध प्रकार की वह रचना होती है ।

१ काव्यं सत् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तितहेतुत्वान् । (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १, ८, ५)

२ प्रतिष्ठा काव्यव्यत्यस्य यामनं शरदि विदुः ।

अपकीर्तिवर्तनी त्वेवं कुलविस्मयिष्यमानान् ॥ (वही, १)

३ कीर्ति इत्यपकलामाहुरासंसारं विपरिणतम् ।

अकीर्ति तु निरातीकनरकोदेषपुतिकाम् ॥ (वही २)

४ अरोचकि- सत्साम्यवहारिणश्च कथम् । (वही १, ८, ६)

५ पूर्व लिप्या विवेकिणाम् । (वही, १, २, ५)

६ रीतिरामा काव्यात् । (वही १, २, ५)

७ विविध पदरचनारीति । (वही १, २, ७)

रीति के भेद—

वामन के मतानुसार रीति तीन प्रकार की होती है (१) वैदर्भी (२) गौड़ी तथा (३) पांचाली ।^१ रीतियों का यह नामकरण विचर्य आदि देशों में आदिष्ठ होने के कारण किया गया है ।^२ इनमें से वैदर्भी रीति बहुरीति है जो समस्त कुलों में सुलभ हो ।^३ यह सभी प्रकार के लोगों में रहित और मजबूर होती है । गौड़ी रीति में भोज तथा कान्ति मुख्य होते हैं । उसमें समास अधिक एवं पद उग्र होते हैं । पांचाली रीति में माधुर्य और शीघ्रमार्ग मुख्य रहते हैं । इनके पद मुकुटार और विष्णुव्यव होते हैं । इन तीनों रीतियों के भीतर काव्य सभी प्रकार से समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार से रेखाओं के बीच में चित्र की प्रतिष्ठा होती है ।^४ वामन ने प्रथम अर्थात् वैदर्भी रीति को सर्वप्राह्य बताया है, क्योंकि वह समस्त सुलभ होती है तथा द्वितीय एवं तृतीय अर्थात् गौड़ी तथा पांचाली को अल्प सुलभ होने के कारण अप्राह्य ।^५ इस प्रकार से उन्होंने वैदर्भी रीति को सर्वसुलभ सुलभ और सर्व प्राह्य बताते हुए जमका महत्त्व सर्वोपरि निर्दिष्ट किया है ।

काव्य के अंग —

वामन ने काव्य के तीन अंग बताये हैं—(१) श्लोक, (२) विद्या तथा (३) प्रकीर्ण ।^६ इनमें से प्रथम से आद्यम है श्लोक व्यवहार,^७ द्वितीय से आद्य है शब्द स्मृति, अत्रिचाल कोष सन्निविष्टि कला धातु काय धातु और इति

१ सा भेदा वैदर्भी गौड़ीया पांचाली रीति (काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १ ८ ९)

२ विचर्यादिषु वृष्यत्वात् तत्प्रमाण्या (वही १, २, १०)

३ समस्तसुमा वैदर्भी (वही १, २, ११)

४ भोज कान्तिमयी गौड़ीया (वही १, २, १२)

५ माधुर्य शीघ्रमार्गोपपन्ना पांचाली । (वही, १, २, १३)

६ एतन्मु तिष्ठतु रीतिषु रेखास्त्रिव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितमिति । (वही पु० १४)

७ एतदां पूर्वा प्राह्या सुलसाकस्यात् (वही १ २, १४)

८ न सुपरितरे स्तोकगुणत्वात् (वही १ २, १५)

९ श्लोको विद्या प्रकीर्णश्च काव्याङ्गानि । (वही १ ३ १)

१० श्लोक वृत्त श्लोकः (वही, १ ३ २)

भीति^१ तथा तृतीय संन्यस्तत्व अनियोग बुद्ध सेवा व्यवसाय प्रतिमान तथा व्यवसाय से वाध्य है ।^२

काव्य के दोष —

वायन ने सर्वप्रथम काव्य के दो दोष किये हैं (१) गद्य तथा (२) पद्य ।^३ इनमें से गद्य कवियों की कसीटी होती है । गद्य के तीन प्रकार होते हैं (१) वृत्तगन्धि (२) पूर्ण तथा (३) उत्कलिका प्रायः ।^४ इनमें से वृत्तगन्धि गद्य बहू होता है, जो पद्यभाष से मुक्त हो ।^५ पूर्ण गद्य अक्षमस्त और अविद्य पद्यों से मुक्त होता है ।^६ तथा उत्कलिकाप्राय गद्य उसे कहते हैं जो पूर्णात्मक पद्य से विपरीत होता है । इसी प्रकार संसम अक्षमस्त तथा विषम आदि के अनुसार पद्य के भी अनेक दोष होते हैं ।^७ यह अति बहू और निबद्ध दो प्रकार का होता है । वायन ने मुक्तक की अपेक्षा प्रत्यक्ष काव्य का महत्व अधिक प्रतिपादित किया है ।

संदर्भ

रचना और कालः—

संदर्भ का समय नहीं बताया है । यह अस्कार सम्प्रदाय के पंडित

१ शास्त्रमूल्यनिर्माण कोशकल्पविविधितिकता कामयातवर्धनीति पूर्वा विद्यः

२ सत्यव्रतमनियोगी बुद्धसेवाव्यवसाय प्रतिमानमवधारण प्रकीर्णम् । (वही १ ३, ३)

(वही १ ३)

३ काव्यमर्ष पद्यम् । (वही १, ३, २१)

४ कवीनां निकर्ष अवगति (वही १, २१)

५ पद्यं वृत्तगन्धि पूर्णमुत्कलिका प्रायः । (वही १ ३ २२)

६ पद्यभाषवद् वृत्तगन्धि । (वही १ ३ २३)

७ अनाविद्यमनित पद्यं पूर्णम् । (वही १ ३ २४)

८ विपरीत मुक्तलिकाप्रायम् (वही १ ३ २५)

९ पद्यं वाक्यवेगेन अपार्थक्यविषयानि मेवेन मिश्री भवति । (वही २६)

है। उनका व्यापक प्रभाव इस सताब्दी के अन्य आचार्यों तथा परवर्ती साहित्य सांस्थियों पर पड़ा। छंद के पिता का नाम भट्ट बाबुलाल था। यह सामवेदी ब्रह्मण थे। छंद का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है। यह ग्रन्थ सालह अध्यायों में विभाजित है। इसमें आचार्य ने काव्य के स्वरूप, शब्दात्मकारों, वर्णमकारों, रीतियों, वृत्तियों, रसों^१ वीरों तथा नायिका भेद का विस्लेषण किया है। इस ग्रन्थ पर परवर्ती टीकाकारों ने अनेक टीकाएँ लिखीं। इनमें से बसन्तभूषण की लिखी हुई टीका उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त ग्याह्वी सताब्दी में लिखी हुई जैन यति नमिसाधु तथा ठेठह्वी सताब्दी में लिखी आधाधर की टीकाएँ उपलब्ध हैं। छंद के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य का प्रयोजन —

छंद के विचार से वेरीयमान और निर्मल रचना करने वाले महाकवि सरस काव्य की रचना करके अपना तथा अपने नामक का नाम अमर कर देता है।^२ यदि सुकविषय ऐसा न करें, तो उन अमर नायकों के नाम इस संसार से क्षीय ही मिट जाय।^३ इसलिए अपने उपर्युक्त कार्य के कारण कवि द्वारा नायकत्व अवश्य ही उपलब्ध होते हैं।^४ यह कार्य एक प्रकार का परोपकार है और परोपकार की महत्ता बहुत अधिक है। साथ ही भक्ति रचना करने वाले कवियों की प्रत्येक कामना अवश्य पूर्ण होती है।^५ इस प्रकार से छंद ने यह नियोजित किया है कि जो कविषय अपनी प्रतिभा और क्षमता की पूर्ण सिद्धि चाहते हैं, उन्हें अनेक विषयों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए तथा

१. बसन्तभूषणभक्तप्रसर- सरसं कुर्वन्महाकवि- काव्यम् ।

स्फुटमा कल्पमनसं प्रतनोति यत् परस्मादि । (काव्यालंकार, १. ४)

२. तत्कारितसुरसंलग्नवृत्तिनि गच्छे तथाहि कावेन ।

न भवेन्नानापि ततो यदि न स्फु- सुकवयो रमन्ताम् । (काव्यालंकार, १. ५)

३. इत्थं स्वास्तु वरीयो विनममलं सज्जनलोककमनीयम् ।

यो यस्य यज्ञस्तनुते तेन कथं तस्य नोपहृतम् ॥ (गह्वी, १. ६)

४. अम्योपकारकरार्थं वर्माय महीयते न नवतीति ।

अभिमतपरमार्थानामविबाधो बाबिनामभ । (गह्वी १. ७)

५. अर्थमनर्थोपशानं समसगमनना यत् यदेवात्म ।

विच्छिन्नचरितसुरस्तुतिरधिगमं समते तथैव कवि- (गह्वी, १. ८)

कवि को निर्दोष काव्य की रचना ही करनी चाहिए ।^१ अथवा शानी पुरुष बाणी के स्वरूप के लिए ही प्रयत्न करते हैं और सुन्दर काव्य बाणी का ही फल है ।^२ काव्य के द्वारा जन रसिकजन को भी चतुर्वर्ण की प्राप्ति होती है, जो नीरस शास्त्रों में कोई रसि नहीं लेते ।^३

काव्य के हेतु —

चन्द्र ने बताया है कि सुन्दर काव्य रचना के लिए उसका शेष रहित एवं आसकारिक होना आवश्यक है, और ऐसी काव्य रचना शक्ति, व्युत्पत्ति तथा व्यंग्य से सम्पन्न है ।^४ इसमें से प्रथम हेतु शक्ति है । इस हेतु के विद्यमान होने से स्वयं चित्त में स्फूर्ति होती है जिसके कारण शायक वाक्य एवं पद रचना होती है ।^५ इसके दो भेद सज्जा तथा उत्पादा होते हैं ।^६ काव्य का दूसरा हेतु व्युत्पत्ति है जिसका आद्यप है छन्द व्याकरण कला आदि का विवेक पूर्ण ज्ञान ।^७ दूसरे शब्दों में सज्जता को ही विस्तार व्युत्पत्ति कहते हैं, क्योंकि इस संसार में मिलने की वाक्य तथा वाचक हैं वे सब

१. कविनि पुरुषार्थविहिं साधुविद्यास्वाङ्गिरविकलां कुशलं ।
अविपतकल श्रेयः कर्तव्यं काव्यममलमलम् । (काव्यलकारः, १, १२)
२. कलमिरमेव हि विदुषां श्रुतिपत्रवाक्यप्रमाथसास्त्रेभ्यः ।
मार्तण्डादौ वाचां वाचनम् मुखादुत्पाद्यकलाः (वही, १, १३)
३. मनु काव्येन किमते सरसताममममममचतुर्वर्णं ।
तन्म ननु च नीरसेभ्यस्ते हि भवन्ति सास्त्रेभ्यः (वही १२, १)
४. तस्यादारनिरासत्सारग्रहणाच्च वाचनं करयं ।
वित्तमानिहं व्यामिषते अक्षितभ्युपतिरभ्यासः ॥ (वही १, १५)
५. भागति तथा मुसमानिनि निस्फुरणमनेकपामिषेयस्य ।
अक्षितभ्यामि पवामि च विमामि मस्यामती शक्तिः (वही १, १५)
६. प्रतिमेतर्बरचिता सहजीत्यामा च सा क्रिया मयति ।
सुता बहु आतता दनवीस्तु ज्ञायती सहजा ॥ (वही १ १६)
७. अद्भ्योम्यकारककलातोक्तवित्तिवपरवार्थं पित्तानात् ॥

काव्यांगों की परिधि में आ जाते हैं।^१ इस प्रकार से सभी विषयों के ज्ञाता कवि मुनीब के पास में निरन्तर काव्य का अभ्यास करना चाहिए।^२

मलकारों का वर्गीकरण —

छंद ने मलकारों के चार भेद किये हैं, १ वास्तव, २ औपम्य ३ अतिशय और ४ श्लेष। श्लेष जितने रूपक आदि भी सम्मिलित हैं, वे उन्हीं के रूप होते हैं।^३

वास्तव —

वास्तव मलकार उन्हें कहते हैं जो किसी वस्तु का स्वल्प वर्णन करे। वह धर्म की पुष्टि करता तथा विपरीत प्रवृत्ति से निवृत्ति कराने वाला होता है। वह औपम्य, अतिशय एवं श्लेष से भिन्न होता है। इसके तेईस भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१ सङ्कोच, २ समुच्चय, ३ वाचि ४ यथासंख्य ५ भाव, ६ पर्याय, ७ विषय ८ अनुमान ९ औपक १० परिकर, ११ परिबृत्ति १२ परिसंख्या १३ हेतु, १४ कारणमात्रा १५ व्यतिरेक १६ अव्योम्य १७ उत्तर, १८ धार, १९ सूक्ष्म, २० शेष २१ अवसर, २२ मीलित एवं २३ एकवली।

औपम्य —

औपम्य मलकार उन्हें कहते हैं जो किसी वस्तु के स्वल्प का सम्पूर्णता से बोध कराने के लिये उसी के समान किसी अन्य वस्तु का वर्णन प्रस्तुत करे। इसके निम्न

मुक्तामुरत विवेको न्युत्पत्तिरित्यु समसेन । (काव्यालंकार १, १५)

१ विस्तारतस्तु किमन्यतस्तु इह वाच्यं न वाचकं लोके ।

न भवति यत्काव्यायं धर्मज्ञत्वं तत्सोऽप्येवा । (वही १ १९)

२ अधिमततकमल्लेयं मुक्तये मुक्तनस्य संनिधौ नियतम् ।

नवर्तविनमय्यमेवमियुक्तं शक्तिमात्मकाव्यम् ॥ (वही १ २०)

३ अर्थस्वात्मकारा वास्तवभौपम्यमतिशयः श्लेषः ।

एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति विशेषाः ॥ (वही ७, ९)

४ वास्तवमिति तज्ज्ञेयं किमपि वस्तुस्वल्प कथनं यत् ।

पुष्पाद्यमविपरीतं निरूपयतिशयमश्लेषम् ॥

इस्य समुद्बोधि सञ्जयजातियथासंख्यमावपर्यायाः ।

विषयाऽनुमान औपकपरिकरपरिवृत्तिपरिसंख्याः ॥

प्रसिद्धि इतनीच मंद होती है, १ उपमा २ उत्प्रेक्षा ३ रूपक ४ अपह्नुति ५ संयम
६ समानोक्ति ७ यत्त ८ उत्तर ९. अन्वोक्ति १० प्रतीप ११ अर्थात्तरम्यास
१२ उभयम्यास, १३ आश्रितान् १४ आशय १५ प्रयत्नोक्त १६ पुष्पाश्र
१७ पूर्व १८ सहोक्ति १९. समुच्चय २० साम्य और २१ स्वरूप ।^१

अतिशय —

अतिशय अलंकार वहाँ पर हाता है, जहाँ पर कोई अर्थ और भव नियम वही
प्रसिद्धि के बोध से लोक का उत्सर्जन कर अल्पया स्वरूप को प्राप्त हो । इन अतिशय
अलंकार के बारह भेद होते हैं जो इस प्रकार हैं १ पूर्व २ बिधय ३ उत्प्रेक्षा
४ बिभावना ५ उच्युष ६ अश्लेष ७ विरोध ८ विषम ९. अर्धमति १० निहित
११ म्यानात्र तथा १२ अहेतु ।^२

होय —

होय अलंकार वहाँ होता है जहाँ अलंकारिक पक्षों से किसी एक वाक्य क अनन्य
अर्थों की अवयवति हो । इसक निम्नलिखित इस भेद हाउ है १ अविचार २ बिचय

हेतु कारकमाला व्यतिरेकोऽप्योन्यमुत्तरं सारम् ।

सुबन्तं सौख्योऽनसरो नीलितदेकावली मेघः ॥ (काव्यालंकार ७ १० ११ ११)

१ सम्पदप्रतिपादयितुं स्वस्वतो वस्तु सत्त्वमामिति ।

वस्तुस्तरमभिधियाद्बुधता यत्स्वित्तरहीयम्यम् ॥

उपमेरुप्रेक्षाकथयपङ्क्तिः सदायः समारोहित

अतमुत्तरमप्योचितः प्रतीपवर्षात्तरम्यासः ॥

उभयम्यासः प्रामितमहाशेष प्रत्यनीक दृष्टान्तः ।

सहोक्तिरसमुच्चयमाम्यस्मरणादि तदभेदाः ॥ (बही, ८, १ २ ३)

२ यथार्थार्थमिदम् प्रसिद्धिवाया हिपर्ययमे याति ।

कश्चित्त्वचश्चिचित्तोर्कस्यादित्यति दायस्तस्य ।

पूर्वविरोधोत्प्रेक्षा बिभावनातदुच्युषाश्लेषविरोधः ।

विषयासंगतिविहितन्यायाता हेतुकोमेवक ।

३ अधिक ४ बह, १ व्यास ६ उक्ति, ७ असम्भव ८ अवयव ९ तत्त्व तथा
१० विरोधानास ।^१

महत्त्व —

खट्ट का स्वान संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में अक्षकार सम्प्रदाय के माग्य आचार्यों में है। उनके द्वारा रचे गये “काम्याक्षकार” नामक ग्रन्थ को कुछ विद्वान वैज्ञानिक और मौलिक प्रणामी से मुक्त मानते हैं।^२ वैया कि हय पीछे खट्ट कर चुके हैं खट्ट हट “काम्याक्षकार” नामक ग्रन्थ की परवर्ती युग के आचार्यों द्वारा कई टीकाएँ प्रस्तुत की गयीं जिनमें से कुछ उपलब्ध भी नहीं हैं। खट्ट की जिस मौलिक स्थापना न परवर्ती विमर्शकों का प्रभावित किया उसके अनुसार छास्त्रीय दृष्टिकोण से काम्य में अक्षकार का स्वान सर्वोपरि है।

आनन्दवर्द्धन

रचना और काल —

आचार्य आनन्दवर्द्धन का समय नवम् घुसती का उत्तरार्ध माना जाता है। यह ध्वनि सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में असाधारण महत्त्व रखते हैं। आनन्दवर्द्धन काश्मीर के अवन्ति वर्मा नामक गणेश के राजकवि थे। आनन्दवर्द्धन का ग्रन्थ “ध्वन्यालोक” है, जिसमें उन्होंने काम्य शास्त्र के विविध पक्षों का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करने के साथ ही साथ ध्वनि सिद्धांत की प्रतिष्ठा भी की है। इस ग्रन्थ में बार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि पर प्राचीन आचार्यों के विचारों की समीक्षात्मक विवेचना है द्वितीय एवं तृतीय में ध्वनि का सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्गीकरण है तथा चतुर्थ में ध्वनि की उप-

१ नवीकाम्येकार्षेयार्थं रचितं परीरेकस्मिन् ।

अर्थे कुक्षते क्षिप्यमर्षज्ञेयः स विज्ञेयः ॥

अविज्ञेयविरोधाधिकवक्ष्यामीत्यर्थमवामयतः ।

तत्त्वविरोधाभावाविति मेमास्तस्य दृष्टस्य ॥ (काम्यग्रन्थकार, १० १, २)

२ “संस्कृत साहित्य का इतिहास”, श्री वाचस्पति वैरोना, पृ० १६४ ।

पाणिनी पर विचार किया है। इस ग्रन्थ पर परवर्ती कास में अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकाओं की रचना हुई, जिनमें से सर्व प्रमुख अभिनव गुप्त लिखित "ध्वन्यालोकचर्चन" है। यही आत्मवर्द्धन के प्रमुख साहित्य सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

ध्वनि की स्थिति एवं स्वरूप विवेचन—

आत्मवर्द्धन ने ध्वनि का काव्य की आत्मा है रूप में प्रतिष्ठित करते हुए इसके दो भेद किये हैं (१) बाह्य तथा (२) प्रतीयमान। उन्होंने ध्वनि को सगीत में आत्मा के समान, सुन्दर, रसपूर्ण काव्य में सार रूप में स्थित बताया है।^१ बाह्य वह है जो उपमा आदि अलंकारों से प्रसिद्ध है तथा प्रतीयमान वह है जो रसमयों के प्रसिद्ध अवयवों से मिलित लावण्य के समान महाकवियों की सुस्तियों में धासित होता है।^२ आत्मवर्द्धन ने इसी प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा निवेदित किया है। इसी के कारण आत्मीक द्वारा रचित शोक काव्य रूप में माध्य हुआ।^३ शोक कवच रस का स्थायी भाव कहा जाता है। प्रतीयमान का उपसम्पन्न रस भाव द्वारा ही होता है। अथवा उसके अर्थ में ही है।^४ क्योंकि यह प्रतीयमान अर्थ प्रथिमा सम्पन्न महाकवि ही समझ सकते हैं। इसलिये काव्य में इसी की प्रथा गता रहती है। महाकवि बनने के अनिवार्य को इसी प्रतीयमान अर्थ एवं उनकी अभिव्यक्ति करने में समर्थ शब्द को सही भाँति पहचानन का प्रयत्न करना चाहिए।^५

१. शीर्षः सहस्रपञ्चाशद्व्यं काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।

बाह्यप्रतीयमानान्वी सत्यं मेधावुन्मी स्मृती ॥ (ध्वन्यालोका १. २)

२. प्रतीयमानं पुनरप्येव वदन्ति बाह्यं महाकवीनाम् ।

अतः तत् प्रसिद्धावयवार्थविरक्तं विभाति लावण्यनिर्वापमानु ॥ (वही १. ४)

३. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा वा विकल्पे पुरा ।

एवञ्चान्वयिगोत्या शोकं समोक्तव्यापत् ॥ (वही १. ५)

४. शोको हि कदण्डसंस्वादिनिपातः । प्रतीयमानस्यावयवमेवैवार्थनिर्वाप
रसभाषमुनेर्गोपयन्तं प्रशङ्क्यतु (वही, ५)

५. शीर्षस्वरूपवर्धित सामर्थ्यश्रीणी दाहदह कञ्चन ।

प्राक्तनं प्रत्यनिलोपी तौ सङ्गर्षी महाकवे ॥ (वही, १, ८)

ध्वनि के क्षेत्र—

अविबक्षित वाक्य या लक्ष्यामूला तथा विवक्षिता परवाक्य या अभिधामूला ये दो ध्वनि के क्षेत्र हैं। इनमें से अविबक्षित वाक्य ध्वनि दो प्रकार की होती है। (१) अर्धान्तर संक्रमित तथा (२) अत्यन्त तिरस्कृत। उपर्युक्त में से विवक्षित वाक्य ध्वनि का स्वरूप दो प्रकार का है। इनमें से प्रथम असंक्षिप्त क्रम से तथा द्वितीय संक्षिप्त क्रम से प्रकाशित होता है।^१ इनमें से रस घाव, तबानास तथा भावधान्ति आदि अकम बची भाव से प्रतीत होकर ध्वनि की आत्मा के रूप में स्थित होता है।^२

प्रबन्ध काव्य में रसामिष्यजनः—

आनन्दबर्द्धन के विचार से महाकाव्य में रस के अनुसार ही जीवित्य होना चाहिए, क्योंकि उसमें रस की ही प्रधानता होती है। इसी कारण से रस प्रधान महाकाव्य को इतिवृत्ति प्रधान महाकाव्य से खेच्छुर कहा जाता है। इसी प्रकार से नाटक में भी रस प्राधान्य पर सर्वाधिक ध्यान देना चाहिए। रस जीवित्य ही यह रचना में भी सर्वत्र सफलता का नियामक होता है, यद्यपि उसमें कोई सख नियम नहीं होता।^३ इस प्रकार से

- १ अर्धान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ।
अविबक्षितवाक्यस्य ध्वनेर्वाक्यं द्विषामतम् ॥ (ध्वन्यालोक, २, १)
- २ असंक्षिप्तक्रमोच्चोक्तः क्रमेण द्योतितः पद्यः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरसत्त्वा द्विषा मत्तः ॥ (वही, २, १)
- ३ रसभावतत्त्वमासत्तत्त्वप्रधानत्वाधिरक्षतः ।
ध्वनेरसमाप्रिज्ञान्यमेव आत्ममानो व्यवस्थितः ॥ (वही २, १)
- ४ सर्वत्रैव तु रसतात्पर्यं यथा रसजीवित्यं अग्यथा तु कामचारः ।
हृयोरपि मार्मयो-सर्वत्रैवविषयमिदं सर्वत्रापि रसतात्पर्यं साधयिष्ये ।
यन्मिथैवैव तु सर्वत्रा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः ॥ (वही ३, ७)
- ५ एतम् यथाकामोचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र यथाकामोचित्यं तु योमियमवस्थिते ॥ (वही ३, ७)

उनके मत के अनुसार रस जीवित का आशय करने वाली रचना गद्य और पद्य सर्वत्र सोमा पायी है। यद्यपि विषय के अनुसार उसमें मोड़ा बहुत भेद अवश्य हो जाता है।^१

रस के विरोधी तत्त्व—

आनन्दबर्द्धनाचार्य ने बताया है कि रस के विरोधी तत्त्वों को कवि को अपने काव्य में समावेशित होने से बचना चाहिए। उन्होंने रस के विरोधी तत्त्वों की संख्या पाँच बतायी है (१) विरोधी रस के सम्बन्धी विभावों आदि को ग्रहण कर लेना (२) रस के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का अपेक्षा कृत अधिक वर्णन (३) अनुपपन्न अवसर पर रस की समाप्ति अवकाश प्रकाशन (४) रस का पूर्ण पोषण होने पर उसकी आवृत्ति बचना उद्बोधन तथा (५) अन्वहार की अनुचितता।^२

प्रबन्ध काव्य में अंगी रस—

आनन्दबर्द्धन के अनुसार काव्य में प्रधान रस का अन्य रसों के साथ समावेश होना स्वाधीन रूप से प्रतीय होने वाले रस की अपेक्षा का विपातक नहीं होता है।^३ जिस प्रकार से किसी प्रबन्ध में व्यापक एक प्रधान कार्य ही रखा जाता है उसी प्रकार व रस भी विधि में भी विरोध नहीं होता है।^४ अन्य रस के प्रधान होने पर उसके विरोधी या

- १ रसवर्धनोपलक्षणीकार्ये जाति सर्वत्र संविता ।
रचना विषयापेक्षं तत्तु द्विविद् विरोधवत् ॥ (उत्पत्त्यालोक ३ ९)
- २ विरोधिरससम्बन्धि विभावो विरिधौ ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोपपन्नस्य वर्णनम् ।
अर्थात् एवं विवक्षितरकांटे च प्रकाशनम् ।
परिधीयं नतस्यापि योग-पुम्पेन वीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्तान्तोचितमेव च ॥ (वही ३ १५, १९)
- ३ रसान्तरमभावेन प्रस्तुतस्य रसस्य च ।
नोपपत्त्यङ्गितां सोपपत्त्यापि रसोपपत्तिः ॥ (वही ३ २२)
- ४ काव्येणैव यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते ।
तथा रसरथापि विधीयते ॥ (वही, ३ २३)

विरोधी किसी रस का परिपोषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे भी उनका विरोध हो सकता है ।^१

शृंगार का प्रमुख रसत्व—

आनन्दवर्द्धन ने शृंगार रस के महत्व का प्रतिपादन करते हुए बताया है कि उत्कृष्टि को इसी रस का वर्णन करते समय अत्यन्त सावधान रहना चाहिए, क्योंकि उसमें प्रमाद तुरन्त प्रकट हो जाता है ।^२ शिष्यों को प्रवृत्त करने के लिए अन्धका काव्य की खोला के लिए यदि इसके विरोधी रसों में इसके अंगों का स्पर्श हो, तो वह दूषित नहीं होता है ।^३

गुणीभूत व्यंग्य —

आनन्दवर्द्धन के विचार के अनुसार गुणीभूत व्यंग्य काव्य का दूसरा भव हाता है । यह वहाँ पर हाता है जहाँ व्यंग्य से सम्बन्ध होने पर वाक्य की वाक्ता अधिक उत्कर्षयुक्त हो जाती है । प्रसन्न एवं गम्भीर आनन्दवाक्य काव्य रचनओं में बुद्धिमान कवि को गुणीभूत व्यंग्य का प्रयोग करना चाहिए ।^४ आनन्दवर्द्धन ने गुणीभूत व्यंग्य का सारी महत्व बताया है । उल्लेख है कि काव्य के व्यापक क्षेत्र में गुणीभूत व्यंग्य का विषय व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध से भी अनेक प्रकार से होता है । इसलिए इसे ध्यानपूर्वक समझना आवश्यक है । आनन्दवर्द्धन ने वहाँ तक कहा है कि चतुर्वर्णों को मुख्य करने वाला काव्य का ऐसा कोई भेद नहीं है जिसमें व्यंग्य अर्थ के सम्बन्ध से सीम्बर्य न समाविष्ट

१. विरोधी विरोधी वा रसोर्गङ्गानि रसस्तरे ।
परिपोषं न नैतव्यस्तथा स्यात् विरोधिता ॥ (ध्वन्यालोक ३ २४)
२. अन्धकानातिप्रवणान् रते तत्रैव उत्कृष्टि ।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि सदित्यन्योपपन्नकथं ॥ (वही ३, २९)
३. विनेयानुत्पुच्छिकानु^५ काव्यज्ञोमार्गमेव वा ।
तद्विचररसस्पर्शस्तद्विज्ञानां न कुप्यति ॥ (वही ३, ३०)
४. प्रकारोन्मो गुणीभूतव्यंग्याः काव्यस्य बुधमेव ।
अथ व्यंग्यान्मये वाक्यवाक्यं स्यात् प्रकर्षकम् ॥ (वही ३ ३२)
५. प्रसन्नगम्भीरपवा काव्यबन्धाः सुजाबहा ।
ये च तेषु प्रकारोऽप्येव योग्य समेवता ॥ (वही ३ ३६)

हो जाता हो। इसलिए विद्वानों को इसे काव्य के परम रहस्य के रूप में समझना चाहिए। दूसरे सार्थों में विभिन्न प्रकार के अर्थकारों आदि से युक्त होने पर भी मुख्यतः मन्त्र ही मन्त्र वचनों का अर्थकार होता है, उसी प्रकार से यह व्याख्यान की धारा ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अर्थकार है।^१ आनन्दवर्द्धन ने यह भी बताया है कि काव्य के द्वारा अर्थान्तर को जो प्रतीति स्पष्ट होती है वह भी व्यंग्य के गौण होने पर इसी के अन्तर्गत आती है।^२ अन्त में आनन्दवर्द्धन ने कहा है कि गुणीभूत व्यंग्य का यह प्रकार भी रस आदि के सात्त्विक विचार से स्थिति हो जाता है।^३

विश्व काव्य का स्वरूप —

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने विश्व काव्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए बताया है कि व्यंग्य के प्रधान और कुछ मात्र में स्थिर होने पर स्थिति और गुणीभूत व्यंग्य काव्यों में विश्व जो काव्य होता है, उस विश्व काव्य कहते हैं। विश्व काव्य का वर्गीकरण करने हुए उन्होंने उसके दो भेद किये हैं। ये त्रेह शब्द और अर्थ पर आधारित होते हैं। इन्हीं के कारण उन्हें प्रथम विश्व तथा अर्थ विश्व कहा जाता है।^४

कवि प्रतिभा —

अन्त में आचार्य आनन्दवर्द्धन ने कवि की प्रतिभा का बहल बताने हुए कहा है

- १ मुख्य महाकविमिरासत्तद्वनमृतामयि ।
प्रतीत्यसामर्थ्यादेवा मृता मरुतैव योषिताम् ॥ (व्याख्यानोक्त, १ ३८)
- २ अर्थान्तरवर्ति कावशा वा सेवा परितुष्यते ।
या व्यंग्यस्य गुणीभूते प्रकार्यमवधारिता ॥ (वही, १ ३९)
- ३ प्रकारोऽयं गुणीभूतार्थयोऽपि अविस्मयताम् ।
अतो रसावित्तात्पर्यं पानोक्तमवा पुनः (वही १ ४१)
- ४ गुणप्रधानमावाध्या व्यंग्यस्यैवं व्यतिष्ठति ।
काव्ये उतै ततोऽप्यतत् तन्निबन्धनमिषोपते ॥ (वही १ ४२)
- ५ चित्रं शब्दार्थं येनैव द्विजं च व्यतिष्ठति ।
तत्र विविधव्यतिर्न वाच्यविश्रयतः परम् । (वही, १, ४३)

कि यदि कवि में प्रतिभा होती है तो कवि और गुणीयुक्त व्यंग्य के माध्यम से काव्य के अर्थों की कभी समाप्ति नहीं होती ।^१

महत्त्व —

इस प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्रकी परम्परा के इतिहास में आचार्य आनन्द वर्द्धन का स्थान कई दृष्टियों से विशिष्ट है । ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का साहित्य शास्त्रीय दृष्टिकोण परम्परागत सैद्धांतिक चिन्तन की तुलना में एक प्रकार से क्रांति कारी चरण कहा जा सकता है । अपने ग्रन्थ “ध्वन्यालोक” में आनन्दवर्द्धन ने काव्य के सामान्य विचार से सम्बन्ध रखने वाले अनेक बिषयों को समाविष्ट नहीं किया । ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में उन्होंने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा प्रतिपादित करते हुए उसकी मुख्यता सिद्ध की । इसके अतिरिक्त आनन्दवर्द्धन का महत्त्व संस्कृत के साहित्य भाष्यों में एक समन्वयकारी विचारक के रूप में भी बहुत अधिक है । “ध्वन्यालोक” में जो साहित्य निरूपण मिलता है, उसके मूल में पूर्ववर्ती समस्त वैचारिक प्रजातियों का अद्भुत समन्वय मिलता है । यही कारण है कि आनन्दवर्द्धन के पश्चात् बितने भी संस्कृत साहित्य शास्त्रीय विचारक हुए, उन्होंने उनसे न्यूनाधिक रूप में प्रभाव अवश्य ग्रहण किया ।

अभिनव गुप्त

रचना और काल —

अभिनव गुप्त का नाम ध्वनि सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करने वालों में महत्त्वपूर्ण है । अपने प्रसिद्ध साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ “अभिनव भाष्यी” के अतिरिक्त इन्होंने “तन्त्रालोक” “परमार्थसार” तथा “प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी” आदि विशिष्ट महत्त्व के ग्रन्थों की रचना भी की । इनके कुछ ग्रन्थ इकट्ठासिद्ध बताये जाते हैं । इनमें से एक अप्राप्य टीका ग्रन्थ “काव्य कौस्तुभ विवरण” भी बताया जाता है, जिसके रचयिता अद्वैत ही थे । अभिनव गुप्त का समय इसकी स्पष्टता नहीं बतायी जा सकता है । इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त तथा माता

१ ध्वनेरित्यं गुणीयुतर्थाव्यस्य च समवधत्वात् ।

२ कव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभापुषः ॥ (ध्वन्यालोक, ४, ९)

का नाम विपिनका था । उन्होंने अपने पिता इन्दुराज तथा गुरु भट्ट तीन भावि से व्याकरण ध्वनि एवं नाट्य शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की ।

भरत सूत्र की व्याख्या —

भरत के 'विद्यावानुभावमभिचारिणोपासमिष्यति' नामक प्रसिद्ध सूत्र की व्याख्या करते हुए अमिनव गुप्त ने कठिन अल्प विद्वानों द्वारा की गयी व्याख्याओं से असहमति प्रकट की है । अमिनवगुप्त ने स्वयं इस सूत्र की व्याख्या करते हुए बताया है कि स्वायी की प्रतीति अनुमिति क रूप में कही जा सकती है उस के नहीं । इसलिए स्वायी को सूत्र में जावा स्वकार समझने के कारण नहीं रखा गया है । अमिनवगुप्त के विचार से जिस प्रकार व्यंग्य के आस्वादि में तत्पर चित्त बाल भाक्ता में आस्वादकता होती है, क्योंकि दूसरी जगह मन रखने से भोजन करके भी आस्वाद का ज्ञान नहीं होता है । प्रसन्नता, बुद्धि जीवन पुष्टि वल और वाराम्य आस्वाद क फल होते हैं । उसी प्रकार अमिनव के द्वारा व्यक्त स्वायी शब्द से प्रतिपादित उस में आस्वादकता निश्चित है । एकाग्रचित्त तन्मय सामाजिक में आस्वादकता होती है । हर्ष प्रधान वमर्दि की भ्रुत्पति, वैराग्य आदि आस्वाद के फल होते हैं इसलिए कर्म कर्ता और फल की समानता से विभाजित है उत्पन्न ज्ञान विषय रचना का व्यापार माना गया है यह तात्पर्य है ।^१

अमिनव का महत्व —

अमिनव गुप्त ने बताया है कि काव्य मुख्यतः पद्य रूपसारमक होता है । उसमें अधिक भाषा ब्यापार काव्य तथा नैपथ्य आदि से रसकला की पूर्ति होती है । विद्वानों ने अमिनव आदि से कुछ नाट्य मटीवित्त कर्म रूप माना है । इस तात्पर्य से नाट्य से ही उन्होंने गतीरति मानी है । अमिनव गुप्त ने उन भाषों से असहमति प्रकट की है जो यह कहते हैं कि प्रतीयमान शीक प्रतीति करने वाले हृदय में कुछ की अनुभूति करता है । उन्होंने बताया है कि वस्तु के स्वभाव के अनुसार ही भाव की अनुभूति होती है । उन्होंने जानन की अतिधमना को सम्बोधन का आस्वाद माना है । इसी प्रकार से उन्होंने यह भी बताया है कि भाव छन्द के अर्थ पर विचार करके यह प्रतीत होता

है कि रसों से भाव नहीं उत्पन्न होते हैं उचित प्रकार से सम्बद्ध हृदयगत रसों विविध प्रकार के अभिव्यक्तियों द्वारा भावना करना ही भाव कहलाता है।^१

शान्त रस—

अभिनवगुप्त ने शान्त रस का विवेचन करते हुए लिखा है कि संसार में प्रत्येक कार्य तथा काम की प्रति ही मोक्ष भी एक प्रकार का पुष्पार्थ है। जिस प्रकार से विविध वृत्तियाँ प्रति यदि न पूर्ण होकर आस्वादि की योग्यता प्राप्त करके शान्ति आदि रसावस्था का प्राप्त कराती हैं उसी प्रकार से मात्र नामक पुष्पार्थ के माध्यम से वृत्तिवृत्ति भी रस की अवस्था को प्राप्त कराती है और इस प्रकार की वृत्ति शान्त रस का स्थायी भाव होती है। दूसरे शब्दों में उसे निवेद कहा जा सकता है। निवेद तत्त्वज्ञान के प्रति उपयोगी होता है। तत्त्वज्ञान से ही भाव होता है।

अगम्य रस—

अभिनवगुप्त ने लिखा है कि स्नेह रस नहीं होता। वह आसक्ति का ही नाम है। स्नेह प्रति और उत्साह आदि में सम्मिश्रित हो जाता है। बर्फों के प्रति स्नेह भय तथा मिर्चों के प्रति प्रति में शान्त होता है। अगम्य स्थायी भावों तथा अगम्य रसों में भूतत्व यही प्रक्रिया रहती है।

महत्त्व —

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में अभिनवगुप्त का उनका अगाध योगदान के कारण बहुत अधिक महत्त्व है। अभिनवगुप्त ने भरत सूत्र की व्याख्या के सम्बन्ध में अनेक व्याख्याकारों के मतों की विवेचना करते हुए बहु निर्बंधित किया है कि मोक्ष और मोक्षिकरण को अर्थियों को नहीं मानना चाहिए क्योंकि रस की व्यंजना और रस के आस्वादि में ये हैं। उन्होंने रस की प्रीति को ही रस को अन्तिम अवस्था स्वीकार किया है। इस प्रकार से अभिनवगुप्त ने भरत मुनि द्वारा प्रवर्तित रस सिद्धान्त स्वरूपात्मक पूर्णता प्रदान की।

१ "न रसेभ्यो भावाः, भावः सान्धार्यपर्यालोचनया चैतरेवोपपन्नमिति श्रुतेऽस्मात् ।
वाचान्मनसैः सम्पृक्तान् हृदयगतान् वाक्यमिति सम्पादयन्ति रसास्तस्मान्भावाः ।
(अभिनव भाटी)

राजशेखर

रचना और काल—

संस्कृत साहित्य में राजशेखर का स्थान एक साम्प्रदायिक नाटककार तथा महाकवि के रूप में प्राप्य है। अपनी मादय कृतियों में राजशेखर ने जो प्रस्तावनात्मक विवरण दिये हैं उनसे ज्ञात होता है कि वह कसीब के राजा रामपाल के गुरुद्वय और उनके छात्रक उत्तम पुत्र महीपाल थे। इस प्रकार इस आधार पर राजशेखर का समय सं० १३७ स. स. १७० वि० तक माना जा सकता है। वह अकालमनस के प्रपौत्र तथा दुर्बल के पुत्र थे। उनकी माता भीमवती थी। राजशेखर का रचनाओं में (१) कर्पूर भंडारी (२) विष्णुदासमंत्रिका (३) बालरामायण (४) बालनारण अथवा प्रचंड पौंड्र तथा (५) काव्य भीमांसा उपलब्ध हैं। इनमें से साहित्य मात्र के क्षेत्र में उनका अंतिम ग्रन्थ ही प्रख्यात है। यह ग्रन्थ अठारह अध्यायों में विभाजित है जो इस प्रकार हैं : भाष्य संग्रह शास्त्रनिर्देश, काव्य पूर्वोत्पत्ति, पञ्चाक्षर विषय व्युत्पत्ति काव्य पाठ्य पदवाच्य विवेक वाक्यमय काव्यार्थमोक्ष अर्थव्याप्ति कवि चर्चा राज चर्चा राज्यहर्षण अर्थहर्षण के भेद कवि समय युद्ध समय स्वर्गपातापीय कवि रहस्य, देश विमान तथा काल विभाग। राजशेखर के इसी ग्रन्थ के आधार पर उनके सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य की रचना और स्वरूप—

राजशेखर ने काव्य की रचना और स्वरूप का विवरण करते हुए लिखा है कि काव्य विद्या का सर्व प्रथम उपदेश नमदाग शिव ने अपने परमपत्नी तथा वैकुण्ठ आदि शिष्यों को दिया था। फिर उनमें से प्रथम शिष्य स्वयम्भू ब्रह्मन्ध न इनका उपदेश श्रुतिया को दिया। इनमें से एक सरस्वती का पुत्र काव्य पुण्य था, जिस उन्होंने काव्य विद्या के प्रचार की आज्ञा दी। उसने इन काव्य विद्या का उपदेश शिष्य स्थापका को दिया था अगस्त्य भागो से विभक्त थी। इन शिष्यों में से प्रत्येक ने इन अठारह भागों में से एक-एक पर विषय अध्ययन करके ग्रन्थ रचना की। इसमें ने कवि रहस्य अतिशय ने उक्ति, मुक्तानाम ने रीति प्रकृति ने अनुप्रास यम ने यमक चिदांगन ने ध्वनि

काम्य सेप ने पश्य ज्ञेय पुनस्त्य ने वास्तव औपकायन ने उपमा परास्पर ने अतिशयोक्ति, उतथ्य न अर्थ इमेय कुबेर ने शब्द और अर्थ उभय कामदेव न विनोद भरत ने नै मादय मन्त्रिकेश्वर ने रस बृहस्पति ने दोष उपमन्थु न गुण पर तथा कुबमार ने उपनिषद् आदि विषयों पर अपने अपने शब्दों का प्रयोजन किया। इस प्रकार स यह काम्य विद्या अनेक भागों में बंट गयी।

राजसेखर के मत से काम्य विद्या का अध्ययन करने से पहले विद्यार्थी को काव्योपयोगी विद्याओं तथा काम्य की उपविद्याओं का उन्नत अध्ययन करना चाहिए। काव्योपयोगी विद्याएँ उन्नीस बार बतायी हैं, व्याकरण कोष छन्द तथा वनकार। काम्य की उपविद्याएँ उन्नीस चीजें बताएँ बतायी हैं। वेही विवेची समाचार सूक्तियाँ व्यवहार, सत्सग एव अध्ययन भजन आदि विषयों का उन्नीसे काम्य का जीवन स्रोत माना है।^१ राजसेखर ने शब्द अर्थ और पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि शब्द उसे कहते हैं जो व्याकरण से प्रवृत्ति प्रत्यय द्वारा सिद्ध हो। निवृत्त, निवृत्त, कोष या व्यवहार से शब्द जिस वस्तु का संकेत करता है वह अर्थ होता है। और, इन दोनों को मिलाकर पद कहा जाता है।^२ इसी प्रकार से काम्य गुण तथा वनकार युक्त वाक्य की कहते हैं। राजसेखर न कतिपय विद्वानों द्वारा माग्य इस मत का वर्णन किया है कि काम्य इसलिए उपदेश करने योग्य नहीं है क्योंकि उससे असत्य तथा आलंकारिक बातें आती हैं। राजसेखर ने बताया है कि अतिशयोक्ति पूर्ण एवं असत्य शब्दों से युक्त होने के कारण ही काम्य स्थाप्य नहीं हो जाता। बहुधा ऐसे वचन असंगत नहीं भी होते। वेदों और शास्त्रों में भी उनका अभाव नहीं है। राजसेखर ने काम्य रचना को सारस्वत मार्ग बताते हुए उसे सभी के लिए वर्जनीय बताया है। राजसेखर ने प्रसन के अनुसार

१ "काम्यमीमांसा" श्री वेङ्कटराज शर्मा सारस्वत पृ० ४।

२ पृथिविचोपनिषद्: काम्यविषयं प्रत्येत। नामवातुपरायणे अतिशय कोष्ठ, शब्दाविधिः अलंकारतत्त्वं च काम्यविधा। कलास्तु अनुपठित्क्यविधाः। सुवचोपवीक्यविधिः, वैद्यवर्ता विद्यमानाः लोक मात, विद्वत्प्रेम्यवच, काम्यमातः पुरातनकविनिष्ठावच। (काम्यमीमांसा पृ० १२१)

३ व्याकरण स्मृति निर्वातः शब्दो निष्कलितश्च वाचिभिर्निर्वृत्तस्तन्मित्रेयोर्वस्ती पद्यम्। (गृही, पृ० २४)

४ गुण वचनयुक्तं वाक्यमेव काम्यम् (काम्यमीमांसा, पृ० ६१)

अरसीस वर्णों को भी औचित्यपूर्ण प्रतिपादित किया है और बताया है कि प्रसंगानुसार वाक्यों में भी उनका समावेश हुआ है।

कवि प्रतिमा और आलोचक —

रामचन्द्र के विचार से चिन्त्य दो प्रकार के होते हैं— बुद्धिमान और बाह्य बुद्धि। इसी प्रकार से बुद्धि तीन प्रकार की होती है स्मृति मति एव प्रज्ञा। इनमें स प्रथम अर्थात् स्मृति वह बुद्धि कहलाती है जो अनुभूत विषयों का स्मरण रखती है, द्वितीय अर्थात् मति वह बुद्धि कहलाती है जो वर्तमान विषयों का मनन करती है तथा तृतीय अर्थात् प्रज्ञा वह बुद्धि होती है जो अविद्य दृष्टिनी होती है। कवि के लिए ये तीनों उपकारक हैं। कवि प्रतिमा का विवेचन करते हुए रामचन्द्र ने कहा है कि प्रतिमा दो प्रकार की होती है कारयित्री और भाषयित्री। इनमें कारयित्री प्रतिमा कवि की और भाषयित्री प्रतिमा आलोचक की उपकारक होती है। कारयित्री प्रतिमा के तीन भेद होते हैं, सहजा आहार्या और औपदेशिकी। इनमें स प्रथम अर्थात् सहजा प्रतिमा जन्मजात होती है, द्वितीय अर्थात् आहार्या प्रतिमा अभ्यास से उत्पन्न होती है तथा तृतीय अर्थात् औपदेशिकी प्रतिमा बरदान प्रथवा उपदेश से प्राप्त होती है। उपर्युक्त तीन प्रकार की प्रतिमा जाने कवि उन्हीं के अनुसार चारस्वद आत्म्याधिक तथा औपदेशिक बड़े जाते हैं। ऊपर कथित भाषयित्री प्रतिमा आलोचक की उपकारक होती है। प्राचीन भाषाज्ञों ने कवि और आलोचक में यह नहीं माना है और उन दोनों

१ त्रिधा च या, स्मृतिमतिः प्रज्ञेति । अत्रिकानुस्मरणस्य स्मृतिः । कतिमानस्य मतिः । ज्ञानप्राप्त्य प्रज्ञानी प्रज्ञेति । ॥ ५॥ विप्रकारादपि कवीनामुपवर्तते । (वही पृ० २४)

२ सा च त्रिधा कारयित्री भाषयित्री च ।
वरेण्यकुर्वाणा कारयित्री ।

साम्प्रति त्रिविधा सहजान्नाहार्यापदेशिकी च अभ्यासतः उत्पत्त्यापेक्षिणी सहजा ।
अभ्यर्थकारपोनिहार्या ।

मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रथवा टीपदेशिकी । (वही पृ० २९)

३ त इमे जयोदयि कवयः चारस्वदः आत्म्याधिकः, औपदेशिकः । (वही पृ० २९)

को कवि कोटि में ही रखा है। राजसेखर ने आलोचकों को चार प्रकार का माना है अरोचनी सतुषाम्मवहारी मत्सरी तथा तूष्णमिनिवेशी। इनमें से प्रथम अर्थात् अरोचनी आलोचक वे होते हैं, जिन्हें अच्छी रचना भी नहीं रुचती द्वितीय अर्थात् सतुषाम्मवहारी आलोचक वे होते हैं जो श्रेष्ठ रचनाओं की ही प्रशंसा करते हैं तृतीय अर्थात् मत्सरी ने आलोचक होते हैं जो किसी श्रेष्ठ रचना को द्वेषवश श्रेष्ठ बताते हैं तथा चतुर्थ अर्थात् तूष्णमिनिवेशी के आलोचक होते हैं, जो निष्पल होते हैं।

प्रतिभा और व्युत्पत्ति —

व्युत्पत्ति से बहुमता से भाष्य है। काव्य में विविधता से ही बहुमता आयी है। राजसेखर ने उचित और अनुचित की विवेचना को ही व्युत्पत्ति कहा है। उनके मत में प्रतिभा और व्युत्पत्ति संयुक्त रूप से काव्य रचना की उत्पत्तिकर होती है। इसलिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति युक्त कवि ही यथार्थ कवि है। राजसेखर ने कवियों की तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं, शास्त्र कवि काव्य कवि तथा उभय कवि। शास्त्र कवि शास्त्रीय गम्भीरता के कारण काव्य में रस सम्पत्ति की ओर ध्यान देता है, काव्य कवि जटिल विषयों को सरस बनाता है तथा उभय कवि इन दोनों कार्यों में समान रूप से सक्षम होता है। इनमें से शास्त्र कवि की भी तीन कोटियाँ हैं शास्त्र का निर्माता शास्त्र में काव्य का विश्लेषक तथा काव्य में शास्त्रीय अर्थ का निवेद्यक। इसी प्रकार से काव्य कवि की आठ कोटियाँ हैं, रचना कवि शब्द कवि अर्थ कवि असंस्कार कवि, उक्ति कवि रस कवि मार्ग कवि तथा शास्त्रार्थ कवि। इनमें से भी शब्द कवि तीन कोटियों में होते हैं, नाम कवि आख्यात कवि तथा नामाख्यात कवि। असंस्कार कवि भी दो प्रकार के होते हैं। सम्मानकार कवि तथा अपमानकार कवि।

राजसेखर के अनुसार उपर्युक्त गुणों में से जो कवि दो या तीन गुणों से युक्त होता है वह अनिष्ट कवि पाँच गुणों से युक्त होने पर मध्यम कवि तथा सर्वगुण युक्त कवि महान् कवि होता है।^१ राजसेखर ने कवि की इस व्यवस्थाएँ बतायी हैं काव्य विद्या स्नातक हृदय कवि अम्पापवेशी सेविता कटमान अज्ञात कवि रत्न ज्ञानेश्वर

अविष्कृती तथा सज्जामिदहा ।^१ इसमें स प्रथम अर्थात् काव्य विद्या ज्ञानक यह कवि है या कवित्व प्राप्ति की इच्छा से काव्य आदि विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुरुकुल में जाना है^२ द्वितीय अर्थात् हृदय कवि यह होता है या कविता रचकर मन ही में रखता है, यकारवचन दूसरों को सुनाता नहीं^३ तृतीय अर्थात् अन्धोपदेही यह कवि है जो अपनी रचना का धेनुपूर्ण होश के अन्ध से घूमर की बराबर सुनाता है । चतुर्थ अर्थात् मरिचा यह कवि है जो किसी प्राचीन कवि को आरस मानकर उसी का अनुसरण करता हुआ स्वयं रचना करता है^४ पंचम अर्थात् घटमान यह कवि होता है या प्रकीर्ण रूप में काव्य रचना करता है किसी एक लिखन की रचना नहीं^५ षष्ठ अर्थात् महाकवि यह होता है जो किसी एक महान् निरुक्त काव्य की रचना करता है^६ सप्तम अर्थात् कविराज यह होता है, या विविध भाषाओं विविध प्रबन्धों और विविध रसों में रचना करने की क्षमता से युक्त होता है, अष्टम अर्थात् आकाशिक कवि होता है या मन्त्र या अनुष्ठान आदि में कवित्व की सिद्धि प्राप्त करता है^७ नवम् अर्थात् अविष्कृती यह कवि होता है या मानु कविता करता है^८, तथा दशम अर्थात् सकामपिता यह कवि होता है,

१ इति च कवेरवस्था मरुति । तत्र च कुडिभवाह्वार्यकुडियो लप्ता तिरस्त्रश्च औप-
हेतिकम्ब । तत्तथा काव्यविद्यामन्त्रको, हृदयकवि, अन्धाय देही, लेखिता,
घटमानो, महाकवि, आर्षेयिक, अविष्कृती संकामपिता च । (वही, पृ० ४७)

२ यः कवित्वकामं काव्यविद्योपविद्यापह्वार्यं गुरुकुलान्मुपसर्ते स विद्यात्यातकः ।
(वही, पृ० ४७)

३ यो हृदय एव कथते मिहृगुले च स हृदयकवि ।

४ यः स्वमपि काव्योपदेयवदन्त्यस्येत्यपरिभ्रमं पठति शोभ्यापदेही ।

५ यः प्रवृत्तं कचनं धीरस्तथागाममन्त्रमप्यमन्त्रमिति स लेखितकः ।

६ योजनवर्गं कथते न तु प्रब्रज्यति स घटमानः ।

७ योज्यतत्प्रबन्धे प्रबोधः स महाकवि ।

८ यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तु ब्रह्मबेदु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसो स्वर्तथ स कविराजः ।
तै यति जपन्त्यपि कथितये ॥

९ यो मन्त्रादुपदेयवदन्त्यस्येत्यपरिभ्रमं पठति स अविष्कृतिः ।

१० यो सर्वैरुद्गृहीतं तैर्बाहिरिदम् अपनं सविष्कृतेही ।

को अविवाहित कुमारिकाओं या कुमारीयों में मन्त्र शक्तिक द्वारा सरस्वती का संचार करके उन्हें काव्य रचना में प्रवृत्त करता है ।^१

काव्य पाक —

राजसेखर से काव्य पाक अथवा परिपक्वता का भी विस्तार से विस्मयम किमा है। उन्होंने बताया है कि निरन्तर अभ्यास करने से कवि द्वारा रचित वाक्यों में परिपक्वता आती है। कवि की परिपक्व अवस्था तभी समझनी चाहिए जब वह विम्यास में स्थिरता प्राप्त हो जाय। एक बार रचित पद में पुनः परिवर्तन की आवश्यकता न प्रतीत होना ही परिपक्वता है। इसी प्रकार से शब्द परिपक्वता तक आती है जब एक बार संयुक्त शब्द स्थिर रहे। राजसेखर के मतानुसार जहाँ पर पद परिवर्तन की आवश्यकता न हो वह शब्द पाक वाता काव्य कहा जाता है। इसी प्रकार से जहाँ रस युक्त या असंस्कार कम सुनिश्चित है उसे वाक्य पाक कहते हैं।

पाक के भेद —

पाक की व्याख्या करने के पश्चात् राजसेखर ने बताया है कि जो कवि काव्य रचना का अभ्यास करना चाहते हैं उनके लिए नौ प्रकार का पाक होता है। विधुमन्त्र पाक बरधर पाक मृद्वीका पाक वार्ताक पाक तिल्लिडीक पाक सहकार पाक क्रमुक पाक जपुस पाक तथा गारिकेन पाक। इनमें से प्रथम अर्थात् विधुमन्त्र पाक उस काव्य रचना को कहते हैं जो नीम की तरह आवि बीर अन्त दोनों स्वर्णों पर नीरस होती है।^२ द्वितीय अर्थात् बरधर पाक उस काव्य रचना को कहते हैं जो वेर की तरह आवि में नीरस तथा अन्त में सरस होती है।^३ तृतीय अर्थात् मृद्वीका पाक उस काव्य रचना को कहते हैं मृद्वीका की तरह आवि में नीरस तथा अन्त में सरस होती है।^४ चतुर्थ अर्थात् वार्ताक पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो बीम की तरह आवि में

१ मः कम्पाकुमारदिपु सिद्धमन्त्र सरस्वती संक्रमयति स संक्रामयिता ।

२ तत्राद्यन्तोरेरस्वाहु विधुमन्त्रपाकम् ।

३ आदाद्यस्वाहु परिणामे मध्यमं बरधरपाकम् ।

४ आदाद्यस्वाहु परिणामे स्वाहु मृद्वीकापाकम् ।

सरस तथा अन्त में नीरस होती है^१, पंचम अर्थात् त्रिगितीकी पाक उस काव्य रचना को कहते हैं जो इसी की तरह भावि और अन्त दोनों में मध्यम स्वाद वाली होती है^२, षष्ठ अर्थात् सहकार पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो काम की तरह भावि में मध्यम तथा अन्त में सरस होती है^३ सप्तम अर्थात् ऋषुक पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो सुपारी की भाँति भावि में सरस और अन्त में नीरस होती है^४ अष्टम अर्थात् जपुष पाक उस काव्य रचना को कहते हैं जो ककड़ी की तरह भावि में सरस तथा अन्त में मध्यम होती है^५, तथा नवम अर्थात् ना केर पाक उस काव्य रचना को कहते हैं, जो मारिखन की तरह भावि से अन्त तक सरस होती है ।^६ राजशेखर ने बताया है कि उपर्युक्त नौ प्रकारों में से द्वेय और उपदेयका विभाजन करके अपने काव्य को परिपक्व बनाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

काव्यार्थ —

राजशेखर ने काव्यार्थ विषयक प्राचीन भाषाओं के मत का परीक्षण करते हुए अपने मत की स्थापना करते हुए कहा है, कि कोई अर्थ रस के अनुकूल तथा कोई प्रतिकूल होता है । काव्य में कवि रचित वाक्य ही सरसता अथवा नीरसता उत्पन्न करते हैं अर्थ नहीं । प्रतिभावान् कवि साधारण अर्थ को सरस तथा प्रतिभा रहित कवि सरस अर्थ को नीरस बना देते हैं । कुछ विद्वानों ने अर्थ समूह को दो भागों में विभक्त किया है मुक्तक काव्यगत अर्थ और प्रबन्ध काव्यगत अर्थ । राजशेखर ने अर्थ के छान प्रकार बताये हैं दिव्य, विदग्ध मानुष मानुष पात्राणीय मर्य पात्राणीय दिव्य पात्राणीय और दिव्य मर्य पात्राणीय । उन्होंने इन समस्त अर्थों को दो भागों में विभाजित किया है मुक्तककाव्यगत अर्थ तथा प्रबन्धकाव्यगत अर्थ । अन्त में राजशेखर ने कवि महिमा

१ आदौ मध्यममग्ने चास्वातु वास्तकिपाकम् ।

२ आतन्तयार्थमध्यमे त्रिगितीकीरपाकम् ।

३ आदौ मध्यममग्ने इवातु सहकारपाकम् ।

४ आदावुत्तममग्ने चास्वातु ऋषुकाकम् ।

५ आदावुत्तममग्ने मध्यमे जपुषपाकम् ।

६ आतन्तयो स्वातु नातिकेरपाकमिति ।

का वर्णन करते हुए बताया है कि जिस कवि का हृदय उपर्युक्त महान् जनों के विवेक से उत्पन्न होता है उसकी भाषा दुर्लभ पथ में भी अश्रुण्वित रहती है ।^१

सम्यक् हरण —

राजसेनार के विचार से किसी दूसरे कवि द्वारा अपनी रचना में प्रयुक्त शब्द अथवा शब्दों को अपनी रचना में प्रयोग को हरण कहते हैं । इस हरण के दो प्रकार हैं, परित्याग्य अर्थात् अघाह्य तथा अनुग्राह्य अर्थात् स्वीकार्य । इनमें से प्रथम शब्द हरण पाँच प्रकार का होता है पद हरण, पाद हरण, अर्थ हरण, वृत्त हरण तथा प्रकल्प हरण । इनके अतिरिक्त किसी दूसरे के काव्य को बन से कर्ष करके स्वनाम से प्रसिद्ध करना भी एक प्रकार का हरण होता है । राजसेनार ने लिखा है कि काव्य रचना करने वाले कवियों और व्यापारियों का अरिब होना सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी कहीं न कहीं जोरी करते हैं । जठ जोरी को खिया सकने वाले अच्छे रहते हैं और उनकी निन्दा नहीं होती । इसी प्रकार से राजसेनार ने शब्द हरण की भी व्याख्या प्रस्तुत की है । उन्होंने बताया है कि किसी कवि द्वारा चुराया हुआ शब्द अथवा भाषा दूसरे कवि का ही समझा जाता है उसके हरण कर्ता का नहीं ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार चरित्र का प्रतिबिम्ब स्वयं से पृथक् नहीं समझा जाता ।

महत्त्व —

राजसेनार का महत्त्व संस्कृत के मुख्य साहित्यशास्त्रियों की परम्परा में बहुत अधिक है । जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं उच्च कोटि की पांडित्य शक्ति के साथ ही साथ राजसेनार में असाधारण रचनात्मक प्रतिभा भी विद्यमान थी । उनके लिये हुए नाटक महानाट्य तथा शास्त्रीय शब्द उनकी प्रतिभा के इस व्यापक स्वरूप का प्रमाण हैं । स्वयं राजसेनार ने अपने को “कपूरसंखरी”^२ तथा “बासरामायन”^३ में कवि-राज कहकर उन्मिश्रित किया है और उसे महाकवि की अपेक्षा भी बहुत ऊँची कोटि

१ शार्ङ्गकार शयोरर्षभ्युत्पन्नमनसः कविः ।

दुर्लभैरपि शब्देभ्यो कुञ्ठिता न सरस्वती ॥

२ ‘कपूरसंखरी’, राजसेनार, १, ९ ।

३ ‘बासरामायन’ राजसेनार, १, १० ।

का अधिकारी बताया है, क्योंकि उनके विचार में महाकवि उसको कहते हैं जो किसी एक भाषा में महान् प्रशस्ति का निर्माता हो तथा कविराज उसे कहते हैं जो विविध भाषाओं और विभिन्न रसों में स्वतन्त्रतापूर्वक काव्य रचना में प्रवृत्त हो सके।^१ राजशेखर की प्रतिभा और सामर्थ्य को देखते हुये उनके कथन को स्वीकार ही करना पड़ता है।

मुकुल भट्ट

मुकुल भट्ट का समय उसी सताब्दी का प्रारम्भिक काल माना जाता है। इनके लिखे हुए एक ही ग्रन्थ के विषय में विवरण उपलब्ध है। यह ग्रन्थ "अभिधावृत्ति मानुषा" है। इसमें मुकुल भट्ट न पन्द्रह कारिकाएँ तथा उनकी वृत्ति के द्वारा अर्ध विरोधपद्म प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ का परवर्ती आचार्यों में विशेष रूप से "काव्य प्रकाश" के प्रणेता भस्मट पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

धर्मजय

रचना और काल —

धर्मजय का समय उसी सताब्दी का उत्तरार्ध है। इनका स्थान वदति संप्रदाय के संहन कर्त्ताओं में प्रमुख है। यह अपने भाई धनिक के साथ मुञ्जराज नामक नरेश की राज सभा में पंडित थे। धर्मजय का ग्रन्थ "दशरूपक" है। इसमें सन्तुलि नाटक के अंग उपार्यों का विलुप्त विनिर्देश उपलब्ध किया है। "दशरूपक" में बार प्रचार तथा नव मम तीन ही कारिकाएँ हैं। इसमें मुञ्जर नाटक की कथावस्तु, प्रथम पात्र नाटक के दस भेद तथा नाटक में रस का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। धनिक ने इस ग्रन्थ की टीका "अवलोका" के नाम से लिखी है। "दशरूपक" में अधिष्ठाता विचारों के के आधार पर धर्मजय के प्रमुख साहित्यिक सिद्धान्तों का परिचय नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

कथक के भेद —

धर्मद्वय ने कथक के दस भेद बताये हैं जो इस प्रकार हैं १ नाटक २ प्रकरण ३ भाषा ४ प्रहसन, ५ द्विग ६ व्यायोग, ७ समवकार, ८ बीची, ९ बंक तथा १० ईहामुख ।^१

नृत्य और नृत्त —

नृत्य और नृत्त का भेद बताते हुये धर्मद्वय ने कहा है कि नृत्य में पर्वों द्वारा व्यक्त कर्म का अभिनय होता है । इसके दो प्रकार होते हैं, १ नार्च और २ बेसी ।^२ तथा नृत्त के भी दो भेद हैं, १ नास्त्य तथा २ तांडव ।^३

कथक के आधार —

धर्मद्वय ने कथक का वर्गीकरण करते हुये उसके तीन आधार तत्वों का निर्धारण किया है, १ वस्तु, २ गीता तथा ३ रस ।

वस्तु —

धर्मद्वय के विचारानुसार कथक की वस्तु दो प्रकार की होती है, १ आधिकारिक तथा २ प्रासंगिक । इनमें से आधिकारिक वस्तु ही प्रधान होती है । प्रासंगिक उसकी संगत होती है ।^४ आधिकारिक वस्तु के तीन भेद होते हैं १ प्रख्यात २ उत्पाद्य तथा ३ मिश्र ।^५ इनमें से प्रख्यात उल्लेख करते हैं जो किसी इतिहास पर आधारित हो उत्पाद्य

१ नाटक सप्रकरणं भाषा प्रहसनं द्विगः ।

व्यायोग समवकारो बीचीः कृतास्तुता इति ॥ (सप्रकरणम्, १ =)

२ अन्त्याङ्गैर्बाधनं नृत्यं नृत्तं तात्तत्तत्तत्तत्तम् ।

नार्चं पदार्थानिबन्धो नार्चो बेसी तथा परम् ॥ (बही, १, ९)

३ मयुरोद्धतमैवेन तद्वत्तयं द्विविधं युतः ।

नास्त्यतांडवकथेन नाटकाद्युपकारकम् ॥ (बही, १, १०)

४ वस्तु च क्रिया ।

५ तत्ताधिकारिकं मुख्यमङ्गु प्रासङ्गिकं विदुः ।

अधिकारः कलत्वात्म्यधिकारी च उत्तमम् ॥ (बही, १, ११)

६ प्रख्यातोत्पाद्यमिष्यत्वेतिवात् त्रैधापि तस्य विधा ।

उसे कहते हैं जो कल्पित हो तथा मिश्र उसे कहते हैं जो हम दोनों का मिश्र रूप हो ।^१ इसी प्रकार से प्रासंगिक वस्तु दो प्रकार की होती है १ पताका तथा २ प्रकरी । इनमें से पताका उसे कहते हैं जो आधिकारिक वस्तु के छाप आदि से अन्त तक रहे तथा प्रकरी उसे कहते हैं, जो किसी बंध मात्र से सम्बन्ध हो ।^२ धनंजय ने माटक में पाँच वर्ग प्रकृतियाँ वस्तु की पाँच अवस्थाएँ तथा पाँच सन्धियाँ भी बतायी हैं । ये वर्ग प्रकृतियाँ १ बीज, २ बिम्ब, ३ पताका ४ प्रकरी तथा ५ कार्य^३ । वस्तु की पाँच अवस्थाएँ १ आरम्भ, २ मूल ३ प्राप्तावाप्ता ४ नियतापत्ति तथा ५ कलापन^४ तथा पाँच सन्धियाँ १ मूल, २ प्रतिमूल ३ गर्भ ४ अवसर्ग तथा ५ उपसंहृति हैं ।^५

नेता —

रूपक का दूसरा आधार धनंजय ने नेता या नायक की माना है । उनके विचार से नेता को विनीत मधुर, स्थायी प्रियंवद रक्तमोक शुचि वाष्पी रुद्रबन्ध स्थिर, युवा बुद्धिमत्त उत्साहवान्, स्मृतिवान् कला समन्वित, मान समन्वित दूर, दृढ़ तेजस्वी, शास्त्रज्ञ तथा धार्मिक होना चाहिए ।^६

रस १—

धनंजय ने रूपक का तीसरा आधाररूप रस रस माना है । रस का सञ्च बताते

- १ प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कथिकल्पितम् ।
मिश्रं च संकराताम्बो दिव्यमर्थाविनेकतः ॥
- २ तानुबन्धं पताकाहं प्रकरी च प्रदेष्टव्यम् । (बिम्बरूपक, १, १३)
- ३ बीज बिम्बपताकाप्रकरी कार्यसप्तधा । (वही १, १५)
- ४ आरम्भमप्राप्त्याप्तानियतापत्तिकलापनः । (वही १ १९)
- ५ मूलप्रतिमूले गर्भः सावमर्गोपसंहृतिः । (वही १, २४)
- ६ नेता विनीतो मधुरस्त्वागी वल प्रियंवदः ।
रक्तमोकः शुचिर्वाष्पी रुद्रबन्धः स्थिरो युवा ॥
बुद्धिपुत्ताहस्मृत्पुत्ताहस्तापानसमन्वितः ।
दूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रज्ञश्च धार्मिकः ॥ (वही २, १२)

हुए उन्होंने सिखा है कि स्वायी भाव में विभाव अनुभाव सात्त्विक भाव तथा व्यभिचारी भाव का योग होने पर उस का आविर्भाव होता है ।^१

विभाव और उसके भेद —

वर्नबय ने विभाव का लक्षण बताते हुए सिखा है कि विभाव भाव की पुष्टि करता है । इसके उन्होंने दो भेद बताये हैं (१) आत्मस्वभाव विभाव तथा (२) उद्दीपन विभाव ।^२

स्वायी भाव :—

स्वायी भाव का लक्षण बताते हुए वर्नबय ने सिखा है कि स्वायी भाव किसी भी प्रकार के भाव से विच्छिन्न नहीं हुमा है और उन सभी को आत्म भाव में परिणत कर देता है ।^३ वर्नबय ने स्वायी भावों की संख्या आठ तक बतायी है (१) रति (२) उत्साह (३) कुपुष्पा (४) कोष (५) हास (६) स्मर (७) वय और (८) शोक । उन्होंने इनको स्वायी भाव नहीं माना है ।

रस और अम्ब वक्ति —

वर्नबय ने ध्वनि के दो भेद किये हैं (१) विवक्षित बाष्प ध्वनि तथा (२) अविवक्षित बाष्प ध्वनि । इनमें से प्रथम वर्णार्थ विवक्षित ध्वनि के दो भेद हैं, (१) असंक्षिप्त कम ध्वनि तथा (२) क्रमोत्थित ध्वनि । इसी प्रकार से द्वितीय वर्णार्थ अविवक्षित बाष्प ध्वनि के भी दो भेद हैं (१) अत्यन्त तिरस्कृत स्वायं ध्वनि तथा (२) वर्णान्तरक्रमित बाष्प ध्वनि ।^४ उन्होंने काव्य को भावक और रस आवि को भाव्य

१ विभावैरनुभावीव सात्त्विकैर्धर्मिवारिभिः ।

अस्तीयमानः स्वकारं स्वायी भावो रस स्फुटः ॥ (वचनकाक, ४ १)

२ आत्ममाप्तया तत्र विभावो भावयोजकः ।

आत्मस्वनोद्दीपनत्वप्रमेयेन स य द्विधा ॥

३ विच्छेदविच्छेदां भावीनिष्कपते न यः ।

आरमभावं ज्ञात्य स्यात् स स्वायी लवनाकारः ॥ (बही ४, १४)

४ रसुत्साहकुपुष्पां कीदो हास स्मरो वयं शोकः ।

अममपि केचित्प्राहुः पुच्छितटयेषु नैवस्त ॥ (बही ४ ३२)

५ तस्य च ध्वनैर्विवक्षितवाच्याविवक्षित बाष्पत्वेन द्विधम् ,

अविवक्षितवाच्योऽप्रयस्ततिरक्तस्वायं प्रान्तर संक्रमित बाष्पत्वेति द्विधा

मानते हुए यह प्रतिपादित किया है कि रस आदि किसी विशिष्ट विभाव आदि वाले काव्य द्वारा भावक व्यक्तियों में एक उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार से काव्य भावक लक्षण सम्बन्ध के अभाव में काव्य कर्मों में भी रस आदि का भावन नहीं होता।

रसास्वाद्य और रसके मोक्षता—

धनंजय के विचार से स्वाधी भाव स्वास्वाद के कारण रस बनाता है। उन्होंने यह भी माना है कि वह रसिक में ही विद्यमान होता है। काव्य को धनंजय ने रसिक परक मान है, और रस को रसने बर्ती। उन्होंने यह भी लिखा है कि काव्य के अर्थ से भावित आस्वाद नर्तक में भी होता है।^१

काव्य से स्वाधीभूति और रस संख्या —

धनंजय ने काव्य से स्वाधीभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए बताया है कि स्वाद्य काव्यार्थ के समर्थ से अस्मान्द रूप में उत्पन्न होता है। उन्होंने मन की चार अवस्थाओं (१) विकास (२) विस्तार, (३) लोभ तथा (४) विक्षेप के अनुसार चार भेद बताये हैं (१) भृंगार, (२) बीर, (३) बीमत्स तथा (४) रौद्र। उन्होंने बताया है कि इनसे ही पृथक् रूप से (१) हास्य (२) अद्भुत (३) भय तथा (४) कथप की उत्पत्ति हुई है। छान्त रस को धनंजय ने अभिनेय नहीं माना है। इसी कारण रूपक में उन्होंने उसे स्थान नहीं दिया है। परन्तु काव्य क्षेत्र से उन्होंने उसका निषेध नहीं किया है। काव्य में उसे मर्यादित बताते हुए उन्होंने उसे अभिवार्य तथा सम का प्रवर्ण माना है और उसका स्वरूप 'मोह' बताया है।^२ छान्त रस में कुछ कुछ चिन्ता, द्वेष राग इच्छा आदि का कभाव और सम भाव की प्रधानता रहती है। अन्त में धनंजय ने कहा है कि चन्द्र आदि विभावों निर्बल आदि सचारी भावों तथा रोमांच आदि

विचालितवाच्यस्य अतंसहितकर्मः क्रमोत्पत्त्यवधि द्विविधः ।

१ काव्यार्थभावनाम्बाहो नर्तकस्य नावाधतिः । (शङ्करक, ४, ४२)

२ स्मरः काव्यार्थसमोदाहारमात्मन्मुमुक्षुः ।

विकाशविस्तारयोपविशेयः स चतुर्विधः ।

भृंगारबीरबीमत्सरोद्रेषु म्मत्तः क्रमात् ।

हास्याद्भुतमयोमर्क्यकल्पनां त एव हि ॥ (यही, ४, ४३, ४४)

३ समप्रकटो निर्वाच्यो मुदितादेस्तथाप्यतः । (यही ४, ४५)

४ न यत्र दुर्लभं न दुर्लभं न चिन्ता न द्वेषरागी न च काविकिन्दा ।

रहास्यो यन्तः कल्पितो मुनीनां सौख्ये नाप्येवमप्रधानः ॥

जो से जो स्थायी भाव भावित होता है, उसे ही रस कहते हैं।^१ धर्मजय ने शृंगार तीन भेद किये हैं (१) अरोग शृंगार, (२) विप्रयोग शृंगार तथा (३) संमोग।^२ इनमें से अयोग शृंगार उसे कहते हैं वहाँ पर मदीन प्रेमियों का संमोग तथा बचका किसी देखी परिस्थितिबध्म हो सके।^३ धर्मजय ने अयोग शृंगार की अवस्थाएँ बतायी हैं, (१) अमिताया (२) चिन्तन, (३) स्मृति (४) गुणकथा अद्वेय (५) प्रलाप (६) उग्राव (७) संज्वर, (८) अकृता तथा (९) मरुत।^४

धर्मजय का स्थान संस्कृत में नाट्य शास्त्र के वैज्ञानिक स्वल्प निरूपण की दृष्टि से ऊँचा है। इस दृष्टिकोण से उन्हें भरत मुनि की परम्परा में जाने वाला शास्त्रज्ञ आ सकता है। भरत मुनि द्वारा प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' की ही परम्परा में उनका "दशकर्मक" की गणना की जाती है। उन्होंने रस की उत्पत्ति के विषय में विचार हुए ध्वनि का खंडन किया है। धर्मजय का महत्त्व रस के महान् व्याख्याता के में भी है।

भट्ट सीत

भट्ट सीत का समय बसबी सताब्दी का उत्तरार्ध अनुमानित किया जाता है।^५ विषय में जो विवरण उपलब्ध है उससे यह बात होता है कि यह आनन्दचर्चन के

१ पदार्थरिमुनिर्वैदरोमावाविस्वल्पकेः।

काव्यप्रतिभासंभवायनुभावमक्यतां गते। (धर्मजयक, ४, ४६)

२ आधोयो विप्रयोगस्थ समोगमेति स विधा।

३ तत्राधोयोऽनुराधोपि नववयीरेकचित्तयोः।

पारतन्त्र्येन देवाही विप्रकर्षाव, संमोगः।

४ दशकवस्थाः स तत्रादावमितायाव विस्तृतम्।

स्मृतिगुणकयोऽद्वेयप्रलापोऽम्बावसंज्वराः।

अकृता मरुतं चेति दुरवगस्यं यथोत्तरम् ॥ (वही ४, ३२)

पुत्र थे। इनके लिखे हुए एक ग्रन्थ का उल्लेख किया जाता है जिसका शीर्षक काव्य कोशुक^१ है। अपने इस ग्रन्थ में भट्ट तीर्थ ने साहित्य रस को सर्वोपरि स्थापित किया है, क्योंकि उनके विचार से यह शोध का साधन होता है। भट्ट तीर्थ के इस ग्रन्थ की टीका अमिनबमुत्त द्वारा "विचरण" शीर्षक से की गयी थी।

भट्ट नायक

भट्ट नायक का समय भी इसी सताब्दी ही माना जाता है। उनके लिखे हुए एक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है, जिसका शीर्षक "हृदय वर्णन" है। भट्ट नायक ने साहित्य साधन विषयक अपने इस ग्रन्थ में काव्य में रस को महत्व देते हुए काव्य की आत्मा के रूप में रस को ही मान्यता दी है। रस निष्पत्ति के लिए उन्होंने ध्वनि को अनपेक्षित बताया है। इस कारण से उनकी गणना रस सम्प्रदायी भाषाओं में ही की जानी चाहिए। राज्य के बड़े विम्वार पर विचार करते हुए उन्होंने इसके तीन क्रम बताये हैं अमित्रा, भावना तथा आंगी कृति। इनकी उन्होंने पृथक् पृथक् व्याख्या भी प्रस्तुत की है। भट्ट नायक के परवर्ती विचारकों के ग्रन्थों को देखने से उनके प्रभाव और महत्व का परिचय मिलता है।

कुन्तक

रचना और काल —

आचार्य कुन्तक का समय इसी सताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है।^१ कुछ लोग उन्हें प्याहली सताब्दी के प्रारम्भ में भी मानते हैं।^२ यह बभ्रोकि सिद्धान्त के प्रवर्तक के रूप में सम्मान्य है। इनका सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ "बभ्रोकिजीवितम्" है। आचार्य कुन्तक अमिनबमुत्त के समकालीन माने जाते हैं। बभ्रोकिजीवितम् में चार श्लोक हैं। इनमें बभ्रोकि के स्वरूप की वैज्ञानिक तथा विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गयी है। "बभ्रोकिजीवितम्" में अमिष्यक्त कुन्तक के साहित्यिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

१ "संस्कृत आलोचना", श्री बसन्तदेव अप्पय्य पृ० २६१।

२ "संस्कृत साहित्य का इतिहास", श्री बाबलपति श्रीवास्तव पृ० ९४२।

काव्य का प्रयोजन —

कुन्दक ने काव्य शब्द को शब्द कुलीनों के हृदयों को आनन्दित करने वाला कोमल तथा मृदु सेवी में अभिव्यक्त बर्ण सिद्धि का मार्ग बताया है ।^१ उन्होंने कहा है, काव्य के परिज्ञान से पुष्पों को नूतन औचित्ययुक्त व्यवहार तथा चैष्टा आदि का सीम्बर्ष प्राप्त हो सकता है ।^२

काव्य में वर्तकार तथा वर्तकार्य —

कुन्दक वर्तकार की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिससे वर्तकृति हो उसे वर्तकार कहते हैं । इसी प्रकार से उन्होंने कहा है कि शब्द तथा वर्ण दोनों ही वर्तकार्य होते हैं । बकोटि को उन्होंने शब्द तथा वर्ण का वर्तकार प्रतिपादित किया है और कहा है कि बकोटि से ही ये दोनों वर्तकृत होते हैं ।^३

काव्य तथा साहित्य —

कुन्दक ने काव्य की विवेचना करते हुए उसे शब्द वर्ण तथा वर्तकार की समष्टि बताया है । काव्य का लक्षण देते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य वर्णों के सुन्दर कवि व्यापार से युक्त शब्द में व्यवस्थित शब्द तथा वर्ण के संयोग से काव्य की उत्पत्ति होती है । उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से माग्य किया है कि सर्वयुक्त तथा संयत शब्द एवं वर्ण एक दूसरे की घोमा बृद्धि करते हैं ।^४ उन्होंने इनकी वर्तनिर्भरता की ओर

- १ वर्तविद्यापनोपमः सुकुमार कनोदितः
काव्यवर्णोर्मिजस्तानां हृदयमपारक्यपदम् (बकोटिलीलितम् १, ३)
- २ व्यवहारपरिस्पन्वसौम्बर्ष व्यवहारिकः ।
सत्काम्याधिपमावेष नूतनोचित्यमाप्यते ॥ (वही, १, ४)
- ३ समावेदावर्तकार तयोः पुनर्वर्तकृतिः ।
बकोटिरेव वैश्ववर्तनीयमिति वक्ष्यते ॥ (वही १ १०)
- ४ शब्दाणां सङ्गितो बककविश्यापारभाषिणि ।
शब्दे व्यवस्थितो काव्यं साहित्यवाहमाकारिणि ॥ (वही, १, ७)
- ५ समतर्कगुणौ सन्तौ सुहृदविव संपत्तौ ।
परस्परस्य दोषाये शब्दाचौ यवतौ यथा ॥

संकेत करते हुए बताया है कि समर्थ शब्द के अभाव में अर्थ निर्वाह हो जाता है तथा सामाजिक अर्थ के अभाव में समर्थ शब्द भी भारभूत बनने लगते हैं। इस प्रकार ही काव्य में उन्होंने उस शब्द को वर्णित कहा है जो काव्योचित समस्त सामग्री से युक्त हो। काव्य में उन्होंने उस अर्थ को वर्णित कहा है जो सुकुमार हो।

साहित्य का स्वरूप —

कुल्लुक के विचारानुसार शोभायुक्ता के प्रति एवम्बोध की स्तुतिबिम्बिता रहित एक प्रकार की अनिर्वचनीय एवं अनोहर स्थिति ही साहित्य है।^१ इसी प्रकार वे उनके मत से साहित्य उसे कहते हैं जो वाक्य का सार होता है।

वक्रोक्ति —

वक्रोक्ति की परिभाषा देते हुए कुल्लुक ने बताया है कि विभिन्न वर्णन सेमी को ही वक्रोक्ति कहते हैं। उन्होंने कहा है कि व्यापार की वक्रता और प्रकार की होती है, परन्तु उसके अनेक भेद तथा उपभेद किये जा सकते हैं। उन्होंने स्वयं इसके दोषोपधेयों की विस्तृत व्याख्या की है।

स्वभावोक्ति विचारक —

कुल्लुक ने स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं माना है तथा उन शास्त्रज्ञों का विरोध किया है जो स्वभावोक्ति को अलंकार मानते हैं। कुल्लुक ने अनेक उर्कें देते हुए कहा है कि वहाँ पर स्वभाव की ही वर्णन ही वहाँ पर स्वाभावोक्ति हो सकती है। परन्तु वृत्ति स्वभाव का ही वर्णन अलंकार्य है, इस लिए उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता।

व्युत्पत्ति —

कुल्लुक संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के पिता के रूप में प्रसिद्ध है। उन्होंने वक्रोक्ति को एक पुष्ट स्वरूप और वैज्ञानिक व्याख्या से युक्त किया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य में सामाजिक अभिव्यक्ति को स्वीकार करते हुए समोपनिष्ठ सिद्ध किया और उसे ही काव्य की आत्मा माना।^२ इस दृष्टि से कुल्लुक ने

१ साहित्यमत्तयोः शोभायुक्ता प्रतिभाप्यकौ ।

अभ्युपानतिरित्यतन्मनोहारिण्य व विपक्तिः (वक्रोक्तिविविक्तम्, १, १७)

२ "History of Sanskrit Poetics" S. K. Dey p. 236

अपने जिस ग्रन्थ “ब्रह्मोक्तिजीवितम्” की रचना की है उसको असाधारण महत्त्व का स्वीकार किया गया है।^१ ब्रह्मोक्ति सिद्धान्त का नियम कुन्तक की गहन वैचारिक शक्ति का भी परिचायक है। कुन्तक ने पूर्ववर्ती साहित्य सास्त्रियों की भाँति ब्रह्मोक्ति को केवल एक अलंकार के रूप में नहीं माना बल्कि उसे प्रायः सभी अलंकारों का मूल प्रतिपादित किया। इस दृष्टि से उन्होंने न केवल ब्रह्मोक्ति के स्वरूप की मौलिक व्याख्या की बल्कि उसे एक व्यापक अर्थ भी प्रदान किया। आगे चलकर कायक बाबि बाबायों ने भी कुन्तक के इस सिद्धान्त को मान्यता दी। इस प्रकार से जहाँ परवर्ती युगों में कुन्तक के इस सिद्धान्त को व्यापक क्षेत्रीय मान्यता प्राप्त हुई वहीं कुछ विद्वानों ने ब्रह्मोक्ति सिद्धान्त को अलंकार सम्प्रदाय की ही एक शाखा माना एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया। प्रो० पी० बी० काये ने तथा डा० सुधीन कुमार डे ने अपने ग्रन्थों में इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किये हैं।

महिम भट्ट

रचना और काल —

आचार्य महिम भट्ट का समय प्यारङ्गी खताली का मध्य माग माना जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। ध्वनि सम्प्रदाय के विरोधियों में इनका नाम इसलिये उल्लेखनीय है, क्योंकि उन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का वैज्ञानिक और शास्त्रीय ढंग में तर्कसंगत रूप में खंडन किया। इस दृष्टि से महिम भट्ट की कृति “व्यक्ति विवेक” विविध महत्त्व रखता है। “व्यक्ति विवेक” तीन विमर्शों में है, जिसके प्रथम विमर्श में ध्वनि का ससजन तथा अनुभास में उसका अन्तर्भाव द्वितीय में आलोचित्य काव्य दोष का विस्तृत वर्णन तथा तृतीय विमर्श में ध्वनि की सौधाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। महिम भट्ट के इसी ग्रन्थ के आचार पर उनके विचारों का ऐतान्त्रिक परिचय संक्षेप में यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

वाक्य का स्वरूप —

महिम भट्ट ने वाक्य का स्वरूप निर्धारण करते हुये कहा है कि “चूँकि वाक्य में एक

ही क्रिया होती है, इसलिये वह क्रिया प्रधान ही होता है। उसके अन्य भेद नहीं होते।^१

अर्थ प्रकार :-

महिम भट्ट के अनुसार अर्थ दो प्रकार का होता है, (१) वाच्य अर्थ तथा (२) अनुमेय अर्थ। इनमें से वाच्य अर्थ उसे कहते हैं जिसकी लक्ष्यता यथार्थ मात्र से पुनं हो जाय। इसी प्रकार से अनुमेय अर्थ वह होता है जिसका बोध उपादान मलों, से हो। इन्हें मुख्य अर्थ तथा गौण अर्थ भी कहते हैं।^२ इनमें से द्वितीय अवधि अनुमेय अर्थ के तीन भेद होते हैं (१) वस्तुमान (२) कर्त्तृकार तथा (३) रस। इनमें से प्रथम दो वाच्य में भी संभाव्य होते हैं, परन्तु तृतीय केवल अनुमेय होता है।^३

ध्वनि का परार्थानुमान में अन्तर्धान —

पश्चिम भट्ट ने बताया है कि ध्वनि की अपेक्षा अनुमान महान्वित है, क्योंकि उसमें ध्वनि के प्रतिरिक्त पर्यायोक्ति तथा शुचीभूत व्यर्थ आदि का भी समावेश होता है। यह अनुमान परार्थानुमान होता, क्योंकि यह कथन व्यापार पूर्वक होता है।^४

१ वाच्यमेक प्रकारं, क्रिया प्रधानात्, उपादानैक्यवात् ।

(व्यक्तिविवेक, पृ० ३२)

२ भुविमानेन यथास्थ तादर्थ्यमवसीयते ।

तन्मनुष्यमर्थं मन्वन्ते धीर्षं यत्नोपपादितम् ॥ (वही पृ० ३९)

३ तस्य दृक् तदनुमिताया निगद्युतापत्तिरनुमीयत सोनुमेय ।

त च विविक्तः वस्तुमात्रमन्तर्ध्वना रज्ज्वरयश्चेति ।

तत्रापी वाक्यावधि संभवता ।

अन्यस्तन्नुमेयः (वही ४०)

४ तदेवं वाच्यप्रतीपमानयोर्वस्यमायेक्येन तिपत्तिप्रज्ञावस्य समर्थवत्

सर्वस्यैव ध्वनिरनुमीयताः समन्वितो भवति तस्य त तदपेक्षया

महान्वितवत् ।

महान्वितवत्त्वं चाप्य ध्वनिव्यतिरिक्तेषु

विषये पर्यायोक्त्याही शुचीभूत व्यर्थ्याही च सर्वत्र सम्भवत् ।

तत्र च वस्तुमव्यापारपूर्वकत्वात् परार्थवित्पद्यमन्तव्यम् ॥ (वही, पृ० ६३)

जाता है। "व्यक्ति विवेक" पर आये सब कर सम्पत्ति में एक टीका भी रखी थी। "व्यक्ति विवेक" में आचार्य महिम्न भट्ट ने सभी प्रकार की व्यक्तियों को अनुमान के अन्तर्गत ही रखा है। उन्होंने आनन्दवन्दन की व्यक्ति सम्बन्धी स्थापनाओं की परीक्षा करते हुए इस मत का प्रतिपादन किया है कि जिसे उन्होंने व्यक्ति कहा है, वह वास्तव में अनुमान का एक प्रकार। यही नहीं पूर्ववर्ती उस सिद्धान्त का प्रवर्तन करते हुए भी उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया है कि उस की अभिव्यक्ति भी वास्तव में अनुमान से ही होती है। इस प्रकार से व्यक्ति सिद्धान्त के विरोधी पास्तव्यों में आचार्य महिम्न भट्ट का स्थान बहुत ऊँचा है।

भोज

रचना और काल —

भोज का समय म्हास्वयी पञ्चमयी का पूर्वार्ध माना जाता है यह बात नमरी के राजा से। इनके निवेदने से ज्ञानों का उल्लेख किया जात (१) सरस्वती कंडावरण तथा (२) गृध्वाक प्रकाश। इनमें से प्रथम शब्द ही पूर्ण रूप में उपलब्ध है और विवेक रूप से यह महत्वपूर्ण है। यह शब्द पाँच अध्यायों में विभाजित है। इनमें प्रथम में काव्य के मुख तथा दोप द्वितीय में पद्यार्थकार, तृतीय में अर्थार्थकार चतुर्थ में उपमार्थकार तथा पंचम अध्याय में उस भाव आदि की व्याख्या की गई है। भोज के इसी शब्द के आधार पर उनके साहित्यिक सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

वाङ्मय के भिन्न—

भोज के अनुसार वाङ्मय या ज्ञेय उसे कहते हैं जिससे विविध तथा निवेद का ज्ञान एवं शोक यात्रा का प्रवर्तन हो।^१ उन्होंने उसके दो प्रकार बताये हैं।

१. अर्थोक्तं च निवेदं च व्युत्पत्तये कारणम् ।

सदस्यैर्बहुतेन शोक यात्रा प्रवर्तते ॥

(सरस्वतीकंडावरणम्, २, ११५)

ई ब्रह्म आदि के बर्णन से रस का उत्कर्ष होता है ।^१ उसमें और चन्द्रा के उदय तथा अस्त होने के वर्णन से रस का पोषण हुयारी राजकुमार, स्त्री, सना के अंगों के वक्रतापूर्ण संवादन के भाता है ।^२ उसमें उद्यान कीड़ा बल कीड़ा मधु, पाग रतोत्सव । शृंगारिक चेष्टाओं से सरसता आती है ।^३ उसमें भ्रम घृत गमन । से मुखपार्श्व की मुद्रि से रस वरसता है ।^४ उसमें यदि पर्वत, श्वेतु, द जलक वर्णन हो तो नगर आदि का वर्णन न होना दोष नहीं ब के भय से प्रहम के प्रारम्भ में किसी गुण से नामक की प्रविष्टा का निराकरण करना चाहिए ।^५ नामक का उत्कर्ष कथन सत्र के वया वर्णन के पश्चात् उस पर विजय से भी होता है ।^६

से भोज ने वृष्य काव्य के स्वरूप की विवेचना करते हुए कहा है कि ने हैं जो अभिनेताओं द्वारा वर्णित एवं वाचिक अभिनयों द्वारा

राष्ट्रादिमुद्राभयवर्णेः ।

रत्नमस्य रसोत्कर्षाय कल्पते ॥ (सरस्वतीकण्ठाभरण, ५, ११०)

विचारोन्मुखयास्त्वमयकीर्तिः ।

आधेयु संपत्तौ रसपुष्टिं नियच्छति ॥ (वही, ५, १११)

याकुमारस्त्रीतेजातेनावर्णयिम् ।

ते वर्णनं काव्ये रसस्रोतोऽभिहितव्यति ॥ (वही, ५, ११२)

समित कीडान्मुपलरतोत्सवाः ।

रत्ना विवाहाश्च चेष्टा काव्ये रसावहाः । (वही ५ ११३)

प्राप्यभाविनायकाम्पुहवादिभिः ।

पुष्पकारस्ये रसं काव्येषु वर्णति । (वही, ५, ११४)

भर्तु नयविर्बोपाय विदुषा मतम् ।

अंतर्दृष्ट्यावहेवर्णनेन तुप्यति । (वही, ५, ११५)

त प्रापुष्यस्य नामकं तेन विद्विषाम् ।

तरुणमित्येव धार्मः प्रवृत्तिं मुहुरः ॥ (वही ५, ११६)

वीर्यशुभावीनि वचयिषा रिपोरपि ।

अपान्नामकोत्कर्षकमर्षं च विनोति न ॥ (वही, ५, ११७)

निश्चुत और अधिक अभिनय से सम्पन्न होता है ।^१ भोज ने दृश्य काव्य के छे भेद बताये हैं (१) भास्य, (२) तांडव, (३) क्षलिक (४) सम्पा (५) हस्तीसक और (६) रासक ।^२

सम्प भेद —

बाह्य मय के उपयुक्त भेदों का विवेचन करने के अतिरिक्त भोज ने उसके तीन और प्रकार बताये हैं (१) बन्धोक्ति, (२) रसोक्ति तथा (३) स्वभावोक्ति । इनमें से रसोक्ति को उन्होंने सबसे अधिक हृदयप्राहिणी बताया है ।^३

रस योजना —

भोज ने रस योजना की चौबीस विभूतियाँ बतायी हैं जिनके स्वल्प ज्ञान से कवि काव्य की रचना करने में समर्थ होता है । इन्हीं ही भोज ने रसोक्तियाँ कहा है । ये इस प्रकार हैं (१) आव (२) बन्ध (३) अनुबन्ध (४) निष्पत्ति (५) पुष्टि (६) संकर, (७) ह्वास (८) आयास (९) क्षय (१०) शेष (११) विशेष (१२) परिक्षेप (१३) विप्रलम्भ (१४) सम्भोज (१५) बेष्टाएँ, (१६) परीष्टिर्वा (१७) निवर्ति (१८) प्रकीर्ण (१९) प्रेम (२०) पुष्टिर्वा (२१) नायिका नायक युग (२२) पाकादि (२३) प्रेम जमित तथा (२४) नानालंकार सृष्टि के प्रकार ।^४

- १ यदापिर्लक्ष्यिर्लक्ष्यं पुणितं वाचिकादिभिः ।
मर्तकैरभिधीयेत प्रेक्षणाकरोक्तिकादि तत् ॥ (सरस्वतीकठानसूत्र २, १४२)
- २ सन्नास्य तांडवं चैव क्षलिकं संपा सह ।
हस्तीसकं च रासं च पक्ष्यकारं प्रचसते ॥ (बहुरी २, १४६)
- ३ बन्धोक्तिरथ रसोक्तिरथ स्वभावोक्तिरथ बाह्य भवम् ।
सर्वास्तु प्राहिणी तास्तु रसोक्ति प्रतिपालते ॥ (बहुरी, ६, ८)
- ४ बाधो बन्धानुबन्धोऽथ निष्पत्तिः पुष्टिसंकरौ ।
ह्वासायासौ क्षयः शेषो विशेषः परिक्षेपनाम् ॥
विप्रलम्भोऽथ सम्भोजस्तथेष्टास्तत्परिपञ्चकः ।

इसके अतिरिक्त भोज ने प्रेम की बारह महाभूमियाँ बतायी हैं जो इस प्रकार हैं, (१) निम्न, (२) नैमित्तिक, (३) सामान्य, (४) विशेष, (५) प्रच्छन्न (६) प्रकाश, (७) कृत्रिम (८) अकृत्रिम (९) सहज, (१०) आहार्य (११) यौवनज तथा (१२) विलम्बज । इसी प्रकार से उन्होंने तीरह प्रेम पुण्ड्रियों का भी उत्कीर्ण किया है जो निम्नलिखित हैं (१) चक्षुःप्रीति, (२) मन संन (३) बारंबार संकल्प (४) प्रताप, (५) आनन्द, (६) कृपता, (७) अन्य विषयों में अरति (८) लज्जा, (९) विस्मयन, (१०) व्याधि, (११) उन्माद, (१२) मूर्च्छा तथा (१३) मरण ।

रति —

रति की व्याख्या करते हुए भोज ने उस अनोनुकूल विषयों में सुख की अनुसूति कहा है । यह रति जब विषयों में अर्धप्रयुक्त हो जाती है तब प्रीति कहलाती है ।^१ भोज ने बताया है कि यह निम्न संसर्ग, औपम्य अभ्यास, अभियोग, संप्रयोग, अनिमान

निवृत्तयः प्रकीर्णानि प्रेमात् प्रेमपुण्ड्रयः ।

नायिकानायकयुग्म-वाकावाः प्रेमस्तयः ।

नानालकारसंयुक्तेः प्रकाररश्च रसोक्तयः ।

चतुर्विधतिरिक्तपुत्रता रसाम्बयविभूतयः ।

स्वरूपमात्रा यो वेद स काम्यं कमु मर्हसि ॥ (सरस्वतीकण्ठाभरणं, ५, ९, १२)

१ नित्यो नैमित्तिकश्चाम्यः सामान्योऽप्यौ विशेषवान्

प्रच्छन्नोऽप्यः प्रकाशोऽप्यः कृत्रिमाहृत्रिमाहृत्रौ ॥

सहजाहार्यनामानौ परौ यौवनजोऽप्यः ।

विलम्बजश्च प्रेमात्ता ह्रादयेति महोदयः । (बही, ५, ९७, ९८)

२ चक्षुःप्रीतिर्मनः संन संकल्पोत्पत्तिर्सति ।

प्रतापो आनन्दः कृपयैव रतिविषयान्तरे ।

लज्जाविसर्जनं व्याधिदम्बावो मूर्च्छनं मुहुः ।

मरणं वैति विज्ञेयाः क्रमेण प्रेमपुण्ड्रयः । (बही, ५, ९९, १००)

३ अनोनुकूलेष्वेव सुखसिद्धये रतिः ।

अर्धप्रयोग विषया लेख प्रीतिर्निपद्यते । (बही, ५, ११८)

तथा विषय से उत्पन्न होती है।^१ प्रीति संप्रयोग के स्थान पर ब्रम्हास से उत्पन्न होती है।^२

रीति —

भोज ने बताया है कि वैदर्भ भाषा की रचना पद्यति को काव्य में मार्ग कहा गया है। इसकी उत्पत्ति "रीति" वातु से हुई है, जिसका अर्थ "प्राणा" है।^३ उन्होंने रीति के छै प्रकार बताये हैं (१) वैदर्भी (२) पांचाली (३) पौड़ीया, (४) बाबलिका, (५) साटीया तथा (६) मागधी। इनमें से वैदर्भी रीति उसे कहते हैं, जो समास रहित स्तेय भावि युग युक्त तथा बीजा के स्वर धीन्य से घोषित होती है।^४ पांचाली रीति उसे कहते हैं जो पाँच छै पदों के समास वाली भोज और कान्ति युग रहित मधुर तथा सुकुमार होती है।^५ पौड़ीया रीति उसे कहते हैं जो सद्भट पदों के समास वाली तथा भोज एवं कान्ति भुगों से युक्त होती है।^६ बाबलिका रीति उसे कहते हैं जो दो तीन या चार पदों के समास वाली होती है। यह पांचाली तथा

१ रतिनिर्घर्षसंघर्षो ब्रह्मात्मनाभि भोजना ।

संप्रयोगमिमानोत्था विषयोत्था च काव्यते ॥ (सरस्वतीकंडाकरण, २, १६२)

२ प्रीतिरप्येवमेष स्वात्म त्वस्या संप्रयामिकी ।

ब्रह्मासिकी तु तत्स्थाने लघुद्वयतसे यथा ॥ (वही, २, १६६)

३ वैदर्भादिभूतं पन्था काव्ये मार्ग इति स्मृतः ।

रीतिरिति वातोः सा भूत्वा रीतिरुच्यते । (वही २, २७)

४ वैदर्भी साच पांचाली पौड़ीयाबाबलिका तथा ।

साटीया मागधी चेति पौंड्र रीतिरिगच्छते ॥ (वही, २, २४)

५ सप्तसमासा निजोपसैपादिबुक्कुम्भिका ।

मधुरां सुकुमारां च पांचाली कवयो विदुः ॥ (वही, २, ३०)

६ सप्तसर्पबमपद्मगीबाकान्तिविचिन्ताम् ।

मधुरां सुकुमारां च पांचाली कवयो विदुः (वही, २, ३०)

७ सप्तसप्तपुत्ररुपभाभोजः कान्तिगुणाभिताम् ।

पौंड्रमेति विज्ञातमिति रीति रीतिविचक्षणा । (वही, २, ३१)

बैदर्य की मध्यवर्तिनी होती है।^१ राष्ट्रीय रीति उसे कहते हैं जो सभी रीतियों से मिश्रित रहना होती है। इसी प्रकार से भागवी रीति उसे कहते हैं जिसमें उपर्युक्त रीतियों का निर्बाह न होने पर सब रीति हो।^२

अरीतिमत् शेष —

शेष के अनुसार जहाँ पर श्लेष भावि गुणों का विपर्यय हो वहाँ अरीतिमत् शेष होता है। इसका तीन भेद है (१) शब्द प्रधान अरीतिमत् शेष (२) अर्थ प्रधान अरीतिमत् शेष तथा (३) उभय प्रधान अरीतिमत् शेष। इन तीनों के श्लेष भावि सम्बन्ध से तीन-तीन भेद हैं।^३ इनमें से प्रथम अर्थात् शब्द प्रधान अरीतिमत् शेष वहाँ होता है जहाँ श्लेष समता तथा सुकुमारता का विपर्यय हो। इनमें से श्लेष के विपर्यय से सम्बन्ध विविध शेष युक्त, समता के विपर्यय से विषय शेष युक्त, तथा सुकुमारता के विपर्यय से कठोर शेष युक्त होता है।^४ इसी प्रकार से द्वितीय अर्थात् अर्थ प्रधान अरीतिमत् शेष वहाँ होता है, जहाँ कान्ति, प्रसाद अथवा अर्थ व्यक्तिक का विपर्यय हो। इनमें से कान्ति के विपर्यय से शाम्य शेष प्रसाद के विपर्यय से अग्रसग्र शेष तथा अर्थ व्यक्तिक के विपर्यय से नैवार्य शेष होता है।^५ तृतीय अर्थात् उभय प्रधान

१ अन्तरासे तु वाचासीर्बद्धमार्गोपतिष्ठते ।

साधनानिना सभामैः स्यात् द्विर्वास्तिवतुष्टिः परै ॥ (सरस्वतीकण्ठधरण २, १२)

२ सभस्तरीतिमार्गविभा आदीया रीतिरुच्यते ।

पूर्वरीतिरनिवर्हि ज्वरीतिस्तु भागवी ॥

३ गुणानां दृग्मते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः अरीतिपदिति ग्राह्यस्तु त्रिविधं प्रचक्षते ।
साम्बन्धीययोगस्य प्राधान्यादयत्रमे विधा ॥ (वही १, ३०)

४ मूला श्लेषादियोगेन पुनश्चेयोपजायते । अत्र यः श्लेषसमतासीकृमार्थं विपर्ययः ।
शब्दप्रधानमाहूस्तमरीतिमतिरूपकम् । विपर्ययेष श्लेषस्य संदर्भः विविक्तो न वेत् ।
मद्वैत एवं विषय समताता विपर्ययात् । सीकृमार्थविपर्ययात्कठोर उच्यते ।

(वही १ ३०, ३१ ३२)

५ या तु कान्तिप्रदादार्थप्यस्तीनामत्यथा गतिः अर्थप्रदातः प्रोक्तः स वाच्ये गुणविश-
पर्ययः । अग्रप्रसन्नं त्रैलोक्यं प्रसादस्य विपर्ययात् । वाच्यं भवति वेद्यार्थमर्थमन्ते-
विपर्ययात् ॥ कान्तेविपर्ययाद्वाच्यप्राप्त्यापि विपर्ययते । ओशोवापुर्नयौदार्यं न
प्रदर्शय ज्ञायते ।

(वही १ ३३, ३४, ३५)

अतीतिमद् बोध वहाँ होता है, वहाँ भोज, मधुरता तथा उदारता गुणों का विपर्यय हो। इनमें से भोज के विपर्यय से असमस्त बोध मधुरता के विपर्यय से अनिर्मूर्क बोध तथा उदारता के विपर्यय से अनाकार बोध होता है।^१

मूल्य —

संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास की परम्परा में भोज का स्थान एक सास्त्रज्ञ की दृष्टि से बहुत अधिक है। उनके मुनों का वर्णन कवि कल्हण ने अपनी "राजतरंगिणी" में भी किया है। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं भोज की स्वाति का मुख्य कारण उनका साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ "सरस्वतीकण्ठाभरण" ही है, यद्यपि इसके तथा "भू मातृप्रकाश" के अतिरिक्त उनके "राजमुद्राङ्क" शीर्षक एक ज्योतिष शास्त्र विषयक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया जाता है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके विविध विषयक ग्रन्थ भी अनेक ग्रन्थ माने जाते हैं। भोज कुछ "सरस्वतीकण्ठाभरण" नामक ग्रन्थ की जाने चल कर रत्नेश्वर द्वारा 'रत्नार्णव' शीर्षक टीका की भी रचना की गयी।

मम्मट

रचना और काल —

आचार्य मम्मट का समय म्याण्डी सताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम जैयट बताया जाता है। इनके कथ्युक्त तथा चम्पट नामक अनुजों का भी उल्लेख मिलता है। मम्मट का प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्य प्रकाश" है। इस ग्रन्थ में दस उल्गास हैं। इसके प्रथम उल्गास में काव्य का प्रयोजन काव्य के सत्ताय काव्य के भेद भावि द्वितीय में सव्य तथा अर्थ का स्वक्य तथा सव्य

- (१) यस्मिंस्तमाहुचक्षुःप्रधानं तद्विपर्ययात् । वाक्ये यः खंडयन्तीति अत्रत्योभोविपर्ययः ।
असमस्तमिति प्राहुर्द्वितीयं तद्विह तद्विह । मातृव्यमप्यो यस्तु आप्यो रीतिप्रधानात् ।
तद्विनिर्मूर्कमित्युक्तं काव्यसर्वस्ववैशिष्ट्यं । यस्तु रीतिरनिर्वाहारीवार्थस्य विपर्ययः ।
वाक्यं तद्वनलकारमलकारविदो विदुः । (वही १, १५, ४१)

मम्मट के विचार पूर्व विचारों से पर्याप्त साम्य रखते हैं । विशेष रूप से जबकि सम्प्रदाय में पोषक भाषाओं के विचारों से । मम्मट ने काव्य रचना के तीन कारण बताये हैं (१) कविता रचने की शक्ति, (२) लोक और शास्त्र के व्यवसायन की चतुराई तथा (३) काव्य कलाओं से शिक्षा प्राप्ति तथा अभ्यास । इन तीन काव्य रचना के कारणों का निर्देश करते हुए उन्होंने बताया है कि इन तीनों में एक प्रकार की अन्तर्निर्भरता का सम्बन्ध है । इसी कारण काव्य की रचना में इन तीनों का योग आवश्यक है । इनमें से किसी के भी अभाव में सम्भव रूप से काव्य का उत्पन्न नहीं हो सकता । यहाँ पर यह तथ्य ध्यान में रखने योग्य है कि काव्य रचने की शक्ति से मम्मट का आशय काव्य प्रतिभा से है । इसे उन्होंने प्रथम काव्य हेतु विवेक निर्दिष्ट करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि इसके अभाव में काव्य रचना इसलिये नहीं हो सकती क्योंकि इसका सम्बन्ध कवि के संस्कार तथा नैसर्गिक प्रतिभा से है । इसी प्रकार द्वितीय काव्य हेतु कवि की निपुणता की आवश्यकता बताते हुए मम्मट ने यह प्रतिपादित किया है कि कवि का यह गुण उसके काव्य के साम्य से सामने आता है । काव्य के तृतीय हेतु 'अभ्यास' पर बल देते हुए उन्होंने यह निर्दिष्ट किया है कि व्यावहारिक ज्ञान के संयोग से कवि अपने काव्य में परिष्कार ला सकता है । इसके साथ ही साथ यह काव्य हेतु एक काव्य रचना के लिये अनिवार्य अनुसूचित प्रक्रिया की ओर भी संकेत करता है जिसके अभाव में उत्कृष्ट काव्य रचना सम्भव नहीं होती । अन्त में उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है कि ये तीनों ही सम्मिलित रूप से काव्य के उत्पन्न उत्कर्ष के कारण हैं ।

काव्य स्वरूप निरूपण —

काव्य के स्वरूप का निरूपण करते हुये मम्मट ने काव्य का सर्वस्वीय विवेचन प्रस्तुत किया है । उन्होंने बताया है कि काव्य के सभी तथा जहाँ में दोष न होकर गुण अनिवार्य होने चाहिये । अलंकारों का समावेश भी कहीं कहीं होना चाहिये । काव्य के स्वरूप का निरूपण करने वाला मम्मट का पारिभाषिक अन्तर्गम एक प्रकार से सम्य

१ अतिनिपुणता लोकशास्त्रकाव्यप्रवेशनात् ।

काव्यप्रवेशनाम्प्राप्त इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

१ तद्योपी धर्म्यापी सगुणान्वर्तहती पुनः क्वापि ॥ (काव्य प्रकाश, १ ३)

बादी मन्थम्प है जिसमें संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा का प्रसार करने वाले प्रायः सभी मुख्य सिद्धांतों को स्वीकारा गया है। सगुण एवं वर्णकृत परन्तु अदोष सम्प्राप साहित्य को ही मम्मट ने काव्य का सङ्गम बताया है। अदोष साध्यार्थ साहित्य में कवि रस योजना प्रतिमा सफलतापूर्वक आभासित होती है इसलिये इस अदोषता का संकेत रङ्गत दोष की ओर है। इससे यह भी स्पष्ट है कि मम्मट ने दोष का प्रयोग अवगुण मात्र के अर्थ में नहीं किया है। काव्य की शुभपुष्टता से मम्मट का आशय रस वैशिष्ट्य से है। इसी प्रकार वर्णकृतता से भी मम्मट का यह संकेत स्पष्ट है कि काव्य में वर्णकरण से साध्यार्थ के साथ ही साथ रस और भाव में भी समत्कार आता है।

काव्य के भेद —

मम्मट ने काव्य के तीन भेद किये हैं (१) उत्तम अथवा ध्वनि काव्य (२) मध्यम अथवा गुणीभूत व्यंग्य काव्य तथा (३) अधर अथवा चित्र काव्य। इनमें से उत्तम काव्य उसे कहते हैं, जिसमें वाक्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक समत्कारपूर्ण हो।^१ इसी प्रकार से मध्यम काव्य वह है, जिसमें व्यंग्यार्थ अधिक समत्कारपूर्ण न होकर गुणीभूत हो^२ तथा अधर काव्य वह कहा जायगा जिसमें व्यंग्यार्थ न हो तथा शब्द चित्र और वाक्य चित्र हो।^३

रस उत्पत्ति —

मम्मट ने रस उस स्वाधी भाव को कहा है जिसका प्रतिपादन विविध विभावों, अनुभावों तथा व्याख्यायी भावों से व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा होता है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि स्वावोत्पत्ति के सम्बन्ध में रस की उत्पत्ति का वचन ठीक है। उन्होंने रस पदार्थ का ग्रहण करने वाला ज्ञान निविकल्प नहीं माना है क्योंकि उसमें विभावोदि के सम्बन्ध की प्रकृतता है। परन्तु उन्होंने उसे सविकल्पक भी नहीं माना है, क्योंकि आस्वादन से उसका प्रभुर अलौकिक आनन्दयुक्त होना भी अनुभव सिद्ध है। इस प्रकार से उन्होंने उसे निविकल्पक तथा सविकल्पक दोनों ज्ञानों से भिन्न माना है। परन्तु वह

१ इसमूलमतिनिधिनि व्यंग्ये वाक्याद्व्यभिर्बुधैः कथितः । (काव्यप्रकाश, १, ४)

२ अतादृश गुणीभूतव्यंग्य व्यंग्ये तु मध्यमम् । (वही, १, ५)

३ शब्दचित्रं वाक्यचित्रमव्यंग्यं स्वधरं स्पृष्टम् । (वही १ ५)

इससे भिन्न होकर भी उनके गुणों को एक साथ रखता है। इससे रस का ज्ञान उसके विरोध को न प्रकट करके उसकी व्यतीक्रियता को ही प्रकट करता है। इस प्रकार से मम्मट ने रस निष्पत्ति के विषय में अभिनवगुप्त के मत का ही समर्थन करके विस्तार से उसका विवेचन किया है।^१

काव्य शेष का स्वल्प —

मम्मट ने बताया है कि मुख्य अर्थ के ज्ञान के कारणों को शेष कहते हैं। उन्होंने बताया है कि काव्य में रस के साथ ही साथ रस का आश्रित बाह्य अर्थ भी मुख्यता रखता है। इसी प्रकार रस तथा बाह्य अर्थ के उपयोग में कव्य आदि भी आते हैं, अतः उन शब्दों एवं अर्थों में भी शेष होता है।^२

काव्य गुण का स्वल्प —

काव्य के गुण का स्वल्प विवेचन करते हुए मम्मट ने लिखा है कि जिस प्रकार से मानव शरीर में प्रधान आत्मा के शरीर आदि गुण होते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रधान रस के उत्कर्षकारी अर्थ गुण कहलाते हैं। काव्य में इनकी स्थिति अचल एवं निवर्त रहती है।^३

गुण और अलंकार का भेद —

मम्मट के विचार से अलंकार ऐसे कहते हैं जो अर्थ अर्थों के द्वारा कभी कभी

- १ तद्व्याख्यं च प्रमाणं न निर्विपर्ययं विमोहादिपराधर्मप्रयोजकम् ।
नापि लविकल्पकम् अर्थ्यमानस्यालौकिकानामयस्य स्वतन्त्रमसिद्धत्वात् ।
उक्तयामात्रस्वरूपस्य बोधयामकत्वमपि पूर्वबलौकोत्पत्तायेव सम्यगिति च ।
तु विरोधमिति श्रीमहाचार्याभिनवगुप्तपादाः । (काव्यप्रकाश पु० १२)
- २ मुख्यार्थविरुद्धो रसरस मुख्यस्तबाध्याह्वयः ।
अभयोपशोभितः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि च । (बही, ७, ४९)
- ३ ये रसस्वांगिनो जगताः शीर्षादिव ह्यतः ।
उत्कर्षितवस्तै स्फुरन्तस्त्रितयो गुणः ॥ (बही, ९, ६६)

उपस्थित रहने वाले रस का उपकार करता है। धर्म द्वार आदि के समान अलंकार कहे जाते हैं। इनके अनुप्रास आदि भेद होते हैं।^१

प्रमुख काव्य गुण —

काव्य के प्रमुख गुणों का वर्णन करते हुए भट्टनेत्र ने बताया है कि माधुर्य काव्य के उस गुण को कहते हैं जो विल को प्रसन्न कर देता है और शृंगार रस में विल को पतित कर देने का कारण होता है।^२ इसी प्रकार से खोखल उस गुण को कहते हैं जो विल को उत्पतित करता है।^३ प्रसाद गुण यह होता है जो सूखे ईश्वर में अग्नि की भाँति तथा स्वच्छ बदन आदि में अल की भाँति, तुरन्त मन में व्याप्त हो जाता है। यह सभी रसों में स्थित रहता है।^४

काव्यगत चत्वार्य के भेद —

काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्द के भट्टनेत्र ने तीन भेद किये हैं (१) वाक्य रूप शब्द प्रकार, (२) सांख्यिक रूप शब्द प्रकार तथा (३) व्यंग्यक रूप शब्द प्रकार।^१ इसी प्रकार से इन त्रिविकल्प शब्दों के क्रमानुसार त्रिविध अर्थ भी है अर्थात् (१) वाक्यार्थ, (२) सङ्गार्थ तथा (३) व्यंग्यार्थ। इनके अतिरिक्त एक और अर्थ भी उन्होंने “तात्पर्यार्थ” के नाम से बताया है। यह भी उन्होंने उपाध किया है कि तात्पर्यार्थ को अभिव्यक्तिवाचकवाची सोम एक निम्न अर्थ प्रकार मानते हैं परन्तु अभिव्यक्तिवाचकवाची उसे वाक्यार्थ नहीं मानते। इनमें से प्रथम अर्थात् “वाक्यक” उस शब्द को बताया है जो वाक्यात् संकेतित अर्थ का बोधक हो।^२ यह संकेतित अर्थ चार प्रकार का होता है।

१ उपप्लवन्ति सं समस्तं येन्द्रियद्वारेण जातुजित् ।

हृतादिबलंजापस्तोऽनुप्रासोपमादयः ॥ (काव्यप्रकाश ८, १७)

२ आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे इतिकारणम् ॥ (वही, ८ १८)

३ शीघ्रतात्पर्यवस्तुतेर्हृत्परोक्षो वीररसस्थितिः । (वही, ८, १९)

४ शुद्धैश्वर्याग्निवत् स्वच्छद्रव्यवत्सहस्रैव यः ।

व्याप्तोत्पत्त्यप्रसादोपप्रो सर्वत्र विहितस्थितः (वही, ८, २०)

५ मुरवार्थवाचे लघोये कृत्तितोऽर्थ प्रयोजनम् ।

अप्योऽर्थो लघुने यत् वा लज्जशरीरपिता द्विधा ॥ (वही, २, ९)

६ तात्पर्यसंकेतितं धोऽर्थमभिव्यक्तं स वाचकः (वही, २ ७)

मिसे भिन्न होकर भी उनके गुणों को एक साथ रखता है। इससे रस का ज्ञान उसके बेरोम को न प्रकट करके उसकी समीक्षा को ही प्रकट करता है। इस प्रकार से मम्मट ने रस निष्पत्ति के विषय में अमिन्नगुप्त के मत का ही समर्थन करके विस्तार से उसका विवेचन किया है।^१

काव्य रस का स्वरूप —

मम्मट ने बताया है कि मुख्य वर्ग के ज्ञान के कारणों का रस कहते हैं। उन्होंने बताया है कि काव्य में रस के साथ ही साथ रस का आधित काव्य वर्ग भी मुख्यता रखता है। इसी प्रकार रस तथा काव्य वर्ग के उपयोग में अन्य आदि भी आते हैं, अतः उन शब्दों एवं वर्गों में भी रस होता है।^२

काव्य गुण का स्वरूप —

काव्य के गुण का स्वरूप विवेचन करते हुए मम्मट ने लिखा है कि जिस प्रकार से मानव शरीर में प्रधान आत्मा के शरीर आदि गुण होते हैं उसी प्रकार काव्य में प्रधान रस के उत्कर्षकारी वर्ग गुण कहलाते हैं। काव्य में इनकी स्थिति अचल एवं नियत रहती है।^३

गुण और असंकार का रस —

मम्मट के विचार से असंकार उसे कहते हैं जो वर्ग वर्गों के द्वारा कभी कभी

१ तद्ग्रहणं च प्रमाणं न निविकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रदात्मकम् ।

वापि सविकल्पकम् अर्थमात्रस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वतन्त्रमसिद्धत्वात् ।

उभयमात्रास्वरूपस्य औभयारम्भकत्वापि पूर्ववत्सोकीतरतामेव गमयति न ।

तु विरोधमिति धीमताचार्याभिनवगुप्तपाशः । (काव्यप्रकाश पु० १५)

२ मुख्यार्थहृतिरोचो रसश्च मुख्यरसार्थमाकाव्यः ।

उभयोपयोगिणः शृणुः सखाद्यास्तैन तैजसि सः । (बही ७, ४९)

३ ये रसस्यात्मिनो वर्गाः शरीरादिव ह्यात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्फुरन्मस्त्वितयो गुणाः ॥ (बही, ९, ६६)

उपस्थित रहने वाले रस का उपकार करता है। धर्म हार आदि के समान अर्थकार कहे जाते हैं। इनके अनुप्रास आदि भेद होते हैं।^१

प्रमुख काव्य गुण —

काव्य के प्रमुख गुणों का वर्णन करते हुए मम्मट ने बताया है कि माधुर्य काव्य के उस गुण को कहते हैं, जो चित्त को प्रसन्न कर देता है और शृंगार रस में चित्त को मग्नित कर देने का कारण होता है।^१ इसी प्रकार से शोकस उस गुण को कहते हैं जो चित्त को उद्वेगित करता है।^२ प्रसाद गुण बहु होता है जो सूखे ईधन में अग्नि की भाँति तथा स्वच्छ वस्त्र आदि में जल की भाँति, तुरन्त मन में व्याप्त हो जाता है। यह सभी रसों में स्थित रहता है।

काव्यगत सम्बन्धों के भेद —

काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्द के मम्मट ने तीन भेद किये हैं (१) वाच्य रूप शब्द प्रकार, (२) सांख्यिक रूप शब्द प्रकार तथा (३) व्यञ्जक रूप शब्द प्रकार।^१ इसी प्रकार से इन विविधरूप शब्दों के क्रमानुसार विविध अर्थ भी हैं, अर्थात् (१) वाच्यार्थ, (२) लक्ष्यार्थ तथा (३) व्यर्थार्थ। इनके अतिरिक्त एक और अर्थ भी उन्होंने "तात्पर्यार्थ" के नाम से बताया है। यह भी उन्होंने इंगित किया है कि तात्पर्यार्थ को अमिहितान्वयवादी लोग एक निश्च अर्थ प्रकार मानते हैं परन्तु अम्बितामिमानवादी उसे वाच्यार्थ नहीं मानते। इनमें से प्रथम अर्थात् 'वाचक' उस शब्द को बताया है जो साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक हो।^२ यह संकेतित अर्थ चार प्रकार का होता है।

१ उपकुर्वन्ति तं सर्वं येऽङ्गद्वारेण जायन्ति ।

हाराविबर्धनकारास्तोऽनुप्रासोपमावय ॥ (काव्यप्रकाश, ८, १७)

२ माह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे इतिकारणम् ॥ (बही, ८, १८)

३ शीघ्रतात्मनिरुतेर्हृत्परोजो वीररसस्त्विति । (बही, ८, १९)

४ सुच्छेद्यमग्नित्वं स्वच्छद्वयसत्सहस्रेण च ।

व्याप्तोत्पन्नप्रसादोऽतो सर्वत्र विहितस्थितः (बही, ८, २०)

५ अनुप्रासवाचे लघौगै कङ्कितोऽर्थं प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो नदधते यत् सा लक्षणरोचिता चिन्ता ॥ (बही, २, १)

६ साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः (बही २ ७)

१ जातिरूप अर्थ २ गुण रूप अर्थ ३ क्रियारूप अर्थ और ४ इच्छा रूप अर्थ ।^१ इसी चतुर्विध साक्षात् संकेतित अर्थ को उन्होंने साम्य का मुख्य अर्थ कहा है । और इस अर्थ के बोध में अभिधा व्यापार अथवा अभिधासक्ति कार्यधीन रहती है ।^२ जब वाक्य रूप शब्द स्वयं अपने मुख्य अर्थ की अविवक्षा में उससे सम्बन्ध किसी ऐसे अर्थ का प्रतिपादन करने लगता है जिसमें कोई कहीं अथवा उद्देश्य विधेय कारण हो तब उसे साक्षात्कृत शब्द और उसकी क्रिया को लक्षणा कहते हैं ।^३ मम्मट ने 'लक्षणा' का पहला भेद 'सुखा' लक्षणा बताया है जिसके दो रूप होते हैं—१ सुखा उपादान लक्षणा तथा २ सुखा लक्षण लक्षणा । यही उपादान का तात्पर्य है शब्द के मुख्यार्थ का स्वयं को संवत बनाने के सिधे अपने अप्रधान अर्थ का आदाप करना । इसी प्रकार से लक्षणा का आशय है शब्द के मुख्य अर्थ का स्वयं को अपने अप्रधान अर्थ के लिये समर्पित कर देना जिससे वह अप्रधान अर्थ ही संवत हो जाय ।

लक्षणा के उपर्युक्त दो प्रकारों के अतिरिक्त मम्मट ने दो अन्य भेद बताये हैं ।

१ सारोपात्म्य लक्षणा तथा २ साम्यवसाना रूप लक्षणा हैं । इनमें से सारोपा रूप लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें विषयी तथा विषय दोनों प्रतिपाद्य होते हैं । इसी प्रकार से साम्य वसाना रूप लक्षणा में विषय विषयी के द्वारा विरोधित हो जाता है ।^४

उपर्युक्त सारोपा तथा साम्यवसाना भेदों के भी दो भेद हैं । इनमें से प्रथम अर्थात् सारोपात्म्य लक्षणा के दो भेद इस प्रकार हैं—१ शीघ्रसारोपा लक्षणा तथा २ शुद्धसारोपा लक्षणा । इसी प्रकार से द्वितीय अर्थात् साम्यवसानारूप लक्षणा के भी दो भेद हैं १ शीघ्र साम्यवसाना लक्षणा तथा शुद्धसाम्यवसाना लक्षणा ।

१ संकेतितवस्तुर्नो जात्यादिर्भाविरेव वा । (काव्यप्रकाश २, ८)

२ समुक्कोर्जस्तत्र मुक्त्यो व्यापारोभ्यामिषीष्यते । (वही, २, ८)

३ मुख्यार्थवाने लक्षणे कङ्कितोऽयं प्रयोजनात् ।

अभ्योर्जा लक्ष्यते यत् सा लक्षणादोपिता क्रिया ॥ (वही, २, ९)

४ स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थ स्वसर्पणम् ।

उपादानं लक्षणं धेतुक्तं शुद्धं सा हि वा ॥ (वही २, १०)

५ सारोपात्मा तु यत्रोत्प्रेक्षी विषयी विषयस्तथा ।

विषय्यस्तं कुतोऽप्यस्मिन् सा स्वातसाध्यवसायिका ॥ (वही २, ११)

सामान्य काव्योपकरण

मम्मट ने शब्दों का घेणी विभाजन करते हुये सिखा है कि काव्य में शब्द की विविध उपाधियों का परिज्ञान अनिवार्य है। जिसका कारण यह है कि इसके अभाव में कवि की रस सृष्टि का सम्यक बिस्लेषण नहीं हो सकता। सामान्यतः शब्द की तीन उपाधियाँ माध्य हैं १ वाचकता २ साक्षणिकता तथा ३ व्यञ्जकता। इसीनिये उन्होंने बताया है कि काव्य में जिन शब्दों का प्रयोग कवि करता है वे विविध होते हैं।

अर्थ रूप काव्य साधन —

आचार्य मम्मट ने अर्थ का दो रूपों में विवेचन किया है—१ सामान्य साधन और २ क्लृप्तारमक माध्यम। सभी प्रकार के अर्थ प्रायः पर के अर्थ होते हैं। काव्य में शब्द और अर्थ समान रूप से महत्व रखते हैं। इसीनिये मम्मट ने सिखा है कि काव्य एक विलक्षण वृत्ति है क्योंकि इसमें शब्द और अर्थ अपने वैविध्य के साथ रस योजना की सिद्धि के हेतु प्रयुक्त होते हैं।^१ उन्होंने सिखा है कि काव्य शब्द तथा व्यञ्जरूप शब्दों का प्रयोग कविपण अनुमति के प्रमादन के उद्देश्य से करते हैं।^२

महत्व —

संस्कृत अलंकारशास्त्र ने विकास की परम्परा में आने वाले ग्रन्थों में “काव्य प्रकाश एक प्रमुख ग्रन्थ के रूप में मान्य है। आचार्य मम्मट का यह ग्रन्थ अपने रचना काल से लेकर वर्तमान काल तक एक प्रामाणिक आलंकारिक ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसकी रचना होन के समय से लेकर आज तक इसकी अनन्त टीकाएँ लिखी गयीं। इन टीकाओं में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वप्रथम टीका “काव्य प्रकाश संकेत” है, इसका रचना काल विक्रम संवत् १२१६ है जिसके रचयिता मुजराती पंडित माणिक्य चन्द्र हैं मद्यपि प्राप्त संकेतों के आधार पर यह कहा जाता है कि इसके पूर्व भी काव्य प्रकाश पर कुछ टीका साहित्य उपलब्ध था। इनके परचात् वि० सं० १२९८ में आचार्य सरस्वतीटीर्थ ने इस ग्रन्थ की टीका “बालभित्तानुरंजनी” के नाम से प्रस्तुत की।

१ राष्ट्रार्थपोषुं लमाथेन रगापमुतप्यापार प्रवचनया विलसार्थं यत् काव्यम् ।

(काव्यप्रकाश प्रथम उस्तास)

२ सर्वेषां प्राप्नोऽर्थाणां व्यञ्जकत्वमपीष्यते । (बही द्वितीय उस्तास)

तत्पश्चात् पुरोहित जयन्त भट्ट ने वि० सं० १३१० में 'काव्यप्रकाश टीपिका' के नाम से इस ग्रंथ की टीका प्रस्तुत की "फिर आचार्य सोमेश्वर ने" 'काव्यादर्श' अथवा 'उक्ति' के नाम से नविराम विरनाथ ने 'काव्यप्रकाश रूपेण' के नाम से (तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में), परमानन्द चन्द्रवर्ती भट्टाचार्य ने 'काव्यप्रकाश विस्तारिका' के नाम से (चौदहवीं शताब्दी के लगभग) कमि ज्ञानन्द ने 'सारसमुच्चय' के नाम से (पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग) श्री बल्लभाक्ष भट्टाचार्य ने 'सार बोधनी' के नाम से (पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग) पंडित बोधिनन्द ठाकुर ने 'काव्य प्रवीण' के नाम से (सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी के लगभग) महेश्वर भट्टाचार्य ने 'आवर्ण' के नाम से (सत्रहवीं शताब्दी) कमलाकर भट्ट ने 'काव्यप्रकाशटीका' के नाम से नरसिंह ठाकुर ने 'नरसिंहसमीपा' के नाम से वैद्यनाथ ने 'उदाहरण चन्द्रिका' के नाम से भीमसेन दीक्षित ने 'सुभाषापर' के नाम से (विक्रम संवत् १७७९) हरिसंकर शर्मा ने 'नावेश्वरी' टीका के नाम से तथा तथा डा० उत्पन्न सिंह ने 'हिन्दी काव्य प्रकाश' के नाम से प्रस्तुत की है। इनके अतिरिक्त बीबर, बेरनाथ मास्कर (साहित्य टीपिका) सुबिद्धि निज अभ्युत छलपाणि (काव्य रूपेण) रमि पंडित (मनुमती) 'जयराम (प्रकाश ठिलक) यज्ञोबद, मुण्डरि निज पञ्चवर, रामनाथ (रहस्य प्रकाश) जगदीश (रहस्य प्रकाश) गद्यावर, राजव (बचचूरि) वैद्यनाथ (प्रसा) आदि टीकाकारों ने भी अपनी टीकाएँ प्रस्तुत की हैं। तत्त्वबोधिनी, कौमुदी भाषाकोश आदि टीकाओं का भी उल्लेख मिलता है।

क्षेमेन्द्र

रचना और काल—

आचार्य क्षेमेन्द्र का समय स्यादहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। यह आचार्य यम्मत के समकालीन कहे जाते हैं। इनके पितामह का नाम सिन्धु तथा पिता का नाम प्रकाशेन्दु था। यह काश्मीर में निवास करते थे। इन्होंने आचार्य सीम ने वैष्णव धर्म में दीक्षित कर लिया था और विभिन्न वैष्णव रत्ना लिया था। परन्तु वैष्णव धर्म में दीक्षित होने के पूर्व यह शैव थे और इसी मत के अनुयायी थे। साहित्य के क्षेत्र में इनके मुख आचार्य मम्मिनबगुप्त थे। उन्हीं से इन्होंने साहित्य शास्त्र की सम्पन्न शिक्षा मिली थी। इनके सिद्धे हुए ग्रन्थों में सर्व प्रथम 'अभिहित विचार रत्ना' उल्लेखनीय है। यह इनकी सर्व प्रथम रचना भी है। इस ग्रन्थ में इन्होंने साहित्य विषयक अपने नवीन मौलिक

सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए बताया है कि औचित्य ही काव्य का सर्वस्व है। इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में यही सर्व प्रमुख है। इसमें उन्होंने औचित्य की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उसका सूक्ष्मता से विरलेषण और वर्गीकरण किया है। उसके विविध अर्थों का स्वरूप निर्देश करते हुए आचार्य खेमेन्द्र के काव्य के अर्थ अर्थों से उसका सम्बन्ध भी स्पष्ट किया है। इस प्रकार से उन्होंने एक सम्यक् स्वरूप निर्देशन के पश्चात् काव्य में औचित्य का महत्त्व मान्य किया है। 'औचित्य विचार चर्चा' के पश्चात् इनका दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ 'कविकठामरण' है। इस ग्रन्थ का महत्त्व उनके प्रथम ग्रन्थ की तुलना में बहुत कम है। इसमें मुख्यतः कवि विद्या का ही विवेचन किया गया है। आचार्य खेमेन्द्र के इन दोनों ग्रन्थों औचित्य विचार चर्चा तथा 'कविकठामरण' का रचनाकाल लगभग वही बताया जाता है जो काश्मीर नरेस बनन्द का राज्य काल है, अर्थात् सन् १०२० से लेकर १०६३ तक। आचार्य खेमेन्द्र की तीसरी कृति 'मुद्रित तिलक' है। इस ग्रन्थ का विषय छन्द शास्त्र है। इसी कारण इसमें मुख्यतः छन्द शास्त्र और उसके विविध अर्थों का ही विरलेषण किया गया है, जो पर्याप्त सीमा तक नवीन और मौलिक है। आचार्य खेमेन्द्र की अन्तिम कृति 'दशवन्तार चरित' मानी जाती है। इसका रचना काल सन् १०९९ ई० माना जाता है, जो राजा बनन्द के पुत्र राजा बनन्द के पुत्र राजा कलक का राज्य काल है।

औचित्य विवरणः—

आचार्य खेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रन्थ में औचित्य का विवरण करते हुए लिखा है कि काव्य के लिए अलंकार तथा गुणों के साथ ही साथ औचित्य भी आवश्यक है क्योंकि औचित्य का गुण ही काव्य में प्रधानता लाता है। उन्होंने यह भी निर्दिष्ट किया है कि अलंकार की अलंकार तभी कहा जाता है,

१ काव्यस्यालंकारैः किं मिथ्यापणितेभ्यः ।

यस्य औचित्यमौचित्यं विविक्त्यापि न दुर्गते ॥

अलंकारस्तत्त्वज्ञानात् गुणा एव गुणाः सदा

औचित्यं रसगिहस्य स्मरं काव्यस्य औचित्यम् ॥

(औचित्यविचार चर्चा ४ ३)

सिद्धान्त का प्रतिपादन करते ए बताया है कि औचित्य विवरण अपने नवीन मौलिक

३७६] समीक्षा के मान और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

जब उनका स्थान उचित हो और औचित्य से युक्त गुणों को ही सदैव गुन कहा जाता है ।^१

औचित्य का स्वभाव —

औचित्य का स्वभाव की व्याख्या करते हुए आचार्य श्रीमेन्द्र ने बताया है कि जो पदार्थ जिसके संबन्ध होता है, उसे ही उचित भी कहा जाता है । अतः उचित के भाव को औचित्य कहते हैं ।^२ यह औचित्य काव्य रूपी शरीर में प्राण के समान है । पर वाक्य, प्रबन्धार्थ गुण अलंकार रस क्रिया कारक भिन्न बचन विशेषण उपसर्ग निपात काल देश कृत्, कृत तत्त्व, सत्त्व अभिप्राय स्वभाव सार, संग्रह, प्रतिभा अवस्था विचार, नाम वाणीर्वाह आदि स्थानों में मर्म स्थानों के समान काव्य के संपूर्ण शरीर में स्थित प्राण रूपी औचित्य स्पष्ट होता है ।^३

पर औचित्य —

आचार्य श्रीमेन्द्र के विचार से जो सूक्ति एक ही उचित पर जो तिलक के समान धारण करती है, वह कस्तूरी धारण की हुई चन्द्रानना और चन्दन वर्णित श्यामा के समान घोभा पाती है । अपने इस मन्त्रम्य को उन्होंने विविध उदाहरणों को सम्पादना प्रस्तुत करके पुष्ट किया है ।

१ उचितस्थानविन्यासावसंज्ञितिरलंङ्कितः ।

औचित्यावच्छ्रुता भित्तं भवेन्मयेव गुणा गुणा ॥ (औचित्यविचारवर्षा, ६)

२ उचितं प्राहुराचार्याः सवृद्धं किम यस्य यत् ।

उचितस्य च यो वाचस्तर्हीचित्यं प्रचक्षते ॥ (वही, ७)

३ परे वाक्ये प्रबन्धार्थं पुष्पेर्लंकरणे रसे ।

क्रियायांकारकैः लिये बधने न विशेषणे ॥

उपसर्गे निपाते च काले देशे क्रमे यते ।

तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार संग्रहे ॥

प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्यप्यसिद्धिः ।

काव्यस्यभिप्रायं प्राहुरीचित्यं व्यापि औचित्यम् ॥ (वही ८ ९, १०)

४ तिलकं विभ्रती सूक्तिर्माल्यैकमुचितं परम् ।

चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चाग्नयम् ॥ (वही, ११)

काव्य औचित्य—

आचार्य जेमेन्द्र के अनुसार जो काव्य औचित्य से निर्मित होता है वह त्याग द्वारा सतत ऐश्वर्य और दीन दास उज्ज्वल प्रसिद्धि के समान विद्वानों द्वारा निरन्तर प्रशंसा प्राप्त करता है ।^१

प्रवचन औचित्य —

आचार्य जेमेन्द्र ने बताया है कि प्रवचनात् अर्थ उचित अर्थ की विधिपटता से उसी प्रकार से प्रकाशित होता है, जिस प्रकार च गुण के प्रभाव द्वारा मध्य ऐश्वर्य से सज्जन पुण्य ।^१

गुणीकृत्य —

आचार्य जेमेन्द्र ने भिन्ना है कि प्रस्तुत अर्थ के औचित्य से शोक प्रसाद भावने, एवं सीकुमारों आदि लक्ष्यों से युक्त गुणमय काव्य उसी प्रकार से सहृदय पुण्यों की आनन्दयक होता है, जिस प्रकार सम्मोह के समय उचित हुआ भद्र ।^१

अलंकार औचित्य —

आचार्य जेमेन्द्र के मत से अपूर्व अलंकार से युक्त मूर्ति उसी प्रकार शोभा पाती है, जैसे दीन पयोधर पर लहुराते हुए हार के द्वारा मृगाधी ।^१

१ औचित्यरहितं काव्यं सततं समतमसताम् ।

त्यागोदप्रमिद्वैद्यैः शीतोद्वज्जलसन्निभं श्वतम् । (औचित्यविचारवर्षा, १२)

२ प्रस्तुताप्रीतिरितं काव्ये मध्यं सीमाप्यधीगुणः ।

स्पर्शतीगूरिजानन्वं संयोगावसरोचितः ॥ (वही १४)

३ प्रस्तुताप्रीतिरितं काव्ये मध्यं सीमाप्यधीगुणः ।

स्पर्शतीगूरिजानन्वं संयोगावसरोचितः । (वही १४)

४ अपूर्वविशेषता सुतिर्लभकरेण दीयते ।

दीनस्तनक्षितेनेव हारेण हरिसेनाय ॥ (वही १५)

रसीक्षित्य —

भाचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि जिस प्रकार से बसन्त अद्योक्त को अंकुरित करता है उसी प्रकार से रसीक्षित्य द्वारा प्रदीप्त रस मन को प्रफुल्लित करता है ।^१

तत्त्व रसीक्षित्य —

भाचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार तत्त्वोचित कथन से काव्य निश्चित विरवास की वृद्धि के कारण हृदय सम्मत् और इस प्रकार से उपादेश हो जाता है ।^२

तत्त्व रसीक्षित्य —

भाचार्य क्षेमेन्द्र के विचार से कवि का सत्त्व गुण ही उचित कथन उसी प्रकार से सामकारिक सिद्ध होता है जिस प्रकार से प्रकार से सुसुद्धि द्वारा विचार किया हुआ श्रेष्ठ, सवार चरित्र ।^३

स्वभाव रसीक्षित्य —

भाचार्य क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि स्वभाव विषयक रसीक्षित्य उसी प्रकार से कवि की सुक्ष्मों के श्रेष्ठ बर्णन के रूप में मान्य होता है, जिस प्रकार से सुस्वरियों का स्वाभाविक और अद्वितीय संग्रह ।^४

प्रतिभा रसीक्षित्य —

भाचार्य क्षेमेन्द्र का मतम्ब है कि प्रतिभा से अलंकृत कवि द्वारा उचित काव्य

- १ कुर्वन्तस्त्वित्येव्याप्तिर्नीचिद्विचिरो रसः ।
मनुमास कृवाद्योक्तं करोत्यंकुरितं यथः ।
- २ काव्यं हृदयतर्पयति सत्त्वप्रत्ययविशेषात् ।
तत्त्वोचिताविधानेन यादृगुपायेष्टां कथैः ॥
- ३ अमलकारं करोत्येव यथः सत्त्वोचितं कथैः ।
विचारविचरोक्तं चरितं सुयतेरिव ॥
- ४ स्वभावोचित्यनामाति सुक्ष्मिना चाद्युत्पत्तिः ।
आकृतिममसानाग्यं तत्त्वार्थचययोपिष्टाम् ॥

उसी प्रकार से होमा पाया है, जिस प्रकार से लक्ष्मी द्वारा सुशोभित भुमी पुरन का निर्माण हुआ ।^१

महत्त्व —

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा के इतिहास में आचार्य होमेन्द्र का महत्त्व उनके तीन ग्रन्थों “सुश्रुति तिलक”, “औचित्य विचार चर्चा”, तथा “कवि कंठामरण” के कारण ही है। यों उनके लिये हुए अन्य ग्रन्थों की संख्या भी बालीस से अधिक अनुमानित की जाती है। कहा जाता है होमेन्द्र ने साहित्य शास्त्र पर “कवि काणिका” नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी, जो उपलब्ध नहीं है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त होमेन्द्र रचित “सिद्धबंध”, “वृत्तावतारचरित” “बृहत्कषायमंजरी” “व्याख्यानमयी” तथा “पद्मासन मंजरी” का भी उल्लेख किया जाता है। उपर्युक्त ग्रन्थों में से “औचित्य विचार चर्चा” की कृति भी होमेन्द्र ने लिखी थी। वस्तुतः इस ग्रन्थ का महत्त्व औचित्य के काव्य में महत्त्व प्रतिपादन की दृष्टि से बहुत अधिक है। होमेन्द्र ने औचित्य को ही रस का जीवन माना। उन्होंने इस विचार का इतना मंजन किया कि बहुत से परवर्ती विद्वानों ने उनके मत के आधार पर औचित्य को एक स्वतन्त्र काव्य सम्प्रदाय ही स्वीकार कर लिया।

सागररत्नी

सागररत्नी का समय ग्याहूनी घटावरी का पूर्वार्ध माना जाता है। उनका वास्तविक नाम सागर ही था परन्तु अपने बंधन की के कारण वह सागररत्नी नाम से ही प्रसिद्ध हुए। उनकी मुख्य रचना नाट्य शास्त्र के क्षेत्र में ही है। इस विषय पर उन्होंने नाट्य सत्तम रत्न कोश नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें नाट्य साहित्य का विद्वान्ता शास्त्रीय गिरजन प्रस्तुत किया गया है। इनके ग्रन्थ में राजदेवर के विचारों का उल्लेख भी मिलता है। परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में सुश्रुति ने अपनी “कविचरित”

१ प्रतिभाभरण काव्यमुचित होमडे कवि ।

निर्भर अनुवादिन कुल प्रतिविमुच्यति ॥

की रचना में इनके विचारों का उत्प्रेषण किया है जो इनके परवर्ती युग पर प्रभाव का पुष्पक है।

रम्यक

आचार्य रम्यक का समय बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। कहा जाता है कि यह काश्मीर के राजा जयसिंह के सन्धि विग्रहक महाकवि मंसक के पुत्र थे जिनके द्वारा रचित "भीकंठ चरित" नामक महाकाव्य का उत्प्रेषण मिलता है। इनके पिता का नाम राजानक विसक था। यह स्वयं भी अलंकार शास्त्री थे। उन्होंने उद्भट के 'काव्यालंकार सार' पर टीका लिखी थी जिसका नाम "उद्भट विवेक" या "उद्भट विचार" था। रम्यक ने "काव्यप्रकाश" पर एक टीका लिखी है। रम्यक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'अलंकार सर्वस्व' है। इस ग्रन्थ में उन्होंने अलंकार विषयक बहुत मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें प्रायः सभी काव्यालंकारों तथा अर्पणालंकारों का निरूपण किया गया है जिनमें से अनेक मौलिक तथा नवीन हैं। परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में निस्वनाथ तथा अप्पय दीक्षित ने इससे विवेक रूप से प्रभाव ग्रहण किया। आचार्य रम्यक के इस ग्रन्थ पर आगे चलकर दो महत्वपूर्ण टीकाएँ रची गयीं। इनमें से प्रथम बयरन द्वारा रचित 'विभाषिणी' तथा द्वितीय समुद्रबन्ध द्वारा रचित टीका है।

"अलंकार सर्वस्व" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में आचार्य रम्यक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्यशास्त्र विषयक भाष्यताओं का पर्यवेक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि भामह तथा उद्भट आदि प्राचीन अलंकार शास्त्रियों ने प्रतीयमान अर्थ को वाच्यार्थ का उत्कर्षकारक होने के कारण उसे अलंकारों की ओर लपकाया है। जवाहरलाल परामोक्ति, अमरप्रस्तुत प्रसंघा समासोक्ति आलेप उपमेयोपमा व्यावस्तुति जनन्य आदि अलंकारों में से वस्तु रूप व्यर्थ को उन्होंने स्वसिद्ध में पदालेप" तथा पदार्थ स्वसमर्पण" इन दो प्रकार की रीतियों से बताया है। खट ने दो भावार्थालंकार को ही दो प्रकार का कहा है, रूपक और दीपक।

आचार्य रम्यक ने लिखा है कि व्यर्थ नाम रखने वाले विषय को ही काव्य की आरम्भ कहना चाहिए। उसी के गुण एवं अलंकार से मनोहरता की धृष्टि होती है। उस आदि विषय काव्य का जीवन अवश्य है परन्तु इन्हें अलंकार समझा ही नहीं करना

चाहिए। रघुपद का विचार है कि असंसार तो योग्यताएँ ही हैं इसलिए योग्य ही वाक्य ही व्याख्या है।

महाकवि

रघुपद के शिष्यों में महाकवि का नाम भी उल्लेख योग्य है। इनके शिष्यों में ऊपर लिखा जा चुका है कि उन्होंने "श्रीकण्ठशरित" नामक महाकाव्य की रचना की थी। इनका समय भी बारहवीं शताब्दी ही माना जाता है। यह कान्हीरु के राजा जयसिंह के मंत्री थे। महाकवि साहित्य शास्त्रीय विषयक वेद के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि रघुपद के शिष्य "असंसार सर्वस्व" के मूल और बुद्धि नामक दो भागों की रचना में इनका भी योग्य था। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि इन दोनों भागों ने पृथक् पृथक् भागों की रचना की तथा कुछ का अनुमान है कि रघुपद की रचना में महाकवि ने कुछ परिवर्तन लाए किताबें।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र जैन आचार्य थे। इनका समय भी बारहवीं शताब्दी माना जाता है। साहित्य शास्त्र के अतिरिक्त उनकी वेद व्याकरण के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण मानी जाती है। यह पुत्रराज के राजा कुमारपाल के मंत्री थे। हेमचन्द्र के द्वारा रचित "काव्यानुशासन" नामक साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ तथा इस पर "असंसाररूपानुशासन" नामक बृत्ति तथा विवेक नामक टीका का उल्लेख मिलता है। इनके काव्यानुशासन नामक ग्रन्थ की देखने से यह ज्ञात होता है कि इन पर अभिनवगुप्त तथा भस्मट आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ का विभाजन आठ अध्यायों में किया है। इनमें से प्रथम में काव्य के प्रमाण हेतु तथा प्रतिभा आदि का विवरण दूसरे में रस विषयक तीसरे में दोष विवेचन चौथे में गुण विवरण पाँचवें में शब्दात्मक विवेचन छठे में अपर्यायकार विवरण सातवें में नामक-अप्रत्यय-विद तथा आठवें में वाक्य के विविध भेदों की व्याख्या की गयी है।

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र जैन आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य हैं। इनमें से रामचन्द्र "प्रमाणपटवर्ती" की उपाधि से श्रद्धित थे। उन्होंने संयुक्त मेरान में "नारदपर्व" नामक

कृति की रचना की थी। जैसा कि इस ग्रन्थ के शीर्षक से स्पष्ट है, इसका विषय नाट्य शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना है। संयुक्त लेखकों ने इस “नाट्यदर्पण” नामक कृति की पृथक् से भी व्याख्या प्रस्तुत की थी। इस ग्रन्थ का महत्व सिद्धान्त निरूपण के साथ ही कुछ ऐतिहासिक महत्व की सूचनाएँ देने के कारण भी है।

बागमट्ट (प्रथम)

बागमट्ट प्रथम का समय बारहवीं शताब्दी माना जाता है। यह भी जैन सम्प्रदाय का है। इन्होंने साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में ‘बागमटासंसार’ नामक कृति की रचना की थी। इस कृति पर आठ टीकाएँ रची गयीं बतायी जाती हैं। इस ग्रन्थ का विभाजन पाँच अध्यायों में किया गया है। इनमें से प्रथम अध्याय में काव्य कवि प्रतिमा कवि समय वादि का विवेचन द्वितीय अध्याय में विविध काव्य प्रकारों में पद वाक्य तथा वर्ण बोधों का विवेचन तृतीय अध्याय में काव्य गुणों का विवेचन चतुर्थ अध्याय में अलंकार तथा रीति का विवेचन तथा पाँचवें अध्याय में नायक नायिका भेद तथा रस विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

जयदेव

जयदेव का समय तेरहवीं शताब्दी स्वीकार किया जाता है। उनका जन्म प्रदेश निजिला था। कहा जाता है कि उन्हें “पीमूपयवर्ण” उपाधि प्रदान की गयी थी। इनके रचे हुए ग्रन्थ का शीर्षक “जयमाला” है। जयदेव नामक इस पर अनेक टीकाएँ भी प्रकाशित हुईं। जयदेव लिखित “जयमाला” का विभाजन षट् अध्यायों में हुआ है। इस ग्रन्थ का विषय मुख्यतः अलंकार शास्त्र का ऐतिहासिक निरूपण ही है। इस विषय के परिचयात्मक ज्ञान के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी बताया जाता है इनके ग्रन्थ से व्यापक प्रभाव ग्रहण करके अनेक भीषित ने अपने ग्रन्थ “कुसुममाला” की रचना की थी। इस ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद राजा असवन्त सिंह ने “मायाभूषण” नाम से किया है।

शारदात्मज

शारदात्मज का समय भी तेरहवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। यह काश्मीर के निवासी थे। इनके वास्तविक नाम के विषय में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं

है। चारदाशम्य के द्वारा रचे हुए ग्रन्थ का धीरे-धीरे "भावप्रकाशन" है। इस ग्रन्थ का विषय क्षेत्र दूसरा नाट्यशास्त्र है। इस ग्रन्थ में बस अध्याय हैं, जिनमें रचयिता ने भाव रस के रूप रस के मेरु नायक तथा नायिका मेरु धर्म तथा धर्म की व्याख्या नाट्य धरीर निरूपण दस रूपक नृत्य के मेरु तथा नाट्य प्रयोग आदि का विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार से इसमें नाट्य शास्त्र तथा नाट्य कला का वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। यही इस ग्रन्थ की प्रधान विशेषता है।

भानुदत्त

भानुदत्त का नाम भी ठेठहीँ घटाहीँ हो स्वीकार किया जाता है। इनके पिता का नाम धनेश्वर था। इनका जन्म प्रदेश भी भिषिका ही था। इनके रचे हुए ग्रन्थों में "रस तरंगिणी" तथा "रस मञ्जरी" का उल्लेख किया जाता है। इनमें से प्रथम ग्रन्थ का ही संक्षिप्त संस्करण द्वितीय ग्रन्थ है। "रसतरंगिणी" का विभाजन आठ तरंगों में किया गया है। जैसे कि इसके धीपक से ही स्पष्ट है, इस कृति में रस का सम्पूर्ण रूप से वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। भानुदत्त के लिखे हुए "अनेकार्थिक" नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी उल्लेख किया जाता है। कहा जाता है कि इन्होंने भीठ पीठीस नामक एक पीठ ग्रन्थ की भी रचना की थी।

विद्याधर

विद्याधर का नाम भी ठेठहीँ घटाहीँ का उल्लेख अनुमानित किया जाता है। इनके रचे हुए हुए "एकादशी" नामक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। यह ग्रन्थ लेखक ने उत्कल के राजा नरसिंह की प्रशंसा में रचा था था। इस ग्रन्थ की रचना विद्याधर ने सम्मत १७८ "वाष्पप्रकाश" की सीमा पर की थी। इन ग्रन्थ की विशेषता यह भी है कि इसमें लेखक ने स्वयं अपने ही रचे हुए उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। आगे चलकर इस ग्रन्थ की जो टीकाएँ लिखी गयीं उनमें मल्लिनाथ की "तरंग" नामक टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

विश्वनाथ

रचना और काल —

आचार्य विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। यह उत्कल के राजा के सम्विबिग्रहिक थे। इनके पिता का नाम 'जगन्नेसर' था। उनकी लिखी हुई दो कृतियाँ 'पुष्पमासा' तथा 'भाषाण्य' बरगयी जाती हैं। आचार्य विश्वनाथ का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' है। यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ उस परिच्छेदों में विभाजित किया गया है। इन उस परिच्छेदों में आचार्य विश्वनाथ ने विविध काव्य कृतियों का वैज्ञानिक और विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्य के अतिरिक्त इसमें नाटक के विषय में भी महत्वपूर्ण विवरण उपलब्ध किया गया है। इस ग्रन्थ पर जागे जसकर दो टीकाएँ प्रस्तुत की गयीं जिनमें से प्रथम आचार्य विश्वनाथ के पुत्र जनकदास की टीका तथा द्वितीय रामदास बागीच की टीका है। आचार्य विश्वनाथ कृत 'साहित्य दर्पण' में से उनकी साहित्यिक मान्यताएँ संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

काव्य काल —

काव्य के स्वल्प का निरूपण करने के पूर्व आचार्य विश्वनाथ ने काव्य के काल के विषय में बताया हुए लिखा है कि काव्य के ही द्वारा अल्पबुद्धि वालों को भी बिना किसी परिश्रम के बर्तन जहाँ काम और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।^१

काव्य का स्वल्प —

काव्य के स्वल्प का विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती विविध आचार्यों के मतों का तर्कपूर्ण रूप परीक्षण करते हुए अन्त बताया है कि रसालोक काव्य को काव्य कहते हैं। रस के अभाव में काव्यत्व नहीं होता।

१ अतुर्बलप्रदायि सुखरसप्रियायि ।

काव्यादेव अतस्तेन लक्षणम् निरूप्यते ॥

(साहित्य दर्पण अनु० अ० १० श्लोक १२)

वाक्य के गुण का सञ्जन करते हुए उन्होंने बताया है कि भुज अलंकार और रीतियों काव्य की उत्कृष्टता के कारण होते हैं ।^१

वाक्य का स्वरूप —

आचार्य विश्वनाथ के वाक्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है कि आकांक्षा योष्यता और आसक्ति से युक्त पद समूह ही वाक्य कहा जाता है ।^२ इनमें से योष्यता आकांक्षा और आसक्ति की उन्होंने पुनः पुनः व्याख्या की है । आकांक्षा, किसी वाक्यार्थ की पूर्ति हेतु किसी पदार्थ की विमोक्षा के बने रहन का कहते हैं । योष्यता किसी पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाधा के न होने को कहते हैं । तथा आसक्ति प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के अव्यवधान को कहते हैं ।^३

वाक्य के भेद —

वाक्य के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् आचार्य विश्वनाथ ने के वाक्य दो भेद किये हैं (१) वाक्य तथा (२) महावाक्य । इनमें से महावाक्य का लक्षण करते हुए उन्होंने बताया है कि महावाक्य योष्यता आकांक्षा तथा आसक्ति से युक्त वाक्य समूह को कहा जाता है ।

काव्य के प्रकार —

विविध काव्य कर्षों का विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अथ्य काव्य के दो भेद किये हैं (१) पद्य और (२) पद्य ।^४ इनमें से पद्य उस काव्य को कहते हैं, जो छन्दों में लिखा गया हो । पद्य यदि मुक्त वर्णान् दूसरे पद्य से निरपेक्ष हो, तो मुक्तक और यदि उसमें दो इलाकों से वाक्य पूर्ति होती हो तो गुणक कहा जाता है । इनके अतिरिक्त

१ अत्युद्दिष्टव प्रोक्त्य भुजालंकारदीपतयः ॥ (वही १ १)

२ वाक्यं स्याद्योष्यताकांक्षासक्तिपुस्तक पदोचयः ।

३ योष्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधानाव—

आकांक्षा प्रतीतिर्यवधानविरहः ।

त च योऽनुविमोक्षाकयः । आसक्तिर्भुज्यग्नयेव ।

४ वाक्ययोष्ययो महावाक्यं योष्यताकांक्षासक्तिपुस्तकद्वयेव ।

इत्थं वाक्यं त्रिधा भवतम् । (वही २, १)

५ अथ्यं योऽनुविमोक्षार्थं तत्पद्यनद्यमयं त्रिधा ॥ (६, १ ११)

तेन पद्यो वासा काव्य सन्धानितक अथवा विशेषक चार पद्यो वासा कलापक तथा पाँच अथवा पाँच से अधिक पद्यो वासा होने पर कुसक कहा जाता है ।^१

महाकाव्य —

महाकाव्य की विवेचना करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि महाकाव्य से कहते हैं जिसमें सर्गों का निबन्धन हो । महाकाव्य में एक नायक होगा चाहिये जो बहा या सम्बल क्षत्रिय हो । उस धीरोदात्त होना चाहिए ।^२ उसमें एक अर्ध रस होना चाहिए जो शृंगार, वीर या शान्त कोई भी हो सकता है । अर्ध रस के अतिरिक्त शय स उसमें गौण हो जाते हैं । उसमें नाटक की सभी सन्धियाँ रहनी चाहिए ।^३ उसकी कथा ऐतिहासिक या लोक प्रसिद्ध होती है । उसका धर्म अर्थ काम और मोक्ष में से एक फल होता है । इसकी सर्व संख्या साठ से अधिक होती है ।^४ इसके सर्गान्त में छन्द मिश्र हो जाता है और आत्मायी कथा की सूचना होती है ।^५ इसमें विविध प्रकार के पूर्व वर्णन होने चाहिये । इसका नामकरण कवि या नायक के अनुसार होना चाहिये ।

गद्य काव्य :—

आचार्य विश्वनाथ ने गद्य काव्य का विवेचन करते हुए बताया है कि गद्य चार प्रकार का होता है (१) मुक्तक जो समाप्त रहित होता है (२) वृत्त पद्य जिसमें

- १ धर्मोद्वेगपरं पद्येन मुक्तं मुक्तकम् । इत्यन्त्यां तु युग्मकं संधानितकं विमिरिष्यते ।
कलाप्यं चतुर्मित्तं पंचमिं गुणकं मतम् । (३, १५)
- २ सर्गबन्धो महाकाव्यं तर्हीको नायकः सुतः । (६, ११५)
सर्वकः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणाभिधः ॥ (१६)
- ३ शृंगारवीरशान्तलामोकोऽङ्ग रस इष्यते ।
अमानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंभवः (६, ११७)
- ४ इतिहासोऽङ्गं वृत्तमन्वया सज्जालापम् ।
आत्यारस्तस्य धर्माः स्तुतौष्येकं च फलं मयेत् । (३, ११८)
- ५ एकवृत्तमयी पद्यरचनामिष्य वृत्तकी ।
वातिस्वल्पान्तिदोर्भा सर्वा अप्वाभिधाह । (२०)
- ६ नामावृत्तमयः क्वापि तर्ही कस्यच वृत्त्यते ।
सर्वमि वाविसर्वस्य कथायाः गुणकं भवि । (२१)

पद्यांश होते हैं, (३) उत्कलिनाशाय, जिसमें शीर्ष समाश होते हैं तथा (४) कूर्चक, जिसमें सम्पूर्ण समाश होता है।^१ कथा का स्वरूप निर्देश करते हुए आचार्य विरचनाय ने बताया है कि इसमें सरस वस्तु गद्य द्वारा निर्मित होती है। इसमें मार्ग वक्त्र तथा अपवक्त्र दृश्य होते हैं। इसमें पद्यमय गमस्कार प्रारम्भ में होता है।^२ आख्यायिका की व्याख्या करते हुए आचार्य विरचनाय ने लिखा है कि यह कथा के समान होती है। इसमें कवि वंश का वर्णन होता है। इसमें पद्य भा रस ठग होते हैं। इसमें विविध कथा खंडों को 'आख्या' कहा जाता है। आख्यासारम्भ में आदर्शवत्त अथवा अपवक्त्र दृश्य के द्वारा नामांकी कथा की सूचना दी जाती है आदि।^३ इसी प्रकार से आचार्य विश्वनाथ ने कथामय पद्य काव्य को कहा है जिसमें गद्य और पद्य दोनों हों। इसी प्रकार से गद्य और पद्य दोनों से युक्त राजस्तुति विरक्त है।^४ तथा विविध भाषा निर्मित करम्भक होता है।^५

रस का स्वरूप —

आचार्य विरचनाय ने अपने 'साहित्य दर्पण' नामक साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ के तीसरे परिच्छेद में रस का स्वरूप निम्नप्रकार प्रस्तुत किया है। उन्होंने बताया है कि सङ्ख्य

- १ कृतमध्योक्तिस्तं गद्य युक्तं कृतमन्त्रि च ।
मवेदुत्कलिका प्रायं कूर्चकं च अनुविशम् ।
माद्यं समाशरहितं कृतमगनुत् परम् ।
अम्यहीयममाश्रयं दुर्गं काव्यसमाश्रयम् ॥ (१, ३३०, ३१ ३२)
- २ कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।
वक्त्रवक्त्र मवेदार्थं वक्त्रवक्त्रवक्त्रवक्त्रवक्त्रे ।
आदी पदार्थमस्कारम् (१, ३३२, ३३)
- ३ आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वागुचीर्तनम् ।
अस्यामग्यकीर्ता च कृतं पद्यं वक्त्रवक्त्रवक्त्रम् ॥
कथागालां व्यवच्छेद आख्यात इति ज्ञाप्यते ।
आपर्ववक्त्रापी दृग्गता येन केवचित् ॥ (१ ३३४ ३५)
- ४ गद्य वद्यमयं काव्यं कथ्यतेत्यामिमीयते । (१, ३४६)
- ५ गद्यपद्यमयी राजस्तुतिविशेषमुच्यते ।
- ६ करम्भकं तु भाषाविविध्याविविधनिर्मितम् । (१ ३४७)

के रूप में वासना रूप में विद्यमान रति आदि स्थायी भाव जब कवि द्वारा वर्णित विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव द्वारा अभिव्यक्ति पाते हैं तब आनन्द रूप होकर रस की स्था प्राप्त करते हैं ।^१ उन्होंने बताया है कि जो सहृदय होते हैं वे ही रस रूपी काव्या-मन्त्र का अनुभव करते हैं । जब उनके रूप में रस का उद्रेक होता है तभी रस का अनुभव भी । रसों में सर्वप्रथम शृंगार रस का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य बिस्मनाथ ने बताया है कि इसका स्वरूप 'शृंगार' शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट हो जाता है । 'शृंग' से काम के आभिर्भाव से वाद्य है तथा उससे सम्भूत होने को शृंगार कहते हैं । शृंगार के उन्होंने विप्रलम्भ तथा सम्भोज नामक दो भेद बताये हैं । इनमें से प्रथम के पूर्वोक्त विप्रलम्भ मान विप्रलम्भ प्रवास विप्रलम्भ तथा कवच विप्रलम्भ नामक चार भेद बताये हैं इस कामवशाओं अधिष्ठाया चिन्ता स्मृति कुछ कथन उत्प्रेरक संप्रसाप उन्माद व्याधि अङ्गता तथा मृति का उल्लेख भी उन्होंने इसी प्रसंग में किया है ।^२ हास्य रस की व्याख्या करते हुए आचार्य बिस्मनाथ ने इसके छी भेद बताये हैं उत्तम प्रकृतियत स्मित हास्य उत्तम प्रकृतियत हसित हास्य मध्यम प्रकृतियत विहसित हास्य मध्यम प्रकृतियत अहसित हास्य अथवा प्रकृतियत अहसित हास्य तथा अथवा प्रकृतियत अति-हसित हास्य ।^३ कवच रस की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि वह वस्तुतः जोक नामक स्थायी भाव की ही पूर्ण अभिव्यक्ति है । रीति रस उक्त कहते हैं जिसका स्थायी भाव क्रोध वर्ण रक्त तथा देवता यह है ।^४ वीर रस के चार भेद हैं दानवीर, वर्यवीर, मुठवीर, तथा बयावीर ।^५ मयागक रस यह होता है जिसका स्थायी भाव भय वर्ण कृन्म तथा देवता काय है । नीचरस रस का स्थायी भाव कुमुत्पा वर्ण नीच तथा देवता यज्ञ-

१ "साहित्य वर्णन" अनुवादक डा० लालमल सिंह, ३, १

२ वही, ३, १०३

३ वही, ३, ११७

४ वही, ३, २२३

५ वही, ३, २२७

६ वही, ३, २३४

७ वही, ३, २३५

कांत होता है ।^१ अद्भुत रस का स्वादी मास विस्मय, वर्ण पीत तथा देवता गन्धर्व हैं ।^२
 वास्त रस का स्वादी मास धूम वर्ण स्नेह तथा देवता नाचयण हैं ।^३

महत्त्व —

संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास की परम्परा में आचार्य विश्वनाथ का महत्त्व उत्तरकालीन पंथियों में बहुत अधिक है । उनके ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' को देखने से यह ज्ञात होता है कि उस पर 'काव्य प्रकाश', 'वराहमिह', 'अलङ्कारसर्वस्व', 'अक्रोष्टिजीवित', तथा 'अमिनवशास्त्री' आदि ग्रन्थों से प्रभाव पड़ चुका है । आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रणीत 'साहित्य दर्पण' नामक धातुवीय ग्रन्थ के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कृतियों लिखित की जाती हैं । जिनमें संस्कृत भाषा में रचित 'राजब विज्ञान' नामक महाकाव्य, माहृत भाषा में रचित कुसुमपात्र चरित' नामक काव्य 'प्रभावती परिचय' नामक नाटिका 'प्रसन्न रत्नावली' तथा काव्य प्रकाश दर्पण' आदि विदेश रूप से उल्लेखनीय हैं । यद्यपि विश्वनाथ आचार्य का प्रमुख ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' मौलिकता की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं रखता, परन्तु मोक्षमयता के कारण इसकी लोकप्रियता असाधारण है । परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में पंडित राज बल्लभ पर इस ग्रन्थ का विशेष रूप से प्रभाव मिलता है, जिनका सग्रहित धातुवीय ग्रन्थ "रस गंगाधर" के नाम से विख्यात है ।

श्रीमद्भार मित्र

श्रीमद्भार मित्र का समय जीवन्मूर्ति स्वीकार किया जाता है । यह काश्मीर के निवासी थे । इनके पिता का नाम मदीश्वर मित्र था । इनके लिये हुए "अलङ्कार रत्नाकर" नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया जाता है । जैसा कि इस ग्रन्थ के शीर्षक से ही स्पष्ट है इसमें लेखक ने अलङ्कार शास्त्र का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है । इस ग्रन्थ में आचार्य श्रीमद्भार मित्र ने लगभग सभी अलङ्कारों की व्याख्या की है । इनमें से कुछ

१ बही ३, २३९

२ बही ३, २४१

३ बही ३, २४६

असंकार नवीन हैं तथा कुछ के नाम नवीन हैं। इस ग्रन्थ में जो नवीन असंकार हैं उनमें अभिरूप्य बनाकर अनुकृति असम अशरोह, अशक्य आदि तथा आपत्ति आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।^१

विधानाथ

आचार्य विधानाथ का समय बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध स्वीकार किया जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम "प्रतापस्यसौम्यपत्र" है। इस ग्रन्थ को लेखक ने अपने आश्रयदाता ठेकाना के कारकीर्मी तथा प्रतापस्य के लिए रचा था। इन्हीं की प्रशंसा में इस ग्रन्थ के सभी उदाहरण रचे गये हैं। इस ग्रन्थ की रचना में लेखक ने सम्मत् तथा व्युत्पन्न से विशेष रूप से प्रभाव ग्रहण किया है। यह ग्रन्थ भी अध्यायों में विभाजित किया गया है। इनमें लेखक ने नायक काव्य नाटक रस बोध गुण सञ्चारकार, अपासंकार तथा मित्रासंकार की विवेचना प्रस्तुत की है। आगे चलकर मस्तिनाथ के पुत्र कुमार स्वामी द्वारा इस ग्रन्थ पर "रत्नापत्र" शीर्षक टीका लिखी गयी।^२ इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर लिखी गयी "रत्नधारण" नामक एक अन्य टीका का भी उल्लेख किया जाता है।^३

बालमह (द्वितीय)

बालमह (द्वितीय) का समय बीसवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है। इनके ग्रन्थ का नाम "काव्यानुशासन" है। पाँच अध्यायों में विभाजित इस ग्रन्थ में अधिकतर विविध साहित्यिक ग्रन्थों से उद्धात उद्धृत किया गया है।

१ "संस्कृत भाषाविद्या", पृ० अतर्क्य उपाध्याय, पृ० २७१।

२ वही पृ० २७२

३ "संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास", डॉ० रामजी उपाध्याय,

अप्यय दीक्षित

अप्यय दीक्षित का समय सातहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। यह दक्षिण भारतीय थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ "कुवलयानन्द" में अपने आश्रयवाता का नाम बेंकटपति लिखा है, जो पेशकोंडा के राजा थे।^१ अप्यय दीक्षित के लिखे हुए तीन ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है। ये ग्रन्थ "वृत्ति वाचिक", "विमयीमांसा" तथा "कुवलयानन्द" हैं। इनमें से अन्तिम ही उनकी रचना का मुख्य कारण है। यह ग्रन्थ पर्याप्त मौलिकता लिए हुए है। असंसार साह्य के इतिहास में इसका विशेष महत्व स्वीकार किया जाता है। अप्यय दीक्षित के लिखे हुए सवधाय एक ही ग्रन्थ बताया जाते हैं। इन्होंने बसदेव कृत "चन्द्रालोक" से पर्याप्त प्रभाव ग्रहण किया है। बापे बसकर अप्यय दीक्षित के कुछ चर्चों का लंडन पंडितराज अवभाष ने अपने सवधायर में किया।

अवभाष

रचना और काल—

पंडितराज अवभाष का समय सातहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। यह बाल्या बाण्य शाह्यम थे। इनके पिता का नाम पेह बट्ट था। कहा जाता है कि वह शाह्यवादी के आग्रह पर उसके पुत्र बाण्य को संस्कृत की शिक्षा देने के उद्देश्य से दिल्ली गये थे। शही नहीं इन्होंने अपने शाह्य में बाण्य के विषय में भी लिखा है। पंडितराज अवभाष की सर्व प्रसिद्ध कृति "रस रंगाधर" है। इसमें उन्होंने रस तथा असंसार भावि का सम्पूर्ण विश्लेषण करते हुए अपने ही लिखे हुए उपाहरणों से उनकी पुष्टि की है। "रस रंगाधर" के प्रथम आगम में पंडितराज ने शाह्य के मेघ चंद्र गुण बर्ण गुण ध्वनि भेद तथा रस भीमांसा प्रस्तुत की है तथा द्वितीय आगम में रसतरंग कम ध्वनि ध्वनि लयपा तथा असंसार विषयन किया गया है। पंडितराज के इस ग्रन्थ में प्रस्तुत विचारों में से प्रमुख को संक्षेप में नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य सञ्जनः—

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य के सञ्जन बताते हुए लिखा है कि काव्य उस शब्द को कहते हैं जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करता है ।^१ उन्होंने अपने पूर्ववर्ती साहित्य शास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये काव्य विप्लवक मतस्य का विरोध करते हुए अपनी इस मान्यता का दृढ़तापूर्वक पोषण किया है कि शब्द और अर्थ दोनों को काव्य नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार से उन्होंने काव्य सञ्जन में गुण और अलंकारादि की योजना भी अनुचित ठापी है ।^२

काव्य की आत्मा —

काव्य की आत्मा के विषय में पंडितराज जगन्नाथ ने लिखा है कि जिस प्रकार से आत्मा के धर्म सीमों का विधान है, उसी प्रकार से काव्य की आत्मा रस के धर्म युक्त है । इसी प्रकार से जैसे शरीर की सोमा के विनाशक हार जाति होते हैं, वैसे ही काव्य का अलंकरण अलंकारों के द्वारा होता है । परन्तु काव्य सञ्जन में इनका अयोग्य उसी प्रकार से अनुचित है जिस प्रकार से बीरता अथवा हार शरीर निर्माण में अनुपयोगी है ।^३ पंडितराज ने पूर्ववर्ती मान्यता जिसमें रस है नहीं काव्य है से भी अचूकमति प्रशंसा की है क्योंकि उनके विचार से इस मान्यता के अनुसार जो काव्य यह प्रमाण न होकर, अलंकार प्रधान है वह काव्य की कोटि में जाने से वंचित रह जाता है ।^४

काव्य हेतुक प्रतिभा —

पंडितराज जगन्नाथ की सम्मति के अनुसार काव्य का कारण केवल प्रतिभा ही है, जो कवि में होती है । प्रतिभा काव्य के निर्माणात् अनुकूल शब्द तत्पर अर्थ को

१ रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम् ।

२ सञ्जने गुणालंकारादिनिर्देशोऽपि न युक्तः

३ शौर्यादिबलसाधनार्था गुणानाम्, हारादिअनुपकारकानामलंकारार्था च शरीर प्रवर्धनानुपपत्तौ च ।

४ अलंकाराद्यवधानार्था व्यप्यनापकाव्यत्वापत्तेः ।

अपस्थिति को ही कहते हैं ।^१ उन्होंने बताया है कि इस प्रतिभा का कारण कहीं मनुष्य तथा कहीं वृष्ट होता है । यह मनुष्य नहीं होता है वहाँ किसी देवता अथवा महापुरुष की प्रशक्तता से हो तथा वृष्ट असाधारण अल्पम अथवा काव्य रचना के अभ्यास में होता है । परन्तु इन तीनों में से एक ही प्रतिभा का कारण हो सकता है तीनों नहीं क्योंकि मनुष्य इनमें से एक के द्वारा ही प्रतिभा की उत्पत्ति होती गई है ।^२

काव्य भेद —

पंडितराज जगन्नाथ न काव्य के भेद बताने हुए लिखा है कि काव्य चार प्रकार का होता है—(१) उत्तमोत्तम काव्य (२) उत्तम काव्य (३) मध्यम काव्य तथा (४) अधम काव्य ।^३ इनमें से प्रथम अर्थात् उत्तमोत्तम काव्य बहु होता है जिसमें शब्द और अर्थ दोनों स्वयं मौल्य होकर किसी सामत्कारिक अर्थ की अभिव्यक्ति करें । द्वितीय अर्थात् उत्तम काव्य उसे कहते हैं जिसमें व्यंग्य प्रधान न होवे हुए भी सामत्कारिक हो ।^४ तृतीय अर्थात् मध्यम काव्य उस कहते हैं जिसमें वक्ष्यार्थ का समत्कार व्यंग्यार्थ के समत्कार के साथ न रहता हो ।^५ तथा चतुर्थ अर्थात् अधम काव्य उसे कहते हैं जिनमें शब्द समत्कार प्रधान तथा अर्थ समत्कार उसकी सीमा के लिए ही हो ।

ध्वनि काव्य के भेद —

ध्वनि काव्य के भेदों का विरलेषम करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने लिखा है कि यह दो प्रकार का होता है (१) अत्रिबाधमूक्त ध्वनि काव्य तथा (२) तत्रिबाधमूक्त

- १ तस्य च कारणं कविता केवला प्रतिभा ।
ता च काव्यवद्वानुक्तवाक्यार्थोपस्थिताः ।
- २ तदुक्तं च प्रतिभात् काव्यकारणतान्त्रिकदेवकताया सिद्धौ जाति विरोध उपाधि कम बाधेनम् । तस्यापि हेतुः सर्वोपेतार महापुरुषप्रतापविजम्बुधम् ।
- ३ तत्त्वोत्तमोत्तममध्यमापन्नेरापन्नतुर्थाः ।
- ४ शब्दापी नन मुनीमाविताश्रानो कमध्यर्थमभिधायित्वाद्यम् ॥
- ५ यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव तत्त्वमन्कारकारणं तद् द्वितीयम् ॥
- ६ यत्र व्यंग्यमन्कारात्तात्त्विकानिर्गुणो वाक्यमन्कारतृतीयम् ।
- ७ धर्मावन्तुपसृता शब्दचमन्वृतिः प्रधानं तदर्थं चतुर्थम् ॥

ध्वनि काव्य । इनमें से भी अभिधामूलक ध्वनि काव्य के तीन भेद होते हैं (१) रस ध्वनि (२) वस्तु ध्वनि तथा (३) असंकार ध्वनि । इस प्रकार से सप्तधामूलक ध्वनि काव्य के दो भेद होते हैं (१) वर्णान्तर सम्मिश्रित काव्य तथा (२) वरमन्त तिरस्कृत काव्य ।^१

रस निवेदन :-

पंडितराज बल्लाध ने ध्वनि काव्य के उपयुक्त पाँच भेदों में से रस ध्वनि को सर्व प्रमुख मान कर उसकी आत्मा रस का विस्तार से वर्णन किया है । रस के भेद करते हुए पंडितराज बल्लाध ने उसे नौ प्रकार का बताया है (१) शृंगार, (२) क्लम (३) शास्त्र (४) रौद्र (५) वीर, (६) अद्भुत (७) हास्य (८) भयानक तथा (९) बीमत्स ।^२

अन्तराल निरूपण :-

पंडितराज बल्लाध ने अपने ग्रंथ 'रसगंगाधर' में अपना उपन्यास अत्यन्त अक्षम उदाहरण स्मरण रूपक परिणाम सस्येष्ट, आन्तिमान् उत्सव अपमृति उद्वेगा अविद्यमोक्ति, दुःस्वयोमिता दीपक प्रतिवस्तूपमा बुध्दास्त निवर्धना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विमोक्ति, समासोक्ति, परिकर, श्लेष अप्रस्तुत प्रबंधा पर्यायोक्ति आद्यस्तुत आद्येय विशेष विधावगा विशेषोक्ति, अस्यति विषम सम विविध अधिक अम्योन्व विशेष व्याघात कारकमाला एकादशी सार, काव्यनिय अवन्तिरन्त्यास अनुमान यथासंख्य पर्याय परिवृत्त परिसंख्या अर्थापत्ति विकल्प समुच्चय समाधि प्रयत्नीक प्रतीप प्रीतिवित्त क्षिति प्रहृषण विषाद हस्मास जवजा अनुज्ञा तिरस्कार, लेख उद्भूत

१ द्वितीय ध्वनिः अभिधामूलो लक्ष्यानुसृतः । तत्रास्तिविधः ।

रसवस्त्रकारध्वनिमेवादृ । रसध्वनिरित्यन्यकमीपलसञ्चलसमावतवामाससञ्च आन्तिमावोचतमावसंधिमास्वसलरवानी ग्रहणम् द्वितीयस्य द्विविधः ।
अर्थात्तर संमिश्रित काव्योऽप्यन्ततिरस्कृतकाव्यमप्य ।

२ शृंगारः क्लमः शास्त्र रौद्री वीरोद्भूतस्तथा ।

हास्यो भयानकश्चैव बीमत्समेति ते नव ॥

अनुसूचित मीलित सामान्य तथा उत्तर जाति अलंकारों की व्याख्या की है। पंडितराज ने अलंकारों को रस जाति स्वभाव की आत्मा की सोचा के सम्पादन के रूप में मान्य किया है।^१

महत्त्व—

संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा के इतिहास में पंडितराज अवभाष का महत्त्व अतिम महान् शास्त्रज्ञ के रूप में बहुत अधिक है, यद्यपि इनके परवान् होने वाले श्री कुछ साहित्य शास्त्रियों का उल्लेख किया है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ “रससंग्रह” पर भाव रखकर माधव भट्ट ने अपनी टीका लिखी। पंडितराज अवभाष को संस्कृत काव्य शास्त्र के इतिहास में सम्मत् और विरचनाय की योग्य का बिडान् माना जाता है। ऊपर कहा जा चुका है कि “रससंग्रह” के अतिरिक्त भी उनकी अनेक कृतियाँ बजायी जाती हैं। रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी उनके अनेक काव्य ग्रन्थ थे। इनमें से “भामिनी विमर्श” “आलंकारविमर्श”, “गोपालहरी”, “कवचहरी” “प्रमत्त सङ्घटी” “सङ्घटी सङ्घटी” “अवधारण”, “प्राणाधारण”, “मुखाधारण”, “यमुनाधर्मान्ध्र” आदि विभिन्न रूप में उल्लेखनीय हैं।

केसर मिश्र

संस्कृत साहित्यशास्त्र की परम्परा के इतिहास में आने वाले अन्य आचार्यों में सर्वप्रथम पं० केसर मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। उनका समय भी सोलहवीं पचासी का उत्तरार्ध माना जाता है। उनके द्वारा रचे हुए ग्रन्थ का नाम “अलंकार दोहर” है। इस ग्रन्थ में आठ रस और अठारह मतीबिधी हैं। इसमें कारिका वृत्ति तथा उदाहरण उपलब्ध हैं।^२

१ “रससंग्रह” हिन्दी व्याख्याकार पं० मदनमोहन झा द्वितीय भाग पृ० १०१।

२ “संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास” डा० रामजी उपध्याय,

विश्वेश्वर पंडित

विश्वेश्वर पंडित का समय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। यह अपने समय के प्रकांड पंडित थे। साहित्य शास्त्र के अतिरिक्त व्याकरण तथा तर्क शास्त्र के क्षेत्र में भी इनका महत्त्व है। इनके लिखे हुए ग्रन्थ का नाम "असंकार कीर्तुषु" है। इस ग्रन्थ में विश्वेश्वर पंडित ने मम्मट द्वारा माग्य इकसठ असंकारों को ही स्वीकार किया है। इनके लिखे हुए कुछ अन्य ग्रन्थ भी बताये जाते हैं जिनमें "असंकार मुक्तवर्ती", "रस चन्द्रिका", "असंकार प्रदीप" तथा "कबीर कंठावरण" आदि विदेश रूप में उल्लेखनीय हैं।

अन्य आचार्य

संस्कृत साहित्य शास्त्र के विकास की परम्परा में यहाँ जिन साहित्याचार्यों के सिद्धान्तों का परिचयार्थक विवरण उपस्थित किया गया है, उनके अतिरिक्त भी बहुत से शास्त्रज्ञ हुए हैं, यद्यपि उनके विषय में पर्याप्त विवरण उपलब्ध नहीं है। बहुत से विचारक ऐसे भी हैं जिनकी इतिमाँ अनुपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ साहित्य विचारक ऐसे भी हैं, जिनकी रचनाएँ आधुनिक युग के अन्तर्गत आती हैं। इन श्रेणियों के अन्तर्गत जो साहित्य शास्त्री माने जाते हैं, उनमें सर्वप्रथम "काम्यकल्पलता" के संयुक्त लेखक अमरचन्द्र तथा अमरचंद्र का नाम उल्लेखनीय है जिनका समय तेरहवीं शताब्दी है। फिर चौदहवीं शताब्दी में "कविकल्पलता" के लेखक बालेश्वर का नाम मिला जाता है। सोलहवीं शताब्दी में "अमरकोश" पर "सुरदास" टीका के रचयिता प्रसन्न भट्ट का नाम उल्लेख्य है। इसी शताब्दी में "उज्ज्वलनीलमणि", "भाटक चन्द्रिका", "भक्ति रसामृतचिन्तु", "विदग्धमात्रक" तथा "उत्कलिकापदी" के रचयिता रूप गोस्वामी तथा "असंकार कीर्तुषु" और छसवीं शताब्दी में "किरण" शीर्षक टीका के रचयिता गोस्वामी कर्णपूर तथा "असंकार रत्नाकर" के लेखक सोमनाथ के नाम उल्लेखनीय हैं। "रस मन्दी" "रस बंधावर" "काम्यप्रकाश" तथा "कुवलयानन्द" के टीकाकार माधेश भट्ट "कोविदा मन्त्र", "त्रिवेनिका" तथा "असंकार दीपिका" के लेखक वाघावर भट्ट के नाम सोलहवीं शताब्दी में उल्लेखनीय हैं। अठारहवीं शताब्दी में "अमरावलीसुपन" के रचयिता बरचिह्न कवि "असंकार कीर्तुषु" के रचयिता कल्याण सुबह्मण्य, "असंकार चिन्तामणि"

के लेखक शान्तदत्त, "अक्षकार मञ्जूषा" के लेखक वैद्यकर, "अक्षकार सारोद्धा" के लेखक श्रीमन्न, "अक्षकार सारोद्धा" के लेखक गङ्गाधर दीक्षित, "साहित्य सूत्रमणि" के लेखक भट्ट गणपति "काव्य सार संग्रह" के लेखक धनिवास "काव्यार्णव" तथा "काव्यार्णव" के लेखक हर्षप्रसाद, "कविसमयवन्तलोभ" तथा "अक्षकार मञ्जूषा" के लेखक धनन्तराम "अक्षकार मञ्जूषा सिन्धु" तथा "रस प्रपञ्च" के लेखक बेंकटभास्वी तथा "साहित्य कल्पद्रुम" के लेखक नारायण के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी में "साहित्यसार" के रचयिता अश्वपुत्र राम मोहन "काव्य कल्पानिधि" के रचयिता कृष्णामूर्ति, "रसवन्द्य यथोभूषण" के रचयिता कन्देन्दुवर दीक्षित "अक्षकार मञ्जूषा" के लेखक रामदेवर तथा "वेदार्थदीप्त्युत" के रचयिता बलदेवराज भास्वी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।^१

संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास का निर्माण करते वक्रे उपयुक्त भाषाओं का विविध सम्प्रदायों के आधार पर वर्गीकरण करते उनकी सहायता देना और उपलब्धि की सभी प्रकार से समझना या समझना है। संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम साहित्य शास्त्री भरत मुनि को रस सम्प्रदाय का प्रवर्तक मान्य किया जाता है, यद्यपि उनके पूर्व भी रस की भाषणा थी।^२ ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह प्राचीनतम साहित्य सम्प्रदाय है। रस के स्वरूप निर्धारण की दृष्टि से भरत का "नाट्य शास्त्र" असाधारण महत्त्व की दृष्टि है। इस ग्रन्थ में उन्होंने रस की निष्पत्ति पर विचार करते हुए बताया है कि विभावानुभाव तथा ध्वनिवारी भावा के संयोग से ही रस की निष्पत्ति होती है। भरत के परचान् रस सम्प्रदाय के क्षेत्र में जो कुछ भी निम्नतम हुआ उसका आधार उनका ही मूल रहा। भरत ने रस की नाट्य रस कहा है और उसका उद्देश्य ही नाटक का चरम उद्देश्य प्रतिपादित किया है। भरत ने रस की कुल संस्था याद निरूपित की थी। भावे जनक रस ने प्रियतम तथा चान्द्र मन्दार जोड़ कर उनकी संस्था रस कर दी। भरत के रस सूत्र की व्याख्या करते वक्त्रों में भट्ट मोक्ष्मी का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। उनके विचार से निष्पत्ति का सर्व उचित अर्थवा दृष्टि है। फिर वाचक ने रस को कार्य स्वरूप न मानते हुए यह प्रतिपादित किया कि निष्पत्ति व भव वा भावध अनुविधि वा।

१ 'संस्कृत साहित्य का असाधारणतम इतिहास', डा० रामजी उपपाध्याय पृ०

एतदबाध् मनु नायक ने रसानुसृष्टि का ज्ञान उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति से परे सिद्ध करते हुए कहा कि रस की स्थिति प्रत्यक्षतः सहृदय में ही होती है। उन्होंने तीन शक्तियों से रसानुसृष्टि बताया है। उनके विचार से अभिषा, भावप्रब बबसा भावना शक्ति के द्वारा जब स्थायी भाव योग की खानत्यावस्था को प्राप्त होता है तभी रस की संज्ञा प्राप्त करता है। अभिनवमुक्त के विचार से रस की उत्पत्ति अनुभूति अपरा मुक्ति नहीं होती है। वह अभिव्यक्त होता है और वात्सा से सम्पन्न होता है। अभिनवमुक्त के पश्चात् बिम्बनाथ ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया। मम्मट तथा जयभार्य ने भी रस र्वनि को उत्तम काव्य मानते हुए रस का उच्च महत्त्व स्वीकार किया।

संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में अलंकार सम्प्रदाय भी अपनी प्राचीनता और व्यापकता के कारण महत्त्व रखता है। यों तो मरत ने भी अपने 'आद्व धास्त्र' में अलंकार वर्णन प्रस्तुत किया है परन्तु एक पुष्ट सिद्धान्त के रूप में अलंकार की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य भासह माने जाते हैं। उन्होंने अलंकार को काव्य की उत्कृष्टता का प्रधान और अनिवार्य साधन मानते हुए इसका महत्त्व प्रतिपादित किया है। अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में भासह ने विविध अलंकारों की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की और अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व बताया। यही नहीं उन्होंने रस तथा भाव का भी स्वतंत्र महत्त्व स्वीकार करते हुए उन्हें अलंकार के अन्तर्गत ही रखा। भासह ने बन्नेरित को ही सभी अलंकारों का प्राण तत्व मान्य किया। उनके पश्चात् बंदी ने भी अलंकार का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसे काव्य का प्रमुख गुण माना और अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्थ' में अलंकारों को विशेष महत्त्व प्रदान किया। परन्तु बंदी ने भासह की भाँति बन्नेरित को अलंकार की आत्मा न मानकर अतिशय को माना। यही नहीं उन्होंने अलंकार के साथ ही गुण और गीति को भी मान्यता दी। उद्भट ने अलंकार शास्त्र पर अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अलंकार सार स्रह' की रचना की। उन्होंने भी रस तथा भाव आदि की अपेक्षा अलंकार को प्रधानता दी। अलंकार सम्प्रदाय के विविध आचार्यों में उद्भट का अलंकार वर्गीकरण अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक माना जाता है। उद्भट ने अलंकार के अनुसार ही लम्ब श्रेष्ठ की कल्पना की और श्लेष को अलंकारों के अन्तर्गत रखते हुए शब्द श्लेष तथा अर्थ बल्लभ नामक उसके दो प्रकार बताये। यही नहीं अन्य अलंकारों के योग में भी उन्होंने श्लेष की ही प्रधानता स्वीकार की। उद्भट के अलंकार विचार को बाद अलंकार व्यापक प्रचलित मिसी और उन्हें अलंकार सम्प्रदाय के प्रकांड उत्तम्यक के रूप में मान्यता दी गी। अलंकारों की संज्ञा भी उनके द्वारा बड़ा दी गयी। लगभग पचास अलंकारों का सम्मेलन उन्होंने विवेचित किया। फिर उद्भट ने अलंकारक

मूल तरह वास्तव्य बीपम्य प्रतिपद्य तथा सम्य स्वीकार करते हुए इन्हीं के आधार पर उनका विभाजन तथा नवीन अर्थकार्यों की उद्भावना की। उनके बाद बारहवीं शताब्दी में ह्येक ने इस सम्प्रदाय को महत्वपूर्ण देने दी इन्होंने पञ्चतन्त्र अर्थनिरूपण तथा श्री सम्प्रदायकार निरूपित क्रिया और "विपश्य" तथा "विचित्र" आदि नवीन अर्थकार उद्भावित किये। आगे चलकर अन्य भी अनेक महत्वपूर्ण अर्थनिरूपणों में पूर्ववर्ती विचारकों के सिद्धान्तों के आधार पर ही इस शास्त्र का पुष्ट करते हुए अपनी वैचारिक स्थापनाएँ की और अर्थकार सम्प्रदाय को एक पुष्ट शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया।

"रति" और "अर्थकार" सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के बाद संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में "रीति सिद्धान्त" की उद्गमना हुई। इस सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य बामन माने जाते हैं। रीति का अर्थ है ऐसी अवस्था अर्थव्यवस्था का प्रकार। बामन ने रीति को ही काव्य की वास्तविकता के रूप में प्रतिष्ठित किया और इस प्रकार से उसका सर्वोपरि महत्व स्वीकार किया। उन्होंने रीति की व्याख्या करते हुए विशिष्ट पर रचना के रूप में इसे स्वरूप दिया। उनके विचार में रीति का अर्थव्यवस्था अर्थ वृत्तों में निहित है। वृत्तों का विवरण यों ही प्रस्तुत करने में अपने नाट्य शास्त्र में किया है, परन्तु बामन ने इनकी मौलिक रूप से व्याख्या की। उन्होंने वृत्तों का विभाजन छन्द वृत्त तथा अर्थ वृत्त में किया। उन्होंने वृत्त तथा अर्थकार की वास्तविकता के गुणों की व्याख्या की। उन्होंने वैदिकी, शौड़ी तथा पांचाली के रूप में तीन रीतियों की कल्पना की। उनके पूर्व भामह ने वैदिकी और शौड़ी नामक दो रीतियों पर विचार करते हुए उन्हें पृथक् नहीं माना था। शौड़ी ने इनमें अर्थ माना था परन्तु इनकी संख्या यों ही बतायी थी। बामन के परचात्र रघु कृष्ण राजशेखर आदि ने भी रीति की विविध वृत्तियों से व्याख्या प्रस्तुत की। भोज ने रीति पर विचार करते हुए उसके दो प्रकार बताये, वैदिकी पांचाली शौड़ीया आचमिका, मातृका तथा मायवी। वाग्मट्ट तथा जगन्नाथ आदि ने भी रीति सिद्धान्त का कृष्णता से निरूपण किया। परन्तु रीति सिद्धान्त के विरोधियों ने इसमें अनेक अन्तर्द्वेषों का संकेत किया। कृष्ण ने रीतियों को मार्ग कहा तथा वैदिकी, शौड़ी और पांचाली रीतियों के लिए श्रुतमार्ग मार्ग विविध मार्ग तथा मध्यम मार्ग नाम दिये। मध्यम ने रीति सिद्धान्त का संकेत करते हुए उसे एकान्त पापित किया और काव्य की वास्तविकता के रूप में भी सर्वथा उपेक्षित कर दिया। रीति को स्वरूपगत पूर्णता देने वाले आचार्यों में विद्यमान का नाम उन्मेषनीय है। उन्होंने रीति में अर्थ काव्य दोनों को भी समाविष्ट कर दिया। परन्तु आगे चलकर बीरे बीरे

यह सिद्धान्त अपने महत्व से हीन होना पता गया और इसने अपनी प्रभावशालकता भी खो दी। इस प्रकार से रीति-सिद्धान्त का अस्तित्व इसके पूर्ण महत्व के साथ यद्यपि स्थायी रूप से सुरक्षित न रह सका, परन्तु संस्कृत साहित्य शास्त्र के इतिहास में एक अपेक्षाकृत पूर्ण सिद्धान्त के रूप में इस जो स्वाति और मायता मिली यह इसकी सूक्ष्मता और व्यापकता का परिचय देने में समर्थ है।

संस्कृत साहित्य शास्त्र में ब्रह्मेति सम्प्रदाय की स्थापना करने का श्रेय आचार्य कुल्लुक को है। कुल्लुक के पूर्ण नामहू ने ब्रह्मेति से केवल बचन की अमूर्तता का आशय ग्रहण किया था। कुल्लुक ने अपनी असाधारण प्रतिभा और सामर्थ्य का उपयोग करते हुए उस अलंकार तथा रीति सिद्धान्तों के समानान्तर ही ब्रह्मेति को काव्य की आरम्भ के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में उसका महत्व स्पष्ट किया। ब्रह्मेति का विशेषण बहुत व्यापक अर्थ में करते हुए आचार्य कुल्लुक ने इसके अन्तर्गत प्रायः काव्य के सभी भागस्वरूप और महत्वपूर्ण तत्वों का नियोजन किया। उन्होंने संकुचित अर्थों में ब्रह्मेति के प्रयोग का कंडन करते हुए इस मत का विरोध किया कि ब्रह्मेति का अर्थ केवल वाक्य वाच्य या उक्ति चतुष्टय है। उन्होंने किसी वस्तु के असाधारण अथवा अलौकिक रूप से कथन को ब्रह्मेति का अर्थ बताया। इस प्रकार से उन्होंने उसे कवि व्यापार अथवा कवि कौशल के रूप में मान्य किया। उन्होंने ब्रह्मेति के अर्थ ब्रह्मा पर पूर्वार्ध ब्रह्मा पदोत्तरार्ध ब्रह्मा वाक्य ब्रह्मा, प्रकरण ब्रह्मा तथा प्रबंध ब्रह्मा के रूप में चार प्रकार निर्दिष्ट किये। उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा से उस ब्रह्मेति को काव्य का मूल तत्व सिद्ध किया जिसे नामहू ने केवल अलंकार का मूल तत्व माना था। नामहू ने उसकी कल्पना अलंकार के रूप में की थी तथा खट्ट ने अलंकार के रूप में। आगे चलकर यद्यपि ब्रह्मेति सम्प्रदाय की ध्वनि सिद्धान्त के समझ न स्थापित रह सका परन्तु एक सम्भवतः शास्त्रीय सम्प्रदाय के रूप में मौलिक स्थापना के कारण उसका ऐतिहासिक महत्व बना रहा।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत साहित्यशास्त्र के इतिहास में अनेक महान् शास्त्रज्ञों ने अपने प्रकीर्ण पश्चिप और मौलिक प्रतिभा का उपयोग करते हुए विभिन्न शास्त्रीय सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया। परन्तु इन सिद्धान्तों में व्यापकता की सम्भावनाओं के साथ ही साथ एकांगिता की वृत्ति भी विद्यमान थी। इस दृष्टिकोण से आचार्य आनन्दचरण द्वारा प्रतिष्ठित ध्वनि सिद्धान्त को एक ऐतिहासिक उपसम्पत्ति के रूप में मान्य किया जा सकता है। इसकी संयोजित व्याख्या यद्यपि आनन्द

बर्देन द्वारा ही की गयी परन्तु उनके पूर्ववर्ती भाषायों ने भी इसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार किया था। आनन्दबर्देन ने स्वयं ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए यह लिखा है कि पूर्ववर्ती भाषायों की भी यही भाव्यता थी। उन्होंने ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ध्वनि प्रधान काव्य को सर्वोत्तम काव्य कहा और ध्वनि के अविवक्षित बाध्य तथा विवक्षिताभ्यपरबाध्य नामक दो भेद किये। काव्य के बाध्य बर्णात् प्रकट तथा प्रतीयमान अथवा अप्रकट भेद करते हुए उन्होंने प्रतीयमान को वस्तु अर्चकार और रस तीन प्रकार का बताया। यह सर्व बोधमय नहीं होता यद्यपि यही काव्य का प्रधान अर्थ होता है और इसकी प्रधानता ही ध्वनि काव्य का रूप प्रस्तुत करती है। आनन्दबर्देन के पश्चात् यम्मट ने भी इस सिद्धान्त का व्यापक रूप में प्रतिपादन किया और प्रायः सभी काव्य सिद्धान्तों को इसके अन्तर्गत निरूपित किया। इस कारण से ध्वनि सम्प्रदाय को अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्रीय भाव्यता प्राप्त हुई।

इस प्रकार से संस्कृत साहित्य चिन्तन की इस परम्परा का प्रसार स्पष्टतः दृश्यता घटाव्ही से लेकर बीसवीं शताब्दी तक मिलता है। इस बीच काव्य के बीच के विचारकों ने साहित्य के विविध रूपों और तथ्यों का विस्तार से विवेचन किया और विभिन्न आंदोलनों को जन्म दिया। वे सभी आंदोलन स्वतन्त्र सिद्धान्तों के रूप में प्रतिष्ठित हुए। वे वहाँ एक ओर काव्य की आत्मा के अन्वेषक और उसकी जातिरिक्त गहनता पर गौरव डेते थे, वहाँ काव्य की बाह्यरूपता तथा सामलकारिता के प्रति भी उपेक्षा उनमें नहीं थी। यद्यपि इन सम्प्रदायों के अन्तर्गत पिये जाने वाले विविध धाराओं में परस्पर वैचारिक मतभेद भी रहा है, परन्तु उनके चिन्तन की प्रयासियों में एक प्रकार की एकस्यात्मकता भी रही है जो उनके दृष्टिकोण की व्यापकता की परिचायक है। सुधीर्ष, सुविस्तृत और सुनियोजित चिन्तन की यही समृद्ध परम्परा परवर्ती बात में हिन्दी साहित्य धारा की जन्मदात्री और सुदृढ़ आधार भूमि सिद्ध हुई।

अध्याय ४

रीति कालीन हिंदी समीक्षा शास्त्र का विकास
और
विविध सिद्धान्तों का स्वरूप

११ १ १ १ १
हिन्दी समीक्षा शास्त्र की आधार भूमि

१ - हिन्दी समीक्षा शास्त्र की आधार भूमि सर्वोच्च पूर्ववर्ती भाषा परम्पराएँ हैं। इनमें से भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान संस्कृत भाषा का है। संस्कृत में समीक्षा शास्त्र की एक पुष्ट, गहन और दीर्घकालीन परम्परा का प्रसार मिलता है। 'परवर्ती युगों में इस परम्परा से प्रेरणा और प्रभाव ग्रहण करके विभिन्न नवीन भाषा परम्पराओं का सूत्रपात हुआ। इस दृष्टि से हिन्दी भाषा संस्कृत की बहुत अधिक ऊँची है। हिन्दी में न केवल संस्कृत साहित्य शास्त्र की इस परम्परा से प्रेरणा तथा प्रभाव ग्रहण किया बल्कि उसी के ढाँचे पर अपना समीक्षा शास्त्र निर्मित किया। हिन्दी समीक्षा शास्त्र की परम्परा के प्रवर्तकों में प्रायः सभी संस्कृत भाषा के भी पंडित थे और उन्हें संस्कृत काव्य शास्त्र का सम्यक् ज्ञान था। इस कारण से प्रारम्भ में जब हिन्दी समीक्षा शास्त्र के प्रमर्शन की प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ तब इसे क्षेत्र में व्यावहारिक कठिनाइयों उपस्थित नहीं हुईं। विभिन्न विद्वानों ने संस्कृत काव्य शास्त्र के साम्य धर्मों पर टीकाएँ रचीं जसका उन्हीं सिद्धान्तों को अनुवाद रूप में हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया। परन्तु उससे इस नाम के अतिरिक्त कुछ हानि भी हुई। और वह यह कि हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य शास्त्रियों ने संस्कृत साहित्य शास्त्रीय मान्यताओं के समर्पण पुष्टीकरण और अनुवाद में ही अपने कर्तव्य की इच्छा रखी थी। यद्यपि यह सत्य है कि संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा इतनी ग्रीढ़ और समृद्ध थी कि उसका अनुसरण करना सभी दृष्टियों से हितकर था। परन्तु उससे इतनी हानि बढ़ते हुए कि हिन्दी समीक्षा शास्त्र के क्षेत्र में प्रारम्भिक युगों में भीतिक चिन्तन का बहुत अभाव रहा और उसकी रचना प्रायः उन्हीं तत्वों का आधार ग्रहण करके हुई जिस पर संस्कृत साहित्य शास्त्र निर्मित हुआ था। भीतिक चिन्तन के इस अभाव ने हिन्दी के अपने समीक्षा शास्त्र के निर्माण में एक दीर्घकालीन बाधा का कार्य किया उसे युगों तक रूढ़ रखा। परन्तु इसका कारण बहुत सीधा एक समकालीन परिस्थितियाँ भी थीं। उस युग में जब हिन्दी भाषा पाठ्य के काम की सम्भावनाएँ अपर रही थीं संस्कृत

एक सर्वमान्य भाषा थी। बैबबानी के रूप में उसकी प्रस्थापति के कारण उससे विरोध की भावना इस प्रकार से अकल्पनीय थी। हिन्दी के भाषायों में भी यह भावना व्याप्त थी और इसलिये उनका इस परम्परा से प्रभावित होना स्वाभाविक था।

इस प्रकार से हिन्दी साहित्य शास्त्र के प्रवर्तन की मूल प्रेरणा संस्कृत साहित्य से ही मिली। प्रारम्भिक युग के साहित्य प्रेमियों ने काव्य रचना और विद्वान्तर निरर्पण करने की इच्छा से आवश्यक सम्बन्ध और शिक्षा ग्रहण की। जिन लोगों ने स्वयं अपने प्रयत्न से सके कठिन समझा, उन्होंने किसी मान्य और प्रौढ़ गुरु का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। हिन्दी साहित्य शास्त्र की नींव पड़ने के समय बर्खास्त हुए के प्रारम्भिक वर्षों में साहित्य के क्षेत्र में क्रियाशील प्रतिभाओं में इसी प्रकार की जनोन्नति पायी जाती थी। परन्तु यही प्रवृत्ति बहुत शीघ्र ही विकसित हुई और धीरे धीरे एक सुस्पष्ट परम्परा की सम्भावनाएँ प्रतीत होने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत बड़े समय में ही इस क्षेत्र में सर्वाधिक क्रियाशीलता लक्षित की जाने लगी। विविध भाषायों ने संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुकरण पर रस, अलंकार तथा छन्द आदि शास्त्रों पर विस्तृत ग्रन्थ प्रस्तुत करने आरम्भ किये। प्रारम्भ में वे ग्रन्थ सम्भवतः शिकारमक के क्योंकि भाषायों की अपनी अपनी शिष्य परम्पराएँ थी और शास्त्र रचना के माध्यम से शिष्यों को शिक्षित बनाना भी उनका एक उद्देश्य था परन्तु बाद में इन क्षेत्रों में अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हुईं और उन पर सख्त कोटि का चिन्तन मनन भी हुआ। यही नहीं विविध भाषायों ने किन्हीं विशिष्ट विद्वान्तरों का मन्दन तथा किन्हीं का सम्मान करके इस क्षेत्र में अपनी कामकला का भी परिचय दिया।

इस प्रकार से एक स्तरीय साहित्यिक एवं शास्त्रीय बाह्य विवाद के अवसर उपस्थित हुए जिन्होंने निष्कर्षपरिमक मन्तव्यों की रचनात्मक सम्भावनाएँ इमित कीं। बहुधा ऐसा भी हुआ कि हिन्दी साहित्य शास्त्र के मूल आधार संस्कृत साहित्य शास्त्र की किसी शैक्षणिक मान्यता के विषय में भी इस युग के हिन्दी साहित्य शास्त्रियों में पारस्परिक मत भेद हुआ और उन्होंने अलग अलग दृष्टियों से मूल का अर्थ और व्याख्या की। इसी सम्बन्ध में कुछ साहित्य पंडितों ने हिन्दी भाषा के स्वल्प विकास से सम्बन्ध रखने वाली कुछ समस्याओं की ओर भी संकेत किया तथा इसके साथ ही साथ व्यवहार रचना की दृष्टि से उनके निदान भी प्रस्तुत किये। यों हिन्दी साहित्य शास्त्र के

इतिहास के इस प्रथम विकास युग में उपर्युक्त कुछ प्रकृतियाँ अधिशील रही, जो इस परम्परा का प्राथमिक आधार हैं ।

केशवदास के पूर्ववर्ती आचार्य

हिंदी के ऐतिहासिक साहित्य के प्रवर्तक आचार्यों में महत्वपूर्ण नाम आचार्य केशवदास का है । परन्तु केशवदास के काम्य सिद्धांतों का परिचय देने के पूर्व इस तथ्य का ध्यान करना आवश्यक है कि सबसे पूर्व ही ऐसे अनेक साहित्य आचारी हो चुके थे, जिन्होंने इस विद्या में महत्वपूर्ण प्रयास किये । इन साहित्य आचार्यों के स्मृत रूप से ही वर्ण किये जा सकते हैं । प्रथम कैवल्यानंद के नाम आते हैं जिनके विषय में कोई विवेक विवरण अप्राप्त है, केवल उसका संक्षेप मात्र यम-यम मिलता है तथा द्वितीय के अन्तर्यत के नाम आते हैं जिनके सम्बन्ध में प्राप्त विवरण की विभिन्न साहित्यिक इतिहासकारों ने प्रायाधिक माना है । प्रथम के अन्तर्यत पुंल्ल अथवा पुंल्ल आदि कवियों का नाम दिया जा सकता है, जिनका संक्षेप "विश्वविह सरोज" "विश्वकण्ठ विनोद" तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास" आदि कृतियों में मिलता है । इनका समय सं० ७७० वि० के लगभग अनुमानित किया जाता है ।

सामग्री की अनुपलब्धता के कारण इस वर्ष में कानैराजे साहित्यकारों के विषय में विस्तृत रूप से कुछ कहा जा सकता नहीं है, यद्यपि इसका निश्चित है कि इस प्रकार के संक्षिप्त साहित्यिक इतिहासों में किन्तु इस तथ्य का प्रमाण है कि इस परम्परा की जड़ें भी बहुत प्राचीन हैं तथा इसका प्रसार आगे आगे जाती वंशावृत्तों तक फैलता है । यों पुंल्ल के पूर्व हुए किसी हिन्दी साहित्य आचारी का कोई पता नहीं चलता और न ही इसके कोई संकेतात्मक विवरण ही किसी साहित्यिक कृति में उपलब्ध होते हैं ।

इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्यक्ति अपने विषय का प्रवर्तक सर्वप्रथम आचार्य होगा तथा उसकी रचना भी इस परम्परा की सर्वप्रथम इति होगी । द्वितीय क्रीट के

१ "विश्वविह सरोज", मुद्रिका, पृ० १ ।

२ "विश्वकण्ठ विनोद", नाम १, पृ० ७३ ।

३ "हिन्दी साहित्य का इतिहास", श्री रामचन्द्र गुप्त पृ० ३ ।

बलकार हो तथा अक्षर काव्य उद्ये कहते हैं। यहाँ व्यंग्यार्थ का अभाव हो तथा अक्षर अक्षर की सरलता हो।^१

अक्षर शक्ति निरूपण —

सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ “रसपीपुष निधि” की छठी तरंग में शब्द शक्ति निरूपण प्रस्तुत किया है। उन्होंने अक्षर की तीन शक्तियाँ मानी हैं। (१) अमिता (२) लक्षणा और [३] व्यञ्जना। इनमें से प्रथम अर्थात् अमिता शक्ति अक्षर के उचित अर्थ सूचन करती है।^२ द्वितीय लक्षणा शक्ति मुख्यार्थ को परित्यक्त करके अन्य अर्थ का सूचन करती है।^३ इसके दो भेद होते हैं [१] कविबली भक्षणा तथा [२] प्रयोजनवली लक्षणा।^४ तृतीय व्यञ्जना शक्ति व्यंग्यार्थ का सूचन करती है, जिसका सूचक अक्षर व्यञ्जक कहलाता है।^५ व्यञ्जक शब्दार्थ से अधिक अर्थ का सूचन करता है।^६ इन अक्षर शक्तियों में से कुछ के उपभेद भी सोमनाथ ने किये हैं।

अग्नि निरूपण—

आचार्य सोमनाथ ने अपने ग्रन्थ “रसपीपुष निधि” की सातवीं तथा आठवीं तरंग में अग्नि का निरूपण किया है। उनके अग्नि विवेचन पर मम्मट का प्रभाव स्पष्ट है। सोमनाथ ने अग्नि का स्वरूप स्पष्ट करत हुए उसके विविध भेद किये हैं। उन्होंने

- १ शब्द अक्षर सम ध्योगि बहु सो मध्यम द्युरासः ।
अक्षर अक्षर की सरसई व्यंग्य न अयम अवाव ॥ (रसपीपुषनिधि ७ १२)
- २ या अक्षर को यह अक्षर ठीकहि यह द्युरासः ।
अग्नि परे पार्श्वे सु बहु अमिता वृत्ति कहाय ॥ (वही ६, २०)
- ३ दुर्यास को धोमि के पुनि तिहि ने गिग और ।
कहै बु अर्थ सुलज्जा वृत्ति कहत अग्नि और ॥ (वही ६ २४)
- ४ कविज विविध यह सीमा धाम, कउ प्रयोजनवली बघास (वही ६, २५)
- ५ अक्षर कहै कहि अर्थ की व्यञ्जक शब्द सु अग्नि । (वही ६, ३६)
- ६ समुनि सीमिअ अर्थ पुनि और बीज हू होय ।
अकिनि को सुलज्जा अति व्यंग्य कहायत सोय ॥ (वही ६, ३७)
- ७ अग्नि भेद लो होत कविता अनुप ।
अज्ञानत गो अग्नि को अक्षर रूप ॥

ध्वनि के अक्षरों मुख्य भेदों का उल्लेख किया है। उन्होंने ध्वन्य की काव्य स्तर का प्राथम्य मानते हुए ध्वन्य प्रधान काव्य की ही उत्तम काव्य बताया है।^१ ध्वनि के भेदों में उन्होंने अविवक्षित वाच्य ध्वनि आदि का भी पूर्ण विवेचन किया है।^२ इसके उन्होंने अविवक्षित वाच्य ध्वनि अर्थात् संक्षिप्त वाच्य ध्वनि अत्यन्त निरस्तुत वाच्य ध्वनि तथा विविध वाच्य ध्वनि आदि भेदों की व्याख्या की है।

रस विष्मयक—

आचार्य सोमनाथ ने अपने दो श्रुतों 'रस पीयूष निधि' तथा 'नृन्वार विलास' में रस निरूपण प्रस्तुत किया है। रस विषयक इनके सिद्धांतों पर मानुषिक सम्पन्न तथा विस्वनाथ के विचारों का अधिक प्रभाव मिलता है। रस प्रत्यक्ष के वर्धन में सोमनाथ ने बताया है कि चित्र का एक अरुण से दूसरी अवस्था को प्राप्त होना बिहार कथनात् है और उन्हीं विचारों में से रसामुद्भूत विचारों को जान रखा जाता है।^३ इस प्रकार से उन्होंने बिहार और भाव में अन्तर नहीं माना है। भाव का स्वभाव स्पष्ट करने के पश्चात् सोमनाथ ने भाव के चार भेद किए हैं (१) स्थायी भाव (२) संचारी भाव (३) विभाव तथा (४) अनुभाव। उन्होंने साहित्य भावों को अनुभावों के अन्तर्गत

होय लसना मुख अहु मुख अयोध परकास ।

वाच्य अर्थ है कुचा अहु तो ध्वनि कहुत विलास । (रसपापुपल्लि ७/१,२)

१ ध्वन्य प्रायः अह अयं सव भाव्य अर्थ पक्षिचालि । (वही ६१)

२ ध्वन्य सरस अहु कवित में तो उत्तम अह आनि । (वही ६३)

३ कवि की इच्छा है न सहु वाच्य अर्थ ये भिन्न ।

तो अविवक्षित वाच्य ध्वनि कहि बरमत तु विविध ॥ (वही ७१)

४ चित्र कहि हेतुर्ह पाय, जय होई और ये और ।

ताको मान विचार कहि बरमत कवि तिर मोर ॥ (वही)

५ रस की मूल भाव बहिचालों ।

ताको यह लक्षण उर भागों ।

चित्रवृत्ति ॥ जो उद्ग्राह ।

भाव वाचना रूप बताया ॥

रस अनुद्भूत विचार को होत ।

ताही भाव कहुत कवि पीत । (वही ७९, १०)

ही रखा है ।^१ भाव के इन चार भेदों में से उन्होंने स्थायी तथा संचारी भावों को आन्तर भावों तथा विभावों और अनुभावों अथवा सार्विक भावों का शरीर भाव कहा है ।

भाव की व्याख्या करते हुए सोमनाथ ने उस रस का मूल बताया है । सहृदय में भावना बिना कृति के रूप में विद्यमान रहनी है उन्नी को उन्होंने भाव कहा है ।^२ इसके अतिरिक्त किसी रस युक्त रचना के पारायण अथवा व्यञ्जन से भी हृदय में जिस विकार की उत्पत्ति होती है उस भी उन्होंने भाव के ही नाम से वर्णित किया है । विभाव की परिभाषा करते हुए सोमनाथ ने लिखा है कि विभाव उन दोनों प्रकार के स्थायी भावों का कहते हैं जो किसी के प्रति और किसी क हृदय में उषन्न होते हैं ।^३ विभाव के सोमनाथ ने दो भेद किये हैं (१) आलम्बन विभाव, जिसमें स्थायी भाव रहता है तथा [२] उद्दीपन विभाव जिसके द्वारा स्थायी भाव चपक उठता है ।^४ इसी प्रकार स जो रस को वक्षति है वे अनुभाव कह जात है । संचारी उद्गृह कहते हैं जो नी रसों में

- १ चारि प्रकार भुभाव हैं प्रथम विभाव बजानि ।
किर अनुभाव सु बनिये संचारी पुनि भावि ।
साते पुनि पाई समुझि बौबिधि हम उरमानि ।
सामुग भाव जु हैं सु बहपनुमानि में जानि (रसरीपुपनिधि ७ ११ १२)
- २ भावसु द्वे विधि उर में आती । अथ भठ सारीरिह मानों ॥
मंतर के पाई संचारी । और जानि सारीरिह भारी ॥ (बही १,९)
- ३ रस को मूल भाव पहिचानों । साको यह सलम उर समो ॥
चित्त बति ही सो ठहराय । भाव बासना चर बताया ॥
रस अनुकूल बिकार जु होत । साको भाव कहत कवि भीत ॥ (बही १,९ ७ ८)
- ४ चित किहि हेतुहि पाय, जब हीई ओर से ओर ।
साको नाम विवास कहि बरजत कवि मिर ओर ॥ (भृंगारविनाय ४,१)
- ५ त्रिहि तें उपभुतु है जहाँ त्रिहि के पाई भाव ।
तामो कहत विभाव सब समुझि रसिक कबिराव ॥ (रसरीपुपनिधि १,१३)
- ६ पार्य भावनि की जु बसेरी । सो विभाव आलम्बन हेरी ॥
बमकि उठे पुनि चाहि निहारि । सो उद्दीपन कहत पुकारि ॥
(भृंगार विनाय १ १०)
- ७ बरसाई बरजात रस सो अनुभाव बजानि । (रसरीपुपनिधि १ १६)

ध्वनि के अंतर यह मुख्य भेदों का उल्लेख किया है। उन्होंने व्यंग्य को काव्य शरीर का प्रायः मानते हुए व्यंग्य प्रधान काव्य को ही उत्तम काव्य बताया है।^१ ध्वनि के भेदों में उन्होंने अविवक्षित वाक्य ध्वनि आदि का ही पूर्ण विवेचन किया है।^२ इसके अन्होंने अविवक्षित वाक्य ध्वनि अर्थात् म क्रिये वाक्य ध्वनि, अत्यन्त निरुक्त वाक्य ध्वनि तथा विवक्षित वाक्य ध्वनि आदि भेदों की व्याख्या की है।

रस निरूपण—

आचार्य सामनाथ ने अपने दो ग्रंथों "रस पीपूर निधि" तथा "शृंगार विमल" में रस निरूपण प्रस्तुत किया है। रस विषयक हमके सिद्धांतों पर आनुमिष मन्त्र तथा विरचनाम के विचारों का अधिक प्रभाव मिलता है। रस प्रसंग के संदर्भ में सामनाथ ने बताया है कि चित्र का एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्ति होता विकार कथ्यता है^३ और उन्ही विकारों में से रसानुकूल विकारों को भाव कहा जाता है।^४ इस प्रकार से उन्होंने विकार और भाव में अंतर नहीं माना है। भाव का स्वरूप स्पष्ट करने के पश्चात् सामनाथ ने भाव के चार भेद किए हैं (१) स्वाधी भाव (२) उंचारी भाव (३) विभाव तथा (४) अनुभाव। उन्होंने धार्मिक भावों को अनुभावों के अन्तर्ग

होय ललना मुख बहु मुख व्यंग्य परकाय ।

वाक्य अर्थ है मुखा बहु तो ध्वनि बहुत विमलः । (रसपीपूरनिधि ७/१,२)

१ व्यंग्य प्रायः अथ व्यंग्य तत्र लब्ध अर्थ वहिर्बालि । (वही ६९)

२ व्यंग्य लरत बहु कवित में तो उत्तम अथ आवति । (वही ६७)

३ कवि की दृष्ट्या है न जहु वाक्य अर्थ वे निध ।

तो अविवक्षित वाक्य ध्वनि कहि अरुणत सु विविध ॥ (वही ७१)

४ चित्र किंहु हेनुहि पाय, यव होई और से और ।

ताको नाम विकार कहि अरुणत कवि स्तिर मीर ॥ (वही)

५ रस की मूल भाव वहिर्बाली ।

ताको यह लक्षण कर आनी ।

विषयुति ही ली तद्वराय ।

भाव वासना रूप बताय ॥

रस अनुकूल विकार जो होत ।

ताको भाव कहत कवि मीर । (वही ७,९,१०)

ही रखा है ।^१ भाव क इन चार में से म स उन्होंने स्थायी तथा संचारी भावों का आन्तर भावों तथा बिभावों और अनुभावों अथवा सात्त्विक भावों को घरीर भाव कहा है ।^२

भाव की व्याख्या करते हुए सोमनाथ म उसे रस का मूल बताया है । सहृदय में जो वासना बिल वृत्ति ने रूप में विद्यमान रहनी है उड़ी का उन्होंने भाव कहा है ।^३ इसके अतिरिक्त किसी रस युक्त रचना क पारायण अथवा भवण म भी हृदय म जिस विकार की उत्पत्ति होती है उस भी उन्होंने भाव के ही नाम म बर्णित किया है । बिभाव की परिभाषा करते हुए सोमनाथ म लिखा है कि बिभाव उन दोनों प्रकार के स्थायी भावों को कहते हैं जो किन्हीं के प्रति और किन्हीं क हृदय में उपज होते हैं ।^४ बिभाव के सोमनाथ म दो भेद किये हैं (१) आत्मजन बिभाव, जिसम स्थायी भाव रहता है तथा [२] उद्दीपन बिभाव जिसके द्वारा स्थायी भाव बनक उठता है ।^५ इसी प्रकार स आ रस का वसति है न अनुभाव कहे जात हैं । संचारी उग्ह कहते हैं जो नी रसों में

- १ चारि प्रकार सुभाव हैं प्रथम बिभाव बधानि ।
किरि अनुभाव सु जगिये संचारी पुनि भावि ।
ताते पुनि भाई समुझि जोबिधि हम जरयानि ।
सद्युग भाव जु हैं सु बह्यनुभावनि में जानि (रसपीड्यनिधि ७ ११ १२)
- २ भाव सु द्वे बिधि उ म जानी । यंत्र म सारीरिक मानो ॥
अंतर के भाई संचारी । और जानि सारीरिक भारी ॥ (बहो १ १)
- ३ रस को मूल भाव पहिचानो । ताको यह सक्षय जर सानो ॥
बिल बति ही लो ठहराय । भाव वासना जर बताया ॥
रस अनुभूत विकार जु होत । ताको भाव कहत कवि गीत ॥ (बहो १, १७ ७)
- ४ बिल किहि हेतुहि पाय जब हीई और से और ।
ताको नाम विकल कहि बरनत कवि निर मोर ॥ (शृंगारविजय ४ २)
- ५ किहि लें उपजतु है जहां किहि के भाई भाव ।
ताको कहत बिभाव सब समुझि रसिक कबिराव ॥ (रसपीड्यनिधि १, १३)
- ६ धार्य भावनि की जु बसेरी । सो बिभाव आत्मजन हैरी ॥
जमकि उठे पुनि जाहि निहार । सो उद्दीपन कहत मुकरी ॥
(शृंगार विसास १, १०)
- ७ बरसाई बरसात रस सा अनुभाव बनानि । (रसपीड्यनिधि १ १६)

संवरण करते हैं और स्थायी भावों में सहस्रक के रूप में रहते हैं ।^१ तथा स्थायी भाव उन भावों को कहते हैं जो स्तिर रहते हुए सब भावों के प्रधान हों ।^२

शृंगार रस के विवेचन के प्रसंग में सौमनाथ ने उसके दो भेद बताये हैं [१] संयोग शृंगार तथा [२] वियोग शृंगार । हमने ये संयोग शृंगार दम्पति के मिलन को कहते हैं^३ तथा वियोग शृंगार दम्पति के बिछुड़ने को ।^४ शृंगार रस को उन्हे^५ रस पति माना है ।^६ इसके अतिरिक्त उन्हे^७ हृत्प रस^८ कल्प रस^९ रीति रस^{१०} वीर रस^{११} प्रधानक

- १ कहे तीस और सब तीन दू संचारी समझाई ।
सकल रस में तीसारा हूँ के संग सहाइ ॥ (शृंगार शिखा २ ११)
- २ पिर कति जाई माग बखानी । सब भावनि को छानुर जानी ।
नौ बिधि ताहि हिये में धानी । तो अब परगट कहत से पानी ।
(वही १,१)

मायक सब ही भाव को डारे धरे न कर ।

तासी जाई माग कहि बरनत हूँ कवि भूष ॥ (रसपीठपत्रिणि ७,११)

- ३ दंपति मिलि निगुर न कहाँ मलय कला प्रवीन ।
ताहि संयोग शिगार कहि बरनत सुकवि कुशीन ॥ (वही ७,२)
- ४ प्रीतम के बिछुरनि बिदे को रस उपमनु भाइ ।
मिप्रताम शिगार सो कह्य सकल कविराई ॥ (वही १५,१)
- ५ नव रस को पति सरस कति रस शिगार पहिचानि । (वही ७ १)
- ६ सुनि के सरस कवित को होत व्यंग्य अब हास ।
तब ही ताको ह्रास्य रस कहिबनु है समितास ॥ (वही १७ १)
- ७ सुनतहि बाही कवित में व्यंगि होय अब सोल ।
कहना रस ताको कहूँ सकल सुकवि रस ओल ॥ (वही १७,१)
- ८ अब कवित में भावि के शेष व्यंगि ठहराई ।
ताहि अब रस कहत हूँ सब सुकवि मुख पाई । (वही १७,२)
- ९ अब कवित में सुनत ही व्यंग्य होय जरसाइ ।
ताही वीर रस समझियो कोवि के कवि गाइ ॥ (वही १७,४)

रस^१ बीभत्स रस^२ अद्भुत रस^३ तथा शास्त्र रस^४ का स्वकन विनियोग करते हुए इनके साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं तथा इनमें से प्रत्येक का वर्ण भी लिखा है ।

शेष निष्कर्ष —

आचार्य सोमनाथ मिय न अवन ग्रन्थ "रस पीयूष निधि" की बीसवीं तरंग में काव्य शेष निष्कर्ष प्रस्तुत किया है । इनके इन सिद्धांतों पर भ्रमण तथा विस्मयनाम के विचारों का प्रचार है । माननाथ के विचार से शेष मुख्य त्रय अथवा रस का हनन करते हैं जिसके कारण शब्द तथा अर्थ होते हैं ।^१ उन्होंने शेषों के चार भेद किये हैं [१] शब्दमय शेष [२] अर्थमय शेष [३] वाक्यमय शेष तथा [४] रसमय शेष ।^२ इनमें से प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने असमर्थ कर्षण, अप्रयुक्त, अश्लील तथा सम्बन्ध द्वितीय

- १ सुनि कवित में व्यंगि मय कह्यो परमर होय ।
महो अमानक रस बरनि कह्यो सबै कवि सोय ॥ (रसपीयूषनिधि १७ १५)
- २ कह्यो कवित को सुनत ही द्वि में सारि गानि ।
साहि कह्यो बीभत्स रस कवि कोविद पहिचानि ॥ (वही १७ १६)
- ३ कह्यो कवित में सुनि महा अतिरज वेमि सु होई ।
तहु प्रकट उर आनिवे अद्भुत रस है सोई । (वही १७ १८)
- ४ प्रकट होय निरखै कह्यो बहम मान से आय ।
सुनि कवित तानो कह्यो सात सु रस सुन पाय । (वही १७ २०)
- ५ स्याम बरन तियार रस श्वेत हास्य रस जानि ।
बादनाथ के रंग लग कहना रस पहिचानि ॥
अरु बरन पुलि रस रस, और पोत रस होत ।
मितन ममानक भील अति, रस भीमत्स उरोत ॥
और बरन अद्भुत रस भाषा ।
अति ही सेत सात अमिताया ॥ (वही, ७ ४८ ४९, १०)
- ६ रस को मुन गनि हनत है त्रिहि लम्पारय मोट ।
सासो रूपन बहत है कवि रसिकनि के मोट ॥ (वही, २०, २१)
- ७ जाने पाये ते रह्यो दुरि करि मिटि जाय ।
लम्पारय अब नाक को रस को शेष बताय ॥ (वही २० २१)

समीक्षा के माग और द्विती समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्ति।
 के अन्तर्गत ग्लानपद और हृत्पुच्छ तृतीय के अन्तर्गत सहचरभिन्न, चाहनुठ, व्याहृत
 निर्द्वि, कुष्म, पुनरुक्त, अगनीहृत सामान्य, विशेष, विशेष सामान्य प्रसिद्धि विद्वत् तथा
 विद्या विद्वत् एवं चतुर्व के अन्तर्गत उच्चति निपर्वय आदि शेषों का उत्तम किमा है।
 मुख निम्नम् —

भाषार्थ सोमनाथ निम्न में आने "रसपीपुपनिधि" नामक ग्रन्थ की इसकीसर्गों
 तरंग में काव्य मुखों का निरूपण किया है। इस विवेचन का आधार भी प्रधानत मन्मथ
 के सिद्धान्त हैं। सोमनाथ ने सिखा है कि यदि कविता शीघ्र विहीन होने पर भी मुख से
 मुख न हो तो सोमा नहीं पाती। उन्होंने मुखों के तीन प्रकार बताये हैं [१] माधुर्य
 मुख [२] ओज मुख तथा [३] प्रसाद मुख। इनमें से माधुर्य मुख वह मुख होता है
 जिसकी सुनते ही हृदय इक्षित हो जाय तथा अंग अंग में मुख ही। यह मुख शृंगार, कर्म
 तथा शास्त्र रसों में स्थित होता है। ओज मुख उसे कहते हैं जिसकी सुनते ही ठेठ
 बड़े। यह भीर, वीर तथा बीरत्न रसों में कर्म अनेकाहृत अधिक मात्रा में स्थित
 रहता है। इसी प्रकार से प्रसाद मुख सभी रसों में समान रूप से विद्यमान रहने वाला
 तथा सर्व की अवधि करने वाला होता है।

- १ कविता शीघ्र विहीन न बिना मुख लसे न मित्र।
 लसे मुख वरनत प्रकट रीति सुनत बिचित्र ॥ (रसपीपुपनिधि, ११ १)
- २ विविध सुमुख उर में पहिचानों। मधुरता सु मुखि ओज बतायी।
 लसे कटुरि प्रसाद बतायी। यदि सुनि अति आनन्द बरवायी। (वही, ११ २)
- ३ धवन सुनत ही हिय इने अंग अंग सुख होई।
 साहि मधुरता मुख कई कवि कोविद सम कोई ॥ (वही ११ ४)
- ४ रस तिवार अब कह्य में सुनि छात में आनि।
 मधुराई की सरसई तो बरसे सुख बानि ॥ (वही ११ ५)
- ५ कई ठेठ कटठ बड़ा बाहि सुनत ही बिस।
 साहि कहत है ओज मुख से कविता के बिस ॥ (वही, ११, ७)
- ६ बरनि ओज मुख वीर में लसे अधिक सु ख।
 लसे यदि बीरत्न में पावत बुद्धि समुद्र ॥ (वही, ११ ८)
- नवठ रस में अर्थ अर्थ अंग वीर के मुख।
 साको बहुत प्रसाद मुख सुनत कई हिय सुख ॥ (वही, ११ ११)

असंकार निरूपण —

आचार्य सोमनाथ मिश्र ने अपने ग्रन्थ “रसनीरूपनिधि” की हकीकतों तथा बाईसवीं तरंगों में असंकारों का निरूपण प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में उन्होंने चर्या संकारों के अन्तर्गत बहोक्ति अनुमात्र, यमक, रसक, तथा चित्र एवं अर्थसंकारों के अन्तर्गत उपमा अनुमय उपमानोपमा, प्रतीप, स्वरक परिणाम, उत्प्रेक्ष, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, तुल्ययोरित्ता, शेषक शेषक वृत्ति, प्रतिशतूपमा, वृष्टान्त, निबधना व्यतिरेक सङ्कोक्ति, विनोक्ति समासाक्ति, परिकर, परिकरार्थक, अप्रस्तुत प्रसंगा प्रस्तुतार्थक, पर्यायोक्ति व्यावस्तुति, व्यावस्तुति आश्लेष विरोधानास, विभावना, विधेयोक्ति, असम्भव असंयति विषय सम विविध अधिक अल्प अम्योम्य विधेय व्यापार, मुक्ता एकावली, मासा शेषक चार चचासक्य पर्याय परिवृत्ति परि संख्या विकल्प, समुच्चय कारण शेषक समाधि, काव्यार्थपति काव्यनिध, अप्रतिरूप्यास, विकल्प, प्रौढोक्ति, सम्भावना मिथ्या व्यवसित सति प्रहर्षक विपादत उत्प्रास ब्रह्मा, अनुज्ञा सेव मुज्ञा रत्नावली तद्वृत्त पूर्वक अतद्वृत्त अनुगुण, मीसित, सामान्य, सम्मिलित विधेय गूढोत्तर विज्ञोत्तर, सूक्ष्म विहित व्यावक्तिः वृद्धोक्ति, विवृष्टोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, श्लोकोक्ति बहोक्ति, स्वभाषोक्ति, न-विक, उदात्त अत्युक्ति, निकृष्ट प्रतिपक्ष, विधि हेतु, प्रयत्नीक अनुमान संमृति तथा संकर आदि असंकारों का उल्लेख किया है।

करन

विरचय तथा कृतिर्वा —

आचार्य सोमनाथ के परवर्ती साहित्य शास्त्रियों में सर्वप्रथम “रस कस्तान” के रचयिता करन बबि का नाम उल्लेखनीय है। इनका रचना काल संवत् १७२७ माना गया है। यह पन्ना नरेश के आश्रित बबि थे। जाति के यह ब्राह्मण थे तथा उनके पिता का नाम भीबर था। उन्होंने विद्याजी तथा छत्रनाथ की प्रशंसा में भी कुछ पर लिखे थे। अपने “रस कस्तान” नामक ग्रन्थ में उन्होंने रस गुण ध्वनि, सङ्घर्षाक्ति, काव्य भेद तथा वृत्ति आदि का निरूपण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने जो सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं उनका आधार अन्तर्गत “वाच्य प्रकाश” ही है।

गोविन्द का नाम करन कवि के परचाणू हिंदी रीति शास्त्र की परम्परा में उल्लेखनीय है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'कर्णामरण' है। इसका रचना काल सम्बत् १७०७ है।^१ इस ग्रन्थ के आचार्य गोविन्द ने विविध अवसरों की विवेचना उदाहरण सहित प्रस्तुत की है।

रसनीन

रसनीन का नाम काल सम्बत् १७४७ तथा मृत्यु काल सम्बत् १८०७ वि० माना जाता है। यह विख्यात हरदोई के निवासी थे। इनका सांस्कृतिक नाम रघुनाथ मुत्तान नबी था। इनके द्वारा रचित साहित्य छास्त्रीय ग्रन्थों में 'रस दर्पण' तथा 'रस प्रबोध' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम में लक्षणात्मक वर्णन तथा द्वितीय में रस विक्षेप प्रस्तुत किया गया है।

रघुनाथ बन्दीजन

रसनीन के परवर्ती आचार्यों में "काव्य कलाकर" (सम्बत् १८०२) तथा "रसिक मोहन" (सम्बत् १७९६) के रचयिता रघुनाथ बन्दीजन का नाम उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थों में से "काव्य कलाकर" में लेखक ने भाव भेद रस भेद तथा वायिका भेद का विवेचन प्रस्तुत किया है तथा "रसिक मोहन" में अवसर विक्षेप प्रस्तुत किया है।

१. कण विभि रिति विप्रु वरण में सावन तित्त तिति सम्भु ।
सीसी सुकवि पुविन्द नू कर्णामरण आरम्भु ॥ (कर्णामरण)

उदयनाथ कवीन्द्र

उदयनाथ कवीन्द्र के पिता का नाम कजनिवास था। इनके द्वारा लिखित "रस चन्द्रावय अथवा 'विनोद चन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ की रचना का कास सम्बत् १८०४ ई।' इस ग्रन्थ में लेखक ने माधिका भेन तथा रस निरूपण प्रस्तुत किया है। रसों में केवल शृंगार रस के ही संयोग तथा नियोग पक्षों का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है।

भिक्षारी दास

परिचय तथा कृतियाँ—

भाचार्य भिक्षारीदास प्रतापगढ़ के निरुद्धवर्ती द्यौया ग्राम के निवासी थे। यह जाति के कायस्थ थे। इनका वर्ण गृहीकार था। इनके भाई का नाम बसंत नाम तथा पिता का नाम कृपालदास था। यह भरवर प्रदेश के राजा पूवबीपति सिंह के भाई हिम्तू पति सिंह के आधिष्ठ य^१ जिनके लिए इन्होंने अपने कई ग्रन्थ रचे थे। इनमें से "शृंगार निर्णय" विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसमें इसका उल्लेख भी आचार्य ने किया है।^१ उनकी मुख्य कृतियों में "रस सारंग" (रचनाकाल सम्बत् १७९१) "नाम प्रकरण" (रचना

- १ सम्बत् सतक अठारह पार । नाहक नाहकहि निरपार ।
निराहि शक्ति ललित रस बंध । किमो विनोद चन्द्रोदय ग्रन्थ ॥
- २ जगत बिहित उदयादि लीं भरवर देश मनुष ।
रवि लीं पूवबीपति उदित तहाँ सोनकुलमनुष ॥
सीरर तिनके ज्ञाननिधि हिम्तूपति सुख नाम ।
जिनकी सेवा में लहो बात सकल सुखनाम ॥ [काव्य निर्णय, पृष्ठ २]
- ३ श्री हिम्तूपति रीति हित लघुनि ग्रन्थ प्राचीन ।
बात किमो शृंगार को निरूपण शूनी प्रचीन ॥ [शृंगार निर्णय, पृष्ठ २]
- ४ सग्रह लीं हयवानर्ष नम धुकि लुठि गुपवार ।
भरवर देश प्रतापगढ़ मयो ग्रन्थ अजतार ॥ [[रस सारंग पृ० ३]

४७०] समीक्षा के माग और द्विती तनीक्षा की विभिन्न प्रवृत्तियाँ

कास सम्बन्ध १७९५) "छन्दोर्वच निगम" (रचना कास सम्बन्ध १७९९) "आम्य निर्णय" (रचना कास सम्बन्ध १८०३) तथा "शृंगार निगम" (रचना कास सम्बन्ध १८०७) सम्बन्ध १७९६ तथा मृत्यु का समग्र सम्बन्ध १८०७ माना जाता है। उपर्युक्त ग्रन्थों में "काव्य निर्णय" में आचार्य मिश्रादीवास ने पदार्थ अलंकार, रस ध्वनि मुग्न शेष तथा विषयकाव्य आदि का विस्लेषण किया है "शृंगार निर्णय" में शृंगार रस के दोषों त्रैलोक्य के साथ नायिका अद के अलंकार नायिकाओं सत्तियों तथा द्रवियों आदि का भी विवेचन है, "रस सारांश" में रस आवि काव्य के अर्थों का विस्लेषण हुआ है तथा "छन्दोर्वच निगम" में छन्द आदि की व्याख्या है। उनकी शेष कृतियों का विषय साहित्य शास्त्रीय विवेचन नहीं है। मिश्रादीवास के विचारों पर मुख्यतः मम्मट, विश्वनाथ तथा अप्यय दीक्षित के सिद्धांतों का व्यापक रूप से प्रभाव सक्षित होता है। यहाँ पर मिश्रादीवास के उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर इनके सिद्धांतों का परिचयार्थक विवरण संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

काव्य स्वल्प निम्नवत्—

आचार्य मिश्रादीवास ने अपने 'काव्य निर्णय' नामक ग्रन्थ में काव्य के आदर्श के विषय में लिखा है कि काव्य रचना के तीन उद्देश्य होते हैं। एक तो तप और साधना काय संवारेटर सिद्धि, दूसरे सम्पत्ति प्राप्त तथा तीसरे मठ प्राप्ति। काव्य की चर्चा से

१. तत्रहृ तं पञ्चावर्गं अष्टाहं कीर्ति पतः ।
तेरति मयस को भवो नाम प्रकाश प्रत्यक्ष ॥ [नाम प्रकाश पृ० १]
२. तत्रहृ तं क्रियात्मकं भवु अवि नवैक विभुः ।
वास क्रिया अन्वर्णन सुमिति सार्व तं हनु ॥ (छन्दोर्वच निगम, पृष्ठ १२९)
३. अष्टाहृ तं तीर्ति को सम्पत्ति आश्रितः ।
सम्पत्ति काव्य निगम रच्यो निम्न वतति विषय कातः ॥ [काव्य निर्णय, पृष्ठ १]
४. संक्षेप विष्णु रूप को अष्टाहृ तं सातः ।
नायक सुवि तेरस पुरी अरवर वत विख्यातः ॥ (शृंगार निर्णय पृ० २)
५. हे० "आचार्य मिश्रादीवास" डा० नारायणदास काता पृ० २५ तथा २६ ।

मुद्रिमाओं को सर्वत्र और सर्व काब में मुख प्राप्त होता है ।^१ काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रास जी ने लिखा है कि रस कविता का धरीर, बरसकार उसके आसूषण, गुण उसके कर रंग तथा योग्य घटक की कुरूपता होते हैं ।^२ उन्होंने गुण को अरसकार का समानधर्मी बताया है ।^३

कवियों के गुणों की चर्चा करते हुए रास जी ने लिखा है कि ये तीन होते हैं (१) प्रतिभा, (२) मुद्रिमाओं द्वारा निर्दिष्ट विविध काव्य रीतियों का अध्ययन तथा (३) लोक व्यवहार । उनका विचार है कि इन तीनों के योग से ही कविता हो सकती है अन्यथा इनमें से किसी एक के भी अभाव में वह एक पहिये का चाड़ी होकर रद्द जायगी ।^४

काव्य की भाषा के विषय में रास जी ने लिखा है काव्य प्रयोग में यद्यपि ब्रज भाषी प्रेमर, गाय यक्षन तथा फारसी आदि भाषाएं रही हैं, परन्तु सर्व प्रचलित भाषा ब्रज है जिसमें संस्कृत और फारसी का योग है ।^५ परन्तु रीति शास्त्र में ब्रज भाषा ही काव्य के

- १ एक लहे तप पुंजन के कल ज्यों सुतसी मध मुर घोसाई ।
एक लहे बहु सम्पति केयव भूषण ज्यों बरबीर बढ़ाई ॥
यकन्ह को अलहीं सो प्रयोजन है रसकानि रहीन की बाई ।
बास कवितक की चरचा बुद्धिबन्धन को मुख से सब छाई ॥
(काव्य निर्णय, पृ० ४)
- २ रस कविता को अंग भूषण हैं भूषण सकल ।
गुण सकल ओ रंग भूषण करे कुरूपता ॥ (वही पृ० ३, ११३)
- ३ रस के दूषित कल से, गुण बरसे मुख बरनि ।
गुण भूषण अनुमान की अनुप्रास जर भानि ॥ (वही, १९, २४)
- ४ तल्लि कवित बनाहने की केहि काम नल्लज में सीमिह रिषातें ।
काव्य की रीति सिखी सुकथोन्ह सों देली सुनी बहुलोक की बातें ॥
बास है काये एकन ये तोनि बर कविता मनरोचक तातें ।
एक बिना न बरि रस बीते पुरनपर सुत की बक निपातें ॥
(काव्य निर्णय पृ० ३)
- ५ भाषा ब्रजभाषा बहिर बहू मुद्रिमा सब कोई ।
बिसे संस्कृत पारसिक ये अति प्रसद कृ होई ॥

लिए सर्वोत्तम रूप में सर्वसाध्य थी। यह उनके जीवन से स्पष्ट है।^१ इस प्रकार वे भाव की ने भाषा को काव्य के आधार के रूप में साध्य किया है क्योंकि कवि बाची भाषा के साध्य से ही व्यक्तियुक्ति पाती है।

दास जी ने लिखा है कि काव्य के अधिकारी केवल रसिक ही होते हैं।^२ रसिक की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि रस की बातों से प्रेम रखने वाले लोग रसिक कहे जाते हैं। निम्नोदास ने चेष्ट और सकल कवि की कमीटी भविष्य में के कवियों का उस पर रीतिना बताया है। सामयिक दास प्राप्ति को उन्होंने स्वामी स्वाति के समत हीनतर बताते हुए उच्च कोटि के काव्य की कमीटी के रूप में प्रतिपादित किया है।^३

काव्य के मूर्तों के विषय में दास जी ने लिखा है कि सत्कवियों में दो ही काव्य के वर नुबों का कवन किया है परन्तु फिर केवल तीन नुबों में ही उनका संबंध कर दिया है।^४ इन तीन नुबों को उन्होंने इस प्रकार लिखा है— [१] अक्षर मुग्ध, [२] अर्थ मुग्ध तथा [३] भाव मुग्ध। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत उन्होंने भाव्य अक्षर तथा प्रथम द्वितीय के अन्तर्गत समस्त काव्य उदाहरता अने व्यक्ति तथा समाधि एवं तृतीय

सम भाषा की विले अक्षर, भाग अक्षर भाषादि।

सहज मारतोड़ मिले यद्विधि कविध बहानि (बही १ १६)

१. वर भाषा हैतु कवयित्री ही न अनुमानो।

देते देते कविध की कानिष्ठ से जानिये ॥ (काव्य निर्माण १ १६)

२. रस कविध पवित्रवता आनी रसिक न और। (रस सारांश, पृ० ४)

३. रस अर्थ लको कहत की रसिकनि सुख बैठ। (बही, पृ० ४)

४. रसिक कहाँ से भिन्ने रस भासन से हेत। (बही पृ० ४)

५. नीसम के होते हैं विवेक सुख में हैं पुनि हिम्नूपति लोके के वीके मनमलो हैं
एते परलोच रतराम रतलीन बासुदेव से प्रवीण पर कविध बहानो है ॥

तसे यह यथम अकारण न कहे सत्र मति ठहरहे मनो हो हैं अनुपमो है।

आपे के सुकवि रोहि है तो कविता न तु राधिककहति मुमिरन की कहाणी है।

(काव्य निर्माण पृ० १)

६. वर विधि के पुन कहत हैं पहिले नुबवि नुबान।

पुनि तीर्थ पुन पति रही सब तिने के बरम्पान। (बही पृ० १११)

॥ अन्तर्गत समय और पुनरुक्ति प्रकाश की गणना की है ।^१ उनका विचार है कि काव्य में इन गुणों की स्थिति महज रूप से ही रहनी है, ठीक उसी प्रकार से, जिस प्रकार से सज्जन पुरुषों के हृदय में धीर्य आदि गुण स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं ।^२ इन में से भाष्य गुण के विषय में उन्होंने लिखा है कि यह गुण बहो होता है जहाँ अनुस्वार युक्त तथा मनु वर्ण हो परन्तु टवर्ण के वर्ण न हों ।^३ इसी प्रकार से उन्होंने अन्य गुणों को भी सोदाहरण परिभाषित किया है ।

अश्वशक्ति निरूपण —

आचार्य भिलारीदास ने अपने “काव्य निर्णय” नामक ग्रन्थ के द्वितीय उत्तराध्याय में अश्वशक्ति निरूपण प्रस्तुत किया है । इसका आधार मुख्यतः मम्मट के विचारों पर है । पहले पद विवेचन करते हुए बात की है उसका तीन भेद किये हैं (१) वाचक पद, (२) साक्ष्य पद तथा (३) व्यञ्जक पद । इन तीनों की विस्तृत स्वस्वर व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया है कि वाचक पद जाति, यदिच्छा गुण और क्रिया के द्वारा निश्चित होता है । इसी प्रकार से अनिया के विषय में उन्होंने लिखा है कि यह बहो होती है, जहाँ केवल एक ही अर्थ होता है ।^४ इसी प्रकार से सज्जना के विषय में उनका कथन है कि जहाँ

- १ अक्षर गुण भाष्य जब भोज प्रसाह विचारि ।
सज्जन कान्ति उदारता रूपन हरन महारि ।
अर्थाभ्यास सामाज्ये अर्थहि करे प्रकार ।
वाचन नै गुण तैव अत्र गुणवत्ती परकास । (काव्यनिर्णय पृ० १९१)
- २ ज्यों सतजन हिय त नही मुरतारि गुन जाय ।
त्यों बिद्वन् हिय में रहै बसै गुन सहज स्वजाय । (वहो, पृ १९१)
- ३ अनुस्वार युक्त वर्ण कुत सबै वर्ण जावर्ग ।
अक्षर कामे मनु परै सो भाष्य निरवर्ग ॥ (वही पृ० १९३)
- ४ पद वाचक अत्र साक्ष्यात्मिक व्यञ्जक तीन विधान । (वही, पृ १)
- ५ जाति यदिच्छा गुन विद्या नाम कु चारि प्रमाण ।
सबकी संज्ञा जाति गनि वाचक बहै मुजान ॥
(वही पृ० ७)
- ६ कामे अनिया कति करि अर्थ न हूओ कोइ ।
बहै वाच्य कीन्है अने जाती विधित होई ॥ (वही पृ० ११)

समोला के माग और हिन्दी समोला की विविध प्रशंसा।

मुस्फार्थ की भाषा हो वहाँ ललचा समित होती है।^१ उन्होंने ललचा के दो भेद किये हैं (१) कड़ि और (२) प्रयोजनवती।^२ इनमें से कड़ि ललचा वहाँ होती है वहाँ मुस्फार्थ से अग्निप्राय स्पष्ट न हो वरम् अथ प्रसिद्धि से उसकी अवगति हो।^३ फिर प्रयोजनवती ललचा के उन्होंने दो भेद किये हैं (१) बुद्धा तथा (२) गीबी।^४ इनमें से भी बुद्धा के उन्होंने चार प्रकार बताये हैं (१) उपादान, (२) लक्षित, (३) सारोपा तथा (४) साम्यवसान।^५ इनमें से उपादान ललचा वहाँ होती है वहाँ अर्थ सिद्धि दूसरों के पुन ग्रहण करने से हो।^६ लक्षित ललचा वहाँ होती है वहाँ कोई शब्द अर्थ सिद्धि के लिए अपना पुन छोड़ दे। सारोपा ललचा वहाँ होती है वहाँ किसी प्रकार की समानता के कारण एक शब्द का आरोपन दूसरे पर किया जाय और तब अर्थ की सिद्धि हो।^७ साम्यवसान ललचा वहाँ होती है वहाँ जिसकी समता करनी हो उसे ही मुख्य कह दिया जाय तथा विषय का नाम नहीं लिया जाय।^८ गीबी ललचा के स्वल्प को स्पष्ट करते हुए तथा उसके भेद करते हुए वाच जी ने लिखा है कि गीबी ललचा वहाँ होती है वहाँ गुणों के योग से ललचा का व्यापार हो। गीबी ललचा के उन्होंने दो भेद बताये हैं (१) सारोपा

१ मुख्य अर्थ के साथ ही शब्द सांख्यिक होत । (काम्य निर्णय, पृ० ११)

२ कड़ि भी प्रयोजनवती है लक्षणा उचोत । (वही पृ० ११)

३ मुख्य अर्थ के साथ ही अथ में अल्प प्रसिद्ध ।

कड़ि लक्षणा कहत हैं ताकी सुमति समृद्ध । (वही, पृ० ११)

४ प्रयोजनवती बु लक्षणा है विधि तापु प्रमाण ।

एक बुद्ध गीबी बुद्धिय जायत मुकवि सुमान ॥ (वही पृ० १२)

५ उपादान इह जानिये बुकी लक्ष्य अग ।

तीबी सारोपा कहैं गीबी साम्यवसान । (वही पृ० ११)

६ उपादान तो लक्षणा परगुन लीन्हें होइ । (वही पृ० १२)

७ निज लक्ष्यन औरहि दिये लक्ष लक्षणा बोध ।

और बापिये और को क्यों हू समता पाइ ।

सारोपा तो लक्षणा कहैं सकल कथिराई । (वही, पृ० १३)

८ वाकी समता कहन की वही मुख्य कहि हैई ।

साम्यवसान सुलक्षणा विषय जाय बहि लेइ ॥ (वही पृ० १४)

तथा (२) साध्यवसाना । इनमें से सारोपा गौणी सजसा नहीं होती है जहाँ गुण के अनुसार आरोपित सजसा हो ।^१ तथा साध्यवसाना गौणी सजसा नहीं होती है जहाँ गुण के अनुसार उपमेय के स्थान पर केवल उपमान ही प्रयुक्त हो ।^२ इसी प्रकार से व्यंजना की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि व्यंजना यत्कि नहीं होती है जहाँ शब्द के सीधे अर्थ का छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति हो ।^३ इसके उन्होंने दो भेद किये हैं (१) अविनाशक तथा (२) सजसामूलक । इनमें से अविनाशक व्यंजना नहीं होती है जहाँ किसी अनेक अर्थ वाले शब्द का चित्र अर्थ प्रतीति हो ।^४ सजसामूलक व्यंजना के दो भेद किये हैं (१) गूढ़ तथा (२) अगूढ़ ।^५ इनमें से गूढ़ व्यंजना उस कहते हैं जिसे केवल सहृदय समझ सके तथा अगूढ़ उसे जो सब बोझक हो ।^६

ध्वनि निरूपण —

आचार्य भिखारीदास ने सर्वप्रथम ध्वनि क दो भेद बताये हैं (१) अविनाशित वाच्य ध्वनि तथा (२) विनाशित वाच्य ध्वनि ।^७ इनमें से अविनाशित वाच्य ध्वनि नहीं

१. गुण सज्जि गौणी सज्जना है विधि तामु प्रमान ।
सारोपा प्रथमै यनी बूजी साध्यवसान ॥ (वाच्य निरूपण पृ० १४)
२. सगुणारोप गुणवज्जना गुण सज्जि करि आरोप । (वही पृ० १४)
३. मानी साध्यवसान सो केवल ही उपमान । (वही, पृ० १२)
४. सुधी अर्थ सु बचन को तेहि अति धीरे रीन ।
समुक्ति परे से कहत हैं अति व्यंजना एन ॥ (वही पृ० १५)
५. शब्द अनेकारथन बल होई बूनरो अर्थ ।
अविनाशक व्यंज तेहि भावत सुकवि समर्थ ॥ (वही पृ० १५)
६. गूढ़ अगूढ़ी व्यंग है होत सज्जना गुण ।
द्विधी गूढ़ अपिह कहो हैं अगूढ़ तन गुण ॥ (वही पृ० १५)
७. यदि सहृदय जा वह सब व्यंग कहावत गूढ़ ।
बाकी सब कोई लखत सो पुनि होय अगूढ़ ॥ (वही पृ० १५)
८. ध्वनि के भेद दुर्गाति की नई आरती भाव ।
अविनाशित विनाशित वाच्य दुर्गा की नाम ॥ (वही पृ० २०)

समीक्षा के मात और हिंदी समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

मुख्यार्थ की भाषा हो वहाँ लक्षणा समित होती है।^१ उन्होंने लक्षणा के दो भेद किये हैं (१) रुढ़ि और (२) प्रयोजनवती।^२ इनमें से रुढ़ि लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्यार्थ से अभिप्राय स्पष्ट न हो वरन् नय प्रसिद्धि से उसकी अवगति हो।^३ फिर प्रयोजनवती लक्षणा के उन्होंने दो भेद किये हैं (१) भुजा तथा (२) गौणी।^४ इनमें से भी भुजा के उन्होंने चार प्रकार बताये हैं (१) उपादान, (२) सलित, (३) सारोपा तथा (४) साम्यवसाना।^५ इनमें से उपादान लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई अर्थ सिद्धि दूसरों के गुण ग्रहण करने से हो।^६ सलित लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई अर्थ सिद्धि के लिए अपना गुण छोड़ दे। सारोपा लक्षणा वहाँ होती है जहाँ किसी प्रकार की समानता के कारण एक शब्द का आरोपन दूसरे पर किया जाय और तब अर्थ की सिद्धि हो। साम्यवसाना लक्षणा वहाँ होती है जहाँ जिसकी समता करनी हो उसे ही मुख्य कह दिया जाय तथा विषय का नाम नहीं लिया जाय।^७ गौणी लक्षणा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तथा उसके भेद करते हुए दास जी ने लिखा है कि गौणी लक्षणा वहाँ होती है जहाँ गुणों के योग से लक्षणा का व्यापार हो। गौणी लक्षणा के उन्होंने दो भेद बताये हैं (१) सारोपा

१ मुख्य अर्थ के साथ से अर्थ साम्यवसानीक होत । (काव्य निर्णय, पृ० ११)

२ रुढ़ि भी प्रयोजनवती है लक्षणा उचोत । (वही पृ० ११)

३ मुख्य अर्थ के साथ से अर्थ प्रयोजन प्रसिद्ध ।

रुढ़ि लक्षणा कहत हैं ताकी मुमति सपूत्र । (वही, पृ० ११)

४ प्रयोजनवती कु लक्षणा है विवि तात्तु प्रमाण ।

एक मुख गौणी दुसिय भाषत मुकवि मुकाल ॥ (वही पृ० १२)

५ उपादान इक भागिये भुजी लक्षित तात ।

गौणी सारोपा कई गौणी साम्यवसान । (वही पृ० ११)

६ उपादान गौ लक्षणा परगुन लीन्हें होइ । (वही पृ० १२)

७ निज लक्षणा औरहि बिये लक्ष लक्षणा जोय ।

और भाषिये और को क्यों न समता पाइ ।

सारोपा तो लक्षणा कई सकल कहिराई । (वही, पृ० १३)

८ जन्मी समता कहत को कई मुख्य कहि देई ।

साम्यवसान मुलक्षणा विषय जाय कहि लैइ ॥ (वही, पृ० १४)

तथा (२) साध्यब्रह्मना । इनमें से सारोपा गौणी सन्न्यास नहीं होती है जहाँ मुन के अनुसार आरोपित सन्न्यास हो ।^१ तथा साध्यब्रह्मना गौणी सन्न्यास नहीं होती है जहाँ मुन के अनुसार उपवेप के स्थाप पर केवल उपमाग ही प्रयुक्त हो ।^२ इसी प्रकार से ब्रह्मना की परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि ब्रह्मना गति नहीं होती है जहाँ मर के पीछे अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति हो ।^३ इसका उन्होंने दो धार दिये हैं (१) अनिवाप्तक तथा (२) लक्षणाश्रितक । इनमें से अनिवाप्तक ब्रह्मना नहीं होती है अर्थात् किसी लक्ष्य के लक्ष्य के लक्ष्य का निमित्त अर्थ प्रतीति हो ।^४ लक्षणाश्रितक ब्रह्मना के दो भेद दिये हैं (१) गुरु तथा (२) अगुरु ।^५ इनमें से गुरु ब्रह्मना उसे कहते हैं जिसे केवल सङ्कल्प समत सके तथा अगुरु उस जो सर्व बोधक हो ।^६

ध्वनि निरूपण —

आचार्य मिथारोरास ने ध्वनिप्रपञ्च ध्वनि का मर कहा है (१) ध्वनिप्रपञ्च वाच्य ध्वनि तथा (२) विवक्षित वाच्य ध्वनि ।^१ इनमें से ध्वनिप्रपञ्च वाच्य ध्वनि वह

समीक्षा के माग और हिंदी समीक्षा की विभिन्न प्रवृत्तियाँ

होती है, वहाँ वाक्य से व्यंग्य की अवगति हो। इसमें वाक्यार्थ से वाक्य की इच्छा नहीं जानी जाती बल्कि व्यंग्य से ही वास्तविक अर्थ का बोध होता है।^१ उन्होंने अविश्लिष्ट वाक्य के दो भेद बताये हैं (१) अर्थात्तर संक्षिप्त वाक्य तथा (२) अत्यन्त विरस्त वाक्य।^२ इनमें से अर्थात्तर संक्षिप्त अविश्लिष्ट वाक्य ध्वनि नहीं होती है, वहाँ वाक्यार्थ अपने पुराने अर्थ में संक्षिप्त हो जाता है।^३ अत्यन्त विरस्त वाक्य ध्वनि नहीं होती है, वहाँ परिस्थिति के अनुसार सुस्पष्ट वा का त्याग हो जाता है।^४ विश्लिष्ट वाक्य ध्वनि नहीं होती है वहाँ कवि द्वारा अपेक्षित अर्थ हो।^५ इनके दो भेद होते हैं (१) असंलक्ष्यक ध्वनि तथा (२) लक्ष्यक ध्वनि। इनमें से असंलक्ष्यक ध्वनि नहीं होती है, जहाँ रस पूर्णता जायासित हो तथा रस भाव बाह्य के क्रम का सामास न हो।^६ लक्ष्यक ध्वनि नहीं होती है, वहाँ शब्द अर्थ तथा शब्दार्थ अर्थों का हाथ उत्पन्न व्यंग्य का सूचन हो। इसी प्रकार से उन्होंने पुनीभूत व्यंग्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि यह नहीं होती है, वहाँ व्यंग्यार्थ में कोई चमत्कार न हो। इसे उन्होंने मध्यम काव्य की कोटि में रखा है। पुनीभूत व्यंग्य के आठ भेद किये हैं

- १ वक्ता की इच्छा नहीं लक्षनहि की बु सुभाव ।
व्यंग कहैं तिहि वाक्य को अविश्लिष्ट दहराव । (काम्यनिर्णय पृ० १०)
- २ अर्थात्तर संक्षिप्त इह है अविश्लिष्ट वाक्य ।
ध्वनि अत्यन्त विरस्तुती बुनी भेव पराध्य । (वही, पृ० १०)
- ३ अर्थात्तर संक्षिप्त से वाक्य बु व्यंग्य अतुल ।
गूढ अर्थ पावैं वही होत लक्षना भूल ॥ (वही पृ० १०)
- ४ है अत्यन्त विरस्तुती निष्क शब्द ध्वनि होय ।
समय लक्ष से पाइये मुख्य अर्थ को योग ॥ (वही पृ० १०)
- ५ वही विश्लिष्ट वाक्य ध्वनि बाह्य करै कवि बाह्य । (वही पृ० १०)
- ६ असंलक्ष्यक ध्वनि ध्वनि वही रस पुरनता वाह ।
लक्ष न परै कम केहिइहैं सज्जन चित्त उवाच । (वही पृ० ११)
- ७ होत लक्ष्यक व्यंग्य में सीमा नाति की व्यक्ति ।
शब्द अर्थ की छक्ति है जब शब्दार्थ व्यक्त । (वही पृ० ११)
- ८ व्यंग्यरस में कुछ चमत्कार नहि होइ ।
पुनीभूत से व्यंग्य है मध्यम काव्यो सोइ ॥ (वही, पृ० ६४)

(१) अमृद (२) अपरीण, (३) तुल्य प्रचान, (४) अस्तुष्ट (५) काकु (६) बाध्य सिद्ध बंध, (७) समिग्य तथा (८) अमृदर । इन सबकी उम्होंने सोचाहरण व्याख्या भी की है । छिन्न दास भी ने अबर काव्य की विवेचना करते हुए बिचा है कि वहाँ केवल बाध्याय चर प्रोचय हो तथा व्यंग्य का खबाब और सरसता हो वहाँ अबर काव्य होता है ।^१

काव्य बोध निरूपण :-

आचार जितारीदास ने काव्य के दोषों का निरूपण करते हुए बताया है कि ये चार प्रकार के होते हैं (१) शब्द दोष, (२) वाक्य दोष (३) अर्थ दोष तथा (४) रस दोष ।^२ इनमें से शब्द दोषों के अन्तर्गत उन्होंने भुक्ति कटु, भाषाहीन अप्रसुक्त, असमर्थ निहितार्थ, अनुचितार्थ निरर्थक, अवाचक, अस्वीय, साम्य, समिग्य, अप्रतीत, नेवार्य, क्लिष्ट, अधिमृष्ट विधेय तथा विरोधमान आदि दोषों का उल्लेख किया है तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं ।^३ आचार दोषों के अन्तर्गत प्रतिद्वन्द्वार, हतवृत्त, विगमि मूलपद, अधिकपद, पदप्रकर्ष, पुनिरक्ति, सम्पत्तपुनरुक्त, चरबान्तर्गत पद, अक्षरमत्तयोग, अकथितकम्पीय, अस्थानपद, संकीर्ण पद, यत्नित, अमत्तपदार्थ, प्रकरणवर्ग तथा प्रसिद्ध इन चारि दोषों की गणना की है ।^४ अर्थ दोषों के अन्तर्गत अनुप्यार्थ कट्यार्थ व्याहृत,

- १ अचमारच रचना वही व्यंग्य न नेत्रु लसाइ ।
सरल जानि तेहि काव्य को अबर कही कबिराइ ॥ (व्याख्यानिक, पृ० १८)
- २ दोष शब्द हैं वाक्य हैं अर्थ रतह में होई ।
तेहि लजि कबिताई करै लखन सुखती ओइ ॥ (वही, पृ० २४९)
- ३ भुक्तिकटु नभाहीन अप्रसुक्ते असमर्थहि ।
लजि निहितारथ अनुचितार्थ पुनि लखो निरर्थहि ।
अवाचके अस्वीय साम्य संदिग्ध न कीजै ।
अप्रतीत नेवार्य क्लिष्ट को नाम न लीजै ॥
अधिमृष्ट विधेय विच्छेदित लंघन कटु ये सभरहि ।
कटु लख रामातहि के मिलेहैं एकहीमतारहि ॥ (वही, पृ० २४८)
- ४ प्रतिद्वन्द्वार जानि जानि हतवृत्तानि सन्धयनि ।
मूलपदिकपद कथित शब्दपुनिरुक्त प्रकर्षनि ॥

४७८] समीक्षा के माग और हिंसी समीक्षा की विभिन्न प्रवृत्तियाँ

पुनस्तुत पुनस्तुत धाम्य समिन्ध' निहो' अनवीकृत नियम परिमुत अनियम परिमुत, विरोध परिमुत समान्य परिमुत समान्य निधि अमुत, अनुवाद अमुत प्रसिद्ध विरुद्ध विरुद्ध प्रकाशित विरुद्ध, सहकारिता अस्वीकार्य तथा अथक पुन स्वीकृत नादि बीषों को रखा है ।

रस निरूपण —

आचार्य मिशारीदास ने रस निरूपण के प्रसंग में श्रुति, शास्त्र, कल्प, टीका और, नयानक बीमल तथा अद्भुत नामक आठ रसों के चमत्कार प्रीति हँसी चोक, रित्त जत्साह मय पित तथा विस्मय नामक स्वामी भाव बताये हैं।^१ यद्यपि उन्होंने नवें रस सांग को भी उल्लेख किया है, जिसका स्वामी भाव निर्बोध है।^२ उन्होंने लिखा है कि रस नहीं समझना चाहिये वहाँ भाव विनाश अनुभाव पर तथा फिर भावों द्वारा पुष्ट होकर हृदय सम्मय हो जाय।^३ इनमें से स्थायी भाव को उन्होंने रस का बीज माना है, जिसका कारण विनाश तथा कार्य अनुभाव है।

शृंगार रस का विवेकन करते हुए आचार्य मिशारीदास ने लिखा है कि मायक नायिका का प्रेम ही इसके अन्तर्गत आता है।^४ इसके उन्होंने दो प्रेम किये हैं (१। क्रियोग

तस्मि तमास पुनरागत चरम अन्तर्गत पद यद्भि ।

पुनि अमय सत योगाभाभि अकचित्त कननीयमिह ॥

पदरवाचक संकीरनो यस्मिन् अभित परारचहि ।

पुनि प्रकरण भंग प्रसिद्धहते अथ सदा अमनुष्या तचहि ॥

(काव्य निर्णय पु० २२३, २४)

१ प्रीति हँसी अथ लोक रित्त, जत्साहो भव मित्र ।

अत्र विस्मय विर भाव ये आठ बडे भुम जित ॥ (बही पु० ३६)

२ मायक में रस आठ ही कह्यो सरत ज्वलि पाइ ।

अनत नवन किय सांगत रस तहूँ निर्बोध पाइ ॥ (बही पु० ४१)

३ भाव विनाश अनुभाव ही विर विर जाई नैकु ।

रस सामग्री को रमी रचै गरी भरि टेकु ॥ (बही पु० ३२)

४ तारो बाई भाव को, रस को बीज गगन ।

कारन जानि विनाश अथ कारण है अनुभाव ॥ (बही पु० ३२)

५ प्रीति नायिका मायकहि, तो शृंगार रस ठाढ़ । (बही पु० ३४)

शृंगार लघु (२) संयोग शृंगार । इनमें से वियोग शृंगार के उन्होंने पाँच प्रकार बताये हैं (१) अमिताय, (२) प्रवास, (३) विरह, (४) वसुधा तथा घाप । वियोग शृंगार के अन्तर्गत उन्होंने दस नाम दशावों (१) बाबसा (२) चिन्ता (३) स्मृति (४) गुण कथन (५) उद्बेग (६) प्रलाप (७) उम्माद, (८) व्याधि (९) कड़वा तथा (१०) भरव । इन वर्णन दिया है । शृंगार दस के अन्तर्गत ही उन्होंने प्रायस्क-शायिका

- १ एक होत संयोग पाँच वियोगहि घाप ।
सो अमिताय प्रवास अथ विरह वसुधा घाप ॥ (कव्यमिर्चय, पृ० १४)
- २ मीन केन मन मिति रहे कष्टये मिथन सरीर ।
कथन प्रेमसत्सलकथा जर अमिताय संवीर ॥ (शृंगार निर्णय पृ० १००)
- ३ मनसूचनि ते मितन बने गहूँ संकल्प विकल्प ।
तहि कहै चिन्तास्ता बिबचने बुद्धि अल्प ॥ (वही पृ० १०१)
- ४ गहूँ इकाग्रचित करि धरै मन भावन को व्याप ।
सुस्मृति बसा लेहि कहत हूँ अलि लति बुद्धि विबाध ॥ (वही, पृ० १०३)
- ५ बास बसा गुन कथन में सुमिरि सुमिरि तिय वीथ ।
अथ अंयनि बरनै ललित दस रुपनि रमनीय ॥ (वही पृ० १०२)
- ६ कहां दुःखदयी लयी सुखन कु वस्तु अगैय ।
रहियो वस्तु न सोलस सो दुसह बस उद्बेग ॥ (वही पृ० १०४)
- ७ सखियन सो के अहमि सो तन मन मरया छंटाप ।
मोह केन अखियनो नरि ताको कइत प्रताप ॥ (वही, पृ० १०५)
- ८ सो अनमाव बसा दुसह बरे बीरई ताज ।
रोह रोह बिनमत उठै करि मोह के काज ॥ (वही, पृ० १०६)
- ९ ताप दुबरी इबास अति व्याधि बसा में लेख ।
अतिह आहि कहिना करे आहि आहि सब देख ॥ (वही, पृ० १०७)
- १० भरन बसा सब जाति सो हूँ निरास धरि काय ।
बीजन मत के अरनिये लहै दस अंय बराय ॥ (वही, पृ० १०८)
- ११ कड़वा में सब आचरन भुति जाति अन्यास ।
तम गिह्य कोलनि हूँतनि दूरा व्यास दस भास ॥ (वही पृ० १०८)

मेव भी प्रस्तुत किया है । फिर अन्य रसों में से हास्य रस के विषय में लिखा है कि जिस रचना के प्रथम से चित्त प्रसन्न हो गया होवी जाये उस हास्य कहते हैं ।^१ यहाँ किसी रचना के द्वारा हृदय में उत्साह उत्पन्न हो, यहाँ वीर रस होता है ।^२ यहाँ किसी रचना के द्वारा हृदय कल्याण हो जाय, यहाँ कल्याण रस होता है ।^३ इसी प्रकार से यहाँ किसी रचना के द्वारा श्रेष्ठ उत्पन्न हो, यहाँ रीति यहाँ मर्म हा यहाँ भक्तियोग यहाँ कृपा हो यहाँ बीजाल तथा यहाँ विस्मय हो यहाँ अप्रमृग रस होता है ।^४ यहाँ वैराग्य भावना के कारण धुन अनुन समान मान्य हो यहाँ निर्वेद की बुद्धि के फलस्वरूप सत्य रस होता है ।^५

दास जी ने व्यंग्यचारी या संवारी धर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे निर्वेद मानि संवा अनुया मय धर्म, कामस्य, ईश्वर चिन्ता मोह स्मृति भूति सीमा, अपलता, हर्ष, वादन, अकृता विषाद, उत्कण्ठ, विहा अपस्मार स्वप्न विबोध अपर्ण, अवहित्त्व धर्म उल्ला मति व्याधि, उन्माद, मरण दास जीर चित्तक होती है ।

अलंकार निरूपण :-

भाषावे भिन्नारीयल द्वारा अपने 'काव्य निरूपण' नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत अलंकार निरूपण में यह नवीनता है कि उन्होंने सभी पहले अलंकारों का वर्गीकरण विविध वर्गों के अनुसार कर लिया है । उन्होंने उपमादि वर्ग के अन्तर्गत १ उपमा २ अलम्बन, ३ उपमेयोपमा ४ प्रतीति ५ दृष्टान्त, ६ अर्थांतराभास, ७ विकल्पर, ८ निदर्शना ९,

१. हुँसी जरायो जित हौंस जई को रचना सुनि दास ।
कवि बंदिता राखी कही यह भुवन रस दास ॥ (काव्य निरूपण पृ० ११)
२. जो जस्ताहित चित्त में बैठ जड़ज अछुत ।
सो कविताई को कहौ वीर रस कविराज ॥ (वही पृ० ११)
३. लोक बिब जाके मुगत कल्याण्य हनै जाइ ।
सो कविताई को कही कल्या रस कविराज ॥ (वही, पृ० ११)
४. है रस जाई चर रस भवहि मयाजक जेहि ।
दिग ते है बीजाल रस अनुन विरजय देखि ।
५. मन विराज सज धुन अनुन सो निर्वेद कह्यत ।
बाहि बने ते होत है आनंद द्विये रस सत ॥ (वही पृ० ४१)

सुस्पोषिता तथा १० अतिवस्तुषया नामक अर्थकारों को रखा है ।^१ फिर उत्प्रेक्षादि वर्ग के अन्तर्गत १ उत्प्रेक्षा २. आहुतुति ३ स्मरण ४ भ्रम तथा ५. अग्नेह् अर्थकारों को रखा है ।^२ अतिरेक करक वर्ग के अन्तर्गत अतिरेक तथा रूपक के अधिक हानि सम तद्रूप आदि कर्तों का उल्लेख किया है । रूपक के अन्तर्गत निरय परम्परित, परिणाम तथा समस्त विषयक ये प्रस्तुत किये हैं ।^३ अतिशयोक्ति आदि वर्ग के अन्तर्गत १ अतिशयोक्ति, २ उदात्त, ३ अधिक ४. अल्प तथा ५. विशेष अर्थकारों की गणना की है ।^४ अत्योक्ति आदि वर्ग के अन्तर्गत १ अग्रस्तुत अर्थसा २. प्रस्तुतांकुर, ३ समासात्ति, ४. व्याप्तस्तुति ५. आलोप तथा ६. वयायोक्ति अर्थकारों को रखा है ।^५ विच्छेद अदि वर्ग में १ विच्छेद, २. विवाचना, ३ व्यापात ४ विद्योपात्ति, ५ अंतर्गत तथा ६ विषय आदि अर्थकारों का उल्लेख किया है ।^६ उदात्त आदि वर्ग के अन्तर्गत १ उदात्त २. अर्थसा, ३,

- १ उचमा पुरत अर्थे भुप्त उपमान समन्वय ।
उपमेयोपम अथ प्रतीत श्रोतौ उपमाद्वय ॥
पुनि वृष्ट्यास्त वृत्ताणि ज्ञानि अर्थान्तरव्याप्तहि ।
विरुत्तरो निवर्तमानातुल्य बोधता प्रकातहि ॥
यानि सैह नु अतिवस्तुषया अर्थकार वारह विहित ।
उपमान और उपमेय को है विचारतमुभी मुनि ॥ (काव्यनिर्णय, पृ० ७०)
- २ उत्प्रेक्षा अथहुतुत्यो मुनिरय भ्रम अग्नेह् ।
इनके भेद अनेक हैं ये जीवों यानि सैह ॥ (वही, पृ० ८०)
- ३ रूपक होत निरय पुनि वर्णरित परिणाम ।
अथ समस्त विषयक कहूँ विविध जाति अनिराम । (वही, पृ० १०१)
- ४ अतिशयोक्ति बहु जाति की अथ उदात्ततहें स्याह ।
अधिक अल्प लविद्योपदी र्थक भेद उदात्त । (वही, पृ० १०७)
- ५ अग्रस्तुत परसंत अथ प्रस्तुत अंकुर सैव ।
समासात्ति व्याप्त स्तुत्यो आलोपहि अक्षरेणि ॥
परमायोक्ति लयेत किं वट भ्रमन द्रुम टीर ।
ज्ञानि सकल अयोक्ति में भुवह् मुनिवि तिरयोरी ॥ (वही पृ० ११८)
- ६ विविध विच्छेद विवाचना व्यापाताहि हर ज्ञानि ।
विद्योपेक्षि अर्थपर्यो विषय लयेत ६ ज्ञानि ॥ (वही, पृ० १२७)

अनुज्ञा ४ लेख १. विविध ६. तत्पुत्र, ७. स्वपुत्र, ८. अतपुत्र ९. पूर्व रूप १०. अनुपुत्र,
 मोक्ष १२ समीक्षण १३ सामान्य तथा १४ विशेष आदि अलंकारों की वर्णों की है ।
 सम आदि वर्ग में १ सम २ समाधि, ३ परिवृत्ति ४ भाविक ५ प्रहर्षण,
 ६ विपादना, ७ सम्भावना ८ समुच्चय ९ अयोग्य ११ विकल्प, १२ सङ्कोच, १३,
 विनाश, १४ प्रतिपक्ष १५ विधि तथा १६ काम्यार्थापत्ति आदि अलंकारों की मचना
 की है ।^१ सूक्ष्म आदि वर्ग के अन्तर्गत १ सूक्ष्म २ विहित ३ मुक्ति, ४ प्रबोद्ध, ५,
 प्रबोक्ति, ६ मिथ्या व्यवस्थित ७ ललित ८ किमुतौक्ति ९ व्याजोक्ति, १०, परिवर्त
 तथा ११ परिकरार्द्ध आदि अलंकारों का उल्लेख किया है ।^२ स्वभावोक्ति आदि वर्ग
 के अन्तर्गत १ स्वभावोक्ति २ हेतु, ३ प्रमाण ४ काम्यमित्य ५ निमित्त ६ लोकोक्ति
 ७ लोकोक्ति ८ प्रयत्नीक ९ परित्यक्ता तथा १० प्रसन्नोत्तर आदि अलंकारों की वर्ण
 की है ।^३ यथासंख्य तथा वीरक आदि वर्ग के अन्तर्गत १ यथासंख्या २ एकावसी ३

१ विविध नाति उल्लास अवस्था अनुमत्ता यति ।

बहुरूपो मेत विविध तन्मग्नो सगुण दास यति ।

और अतदपुत्र पूर्ण रूप अनुपुत्र अवरोक्षति ।

निलिप्त और सामान्य आनि उन्मिलित विशेषहि ।

ए होत बहुरंश नाति के अलंकार मुनिये लुप्तति ।

सब गुण बोधादि प्रकार यति किये एक ही ठौर निरति ॥ (काम्यनिर्मय ११०)

२ सम समाधि परिवृत्ति यति भाविक हरप विचार ।

असम्भवो सम्भावना समुच्चयो अविवार ।

अयोग्य विकल्प गुनि सह विनोक्ति प्रतिषेध ।

विधि काम्यार्थापत्ति कुतसी रह कहत गुणेश । (वही पु० १४९)

३ सूक्ष्म विहितो मुक्ति यति प्रबोद्ध प्रबोक्ति ।

मिथ्याप्यवस्थित ललित अब किमुतौक्ति व्याजोक्ति ।

परिकर परिकर अङ्कुरो इग्यारह अवरोक्षि । (वही, पु० १५१)

४ स्वभावोक्ति हेतुहि संहित के अनुमान प्रमाण ।

काम्य लिपि तिरजति लनि असलोकोक्ति लुप्तान ।

गुनि लोकोक्ति विचारि के प्रयत्नीक सम गुण ।

परित्यक्ताप्रसन्नोत्तरो अग वाचक सब गुण । (वही पु० १०१)

कारणभासा ४ उत्तरोत्तर, ५ रसनोपमा ६ रत्नावली ७ पर्याय तथा ८ दीपक आदि अंशकारों को रखा है ।^१ इनमें अतिरिक्त उन्हीं उत्तरोत्तर, रसनोपमा रत्नावली, पर्याय अनुशास, छंदानुशास वृत्तानुशास तथा मटानुशास बीप्सा यमक तथा सिंहा बसोक्त आदि अंशकारों का भी उल्लेख किया है । फिर सम्पादनकार वर्ण के अन्तर्गत १ स्तव २ विरोधाभास ३ मुद्रा ४ बन्धोक्ति तथा ५ पुनरुक्तवदाभास आदि अंशकारों की वर्ण की है ।^२

दूसरे कवि

दूसरे कवि का रचना काल सम्बन् १८०० में लेकर सम्बन् १८२५ तक माना जाता है । इनके पिता का नाम उद्योगाक्ष कवीन्द्र था । इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ स्वदिकुल कल्याणरत्न है । इस ग्रन्थ में इन्होंने अंशकार निरूपण प्रस्तुत किया है । यह ग्रन्थ उन्हीं 'ब्रह्मपानम्ब' तथा 'चन्द्रलोक' का आधार पर लिखा गया है और इसका उल्लेख भी विविध स्थलों पर किया गया है ।^३ इस ग्रन्थ में लेखक ने एक ही पत्र अंशकारों का वर्णन किया है । यह ग्रन्थ रीति कालीन अंशकार ग्रन्थों की परम्परा में अन्वेषनीय स्थापन रचता है ।

अन्य आचार्य

दूसरे कवि के साथ ही जिन अन्य आचार्यों का उल्लेख आवश्यक है उनमें 'रत्न बत्सीन' 'रत्न तरंगिणी' तथा 'अंशकार दीपक' के रचयिता पद्मनाभ त्रिपाठी (सम्बन्

१. यथा संख्य एकावली कारण भासा ठाव ।
उत्तरोत्तर रसनोपमा रत्नावली पर्याय ।
ए सातो कम मेह हैं बीरक एकै पौष ।
आदि आधुतो वैहसी कारण भासा जीव । (आध्यात्मिक पृ० १८२)
२. स्तव विरोधाभास है सम्पादनरत्न नाम ।
मुद्रा अक्ष बन्धोक्ति पुनि बरकनरदाभास न । (वही, पृ० २०५)
३. ब्रह्मपानम्ब चन्द्रालोक बने वहीं
मुद्रा ये आटी आटी प्रहर प्रमादिये ।

१८०६) 'मन्त्रिका मेद' के लेखक द्विती रामकृष्ण, 'नायिका मेद' के लेखक ताता निरधारी नाम 'शृंगार सागर' (सम्पत् १८११) के लेखक चन्द्रबास, 'कण्ठविमल' (सम्पत् १८१३) के लेखक कृष्णादि आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से अष्टम ग्रन्थ विशेष महत्त्व का है, जिसमें लेखक ने काम्य का अर्थ, काम्य का उद्देश्य, काम्य के कारण इत्यादि, निरूपण, नामक नायिका मेद, रत्न निरूपण अर्थात्कार, नायिका नामक मेद, अर्थात्कार तथा विचारकार निरूपण तथा बहुत कुछ वर्णन प्रस्तुत किया है।

बैरीलास

यह लगीला के निवासी थे। इनकी कृति "भाषाभरण" रचित कश्मीर शास्त्रीय शब्दों में अर्थकार निरूपण प्रस्तुत करने वाली उल्लेखनीय कृति है। यह ग्रन्थ सम्पत् १८२५ वि० में रचा गया था। इस ग्रन्थ की रचना "कृतकालान्त" के आधार पर की गयी है। इस ग्रन्थ के ४७५ शब्दों में रचयिता ने विविध अर्थकारों के उदाहरण सहित लक्षण उपस्थित किये हैं। अतः यही-कही कभी इसमें अस्पष्ट कथना बहुत उदाहरण भी मिले गये हैं, फिर भी लक्षण शब्दों की परम्परा में इस कृति का अपना स्थान है।

समयस

आचार्य समयस की कृति "रसिक विमल" की रचना सम्पत् १८२७ वि० में हुई थी। इस ग्रन्थ में रचयिता ने शृंगार, वीर, रीति, वीरस्य कथन तथा सप्त आदि रसों की व्याख्या करके हुए नामक नायिका मेद, इष्टी कर्म, भाव अनुभाव, सात्विक भाव तथा विद्योक्त शब्दों का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में रत्न निरूपण प्रस्तुत करने वाली कृतियों में इसका उल्लेखनीय स्थान है।

१. घर घर बसु निजु बर्य में विवर्त बसु की बाह।
विशेष और कुछ मिलि जियो भाषाभरण सुनाइ ॥ (भाषाभरण ८)
२. अर्थ रसि बसु बसु कही कुछ कुछ नय मात।
सम्पूर्ण समयस कृत रसियो रसिक विमल ॥ (रसिक विमल)

विषनाथ

आचार्य विषनाथ आदि के ब्राह्मण थे। यह कुरसी बाराबंसी के निवासी थे। इनके पिता का नाम आरूनाथ था। उन्होंने अपने ग्रन्थ "रस वृष्टि" की रचना पद्मा हरदोई के राजा कुसुमसिंह के लिए की थी। इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् १८२८ वि० है। इस ग्रन्थ का विषय रसभिरूपण तथा नायिका भेद है। इसमें रस निरूपण तो ६ दिशाओं पर परम्परागत शैली के ही अनुसार किया गया है परन्तु नायिका भेद में कुछ नवीनता अवलोक्य है।

रतन

रतन कवि का रचना काल संवत् १८३० के लगभग बताया जाता है। यह भीमनगर, गढ़वाल के राजा फतेहशाहि के आश्रय में रहते थे। अपने आश्रयदाता के लिए उन्हीं के नाम पर उन्होंने अपने ग्रन्थ 'फतेहसुपण' की रचना की। इसके अतिरिक्त इनकी एक और कृति का उल्लेख किया जाता है, जिसका शीर्षक "अलंकार दर्पण" है। इनमें से प्रथम में राज्य शक्तियों काव्य भर्षों ध्वनि, रस काव्य शोषों आदि का विवेक है तथा द्वितीय में अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

अपिनाथ

इनके पिता का नाम हाथुर कवि तथा इनका निवास स्थान असनी था। हिन्दी ऐतिहासिक असनार निरूपण विषयक ग्रन्थों की परम्परा में इनके द्वारा रचित "अलंकारमणि मंजरी" का नाम उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ संवत् १८३१ वि० में रचा गया था। इसमें कोई नवीनता नहीं है तथा परम्परागत शैली के आधार पर ही अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

जमराज

जमराज आदि के शैल्य थे। इनका वास्तविक नाम उद्गराज था और उन्हें "जमराज" नाम दुर्ग द्वारा प्रदान किया गया था। जमराज द्वारा रचित "वदितारम

(८०६) 'नायिका भैर' के लेखक हित रामकृष्ण, 'नायिका भैर' के लेखक तासा निरवाही मास, 'शृंगार सागर' (सम्बत् १५११) के लेखक चन्द्रदास, 'कण्ठविमलास' (सम्बत् १८१३) के लेखक कपटाहि आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से अन्तिम ग्रन्थ विशेष महत्व का है जिसमें लेखक ने काव्य का सज्जन काव्य का उद्धार काव्य के करण हित निरूपण नायक नायिका भैर, रस निरूपण अर्थात्संकार, नायिका मायक भैर, अर्थात्संकार तथा विधात्संकार निरूपण तथा यद् आनु वर्णन प्रस्तुत किया है।

धेरीसास

यह अठनी के निवासी है। इनकी कृति "भाषाभरण" रीति काव्यीन शास्त्रीय शैली में अर्थात्संकार निरूपण प्रस्तुत करने वाली उल्लेखनीय कृति है। यह ग्रन्थ सम्बत् १८२३ वि० में रचा गया था। इस ग्रंथ की रचना "धुवलमानन्द" के आचार पर की गयी है। इस ग्रन्थ के ४०३ छन्दों में रचयिता ने विविध अर्थकारों के उदाहरण सहित सज्जन उपस्थित किये हैं। अतः कहीं-कहीं कभी इसमें अस्पष्ट अथवा अमूर्त उदाहरण भी दिये गये हैं फिर भी सज्जन ग्रन्थों की परम्परा में इस कृति का अपना स्थान है।

समनेस

आचार्य समनेस की कृति "रसिक विमलास" की रचना सम्बत् १८२७ वि० में हुई थी।^१ इस ग्रन्थ में रचयिता ने शृंगार, वीर, रौद्र, बीभत्स कल्प तथा साध आदि रसों की व्याख्या करते हुए नायक नायिका भैर, दूती कर्म भाव अनुभाव, सात्विक भाव तथा वियोग वशाओं का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ में रस निरूपण प्रस्तुत करने वाली कृतियों में इसका उल्लेखनीय स्थान है।

१. घर कर बसु निधु कर्म में निर्वल यशु को पाइ।
विदधि और बुध पति कियो भाषाभरण सुगाइ ॥ (भाषाभरण, ८)
२. संवत रवि जुग बसु सती कुलपुत्र नम मास।
अमूरन समनेस हत बलियो रसिक विमलास। (रसिक विमलास)

सिधनाथ

आचार्य सिधनाथ जाति के ब्राह्मण थे। यह कुरसी आचार्यजी के पिताजी थे। इनके पिता का नाम आनंदनाथ था। उन्होंने अपने ग्रन्थ "रस वृष्टि" की रचना पन्ना हरमोई के राजा कुसलसिंह के लिए की थी। इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् १८२८ वि० है। इस ग्रन्थ का विषय रसनिरूपण तथा भाषिका भेद है। इसमें रस निरूपण दो ऋद्धिवाचक परम्परागत रीति के ही अनुसार किया गया है परन्तु भाषिका भेद में कुछ नवीनता अवश्य है।

रतन

रतन कवि का रचना काल संवत् १८३० के समय बताया जाता है। यह भीमनगर, मद्रास के राजा फतेहशाह के आश्रय में रहते थे। अपने आश्रयदाता के लिए उन्हीं के नाम पर उन्होंने अपने ग्रन्थ 'फतेहसूचन' की रचना की। इसके अतिरिक्त इनकी एक और कृति का उल्लेख किया जाता है जिसका शीर्षक 'अलंकार दर्पण' है। इसमें स प्रथम में छन्द छत्तियों काव्य भवों ज्योति, रस काव्य दोषों आदि का विवेचन है तथा द्वितीय में अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

महपिनाथ

इनके पिता का नाम टाकुर कवि तथा इनका विकास स्थान असनो था। हिन्दी रीति कासीन असनार निरूपण विषयक ग्रन्थों की परम्परा में इनके द्वारा रचित "अलंकारमणि मंजरी" का नाम उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ संवत् १८३१ वि० में रचा गया था। इसमें कोई नवीनता नहीं है तथा परम्परागत रीति के आधार पर ही अलंकार निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

जनराज

जनराज जाति के वैश्य थे। इनका वास्तविक नाम बड़राज था और उन्हें "जनराज" नाम दुब द्वारा प्रदान किया गया था। जनराज द्वारा रचित "वदितारण

विनोद' नामक ग्रन्थ का रचना काल सम्बत् १९२३ वि० है। इस ग्रन्थ में लेखक ने छन्द वर्णन काव्य की कोटियों काव्य की परिभाषा सव्य ध्वनि निरूपण, ध्वनि निरूपण तथा सुनीभूत व्यंग्य निरूपण अलंकार निरूपण काव्य गुणों तथा काव्य दोषों का वर्णन रस निरूपण भाव विभाव अनुभाव तथा संघारी भाव वर्णन, मलमिश्र वर्णन तथा पद ऋतु वर्णन प्रस्तुत किया है।

उजियारे

उजियारे कवि के पिता का नाम नवलसाह था। यह सनातन शास्त्रमय के और इनका निवास स्थान बून्दावन था। इनके लिखे हुए दो ग्रन्थों (१) पुष्प रस प्रवाह तथा (२) रस चन्द्रिका का उल्लेख मिलता है। इन दोनों का ही विषय रस निरूपण है। इनमें से प्रथम की रचना लेखक ने पुष्प किशोर दीवान के लिए तथा द्वितीय की बीसतरास के लिए की थी। इन ग्रन्थों में कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर शैली में भी विषय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में विवरण गत पर्याप्त एकस्मिता बिद्यमान है। निरूपण का आकार भरत मुनि कृत नाट्य शास्त्र है, जिसका उल्लेख भी कर दिया गया है।

अथ आचार्य

इस युग के अन्य उल्लेखनीय आचार्यों में 'अलंकार वर्णन' (सम्बत् १८२९) के लेखक हरिनाथ 'नायिका भेद' (सम्बत् १८४०) के लेखक रंगनाथ काव्यामर' (सम्बत् १८४३) के लेखक चन्दन 'शृंगार चरित्र' (सम्बत् १८४१) 'अवबृत्त भूषण' (सम्बत् १८४७) तथा 'सरस्वती चन्द्रिका' (सम्बत् १८४३) के लेखक वैद्यकीनन्दन आदि के नाम विविध रूप से उल्लेखनीय हैं।

यसवन्तसिंह

यसवन्तसिंह कृत 'शृंगारसिरोमणि' नामक ग्रन्थ भी रीति काल में मिली गयी शास्त्रीय छतियों की परम्परा में उल्लेखनीय स्थान रखता है। इस ग्रन्थ का रचना

काल सम्बन्ध १८२६ माना जाता है। इसमें रस निरूपण के प्रसंग के अन्तर्गत स्थायी भाव, संचारी भाव, आसम्बन्ध तथा उद्दीपन विभाव, नायिका भेद, भाव वर्णन नायक भेद उद्दीपन वर्णन, अनुभाव वर्णन सात्त्विक भाव वर्णन, संचारी भाव वर्णन, ह्रास वर्णन आदि विषयों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। इस युग के अन्य ग्रन्थों की तुलना में इस ग्रन्थ का विषय वर्णन अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत है।

जगतसिंह

जगतसिंह मोंडा के निवासी थे। इनका पिता का नाम सिद्धिदाससिंह था। जगतसिंह ने अपने ग्रन्थ "साहित्य सुधानिधि" की रचना सम्बन्ध १८२८ में की थी। अपने बंस परिचय तथा रचना काल का उल्लेख भी इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में किया है।^१ इस ग्रन्थ में लेखक ने जो विषय विवेचन किया है वह संस्कृत तथा हिन्दी के पूर्ववर्ती भाषाओं की प्रसिद्ध कृतियों के आधार पर है जिनकी स्थाकृति लेखक ने इस ग्रन्थ में की है। इस ग्रन्थ की विविध छंदों में रचयिता ने काव्य के भरो वा वर्णन शब्दानिरूपण कृति वर्णन शब्दानिरूपण तथा अर्थान्वय वर्णन काव्य गुण वर्णन भाव वर्णन स्थायी भाव, संचारी भाव विभाव अनुभाव तथा सात्त्विक भावों का वर्णन रीति निरूपण काव्य वाप आदि विषयों का विवेचन किया है।

रामसिंह

महाराज रामसिंह मरहरमई के मरेज थे। इनके पिता का नाम राजा रामसिंह था। इनके ग्रन्थों में (१) अलंकार वर्णन (२) रस विरोध (३) रस निवास तथा

१ श्री सरजू के उत्तर गढ़ा ग्राम। तिहिपुर अन्तर्गत कविगमन आठों ग्राम।

तिनमें एव अलंकार वि अति अति भव। जगतसिंह तो मरनत मरने छन्द।

सम्बन्ध बसु धार अति अति सुदधर। सुदधत बचनी मायी रच्यो उदार।

(साहित्य सुधानिधि ८ ९)

२ जो प्राचीन काव्य मन जिये उदार। ताते हैं न और कछ कियो विचार।

(४) रस विनोद आदि का उल्लेख किया जाता है। जैसा कि इन ग्रन्थों के शीर्षकों से स्पष्ट है इनके विषय अलंकार तथा रस निरूपण हैं। इनमें शृंगार रस के अन्तर्गत ही नायिका भेद भी प्रस्तुत किया गया है। इनमें से 'रस विरोध' की रचना सम्बत् १८३० में तथा 'रस निवास' की रचना सम्बत् १८३९ में की गयी थी। इनका उल्लेख भी इन कृषियों में मिलता है।

अन्य आचार्य

इस युग के अन्य आचार्यों में "नरेन्द्र भूषण" (सम्बत् १८४५) तथा "दशम प्रकाश" (संवत् १८४८) के रचयिता मान कवि "टिकातराय प्रकाश" (संवत् १८३९) तथा "रस बिभास" नामक ग्रन्थों के रचयिता बेनी बन्दीजन आदि के नाम विशेष रूप से सम्मलनीय हैं। इनके साथ ही सेबादास का उल्लेख भी आवश्यक है। उनका रचना रचनाकास सम्बत् १८४० से लेकर १८४३ के लगभग माना जाता है। इनके रचे हुए ग्रन्थों में (१) भीठा बहुरस (२) असवेसेसास की छप्पय (४) राधाकृष्ण बिहार (५) रघुनाथ अलंकार तथा (६) रस वर्णन आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ इन्होंने अपने कुछ असवेसेसास के लिये लिखी थीं। छेप में से दो विशेष महत्त्व की हैं, जो "रघुनाथ अलंकार" तथा "रस वर्णन" हैं। रघुनाथ अलंकार की रचना सेबादास ने सम्बत् (१८४०) में की थी। इस ग्रन्थ का विषय अलंकार निरूपण है। इसकी रचना लेखक ने

भरत भोज सब मम्मट की जयदेव । विश्वनाथ बोधिम्वनठ कीलित मेव ।

मानुस आदिक की करि अनुमान । दिखी प्रसन्न करि माया कवित विधान ।

(साहित्य सुधाभिधि)

१ भाग्य मुदि तिथि पुरना यय मु क अति मुदकार ।

मिनि अठारह सै भरत पुनि तीस संवत सार ॥ (रस विरोध ३३२)

२ नरवरपति रचि कुल तिसक खर्चातिह गुन धाम ।

राजतिह तिहि गुल रचित, रस निवास अनिराम ॥

भरत अठारा सै अलिक, स बासीस मयानि ।

आनुनि मुदि दयानी, सम्बत् सारि पहिचानि ।

"कुवलयानन्द तथा "अज्ञातोक्त" के आधार पर की गयी चिनत्ता इसमें उल्लेख भी है।^१ "रस दर्पण" की रचना सम्बत् १८४० में हुई थी। इस ग्रन्थ में नायिका भेद के साथ शृंगार हास्य कवय रीति और, भयानक, भीमस्त अद्भुत तथा घात रतों का वर्णन किया गया है।

गोकुल नाथ

यह काशी के निवासी थे। इनके पिता का नाम शृंगार कवि था। इनका जन्म काल सम्बत् १८४० से लेकर १८७० तक माना जाता है। इनके ग्रन्थों में (१) चेत चन्द्रिका, (२) महाभारत (३) राधा नन्दमिश्र (४) मीमांसन (५) मुनिराजि तथा (६) कविपुत्र संवत् आदि का उल्लेख किया जाता है। इनमें से प्रथम की रचना महाराज जगतसिंह के आदेशानुसार की गयी थी। इसका विषय अर्थात् नरकपण है।

पद्माकर

पद्माकर जाति के तीर्थ साधक थे। यह काशी के निवासी थे। इनके पिता का नाम मोहनलाल मद्र था। पद्माकर का जन्म वार सम्बत् १८१० तथा मृत्यु काल सम्बत् १९८० था। इनका सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ अमरपुर के महाराज जगतसिंह के नाम पर 'अमरबिन्दोद' शीर्षक से रचित हुआ है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'पद्माभरण' है। इनमें से 'अमरबिन्दोद' का रचना काल सम्बत् १८४७ के समय बताया जाता है। इस ग्रन्थ में लेकर ने नायिका नायक भेद हास्य, सात्विक भाव संचारी भाव तथा विविध रतों का निरूपण प्रस्तुत किया है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'पद्माभरण' अर्थात् साहित्य पर लिखा गया है।

१ कुवलयानन्द अज्ञातोक्त में भक्तिकार के नाम।

निम्नकी गति अज्ञातोक्त के अर्थात् कहि राम ॥ (रघुनाथ अर्थात्, १९४)

२ पद्माकर की रचना सप्तमी वार शुक्र शुभ ज्ञान।

अप्यस्तह संवत् संवत् अर्थात् ज्ञान ॥ (रस दर्पण ८)

अन्य आचार्य

इस युग के अन्य आचार्यों में 'हरि' नायिका भेष' के रचयिता यशोवन्तस्यम 'विद्वद्बिकास' (सम्बत् १८६६) तथा 'शीपक प्रकाश' (सम्बत् १८६३) के रचयिता प्रह्लाद 'साहित्य रस' तथा 'रस कल्पोद' (संगम संग्रह सम्बत् १८८५) के रचयिता करन कवि 'आग भगोहर' (सम्बत् १८६०) के रचयिता गुम्हीन आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थों के भावर पर साहित्य धारण के विविध विषयों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

सिद्धप्रसाद

यह दृष्टिगत किया जाये। इनके सिद्धे हुए 'रस सुषण' नामक ग्रन्थ का नाम टीति सांख्यीय ग्रन्थों की परम्परा में उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ की रचना सम्बत् १८६९ में हुई थी।^१ इस ग्रन्थ में लेखक ने मूलतः विभिन्न रसों का निरूपण प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसमें भृंगार रस का संक्षिप्त तथा छेप रसों का विस्तार से विवेचन है, यद्यपि इस युग के अन्य समी आचार्यों ने भृंगार रस का विस्तृत तथा अन्य रसों का संक्षिप्त में विवेचन किया है। भृंगार रस के अन्तर्गत नायिका भव दर्शन सखी संयोग, वियोग वसों आदि की लेखक ने व्याख्या प्रस्तुत की है। बीच बीच में कुछ अलंकारों का भी वर्णन इस दृष्टि में मिलता है।

बेनी प्रवीण

यह दृष्टि के साहचर्य से तथा लक्षणों के विभासी से। लक्षणों के बावधान के बीचान के पुत्र लक्ष्मण कादर्य (सम्बत् १८७०) के आदेशानुसार इन्होंने अपने संक्षिप्त ग्रन्थ

१. संबत् १८६९ एक हजार अठ्ठाईस आठ सैकड़ा आठ।

आठ सत्तर की जहाँ दोष आठ पंद्रहवाँ ॥

रीतिदानीन द्विती सभौआ घास्र का बिहान मीर निशियि सिद्धांतों का स्वकन [४९१

‘नबरसर्ग’ की रचना की थी जिसका रचना काल सम्बन् १८७४ है।^१ इस ग्रन्थ में खेसक ने नव रम स्वामी भाव तथा भायिका भेद प्रस्तुत किया है। यह वर्णन बहुत विस्तृत है। इसके अन्तर्गत खेसक ने स्वकीया भायिका के मुख्या भय्या प्रीडा, भायिका के मात यौवना, अमात यौवना मात यौवना के नबोडा तथा विद्यम्य नबोना मुख्या तथा प्रीडा के बीरा, अबीरा तथा बीरा बीरा, प्रीणाके रतिप्रीता मीर आनन्द सम्मोहा ब्येष्ठा तथा कनिष्ठा, परबीया के ऊट्टा, बनूहा गुट्टा बिहन्ना सतिगा कृमगा मुदिता, मुदितकुचिता, गबिता, मानबती प्रोपित पतिफा, कठिता कन्हातरिगा विमनव्या उत्कम्पिता बासक सग्वा उत्तमा मय्यवा तथा अथमा आदि भेदावम्ब प्रस्तुत किये हैं। बासक वर्णन भी इसी प्रसंग में प्रस्तुत किया गया है।

रमछीर सिंह

यह सिद्धपम्ब, बीनपुर के निवासी थे। इनका जन्म राग मिथबन्धुओं के अनुसार सम्बन् १८७७ तथा प्रथम वैशाखिक रिपोर्ट के अनुसार सम्बन् १८९४ था। इनके ग्रन्थों में (१) काव्य खलाकर (२) रूप्य नैमृबी, (३) पियन (४) ग्रामाव तथा (५) रस खलाकर हैं। इनमें से ‘ग्राम्य खलाकर’ ही मुख्य प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का रचना काल सम्बन् १८९७ है। यह अति मीनिकता से युक्त नहीं है और रचयिता ने इसके आचार ग्रन्थों का उल्लेख भी इसमें कर दिया है।^१ इस ग्रन्थ में खेसक ने निम्न

कृष्ण रस तिथि तोहि नहुं अग्रहार धुन मेव ।

बीरा में दुपहर लमें कीन्हों ग्रम्य विदेव ॥ (रस नृग)

१ समक बैलि विष बीपमुल सिद्ध अग्र बात नाह ।

भाय भाय बी रंजनी बी गोपाल सहाय ।

नबरस में अग्रहार नित कहन मुकवि प्रबीन ।

तो नबरस नुनि रीति हैं नबरस कृष्ण वरबीन ॥ (नबरसार्ग)

२ नवि रति अग्रलोक अर काव्य अग्रज नुरीन ।

बीरो भावाग्रम बहुत तापी लंपन पीत ।

काव्य रीति जितनी प्रगट बा निकरी हट टोर ।

हतयोई पंडि बुजि है लखन काव्य को तोर । (काव्य खलाकर)

राज विक्रम माहि तथा महाराज प्रवशात पुरस्वर के आश्रय में रहे थे। इनके विविध मौलिक ग्रंथों में (१) व्यसिंह प्रकाश (२) काव्य विभास (३) गृंगार मंत्ररी (४) व्यंग्यार्थ कीमुदी, (५) गृंगार चिरोपनि (६) मखकार भिन्नामणि (७) कव्य विनोद तथा (८) अनुम नवविश्र बरिद का उत्प्रेष विवता है। इनमें से व्यंग्यार्थ कीमुदी की रचना संवत् १८८२ में की थी।^१ इस ग्रंथ में मखकार के चार चरित्रों अमिया, मसना तथा अंबरा का स्वरूप निरूपण करते हुए बख्शार निरूपण प्रस्तुत दिया है। इसके अतिरिक्त उनकी कुमरी उपरज एति 'काव्य विभास' की रचना संवत् १८८९ में हुई थी।^२ इस ग्रंथ में मखकार के काव्य के अक्षय कव्य का प्रयोग, काव्य के कारण तथा काव्य के अर्थ बताते हुए दार्ष्टान्तिक ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य तथा गुण वाच निरूपण आदि प्रस्तुत किया है। प्रतापमाहि के उपरुक्त दोनों ग्रंथों के आधार पर ही उनसे सिद्धांतों का संबंधित परिचय यहां पर उपस्थित किया जा रहा है।

काव्य निरूपण —

प्रतापमाहि ने काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि व्यंग्यार्थ पश्य वा बीज होता है अर्थात् उसका शरीर तथा अंतःकार उसके आभूषण।^३ फिर काव्य के अर्थ प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य के तीन अर्थ होत हैं (१) उत्तम काव्य (२) मध्यम काव्य तथा (३) अधम काव्य। इनमें से उत्तम काव्य

- १ संवत् १८८२ सवि वसु वसु च है पनि अयाड की मात ।
किय व्यंग्यारथ कीमुदी मुनि प्रताप प्रकाश ॥ (व्यंग्यार्थ कीमुदी, पृ० १२९)
- २ काव्य प्रकाश प्रवीण मति लख साहित्य की बेध ।
मुनि प्रताप विचारि बिल कह्यो मुनि अमोघ ॥
संवत् १८८९ सवि वसु वसु बटुरि अबर वट पहिबानि ।
सावन मास अयोराही छेयवार उर आनि ॥ (काव्य विभास पृ० १४४ ४५)
- ३ व्यंग्य बीज कहि बलिता की हृदय सु पुनि पहिबानि ।
अरु अर्थ कहि पुनि दुखन भुवन आनि ॥ (काव्य विभास, १ १९)
- ४ लो कविता लनि तीन विधि बराम मध्यम नाव ।
अबर सु अर्थ अमानिये अरु अर्थ बरि परमाव ॥ (वरी, १ ३०)

साहित्य शास्त्रीय विषयों का विवेचन प्रस्तुत दिया है। इसमें काव्य का प्रयोग काव्य की कोटियाँ, द्रव्य दृष्टियाँ, ध्वनि निरूपण, भवरस, भाव सारिबक भाव, स्थायी भाव, अनुभाव नायिका भेद अलंकार निरूपण, काव्य के गुण तथा दोष आदि हैं।

भारतीय

यह गोस्वामी के निवासी थे। उन्होंने दत्तिया के राजा मधानी सिंह के आदेश पर मुबार 'नाट्य बीरिका' नामक कृति की रचना की थी। इस ग्रन्थ का विषय नाट्य विवेचन है। इसका आधार सार्ज्ज्वर तथा भरत की कृतियाँ हैं जिसका इस ग्रन्थ में उल्लेख भी है।^१ इस ग्रन्थ में नाट्य शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले प्रायः सभी विषयों का विवेचन किया गया है। यह पुस्तक प्रणोत्तर रूप में लिखी गयी है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ का महत्व यह भी है कि हिन्दी मध्य में नाट्य कला विषयक यह सर्वप्रथम रचना है।

रसिक गोविन्द

यह मुन्दावन के निवासी थे। इनका रचना काल सम्बत् १५३० से लेकर सम्बत् १८९० तक माना जाता है। इनके लिये हुए ग्रन्थ में 'रसिक गोविन्दानन्दवन' सर्वप्रमुख है। यह ग्रन्थ सम्बत् १८२८ में रचा गया था। इस ग्रन्थ में लेखक ने अलंकार निरूपण काव्य के गुण काव्य के दोष रस तथा नाट्य नायिका भेद का विस्तार वर्णन प्रस्तुत किया है।

प्रतापसाहि

परिचय तथा कृतियाँ :—

प्रतापसाहि का रचना काल सम्बत् १८५० से लेकर १९०० तक माना जाता है। यह मुन्दावन के रहने वाले पतवसेन बग्गीजन के सुपुत्र थे। ये बरसाती के यज्ञ

१ सार्ज्ज्वर अब भरत है, कई नू ग्रन्थ अपार।

सार-सार सगृह करै, निज मति के अनुसार। (नाट्य बीरिका)

साहित्य आलोच्य विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया है उनमें काव्य का प्रयोग काव्य की कोटियाँ, सत्य सत्तियाँ, अग्नि निकषण, अवरस, भाव सारिषक भाव, स्थायी भाव, अनुभाव नायिका भव अलंकार निकषण, काव्य के गुण तथा दोष आदि हैं।

मारायण

यह गोकुल के निवासी थे। उन्होंने दतिया के राजा भवानी सिंह के आदेशानुसार 'नाट्य बीरिका' नामक कृति की रचना की थी। इस ग्रन्थ का विषय नाट्य विवेचन है। इसका आधार सार्ङ्गधर तथा भरत की कृतियाँ हैं जिसका इस ग्रन्थ में उल्लेख भी है।^१ इस ग्रन्थ में नाट्य शास्त्र के अन्तर्गत आने वाले भाग 'प्रायः' सभी विषयों का विवेचन किया गया है। यह पुस्तक प्रणोत्तर रूप में लिखी गयी है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ का महत्व यह भी है कि हिन्दी यद्यपि नाट्य कला विषयक यह सर्वप्रथम रचना है।

रसिक गोविन्द

यह बुन्दावन के निवासी थे। इनका रचना काल सम्वत् १८५० से लेकर सम्वत् १८९० तक माना जाता है। इनके लिखे हुए ग्रन्थ में 'रसिक गोविन्दानन्दप्रमन' सर्वप्रमुख है। यह ग्रन्थ सम्वत् १८५८ में रचा गया था। इस ग्रन्थ में लेखक ने अलंकार निकषण काव्य के गुण काव्य के दोष रस तथा नाट्य नायिका भव का विस्तार वर्णन प्रस्तुत किया है।

प्रतापसाहि

परिचय तथा कृतियाँ :—

प्रतापसाहि का रचना काल सम्वत् १८८० से लेकर १९०० तक माना जाता है। यह बुन्देलखंड के रहने वाले राजसेन अन्धीजन के सुपुत्र थे। ये चरघारी के पहा-

१ सार्ङ्गधर जब भारत में, करीबु ग्रन्थ अथार ।

सार-सार सग्रह करी, निज मति के अनुसार । (नाट्य बीरिका)

राज विक्रम साहि तथा महाराज छत्रगुप्त पुरन्दर के आधम में रहे थे । इनके विविध मौलिक ग्रन्थों में (१) अर्थासिद्ध प्रकाश (२) वाक्य विज्ञान (३) शृंगार मंत्ररी (४) व्यंग्यार्थ कीमुदी, (५) शृंगार चिरोमणि, (६) खर्चकार चिन्तामणि (७) काव्य विनोद तथा (८) अनुसन्धन आदि का उल्लेख मिलता है । इनमें से व्यंग्यार्थ कीमुदी की रचना सेकड़ के सम्बन्ध १८८२ में सी. पी. १^१ इस ग्रन्थ में सप्तक म दण्ड शक्तिर्वा ममिप, खलना तथा व्यंग्य का स्वरूप विवरण करते हुए खर्चकार निरूपण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त उनकी दूसरी उपरान्त एति 'काव्य विज्ञान' की रचना सम्बन्ध १८८६ में हुई थी ।^१ इस ग्रन्थ में सप्तक के काव्य का सारण करने का प्रयोजन काव्य के कारण तथा काव्य के अर्थ बताते हुए आत्मप्रतिनि ध्वनि गुणीभूत व्यंग्य तथा गुण दोष निरूपण आदि प्रस्तुत किये हैं । प्रतापसाहि के उपरान्त दोनों ग्रन्थों के साधारण पर ही उनके सिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय यहाँ पर उपस्थित किया जा रहा है ।

काव्य सिद्धन्त —

प्रतापसाहि ने काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि व्यंग्यार्थ काव्य की शक्ति होता है। व्यंग्यार्थ उसका शरीर तथा अर्थकार उसके आभूषण ।^१ फिर काव्य के अर्थ प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य के तीन भेद होते हैं (१) उत्तम काव्य (२) मध्यम काव्य तथा (३) अधम काव्य ।^२ हमें से उत्तम काव्य

- १ सम्बन्ध सति बहु बहु च है पनि अथासु को भास ।
किय व्यंग्यारथ कीमुदी सुखवि प्रताप प्रकाश ॥ (व्यंग्यार्थ कीमुदी, पृ० १२९)
- २ काव्य प्रवृत्ता प्रदीप सति सब साहित्य को देखि ।
सुखवि प्रताप विचारि कित कह्यो सुमति अथोक्ति ॥
संबत घनि बहु बहु कटि रज्ज्वर पट पहिचानि ।
साधन भास प्रदीपको सोमवार घर आनि ॥ (काव्य विज्ञान, पृ० १४४-४५)
- ३ व्यंग्य जीव कहि बलि को हृदय गु पुनि पहिचानि ।
दण्ड अर्थ कहि पुनि दूषण भूषण जानि ॥ (काव्य विज्ञान, १ १९)
- ४ लो कदित पनि लोम विधि कसम मध्यम नाम ।
अथर गु अथक कदाचित् अरमत्त पनि परनाम ॥ (वही, १, २०)

वही होता है वही वाक्यार्थ को अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक कमल्लभ हो ।^१ मध्यम काव्य वही होता है, वही इन दोनों अर्थों का समन्वय समान हो ।^२ अथवा अथवा बिना वाक्य वही होगा है वही केवल व्यंग्यार्थ का समन्वय हो तथा व्यंग्यार्थ का अभाव हो ।^३ हमारे दो मेरों (१) शब्द बिना तथा (२) अर्थ बिना का समन्वय सम्भव किया है । प्रताप साहि ने अपने 'काव्य विलास' नामक ग्रन्थ में काव्य के हेतुओं पर विचार करते हुए बताया है कि काव्य के तीन हेतु हैं (१) सुकृष्ट (२) वृत्ति तथा (३) अभ्यास ।^४ इसी प्रकार से काव्य के प्रयोगन पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि काव्य में धर्म अर्थ, काम तथा मोक्ष प्राप्ति के अनिरिक्त आनन्द की भी प्राप्ति होती है ।^५

शब्द अर्थ निकम्पन —

प्रतापसाहि ने अपने 'काव्य विलास' नामक ग्रन्थ के द्वितीय विलास में शब्द अर्थ निकम्पन प्रस्तुत किया है । इस प्रसंग में सर्वप्रथम उन्होंने शब्द तथा अर्थ की व्याख्या करते हुए बताया है कि जो कान से सुना जाय वह शब्द है तथा जो बिना से समझा जाय वह अर्थ । शब्दशब्द व्यंग्यारम्भ तथा लिपिशब्द शब्द वर्णात्मक कह जाते हैं ।

- १ शब्दार्थ से बहुत कमल सुन्दर व्यंग्य प्रचलन ।
अर्थ कमल्लभ पर ललित उत्तम काव्य सुमान ॥ (काव्यविलास १ २१)
- २ शरत्त काव्य प्रसंग से व्यंग्य न अति से होइ ।
व्यंग्य वाक्य सम लक्षि पर मध्यम कहिये सोइ ॥ (वही १ २२)
- ३ वही व्यंग्य नहि वागिने प्रथम अर्थ बलवान ।
शब्द बिना एक अर्थ बिना प्रथम काव्य सो जान ॥ (वही १ २३)
- ४ इकी साथ ही व्यंग्य जो शब्द बिना सो जानि ।
समुत्ति पर नहि अर्थ ही अर्थ बिना पहिचानि ॥ (वही १ २४)
- ५ प्रथम संस्कृत वृत्ति पुनि तीसो कटि अभ्यास ।
कारण तीसि मुकाव्य के शरत्त सुकवि विलास ॥ (वही १ २५)
- ६ चारि अर्थ जानु से शरत्त शरत्त माध्य ।
सुगत सुकवि समुत्त सुकवि शरत्त सुकवि समुत्ति । (वही १ २६)
- ७ शब्द लुके से शब्द है समुत्ति बिना सु अर्थ ।
वर्णात्मक मुखात्मक है विधि कहत समर्थ ॥ (वही २ १)

प्रतापसाहि ने अर्थ बाध कराने वाली दूति अथवा दृष्ट्यस्तित्वा के तीन प्रकार बनाये हैं (१) दक्षित (अथवा अभिधा) (२) सजपा तथा (३) व्यंग्यता ।^१ इनमें सजपा क उन्होंने बहुत बड़ा तथा प्रयोजनकारी फिर उपादान लक्षण तथा सजपा, फिर शारांग तथा माध्यवसाना तथा फिर गौड़ी और दुद्धा तथा गूढ़ व्यंग्यता और अमूढ़ व्यंग्यता और धामि तथा धर्म वन पुनः पदगत और बाधपदगत आदि देव बताये हैं । इसी प्रकार से व्यंग्यता के भी उन्होंने द्वावरी तथा आर्थी मानक भेद करते हुए पुनः सजपामूला और अभिधा दूसरा आदि भेद बताये हैं ।

रस निरूपण —

रस निरूपण करते समय आचार्य प्रतापसाहि ने विभाव^२ अनुभाव^३ संचारी^४ भाव तथा स्थायी भावों^५ आदि का भी स्वल्प चिह्नितपण प्रस्तुत किया है । निम्न रसों में सर्वप्रथम शृंगार रस का चिह्नित करते हुए बताया है कि इसका स्थायी भाव रति है तथा आनन्दवन विभाव सम्पत्ति है । इसके उन्होंने का भेद बताया है (१) संयोग शृंगार तथा (२) वियोग शृंगार ।^६ इनमें स विभाव शृंगार क उन्होंने पाँच भेद बताये हैं, जो

१. बहुत ही रस में रचित है निज अर्थहि की बाध ।
धृति लक्षणा व्यञ्जना अथ तीन विधि सौख ॥ (काव्यदिशास १ ६)
२. मिलते प्रगटत अदत्त में रति आविष्ट फिर भाव ।
पावत है सुखचित में तैर्द नाम विभाव । (वही ३ ४६)
३. के प्रतीति रस की करत से अनुभाव प्रभाव ।
भुज उन्मेष कटाक्ष अथ आतिगल ये आना ॥ (वही ३ २६)
४. लक्ष्म रसन में लंघने से संचारी भाव ।
दृष्ट करत रस की लता कहत सुखवि भन भाव ॥ (वही ३ ४७)
५. हुई वग्य से उदत अहं मानव संपुर प्रीय ।
रति विरट अविरट है धार्य कहियत सोय ॥ (वही ३ २८)
६. रति प्रदते रूपति मिये सो कहि रस शृंगार ।
बहि लक्ष्यो दिखोन द्वे तानु देव निरधार ॥ (वही ३ २९)

इस प्रकार हैं (१) पूर्वभाग (२) मात (३) प्रथम (४) उत्कण्ठा तथा (५) सात ।^१ खेप रसों का विवेचन इसमें नहीं है ।

काव्य गुण निरूपण —

आचार्य प्रणामाश्रि ने अपने ग्रन्थ 'काव्य विज्ञान' के चौथे प्रकाश में काव्य गुणों का निरूपण किया है । इनके हम चिह्नों का आधार अमृत तथा विषमत्वात् का बरणाये हैं । उन्होंने काव्य के गुण के विषय में लिखा है कि गुण की स्थिति रस के अवनत रूप से रहती है तथा वह उसके उत्कर्ष कर्ता होता है । उन्होंने तीन गुण बताये हैं जिनमें सबसे गुण समाविष्ट हैं (१) माधुर्य (२) शोक तथा (३) प्रसाद । इनमें माधुर्य गुण श्रुति को प्रवृत्त करने तथा आनन्द की वृद्धि करने वाला होता है । यत्न, श्रुति, कल्याण और धाम्नी रसों में स्थित रहता है । श्रुति के अतिरिक्त श्रुतिप्रकार का इसके व्यञ्जक वर्ण होते हैं (जैसे) इसमें लघु समास होता है । शोक गुण की, रस तथा

- १ इन्ने बिनि कहत समीक्ष गुनि पाँच प्रकार विनोय ।
पुष्पक पुष्पक इन सबल के भेद कहुतकर्मि लोग ।
पूर्व राम पुनि मात कहि कहुतप्रभात बसवनि ।
उत्कण्ठा पुनि भाव कहि पाँच भाँति पहिचानि ॥ (बहरी ३, २०, २१)
- २ ल्यों प्ररीर के बरमे में सीर्य अमृत पहिचान ।
ल्यों रस में उत्कर्ष गुण अवल निरुत त्रिप जान ।
शोक शर्ष में पलत है गुन इनि सरत विरायि ।
शोक शर्ष में रूपन निनि न्यारे पलत निरुत निरुत ।
प्रथम गनत माधुर्य गुण शोक प्रसाद बसवनि ।
अनुरागिक बरत भुने इनके अन्तर जानि ॥ (काव्य विज्ञान २, १, ३)
- ३ इवत श्रुति आके सुगत आनन्द बहुत अगाह ।
रस विचार माधुर्य गुण कल्याण धाम्नी रस माह ।
अत बचान्तहि रस गुण न बर्णहि कहि बर्ण ।
लघु समास पर बर्ये जाह गुण माधुर्य सुवर्ण ॥ (बहरी २, ४, ५)

बीमारस रसों में कमस विकसित रूप में दीर्घ समास युक्त होकर स्थिर रहता है ।^१ इसी प्रकार स प्रसार गुण अर्थ की अवगति इतनी सीधेता से कल्पन बनाना होता है जिसकी सीधेता से जब स्वच्छ वस्तु को ग्रहण करना है ।^२

काव्य बोध निरूपण —

आचार्य प्रतापसिंह ने अपने ग्रन्थ “काव्य विमर्श” के छठे अध्याय में काव्य बोध निरूपण प्रस्तुत किया है । उन्होंने लिखा है कि काव्य बोध जने कहते हैं जो मुख्य अर्थ का बोध न होने दे ।^३ उन्होंने इसके तीन प्रकार बताये हैं (१) सम्मेलन, (२) अर्थ पक्ष तथा (३) रसगत ।^४ इसके अतिरिक्त उन्होंने दोषों का एक अर्थ भेद भी बताया है जिस वाक्यमय बोध कहा है तथा जिस पद्यगत रूप से अलग उल्लिखित किया है ।^५

मवीन

यह कृत्वाचन के निवासी थे । अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ “रंगमंदर” की रचना इन्होंने नामा मरेण के पुत्र मालविका के सिद्ध के लिए की थी । इस ग्रन्थ का रचना काल

१. महत्त तेत्र को महत्त बिन्न उद्धत करन प्रसिद्धि ।
तहां आज गुण बनत है और रीत रस सिद्धि ।
उद्धत बच उबलत यह दीर्घ समास विचारि ।
बीरहि ते पुनि रीत से अब बीमारम निहारि ॥
(काव्य विमर्श ४, ११, १२)
२. साधारने सब आपर बिमल वस्तु जिनि नीर ।
जानि परह सुरतहि अरुण गहि प्रताप गुन बीर ॥ (बही ८ १२)
३. अर्थ बोध के मुख्य में दात करत जो होई ।
साको रूपन कहत हैं दाध अर्थ रस सोई ॥ (बही ६ १)
४. दाध बिरे जो किरन है अर्थ बिरे किर होइ ।
दाध अर्थ रूपन सहा मानन सब कबि लोइ ॥ (बही ६ २)
५. वदयत अब पुनि वाक्यमय दाध बोध है मानि ।
जहुं मुख के अंग में नित्य अनित्य बिराजि ॥ (बही ६ ३)

सम्बन्ध १८९९ है। इस ग्रन्थ में रचयिता ने विविध रसों का निरूपण तथा नायिका मेर प्रस्तुत किया है। इसी के अन्तर्गत इसमें उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा संवादी भाव आदि का भी वर्णन मिलता है। यह ग्रन्थ रीति काव्य के शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा में आने वाली अन्तिम रचना है।

रीति शास्त्रीय परम्परा सिंहावलोकन

इस प्रकार से हिन्दी समीक्षा शास्त्र की इस रीति कम्पीन परम्परा का प्रसार सम्बन्ध १७७० दि० से लेकर सम्बन्ध १८९९ तक फैला है। एक स्रष्टा वर्षों से अधिक के इस काल में संस्कृत साहित्य शास्त्र के आधार पर साहित्य के विविध अंगों और तत्वों का सर्वश्रेष्ठ निरूपण हुआ। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर आये हैं इस निरूपण की प्रगति में प्रगति का स्वरूप ही प्रभावित रही परन्तु इसके साथ ही साथ वही वही पर स्वतंत्र साहित्य चिन्तन के संकेत भी मिलते रहे। मूल संस्कृत की परस्पर भिन्न हिन्दी व्याख्याओं से भी इसका जीन आगम मिलता है। इसी प्रकार से संस्कृत साहित्य शास्त्र में प्रचलित विविध सम्प्रदायों के अनुकरण पर ही इन रीति साहित्य शास्त्रियों ने भी रस अलंकार अलंकार आदि की ही प्रचालना स्वीकार करते हुए अपने वृत्तिकोष का प्रस्तुत किया है।

उपरोक्त तथ्य ने अतिरिक्त एक दूसरे वृत्तिकोष की भी व्याप्त में रचना आवश्यक है। संस्कृत साहित्य में काव्य शास्त्रीय चिन्तन की या परम्परा मुनि यरु से लेकर पंडितराज जयप्रकाश तक प्रसिद्ध मिलती है, यह भी हिन्दी रीति साहित्य शास्त्र की परम्परा से कई वर्षों में सम्बन्ध मिलती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य शास्त्र की संस्कृत परम्परा हिन्दी रीति परम्परा के रूप में आने की अनुमति रही क्योंकि दोनों के निर्माण का आधार प्रायः समान सिद्धांत और धर्मियाँ ही रही हैं। इनीलिए संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा का अन्त होने के पूर्व ही हिन्दी रीति परम्परा का आरम्भ हो गया और इस प्रकार से प्राचीन भारत की इस परम्परा को समाप्त होने से बचा दिया गया।

हिन्दी रीति परम्परा का प्रवर्तन और प्रसार संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा के आधार पर अवगत हुआ है, परन्तु इन दोनों में एक मौलिक भेद है। संस्कृत के साहित्य

शास्त्री मूल रूप में काव्य शास्त्रज्ञ थे जबकि हिन्दी रीति शास्त्री प्रभावशाली नहीं थे। अतः इस प्रभावशाली प्रतिक्रिया के कारण यहुना इन दोनों परम्पराओं के विविध भाषायी में सैद्धांतिक मूल वैशिष्ट्य भी विद्यमान पड़ना है। इससे साथ ही साम्य समावासीय भाषाकरण न भी इन शास्त्रज्ञों की मतावधि के निर्धारण में कार्य किया है। अस्तु के भाषायी मूलतः ज्ञान कृति के कारण इस क्षेत्र में कियासीप हुए थे जबकि रीति शास्त्रीय भाषाओं में काव्य शास्त्र की शिक्षा जबका अपने माध्यमशास्त्रों के निर्वेद्यानुस र इस विधा में कार्य किया और टीका धर्मों की भी रचना की। इनके अतिरिक्त रीति काम के साहित्य शास्त्री स्वयं कवि होने के कारण व्यापारिक काव्य रचना में भी प्रवृत्त रहे।

इस युग में लिखे गये हिन्दी रीति साहित्य का वर्गीकरण मुख्यतः चार क्षेत्रों में अन्तर्गत किया जा सकता है। हममें से प्रथम क्षेत्र के अन्तर्गत वे कृतियाँ आती हैं जिनमें रीति शास्त्रियों ने अलंकार विवरण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार की कृतियों में गोपा कृत "अलंकार चन्द्रिका" [सं० १६११ वि०] जसदामनिह हन "भाषामूल्य" [सं० १६९२], मूल्य कृत "अलंकार मूल्य" [सं० १७१०] श्रीगणेश कृत "अलंकार मूल्य" [सं० १७७०], धर्ममूल्य कृत "अलंकार दीप्त" [सं० १८०६] मन्नालाल राम सिंह कृत "अलंकार वर्ण" [सं० १८१२] पद्माकर कृत "पद्माकर" [सं० १८६७] तथा प्रतापसाहि कृत "अलंकार विन्यासमणि" [सं० १८९४] आदि विविध रूप में उल्लेखनीय हैं। द्वितीय क्षेत्र के अन्तर्गत वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें रस शास्त्र का विवेचन मिलता है। इस प्रकार की कृतियों में केशवदास कृत "रसनिबन्ध" [सं० १२४८] तोष कृत "मुनिनिबन्ध" [सं० १६९१] कुलपति कृत "रस रहस्य" [सं० १७२४] श्रीनिधामकृत "रस सागर" [सं० १७२०] गुरुनिबन्ध कृत "रस रत्नाकर" "रस रत्नमाला" तथा "रस बाह्य चन्द्रिका" [सं० १७६० के लगभग] देवान "अवानी बिलास" "रस बिलास" तथा "कुरास बिलास" [सं० १७८३ के लगभग] श्रीगणेश कृत "रस सागर" [सं० १७८०] विजयारीवास कृत "रस सागर" [सं० १७९९] रसमील कृत "रस प्रबोध" [सं० १७९८] उदयनाथ कृत "रस चन्द्रिका" [सं० १८०४] राममिह कृत "रस निवास" मेवाणस कृत "रसार्णव" [सं० १८४०] पद्माकर कृत "रसविमोह" [सं० १८६७] बेनी प्रवीण कृत "अलंकारमूल्य" [सं० १८७७] बरन कृत "रस बस्तोत" [सं० १८८२] तथा आस कृत "रसार्णव" आदि विविध रूप में उल्लेखनीय हैं। तृतीय क्षेत्र के अन्तर्गत वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें भाषा प्रयोग या विधा के विवेचन किया गया है। इस प्रकार की कृतियों में जगदास कृत "अष्टांगमणि" [सं० १२९८] गुरुदास

कृत "साहित्य सङ्गरी" [सं० १६०७] नन्ददास कृत "रस मञ्जरी", चिन्तामणि कृत "शृंगार मञ्जरी", मतिराम कृत "रसराज" और "साहित्यसार", देव कृत "सुखसागर तरंग" तथा "आतिविभास" कुम्हण कृत "नायिका भेद" [सं० १७१२] केदारराम कृत "नायिका भेद" [सं० १७१४] भिखारीदास कृत "शृंगार निर्णय" [सं० १८०७] आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तथा धनुर्य येनी के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनमें काव्य शास्त्र के सामान्य विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस येनी में आने वाली कृतियों में केदारदास कृत "कविप्रिया" [सं० १९१८], चिन्तामणि कृत "कविकुलकल्पतरु" [सं० १७०७] तथा 'काव्य प्रकाश', देव कृत "आव बिसास" और "काव्य रसायन" [अथवा काव्य रसमयन] सूरति मिश्र कृत "काव्य सिद्धांत" दीपति कृत "काव्य सरीज" [सं० १७७७] तथा 'काव्यकल्पद्रुम' [सं० १७८०], सोमनाथ कृत "रसपीप्लव निधि" [सं० १७९४] भिखारीदास कृत "काव्य निर्णय" [सं० १८०१], करन कृत "साहित्य रस" [सं० १८६०] तथा प्रतापसाहि कृत "अप्यार्य कौमुदी" [सं० १८२२] "काव्य बिसास" सं० [१८८२] तथा "काव्य विनोद" [सं० १८९६] आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि हिंदी रीति शास्त्रीय परम्परा में प्रधान रूप से किमाचीतता का परिचय यद्यपि कुछ पताभिर्यों तक ही मिलता है परन्तु इसका प्रसार सुदीर्घ काळ तक है। पूर्ववर्ती संस्कृत साहित्य शास्त्र की परम्परा पर यह आचारित है और इसी से सम्बद्ध है। इससे धर्मों में यह उस परम्परा की अनुपमता की भी सूचक है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि जिस प्रकार से रीति शास्त्रीय परम्परा संस्कृत काव्य शास्त्रीय परम्परा की अनुगायिनी है, उसी प्रकार से आधुनिक हिन्दी साहित्य शास्त्र की परम्परा जिसके विषय में आगे लिखा जायगा रीति शास्त्रीय परम्परा की अगुआई करती है।

अध्याय ५

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा परंपराओं
और
दृष्टिकोण का तुलनात्मक अध्ययन

पारम्पर्य और भारतीय समीक्षा परम्पराएँ

पारम्पर्य समीक्षा साहित्य और प्राचीन भारतीय संस्कृत समीक्षा साहित्य की मूर्तियों और गहन परम्पराओं का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रायः संसार के सभी प्राचीन साहित्यों में समीक्षा साहित्य का विविष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह एक संयोग की बात है कि किन्हीं भाषाओं में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला ऐतिहासिक विवरण प्रामाणिक रूप से उपलब्ध है और किन्हीं में नहीं। यहाँ तक प्राचीन भारतीय संस्कृत समीक्षा साहित्य का सम्बन्ध है उसके विषय में यह निश्चय नहीं किया जा सका है कि पर्याप्त उसका आरम्भ कब हुआ। इसी प्रकार से पारम्पर्य समीक्षा साहित्य के विकास के प्राचीन युग में यद्यपि तिथि आदि की जानकारी उपलब्ध है परन्तु यहाँ भी उसके कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं।

इस स्थिति का स्पष्ट कारण यह है कि किसी भी समय देश में बाहुल्य का विकास समीक्षा से आरम्भ नहीं हुआ। भारतवर्ष में वेदों और संहिताओं के युग में समीक्षा साहित्य या उनके किसी अंग का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार से पारम्पर्य गीत आदि देशों में भी महान् चिन्तकों के आविर्भाव के समय में भी समीक्षा साहित्य के नाम से कोई स्वतंत्र साहित्य निर्माण नहीं हुआ। भारतवर्ष में वेदों आदि में मूल रूप से समीक्षा साहित्य विषयक संकेत मिलते हैं। इसी मूलों का भाष्य परवर्ती युग में विविध भाष्यकारों द्वारा किया गया। यहाँ तक कि संस्कृत साहित्य साहित्य का प्रायः सर्वप्रथम और प्रसिद्ध ग्रन्थ “आद्वयसाहित्य” भी इसी प्रकार का भाष्य कहा जा सकता है। बहुत प्राचीन मूर्तों की मध्य मुद्रि में इसमें विस्तृत व्याख्या की है और उनका पुष्टीकरण किया है।

इसी प्रकार से प्राचीन पारम्पर्य समीक्षा साहित्य भी स्वतंत्र रूप में विविध रूप में मिली है। यहाँ तक उनके अस्तित्व का प्रश्न है, ईसा पूर्व चौथी शताब्दी पूर्व तक उनके संकेत मिलते हैं। अपने स्वतंत्र रूप में यह मूल संकेत समीक्षा का कोई स्वरूप और समय

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा परम्पराएँ

पाश्चात्य समीक्षा साहित्य और प्राचीन भारतीय संस्कृत समीक्षा साहित्य की मुभीर्ष और गहन परम्पराओं का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रायः संसार के सभी प्राचीन साहित्यों में समीक्षा साहित्य का विविष्ट और महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह एक संयोग की बात है कि जिन्ही भाषाओं में इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला ऐतिहासिक विवरण प्रायोगिक रूप से उपलब्ध है और किन्हीं में नहीं। जहाँ तक प्राचीन भारतीय संस्कृत समीक्षा साहित्य का सम्बन्ध है उसके विषय में यह निर्णय नहीं किया जा सका है कि संपादन उलटा आरम्भ कब हुआ। इसी प्रकार में पाश्चात्य समीक्षा साहित्य के विकास के प्राचीन युग में यद्यपि निम्न आदि की जानकारी उपलब्ध है परन्तु जहाँ भी उसके कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं।

इस स्थिति का स्पष्ट कारण यह है कि किसी भी समय देश में शासक वर्ग का विकास समीक्षा से आरम्भ नहीं हुआ। भारतवर्ष में वेदों और संहिताओं के युग में समीक्षा साहित्य या उनके किसी अंग का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार में पाश्चात्य प्रीत आदि देशों में भी महान् विद्वानों के आविर्भाव के समय में भी समीक्षा साहित्य के नाम से कोई स्वतंत्र साहित्य निर्मित नहीं हुआ। भारतवर्ष में वेदों आदि में भूत रूप से समीक्षा साहित्य विषयक संकेत मिलते हैं। इसी मूलों का भाव्य परवर्ती युग में विविध भाष्यकारों द्वारा किया गया। यहाँ तक कि संस्कृत साहित्य साहित्य का प्रायः सर्वप्रथम और प्रचलित ग्रन्थ "आदुष्टासत्र" भी इसी प्रकार का भाष्य कहा जा सकता है। बहुत प्राचीन मूलों की मूल मुनि ने इससे बिलग्न व्याख्या की है और उनका पुष्टीकरण किया है।

इसी प्रकार में प्राचीन पाश्चात्य समीक्षा साहित्य भी स्वतंत्र रूप में विस्तृत नहीं हुआ। यहाँ तक उसके अस्तित्व का प्रश्न है, ईसा ५वीं पीढ़ी एंगल्स पूर्व तक उसके संकेत मिलते हैं। अपने स्वतंत्र रूप में यह मूल संकेत समीक्षा का कोई स्वरूप बोध प्रदान

रूप में नहीं कर सकते क्योंकि इनका मूल रूप समीक्षा का सम्यक मितर्जन नहीं कर सकता है। परवर्ती युगों में विविध दृष्टियों से इसकी भी विस्तृत व्याख्या और स्पष्टीकरण हुआ। सद्यः एक सहस्र वर्षों तक इन सिद्धान्तों और विचारों को जो सर्वमान्यता प्राप्त हुई, वह वही एक ओर इनके असाधारण महत्व की परिचायक है, वहाँ दूसरी ओर इस सत्य का भी बोधन करती है कि भाषी सांस्कृतिक प्रवृत्ति की दृष्टि से इनकी कमता कितनी अधिक थी।

काव्य का प्रयोजन पाश्चात्य तथा भारतीय मत

होमर तथा हेसियड के दृष्टिकोण —

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र में भारतीय साहित्य शास्त्र के प्रायः विपरीत रूप में भरत जैसा कोई पंक्ति आरम्भ में नहीं हुआ। वहाँ पर भूगोल में यूरोप के प्राचीनतम महाकवि होमर का अविर्भाव हुआ, बिना इस के लगभग एक हजार वर्ष पूर्व “ईसियड” और “ओडेसी” नामक दो महाकाव्यों का प्रणयन करके अपरिमित क्याति प्राप्त की। यद्यपि स्वतंत्र रूप से होमर के साहित्य सिद्धान्तों अथवा काव्य विषयक साम्यताओं का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसके महाकाव्यों में निहित सन्देशों के आधार पर इसका अनुमान समाना जा सकता है। होमर के विचारों काव्य का अर्थ ज्ञानम्ब प्रदान करना होना चाहिये। होमर का यह मत जागे माने जाने महान् चिन्तकों द्वारा समर्थित हुआ यद्यपि हेसियड ने होमर के कथन में इतना और जोड़ दिया कि काव्य का प्रयोजन मात्र ज्ञानम्ब प्रदान करना नहीं होना चाहिये बल्कि उसके द्वारा जन कल्याण भी आवश्यक है। होमर और हेसियड द्वारा निर्दिष्ट साहित्य और काव्य सम्बन्धी इन धारणाओं को परवर्ती युग में पर्याप्त साम्यता मिली। यहाँ तक कि प्रायः आधुनिक युग तक ये ही सिद्धान्त स्थानाधिक परिवर्तन के साथ सदैव साम्य होते रहे।

नामन और ब्रह्म के दृष्टिकोण —

यहाँ तक भारतीय साहित्य धारणा का सम्बन्ध है हमारे यहाँ काव्य का प्रयोजन यथा प्राप्ति बताया गया है। श्रेष्ठ काव्य दृष्ट और अवृष्ट दोनों प्रकार के फल देने वाला होता है, यह आचार्य नामन का मत है। नामन के परवर्ती आचार्य ब्रह्म ने भी इसी प्रयोजन को दूसरे छन्दों में इस प्रकार कहा है कि देदीप्यमान और निर्मल रचना

करने वाला कदाचित् नरस काव्य की रचना करते आना तथा अपने नायक का नाम बदल कर देता है। उन्होंने यह भी बताया कि भक्ति काव्य रचने वाले कवि की प्रत्यक्ष कामना अवश्य पूर्ण होती है। इसलिये काव्य रचना एक प्रकार का परोपकार है और परोपकार की सहता बहुत अधिक बढ़ाई गई है।

कुल्लु और मम्मट के मत —

दोनों सज्जनों के उत्तरार्द्ध में कुल्लु न काव्य के प्रयोजन पर विचार करते हुये काव्यरस को उच्च कुलीनों के हृदयों को आनन्दित करने वाला कामल तथा मृदु सीसी में अनिर्वच्य पर्यमिति का मार्ग बनाया है। उनके विचार में काव्य के परिष्कार से पुरुषों को मृगत मीचित्य युक्त व्यवहार तथा केष्टा का मोक्षार्थ प्राप्त हो सकता है। परन्तु व्यासक दृष्टि न काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मम्मट द्वारा विचार किया गया। इस विषय में उनकी धारणा अधिक व्यावहारिक और पथार्थ है। उन्होंने लिखा है कि काव्य का प्रयोजन यश प्राप्ति सम्पत्ति लाभ सामाजिक व्यवहार की सिखा रोग निवारण तात्कालिक आनन्द अनुभव तथा उपदेश देना आदि है। मम्मट की यह धारणा अपने पूर्वशालीन पंडितों की धारणाओं की अपेक्षा अधिक पूर्ण अधिक संतुलित और अधिक व्यावहारिक है। तुलनात्मक दृष्टि से इन सब विचारकों के मतधर्मों का परोक्षण करने पर यह प्रतीत होता है कि मम्मट के पूर्वशालीन विचारक इस विषय में आशुद्ध कहते हैं वह एक प्रकार का आवस वचन है। उसमें काव्य का उद्देश्य पथार्थ की अपेक्षा तात्कालिक दृष्टि से विचारता गया है। परन्तु मम्मट की काव्य का प्रयोजन विषयक धारणा ने इन आशु और अभ्यावहारिकता का अभाव है।

विश्वनाथ का मत —

मम्मट के पाश्चात् योन्हवी सज्जनों के पूर्वार्द्ध में विश्वनाथ न काव्य का प्रयोजन पर विचार किया। उन्होंने इस विषय पर कहा कि काव्य के द्वारा ही अल्प बुद्धि वालों को बिना बिड़ी परिष्कार के धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। "साहित्य दर्पण" में लिखित विश्वनाथ का यह मत काव्य के लोचन की दृष्टि कम कर देता है। काव्य का उद्देश्य वागाल करने वाले प्राचीन साहित्य पंडितों के मनो में काव्य के लिये वर्तमान प्रतिभा और पांडित्य अर्थात् है परन्तु विश्वनाथ ने अल्प बुद्धि वालों के लिये भी काव्य के द्वारा धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की निश्चित निर्दिष्ट करने के उद्देश्य को उद्घोषित किया। कुछ मिलावट, भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के उद्देश्य

समीक्षा के माग और द्वितीय समीक्षा की विधिप्रवृत्तियों का निदर्शन करने वाले उपर्युक्त मत ही विविध हैं। परन्तु काल में संस्कृत काव्य साहित्य की परम्परा से निवृत्त जब द्वितीय काव्यसाहित्य की परम्परा का आरम्भ हुआ तब प्रायः उन्हीं मूल सिद्धांता में मूलानुसारी परिवर्तन किया गया और उन्हें ही ग्रहण कर लिया गया।

पाश्चात्य और भारतीय मनों की तुलना

पाश्चात्य विचारकों ने प्रायः आरम्भ से ही काव्य का उद्गार के सम्बन्ध में मानव्यानुभूति को सर्वमान्य किया। जैसे चलकर इनमें एक बात और जोड़ दी गई और वह यह कि मानव्यानुभूति के साथ ही साथ काव्य का मानव का कल्याण भी करना चाहिये। यह दोनों प्रकार की आस्थाएँ प्राचीन यूनानी विद्वानों द्वारा प्रचलित की गईं। होमर और हिजियास के पद्यमय यूनानी विद्वानों द्वारा प्रचलित की गईं।

अरस्तू ने पुनः इसी प्रश्न को उठाया। अपने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि काव्य के प्रयोजनों में सर्व प्रमुख यही है कि वह मनुष्य को मानव्य प्रदान करे। उसने इस मानव्य प्रदान करने की विधि बताते हुये यह कहा है कि काव्य ऐसा तभी कर सकता है जब कि वह प्रकृति का अनुकरण करे। अरस्तू की इस बूझटी बात का सम्बन्ध उसके अनुकरण रूप में मानव्यानुभूति का सम्बन्ध है अरस्तू ने इसमें एक बात और जोड़ी है और वह यह कि काव्य को मानव्य सृष्टि के अतिरिक्त पृथक् रूप में उपवेद्यात्मक भी होना चाहिये। इस सम्बन्ध में वह बात ध्यान में रखने की है कि यद्यपि अरस्तू ने काव्य के इन दो उद्देश्यों को पृथक्-पृथक् रूप में ही मान्य किया है परन्तु कुछ रूप में उसने यह भी स्पष्ट किया है कि इन दोनों उद्देश्यों में अवयव एकतामयता होते हुए भी प्रथम की अपेक्षा द्वितीय की विधिप्रवृत्ता प्रथम की भाँति है। यहाँ पर यह उल्लेख करना उचित होगा कि उपवेद्यात्मकता से अरस्तू का आशय नैतिक आशय से है। उसके विचार से भौतिक काव्य धारण का निरूपण करता है और उसकी आवश्यकता भी इसी कारण से है, यद्यपि उससे इसकी पूर्ति की भी अपेक्षा की जाती है।

भारतीय मत की विधिप्रवृत्ता और महत्त्व —

काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में उपर्युक्त मत रखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत के सभी विचारकों द्वारा इस प्रश्न का विस्तारण नहीं किया गया है। यहाँ तक

के प्रतिनिधि चित्रकों का सम्मिश्रण है। उनमें से प्रायः अधिकतर ने साहित्य के उन्नत पक्षों का निरूपण करने की जगह अधिक ज्ञान दिया है। इसका अतिरिक्त एतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर यह भी ज्ञात हुआ है कि संस्कृत के काव्यशास्त्री प्रायः काव्य या काव्य की आत्मा जैसे प्रश्नों पर भी विचार क्रियान्वित और बाद विचार करते हैं। संस्कृत साहित्य शास्त्र में एक अनूठा आदि जो विविध सम्प्रदाय हैं वे इस कथन में हैं कि इन भाषाओं में प्रायः अधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य पदा की जगह ही अपना केन्द्रित रखा। काव्य के अवयवों को उद्घाटन करके महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं रखा कि उनके विचार से काव्य या नाटक एक शास्त्रावयव है और इसमें सृष्टि के अन्तर्गत न इसका उद्देश्य विचार इसके लक्ष्य विनियोजन की अवस्था अप्रामाणिक है। काव्य शास्त्रियों ने निम्नलिखित उद्देश्य ऊपर दिया गया है। अतएव इस प्रश्न पर विचार किया है। उन्होंने इसके जो उद्देश्य बताए हैं वे मुख्यतः दश अर्थों में विवक्षित करते हैं। लौकिक अमरता के विचार से सबसे बड़ा प्रयोजन है। काव्य रचना के माध्यम से प्राप्ति इसी का उद्देश्य है जिसका सम्बन्ध लौकिक मूल की सुखमयता में है।

नाटक, महाकाव्य और भाषण कला दृष्टिगत प्रमुखता

व्याख्यान —

भारतीय और पारश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्पराओं के ऐतिहासिक अध्ययन से हमारे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य की अवगति होगी है और यह यह है कि प्राचीन भारत के विभिन्न संस्कृत काव्य शास्त्रियों ने बाद में के विविध अर्थों में नाटक और महाकाव्य को प्रशंसना की है। काव्य के मुख्यतः तथा अन्य कर्तों का उद्देश्य उन्होंने बाद में दिया है। हमारे विपरीत पारश्चात्य साहित्य विचारकों ने प्राचीन काल में इन दोनों विधियों पर तो विचार दिया था ही। अतएव हमारे सामने ही साथ साथ काव्य शास्त्र को भी उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया। यही कारण है कि अतएव काव्य को प्राचीन पारश्चात्य विचारकों में एक कला और शास्त्र के रूप में प्रमुख मान कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या की। भाषण शास्त्र के विषय में पश्चिम के विचारकों में सर्व प्रथम प्रथम रचना देमोसतास द्वितीय में की है। इनके अतिरिक्त अरस्तू ने भाषण शास्त्र पर विचार करने हुए उसके उद्देश्य और लक्ष्यों की व्याख्या की। उनमें से एक अनुसार भाषण शास्त्र का उद्देश्य कला के अर्थ में नीति को प्रभावित करना है। उनमें भाषण की भाषा और शैली पर भी विचार दिया।

सिसरो का दृष्टिकोण

यूनान में साहित्य शास्त्रियों की जो परम्परा रही उसमें भाषण शास्त्र विषयक प्रायः अप्रयुक्त विचार ही इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से आये हैं। इन विचारकों ने साहित्य के विभिन्न रूपों की व्याख्या के साथ ही साथ भाषण शास्त्र को भी समान रूप से महत्व प्रदान करन हुए उसका विश्लेषण किया। यूनान के पश्चात् जब साहित्य और कला का नेत्र रोम पहुँच गया तब लैटिन साहित्य चिन्तन की परम्परा प्रवर्धित हुई। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका आरम्भ लयमय दूसरी शताब्दी में हुआ। रोमीय साहित्य शास्त्रियों में सर्वप्रथम सिसरो हैं जिन्होंने भाषण शास्त्र के क्षेत्र को मुख्य रूप से स्वीकार किया। वह भाषण कला के प्रचार और उपयोगिता का इतना बड़ा समर्थक था कि उसने स्पष्ट रूप से भाषण कला और साहित्य में भाषण कला को प्राथमिक महत्व प्रदान किया। उसने सबसे पहले इस बात की घोषणा की कि साहित्य और काव्य का महत्व केवल उतना ही है, जितना कि वे भाषण कला के लिये सहायक और लाभप्रद हों। तुलनात्मक दृष्टिकोण से वह भाषण कला को रोम की युगीन परिस्थिति में देखते हुए भी अधिक उपयोगी मानता था।

यूनान के अरस्तू और आइसाक्रेटीज आदि क भाषण कला विषयक विद्वानों ने सबसे पहले सिसरो ने ही परिवर्तन किया। भाषण कला को उतन एक युगीन आवश्यकता मान कर उसे युग जीवन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उसके मत से भाषण कला मनुष्य की मनुष्यता का परिचय देने के लिये एक माध्यम का कार्य करती है। इसका अतिरिक्त भाषण शास्त्र मानवीय सम्बन्ध का धोतन और मानवीय सम्बन्ध का प्रचार भी करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सिसरो रोमीय विचारधारा पर यूनानी प्रभाव का विरोध करता था और रोमीय विचारधाराओं के स्वतंत्र विकास की सम्भावनाओं की खोज अधिक आवश्यक मानता था। सिसरो के बाद रोम में जो किम्वदक हुए उन्होंने सिसरो से अधिक आवश्यक मानता था। सिसरो ने यूनानी उपसम्प्रदायों के माध्यम से ही यानी मार्स का निर्वर्णन सम्भव मानते थे। इसके अतिरिक्त बुकि ने भाषण कला की तुलना में साहित्य और काव्य को उच्च मानने से इसलिये उन्होंने भाषण शास्त्र पर विशेष रूप से विचार नहीं किया और इस सम्बन्ध में प्रायः उपर्युक्त मत ही रोम में मान्य रहा।

विस्तार का दृष्टिकोण :—

जैसे-जैसे पश्चिमी शताब्दी के लयमय जब यूरोप में साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ

तब इन बड़े विचारधाराओं को भारी विकास की दिशाएँ मिलीं। जहाँ तक भाषण शास्त्र का सम्बन्ध है, सर टामस बिस्सन ने इस पुनर्जागरण युग में सब से पहले सोमह्वी घटाओ में इस पर विचार किया। बिस्सन ने भाषण कला के उद्देश्य की अपेक्षा उसके तत्त्वों की व्याख्या की ओर अधिक ध्यान दिया। इस प्रकार से भगमण मध्य युग तक इस विषय पर स्वतंत्र शास्त्र के रूप में विचार होता रहा। इसके बाद यूनानी रोमीय तथा धर्मजो भाषण शास्त्रियों के भाषण विषयक सिद्धान्तों का संयोजन और मूल्यांकन किया गया। परन्तु उस समय में साहित्य या काव्य से भाषण कला का कोई प्रत्यक्ष या अन्तर्सम्बन्ध नहीं रह गया और इसके ऊपर जो भी विचार हुआ वह साहित्य या काव्य से अलग स्वतंत्र रूप में।

नाटक सम्बन्धी धारणाएँ

प्राचीन मत भरत मुनि —

प्राचीन भारतीय साहित्य शास्त्र में भरत मुनि ने साहित्यिक रूपों में सर्व प्रथम नाटक की व्याख्या की है। भरत के बाद धामद ने नाटकों के स्वरूप का विमर्शण किया और यह बतलाया है कि अभिनेता और अभिनय योग्य वर्णन ही उसकी विशेषता होती चाहिए। इसी घटाओ के उत्तरार्द्ध में धर्मज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "रस रूपक" की रचना की। इसमें उन्होंने नाटक के अंग वर्णों की विस्तृत व्याख्या की है। धर्मज ने नाटक प्रकरण भाव प्रहसन द्विज व्यायोग लय बकार, धीरी शक तथा ईहा मृग नाम के चार वेद दनाए हैं, फिर उनकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रकार से भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने साहित्य शास्त्र के विकास के प्राचीनतम युग से ही नाटक के स्वरूप विमर्शण के मन्दिर प्रशस्त किये हैं। परन्तु यह एक अन्तर्दानीय तथ्य है कि संस्कृत भाषा में मिलना समूह नाटक साहित्य उपलब्ध है, उनको देखने हुए यह कहा जा सकता है कि संस्कृत में क्रियात्मक साहित्यशास्त्र ने नाटक के माध्यम को अधिक अपनाया और साहित्य शास्त्रियों ने इसे उत्तम अधिक महत्व वा नहीं माना जिसका महाकाव्य चाहिए। इसीसे उनके ग्रन्थों में नाटक के स्वरूप विमर्श की विद्या में प्रयत्न तो मिलते हैं परन्तु इस साहित्य माध्यम को उन्होंने प्रशंसना नहीं की।

पौटो का मत :—

प्राचीन युरोपीय साहित्य शास्त्रियों में यह सर्वप्रथम विचारक पौटो ही था जिसने नाटक की व्याख्या की। परन्तु उन्हें सामने इस धारणा का बर्दाश्त करने के सिरे

पर्याप्त सामग्री और आधार थे। इसका कारण यह था कि उसके समय तक यूनानी साहित्य के क्षेत्र में नाटक का पर्याप्त विकास हो चुका था। अनेक नाटककारों की रचनाएँ, क्लासिकल और ऐतिहासिक महत्त्व की सिद्ध हो चुकी थीं। रंगमंच के विकास की सम्भावनाएँ विद्यमान थीं और समाज में नाट्य अभिनय और नाट्य दर्शन का प्रचार था। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह थी कि व्यावहारिक क्षेत्रों में छद्म नाटकों और कुम्भचूर्ण जन मनोवृत्ति का परिचय मिल रहा था। इस बिडम्बना को देख कर प्लेटो ने दृढ़ता पूर्वक यह घोषणा की कि जनता का बहुमत साहित्य की खेपट्टा की कसीदी कदापि नहीं हो सकता। प्लेटो नाटक का विरोधी नहीं था परन्तु समकालीन नाटक प्रवृत्तियों को देखते हुए उसे जनता के विरोध और ईशान्तिक खंडन करना पड़ा। इसका कारण यह है कि वह नाटक को काव्य के तीन प्रमुख रूपों में एक मानता था। उसका यह दृढ़ विचार था कि नाटक में सिद्ध और सुसंस्कृत जीवन की छाना होनी चाहिए।

प्लेटो के बाद यूरीपार्सीडीज ने सब से पहले यह सिद्धास्त निर्दिष्ट किया कि नाटक का कथानक विविध क्षेत्रीय समस्याओं से युक्त होना चाहिये। यूरीपार्सीडीज के बाद अरस्तू ने नाटक या नाटक के स्वल्प के विषय में विचार करके यह बताया कि नाटक या बुखान्तक को कोई गम्भीर जीवन बिज से सम्बन्धित कार्य का अनुकरण करना चाहिये और इसके साथ ही साथ उसमें सवास्तता का गुण भी अनिवार्य रूप से समाविष्ट होना चाहिये। तुलनात्मक दृष्टिकोण से अरस्तू ने बुखान्तक को कई अर्थों में महाकाव्य का समान रूप माना। नाटक को इस प्रकार से काव्य का एक प्रमुख भेद मानते हुए उसने वर्गीकृत किया। बुखान्तक और बुखान्तक के रूप में नाटक के दो भेद किये। काव्य की भाँति ही उसने नाटक को भी अनुकरण का एक माध्यम माना। उसने यह भी कहा कि नाटक और महाकाव्य में बहुत कम विभिन्नता है। उनका प्रमुख अंतर यह है कि नाटक और महाकाव्यों के कथो में गिनता होती है। परन्तु उसने नाटक का स्थान महाकाव्य की अपेक्षा हीनतर प्रतिपादित किया। बुखान्तक की अपेक्षा उसने बुखान्तक नाटक की विस्तार से व्याख्या की। बुखान्तक नाटक की परिभाषा करते हुए उसने उसे उस कार्य की अनुकृति माना जो कार्य व्यापार के रूप में होती है तथा जो कल्याण के लिए अनुकृति का विरोध करती है।

होरेस के विचार —

यूनानी चिन्तकों में प्रायः उपर्युक्त विचार की नाटक के प्रयोजन और स्वल्प

के विषय में मान्यता रही। अस्तु के बाद वे प्रायः सभी विचारकों ने भूनाधिक रूप से मौलिकता का परिचय देते हुए इन्हीं का अनुमोदन किया। इस प्रकार ये इन सिद्धान्तों ने सभी समीक्षकों का व्यापक रूप से प्रभावित किया। यहाँ तक कि यूनानी चिन्तन की परम्परा का अन्त होम पर जब रोमीय परम्परा आरम्भ हुई, तब भी यही विचार प्रमुख रूप से मान्य हुए। होरेस ने नाटक के एक प्रमुख रूप प्रहसन को व्यंग्य काव्य से पृथक् किया और इन दोनों की स्वर्ण रूप से व्याख्या की। प्रायः यूनानी सिद्धान्तों के अनुपमन पर ही उसने नाटक के तत्त्वों को भी स्वीकार कर दिया।

प्राचीन यूनानी नियमों का समर्थन करते हुए उसने व्यावहारिकता पर अधिक जोर दिया। इसलिये उसने विषय पात्र और दृष्टी की पारस्परिक अनुकूलता पर सब से अधिक बल दिया। नाटक में अंक योजना अर्थात् मध्य पात्रना वृत्तों में पात्र प्रवेश और पार्श्वों के वास्तविक तथा अतिरिक्त विषय से स्पष्ट निवेदन करते हुए उसने नाटक में क्रियाशीलता को आवश्यक बताया। नाटक में नीतियों के समावेश का भी उसने समर्थन दिया। नाटक के प्रमोदन और आदर्श के सम्बन्ध में होरेस का यह मत है कि नाटक में नीति तथा कर्म विषयक चित्रण हास्य तथा कथन की अपेक्षा अधिक सम्मत है। संक्षेप में, उपर्युक्त विचार ही रोमीय चिन्तन की परम्परा द्वारा निर्दिष्ट नाट्य आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बैन जानसन का दृष्टिकोण —

यूनानी और रोमीय नाट्य सिद्धान्तों का प्रभाव मध्य युगीन अंग्रेजी विचारकों पर भी पड़ा। बैन जानसन ने इस पर विस्तार से विचार किया। वह स्वयं भी एक नाटककार था। इसलिए उसका सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक नाट्य विवेचन अधिक यथार्थ है। बैन जानसन नाटक में नाटकीयता और भावनात्मकता के तत्त्वों का समावेश का विरोधी था। वैचारिक दृष्टिकोण से वह आदर्श और परम्परा का कट्टर समर्थक था। लेकिन यहाँ तक नाटक का सम्बन्ध है वह इन प्रवृत्तियों को स्वागत समझता था।

उसने ट्रेजेडी और कॉमेडी दोनों की विस्तार से व्याख्या की। इस विषय में उसका सबसे महत्वपूर्ण मत यह है कि ट्रेजेडी और कॉमेडी में कोई उपकरणगत भेद नहीं है तथा कोई लक्ष्यगत भिन्नता भी नहीं है। इन दोनों का उद्देश्य समान रूप से आनन्दानुभूति और उपचारमयता है। ट्रेजेडी मरने का या दुःखों द्वारा वैधियता की विद्या देती है परन्तु कॉमेडी मूर्खता को उपशोध्य वह कर मीठक होने की प्रेरणा देती

है। ट्रेजेडी का सम्बन्ध उन्मत्तता और असाधारणता से होता है परन्तु कामेडी सामान्य अनुभवों पर आधारित रहती है। इस भव के अतिरिक्त ट्रेजेडी का वास्तव आधार भी होता है जो कामेडी का नहीं होता। येन जानसन के नाटक सम्बन्धी इन विचारों को देखने पर इस बात का पता चलता है कि वह नाटक, काव्य और साहित्य के उद्देश्यों के सम्बन्ध में यूनानी वैचारिक सिद्धियों से सहमत रहता था और इनमें उद्देश्यमय विमर्श नहीं मानता था।

डाक्टर जानसन का मत—

इसी प्रकार से बंगाली समीक्षकों ने डाक्टर जानसन न बतारखी सताखी में नाटक के स्वरूप और रचना पर विचार किया। जानसन ने नाटक रचना के क्षेत्र में जिन सिद्धान्तों का निबर्णन किया है उनमें कुछ बहुत महत्वपूर्ण हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें भिन्न नाटक का स्वरूप निबर्णन किया गया है। वे नाटक इस प्रकार के नाटक हैं, जिनमें बुखान्त और सुखान्त स्पष्ट और पृथक् रूप से न होकर मिश्रित बंट हो। डाक्टर जानसन शास्त्रीय अनुसमन का समर्थक तो था परन्तु वह उनके अन्धा अनुकरण करने का विरोधी था। इसीसे साहित्य सिद्धान्तों के क्षेत्र में डाक्टर जानसन ने स्पष्ट रूप से यह निर्दिष्ट किया है कि प्राचीन सिद्धान्त का न तो पूर्ण अनुकरण ही करना चाहिए और न पूर्ण बहिष्कार। उसके विपरीत उनका पुनर्गोचर करके यूनानी आवश्यकताओं के अनुसार उनका परिष्कार करना चाहिए। अपने परिष्कृत रूप में ही के किसी नए युग में शास्य हो सकते हैं।

अनुकरण सिद्धान्त और रस साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

अनुकरण : काव्य की मूल स्रोत —

पारचाय विचारकों में अरस्तू ने काव्य की मूल स्रोत अनुकरण का माना है। उसकी व्याख्या से स्पष्ट है कि वह काव्य की आत्मा के रूप में भी उसे प्रतिष्ठित करता है। अरस्तू ने अनुकरण के ही आधार पर कला के दो भेद किये हैं, जिनमें से प्रथम के अन्तर्गत समस्त कलाओं तथा द्वितीय के अन्तर्गत काव्य आदि कलाओं को रखा है। अरस्तू ने काव्य नाटक तथा संगीत को अनुकरण के विभिन्न प्रकार माना है और यह निर्दिष्ट किया है कि इनमें विषयमय तथा अभिव्यक्तिमय पारस्परिक विमर्शार्थ विद्यमान हैं।

रस काय्य की आत्मा—

संस्कृत साहित्य मात्र म रस के सर्वप्रथम व्याख्याता और माय्य भाषार्थ भरत मुनि का समय दूसरी घाटखी के जनन से स्वीकार किया जाता है। माने "नाट्यशास्त्र" माय्यम से भरत प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र के सब प्रमुख प्रतिनिधि पंडित ठहरने हैं। भरत कृति नाटक में रस को सबसे अधिक महत्व देते थे इसलिये यह उनका हाथ प्रशंसित सम्प्रदाय कहा गया। भरत ने रस की शास्त्रीय व्याख्या की। रस का महत्ता का पाश्चात्यपूर्ण टीली म द्वि प दन करते हुए उन्होंने रसादृष्टि का मुख्य विमर्षण किया। रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने दृष्टापूर्वक यह सिद्धान्त निर्दिष्ट किया कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के मेलों से रस की निष्पत्ति होती है। भरत का रस का वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक रूप में माय्य हुआ।

रस का वाक्य की आत्मा मानने हुए मुनि भरत ने रस की आ असाधारण रूप से महत्वपूर्ण माय्यता निश्चयी है उसका आगद यह नहीं है कि उन्होंने नाटक के अर्थ अंगों की सर्वथा उपेक्षा की है। अन्तुन रस के शास्त्रीय विरलपय के साथ ही साथ उन्होंने नाटक के अग्रधान या सहायक अंगों के रूप में अर्थकार आदि का भी विवेचन किया है। यही नहीं उपमा रूपक हीरक और ममक, इन चार मुख्य अर्थकारों के भी नाटक में स्थान और समावेश का निर्दिष्ट करते हुए उन्होंने इनकी सादृश्य व्याख्या की है। इसी प्रकार से गूढार्थ अर्थात्तर, अर्थहीन मित्रार्थ एवम् अर्थमुत्पत्ति, व्यापदेश, विषम विमर्ष तथा सम्पृष्ट आदि इन काय्य दोष और दोष प्रमाद मपना, समाधि, मोक्ष, पन्, सौदृकार्य, अर्थ व्यक्ति, उदाहरण तथा कानि आदि इन काय्य गुणों का भी वर्णन किया है और उनकी सम्पन्न व्याख्या की है।

महापाय्य और नाटक में रस का प्रधानता

भरत का मत—

प्राचीन संस्कृत साहित्य म भरत मुनि ने नाटक म रस की प्रधानता निश्चयी की है। रस का विभावन करते हुए मानने से किया है जो कि श्रुतार्थ, हास्य, वरद, रोड हीर, बीमल तथा अद्भुत है। यहाँ रस भाग्य में नहीं माना है। इनका प्रमुख कारण यह है कि रस विषयव्यवस्था नाटक का मूल और प्रधान टाक मानते हुए उसे

नाट्य रस कहा। भरत का रस विवेचन, संस्कृत साहित्य शास्त्र का इस क्षेत्र में मूल साधन है। भरत के बाद आनन्दवर्द्धन ने रस और प्रबन्ध काव्य में उत्तरी अभिव्यक्ति पर विचार किया है। उनके मत से महाकाव्य में रस की ही प्रधानता होती है। इस लिए उनमें रस के अनुसार ही औचित्य होगा चाहिए। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि वही महाकाव्य रस प्रधान होगा वह इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य से श्रेष्ठ होगा। महाकाव्य के समान ही नाटक में भी रस योजना पर मुख्यता बनी चाहिए। मद्य रचना में भी रस औचित्य ही सर्वत्र सचयता का नियामक होता है यद्यपि उसमें कोई छन्द नियम नहीं होता।

आनन्दवर्द्धन का बुद्धिकोण—

आनन्दवर्द्धन के मत के अनुसार रस औचित्य का आशय करने वाली रचना मद्य और मद्य में सर्वत्र सोभा पायी है यद्यपि विषय के अनुसार उसमें थोड़ा बहुत भेद अवश्य हो जाता है। आनन्दवर्द्धन ने रस के विरोधी तत्वों का भी उल्लेख किया है। उनके मत के अनुसार कवि को अपने काव्य में इन रस विरोधी तत्वों का समाविष्ट होना से बचना चाहिए।

इसके अतिरिक्त वही रस के विषय में उन्होंने सिखा है कि काव्य में प्रधान रस का अन्य रसों के साथ समावेश होना स्वाधीन रूप से प्रतीय होने वाली अविच्छेद का विचारक नहीं होता है। जिस प्रकार से किसी प्रबन्ध में व्यापक एक प्रधान काय ही रखा जाता है, उसी प्रकार से रस की विधि में विरोध नहीं होता। अन्य रस के प्रधान होने पर उसके विरोधी या अविरोधी किसी रस का परिपोषण नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसमें भी उनका अवरोध हो सकता है। आनन्दवर्द्धन ने भरत मुनि की ही भाँति रसों में भृङ्गार की प्रधानता मान्य की है। उनका मतव्य है कि सर्व कवि को इसी रस का वर्धन करते समय अवश्य सावधान रहना चाहिए क्योंकि उसमें प्रमाद तुरन्त प्रकट हो जाता है सिध्दों को काव्य प्रवृत्त करने के लिए अथवा काव्य की सीमा के लिए यदि इसके विरोधी रसों से इसके धर्मों का स्पर्श हो तो वह दुषित नहीं होता।

अमिनबपुत्र का मतः—

वसवी व्याख्या की शताब्दी में अमिनबपुत्र ने रस भिन्नता के सम्बन्ध में भरत सूत्र की व्याख्या की। ऐसा करते समय उन्होंने कुछ अन्य विद्वानों द्वारा की गई व्याख्याओं से असहमति प्रकट की। रस भिन्नता के सम्बन्ध में उन्होंने विस्तार से अपने मत का

प्रसारित किया है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त के विचार सत्य की उत्पत्ति नामक सहाजी है। उनका विचार है कि भाषा वाचक के अर्थ पर विचार करने में यह प्रयोग होगा कि उसकी उत्पत्ति क्यों से गहरी होती वरन् उचित प्रकार से सम्बन्ध हूबहूब वचनों का विविध प्रकार के अभिनयों द्वारा मान्यता करना ही मान्य कहा जाता है।

अभिनवगुप्त ने मान्य सत्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि संसार में सभी अर्थ तथा काम ही अर्थ मात्र भी एक प्रकार का पुरुषार्थ है। जिस प्रकार वे विविध विभिन्न वृत्तियों से उत्पन्न होते हैं और आस्वाद्य को प्राप्त करने के लिए श्रम और त्याग का प्रयत्न करती हैं उसी प्रकार वे मोक्ष नामक पुरुषार्थ के वाचक विभिन्न वृत्तियों की वस्तु को प्राप्त करती हैं और इस प्रकार की वृत्तियों ही वास्तव में मान्यता प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में इसे निर्वोद कहा जाता है। निर्वोद एवं ज्ञान के प्रति उपमायी होना है और तब ज्ञान ही मोक्ष मान्यता है।

धर्मग्रन्थ का मतः—

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्मग्रन्थ में एक नए रूप के लिये आचारभूत सत्य के रूप में मान्य किया गया जिसका लक्षण बताते हुए उन्होंने लिखा है कि स्वाधी भाव में विभाव अनुभाव सात्विक भाव तथा व्यभिचारी भाव का दाग होने पर सत्य का आविर्भाव होता है। सत्य के आस्वाद्य और उसके प्राप्त के विषय में धर्मग्रन्थ का मत है कि स्वाधी भाव स्वाध्याय के कारण सत्य बनता है और वह पृथिवी में ही विद्यमान रहता है। इसीलिए धर्मग्रन्थ ने वाच्य को पृथिवी परक माना है और सत्य को धर्मग्रन्थों। उनका यह भी मत है कि वाच्य के अर्थ में अर्थ में वाच्य आस्वाद्य वस्तु में ही होता है। धर्मग्रन्थ ने स्वाध्याय के उद्बुध होने की प्रक्रिया का स्पष्ट करते हुए बताया है कि स्वाध्याय के समर्थन में आचार्य रूप में उत्पन्न होता है।

विकास विस्तार, भाव और विस्तार नामक मत की वारं अवस्थाओं में अनुसार ही उन्होंने सत्य के भी अर्थ दिए हैं जो कि श्रम और शीघ्रता और शीघ्रता और शीघ्रता के अनुसार इनमें ही पुरुष पुरुष रूप से हास्य अनुभव तथा और वरस की उत्पत्ति हुई है। मान्य सत्य का धर्मग्रन्थ ने अभिनेता नहीं माना है। इस कारण कथक में उसे स्थापित नहीं किया है। वाच्य वस्तु भाव में उद्बुध उद्बुध निश्चय नहीं किया है। वाच्य में उस अर्थों बताते हुए उन्होंने उस अभिनेता तथा सत्य का प्रदर्शन

माना है और उसका स्वरूप मोढ़ बताया है । भास्य उस में भुल दुस, पिम्ता, ड्रेप राम इन्द्रा आदि का सम्मान और सम्मान की प्रधानता रहती है । अन्त में मनजय ने कहा है कि चन्द्र आदि विभावो निबेध आदि सचारी भाषा तथा रोमांच आदि अनुभावों से वा स्थायी भाव भावित होता है उम हो उस कहते है ।

प्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भोज ने उस योजना पर विचार किया । उस विचार से उस योजना की चौबीस विस्तृतियाँ होती जिनके स्वरूप ज्ञान से कवि दाम्य का रचना करने में समर्थ होता है । इन्हें ही भोज ने रसोक्तियाँ कहा है । भास के अनुसार ये रसोक्तियाँ भाव, लय, अनुबंध निष्पत्ति पुष्टि सवर रहस्य आभास सम क्षेत्र विशेष परिशेष, विप्रसन्न सम्मोह, चेष्टायेँ, परिष्टि, निश्चित प्रकीर्ण, प्रेम प्रेम पुष्टि, नायिका नायक युग वाक आदि प्रेमभक्ति तथा नायककार सृष्टि के प्रकार हैं ।

मम्मट का दृष्टिकोण—

इसी शताब्दी के उत्तरार्ध में मम्मट ने उस निष्पत्ति पर अपने विचार प्रकट किए । उन्होंने उस उस स्थायी भाव को कहा जिसका प्रतिपादन विविध विभावों तथा व्यभिचारी भावों से व्यंग्यमा नृत्ति के द्वारा होता है । मम्मट ने यह स्वीकार किया है कि स्वादोत्पत्ति के सम्बन्ध में उस की उत्पत्ति का कचन ठीक है । उन्होंने उस पराई का ग्रहण करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक नहीं माना है, क्योंकि उसमें विभावों आदि के सम्बन्ध की प्रधानता है परन्तु उन्होंने उसे सविकल्पक भी मही माना है क्योंकि आत्मा वन से उसका प्रचुर जलौकिक आनन्द मुक्त होता भी अनुभव सिद्ध है ।

इस प्रकार से उन्होंने उसे निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों जानों से मिला माना है परन्तु वह इनसे त्रिल होकर भी उनके बीच को एक साथ रखता है । इससे उस का ज्ञान उसके विरास को न प्रकट करके उसकी जलौकिकता को ही प्रकट करता है । इस प्रकार से मम्मट ने उस निष्पत्ति के विषय में अभिनवगुप्त के मत का ही समर्थन करके विस्तार से उसका विश्लेषण किया है । मम्मट के परवर्ती जिन संस्कृत साहित्य शास्त्रियों ने उस की व्याख्या की है उनमें से पंडितराज जयमाल का नाम विशेष रूप में बल्लेखनीय है । उन्होंने ध्वनि काव्य के पाँच श्रेय करके उस ध्वनि की सर्व प्रमुख मान कर उसकी आशय उस का विस्तार से वर्णन किया है ।

रस का मूलक—

यही एक रस विज्ञान के प्रवर्तन और प्रतिपादन का सम्बन्ध है प्राचीन संस्कृत

मासौचना द्वितीय है। इसका कारण यह है कि भरत मुनि से लेकर संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परा में आने वाले प्रसिद्ध शास्त्रियों तक प्रायः सभी ने रस के महत्व को कुछ मनुष्य के साथ स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत समीक्षा विद्वान् कथ में ही अधिक दृष्ट रही है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से संस्कृत के किमात्मक साहित्य में भी सम्यक्कार को ही मुख्य रूप से समाविष्ट किया गया है। इसलिये अव्यंकार आदि के विवेचन की ओर संस्कृत साहित्य शास्त्रियों ने अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया। कुछ पिछाकर, ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन साहित्य पंडितों ने साहित्य को प्रत्यक्ष जीवन से सम्बद्ध करने देने की चेष्टा बहुत कम की और उसकी प्रेरणा स्वान्त मुलायम और फल, यथा धनवा किसी सीमा तक कम प्राप्त मान कर ही अपने कर्तव्य की इति समझ की और सन्तुष्ट भी प्राप्त किया।

रस विषयक दृष्टिकोण की तुलना

यदि हम उपर्युक्त भारतीय साहित्य विषयक मान्यताओं के सर्वम में पाश्चात्य विचारकों के विद्वान्ताओं की परख करते हैं तब हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि पाश्चात्य समीक्षा प्राचीन काव्य से ही संस्कृत समीक्षा के विपरीत व्यावहारिक आब भूमि पर आधारित रही है। परन्तु इसके अतिरिक्त दोनों में जो एक और मौलिक भेद दिखाई देता है, वह यह है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य विद्वान् प्रत्यक्षतः वाङ्मय की विभिन्न विधाओं से सम्बन्ध रखते हैं जब कि पाश्चात्य समीक्षा विद्वान् साहित्य से कम सम्बन्धित हैं, अथवा कलाओं और शास्त्रों में अधिक। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन इस कथन की ओर ही दृष्ट करता है। वहाँ तक रस के विवेचन का सम्बन्ध है यह स्पष्ट है कि वह प्राचीन भारतीय काव्य विद्वान्ताओं के विचार का आधार रहा है, परन्तु पाश्चात्य विचारकों के मुताबिक रस के सर्वम में साहित्यिक विद्वान्ताओं का निवेदन कभी नहीं किया। यह अवश्य है कि कुछ पाश्चात्य साहित्य समीक्षकों ने रस के महत्व को अवश्य स्वीकार किया। ऐसे लोगों में जीव आदि का नाम बिन्दु रस से उल्लेखनीय है।

काव्य भेदों का निरूपण भारतीय और पाश्चात्य मत

काव्य के विधा—

भारतीय और पाश्चात्य वाङ्मयशास्त्र की परम्पराओं में निम्न विषयों पर विशेष

रूप से साहित्यकारों ने विचार किया है, उनमें से एक काव्य भेदों का निरूपण है। वहाँ तक संस्कृत साहित्य शास्त्र के प्रवर्तक मुनि भरत का सम्बन्ध है उन्होंने अपने रस सिद्धान्त की व्याख्या करते समय काव्य के भेदों पर अधिक विचार नहीं किया। क्योंकि उनके विचार से रस का काव्य या नाटक में समान रूप से प्रवर्तमान है। भरत के परवर्ती नामह ने सबसे पहले संस्कृत में काव्य के भेद बताये। पहले उन्होंने वेदादिग्रन्थ का निरूपण कलाभित तथा शास्त्राभित और कल्पित वस्तु का निरूपण कलाभि त तथा शास्त्राभित तथा फिर महाकाव्य, नाटक आख्यायिका कथा तथा मुक्तक आदि भेद किये हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् महाकाव्य का स्वरूप निरूपण करते हुये उन्होंने बताया है कि महाकाव्य का स्वरूप निरूपण सर्गबद्ध और महान् होता है। उसमें सुन्दर छन्द, सुन्दर अर्थ असंकार तथा सुन्दर वस्तु होनी चाहिये। उसमें पाँच सम्बन्धों होनी चाहिये जो कि यंत्र, दूत प्रमाण युद्ध और नायक सम्बन्ध हैं। वह स्पष्ट और उत्कर्षशील होना चाहिये। लोक स्वभाव के वर्णन तथा विविध रस निरूपण के साथ उसमें धर्म आदि बर्णों का वर्णन होना चाहिये। उसमें पहले नायक का उत्कर्ष दिखाकर उसका बच नहीं करना चाहिये। उसमें यदि नायक का उत्कर्ष किसी कारण से न दिखाना हो उसका आश्रयण तथा स्तुति भी निरर्थक है।

बंदी का वर्गीकरण —

सातवीं शताब्दी में आचार्य बंदी ने काव्य के तीन भेद किए। पहला छन्दबद्ध काव्य अथवा पद्य दूसरा बंधहीन काव्य अर्थात् गद्य और तीसरा गद्य पद्य मिश्रित काव्य अर्थात् जम्बू। इस भेद के बाद बंदी ने महाकाव्य की व्याख्या की जिसके अनुसार महा काव्य का आरम्भ आशीर्वाद ममस्कार अथवा वस्तु निर्देश के द्वारा होता है। उसकी रचना का आधार कोई ऐतिहासिक अथवा अन्य घेष्ठ कथा होनी चाहिए। उसे धर्म अर्थ काम और मोक्ष बाधक होना चाहिए। उसका नायक बुद्धिमान और उदात्त होना चाहिए। उसमें नगर समुद्र पर्वत पशु तथा अश्वमा सूर्य उपवन वन प्रीति मनुष्य तथा प्रमोदसह आदि के वर्णन होने चाहिए। उसमें प्रेम विरह विबाह, कुमारोत्पत्ति, विचार, विमर्श राजभूतल, अभियान युद्ध तथा नायक विजय आदि के प्रसंग होने चाहिए। उसमें विविध वृत्तान्त तथा विस्तृत वर्णन होने चाहिए। उसके धर्म सन्तुलित होने चाहिए और छन्दों का चयन अच्छा होना चाहिए। प्रत्येक धर्म का अन्तिम स्तोक मिला छन्द में होना चाहिए। उसे असंकार पूर्ण और लोक रंजक होना चाहिए क्योंकि यह गुण उसके स्थायित्व में सहायक होते हैं। यदि किसी महाकाव्य में उपर्युक्त गुणों में

से किसी का सम्मान हो, परन्तु विषय वस्तु की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हो तो भी उसे दूषित नहीं कहा जायेगा। महाकाव्य की रचना करने वाले को पहले नायक के गुणों का वर्णन करना चाहिए और तब उसके द्वारा धनु की पराजय का। नायक के धनु का बंध धीरे धीरे विद्वत्ता आदि का वर्णन करने के पश्चात् उसे पराजित करने का नायक के उत्कर्ष का वर्णन हुआ चाहिए।

आत्म्य का मत्तः—

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कामन ने काव्य के अर्थ करते हुए पहले उसे गद्य और पद्य में विभक्ति किया। फिर मत्त को कवियों की कसीटी बताया। गद्य के तीन प्रकार निर्दिष्ट किए जो कि कृतमन्वी, पूर्ण और उत्पत्तिकाप्राय है। गद्य बहू होता है जो वृत्तमत्त पद्य के विपरीत हो। इसी प्रकार से सप्त अर्द्धसप्त और निबद्ध भी प्रकार का होता है। कामन ने काव्य वर्गीकरण विषयक उपर्युक्त दृष्टिकोण का अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि उन्होंने मुक्तक की अपेक्षा महाकाव्य का महत्त्व अधिक प्रतिपादित किया है।

आनन्दवर्द्धन के विचार

नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि विमर्श के सम्बन्ध में विविध काव्य भेदों का भी उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए उन्होंने महाकाव्य के दो भेदों की वर्णा की है, उस प्रधान महाकाव्य और इतिवृत्त प्रधान महाकाव्य। इन दोनों में उस प्रधान महाकाव्य को उन्होंने श्रेष्ठ बताया है। इसी प्रकार से नाटक में भी उस योजन की मुक्तता निर्दिष्ट की है। यहाँ तक कि कोई अन्य नियम न होने पर भी गद्य रचनाओं में उस शीघ्रिय भी मुख्य वस्तु होती है। आनन्दवर्द्धन ने संस्कृत के काव्य शारित्र्यों में सबसे पहले चित्र काव्य का स्वरूप निर्धारित किया है। इसी परिभाषा करते हुए उन्होंने बताया है कि ध्वन्य के प्रधान और गुण भाव स रिचर होने पर ध्वनि और गुणीभूत ध्वन्य काव्यों से भिन्न जो काव्य होता है उसे चित्र काव्य कहते हैं। चित्र काव्य का वर्गीकरण करते हुये उन्होंने उसके दो भेद किये हैं। यूलि यह भेद पद्य और अर्थ पर आधारित होते हैं, इसलिये इन्हें पद्य चित्र और अर्थ चित्र कहा जाता है।

कर्मकाव्य का मत्तः—

दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कर्मकाव्य के रूप में “दशरथ” नामक ग्रन्थ में काव्य के विविध रूपों में से नाटक के अर्थ, उपायों का विस्तृत विवरण उपरिष्ठ किया है।

धनंजय ने रूपक के उस भेद बताए हैं ये भेद नाटक प्रकरण भाग ग्रहण, विम, व्यायोग समनकार, नीची जंक तथा ईहाभूय हैं। धनंजय ने रूपक के तीन आधारभूत तत्व वस्तु, नेता तथा रस निर्धारित किए हैं। इसके पश्चात् वस्तु का मुख्य विप्रेषण करते हुए इसके दो प्रकार वाणिज्यारिक तथा प्रासंगिक बताया है। इनमें से वाणिज्यारिक वस्तु के तीन भेद प्रख्यात् उत्पादक और मिय तथा प्रासंगिक वस्तु के दो भेद पताका और प्रकरी बताए हैं। नाटक की पाँच वर्ण प्रवृत्तियाँ, वस्तु की पाँच अवस्थायें तथा सन्धियाँ भी उन्होंने उल्लिखित की हैं। इसके पश्चात् नेता और रस का भी विस्तरेषण किया है।

मोक्ष का वर्गीकरण :—

म्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भोज ने अथ्य काव्य का विवेचन किया है। अथ्य काव्य की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है कि जो काव्य वृक्ष नहीं होता तथा बोधा नहीं पाता और केवल कानों को ही सुख प्रदान करता है वह अथ्य काव्य होता है। अथ्य काव्य के उन्होंने छः भेद किये हैं। वे भेद वाणी, नाट्यी शमस्कार, वस्तु निर्वेध, अक्षिप्त तथा ध्रुवा हैं। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध काव्य को भोज ने चारों वृत्तियों के वर्गों से कुछ उदात्त नायक वासा तथा चतुर्वर्ग फलशायक बताया है। प्रबन्ध में उन्होंने पाँच सन्धियाँ मानी हैं और उसके अथ्यकृत वासा तथा गुणवृत्त निर्वेधित किया है। फिर उन्होंने यह बताया है कि प्रबन्ध काव्य में किस प्रकार के वर्णन से रस का उत्कर्ष होता है, किस प्रकार के वर्णन से रस का पोषण होता है, किस प्रकार के वर्णन से सरसता आती है तथा किस प्रकार के वर्णन से रस की रपा होती है। नायक की प्रतिष्ठा तथा उत्कर्ष आदि के विषय में भी भोज ने स्पष्ट निर्वेध किये हैं। इसी प्रकार से मोक्ष ने वृक्ष काव्य के स्वल्प की भी विवेचना की है। मोक्ष के अनुसार वृक्ष काव्य उसे कहते हैं जो अमिनेताओं द्वारा कथित एवं नायिक अभिनयों द्वारा निरूपित और वाचिक अभिनय से सम्पन्न होता है। वृक्ष काव्य के उन्होंने छः और भी भेद किये हैं जो वास्तव तन्त्रि स्रष्टिक, सन्धा, हृन्वीसक और रासक हैं।

मम्मट के विचार :—

म्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मम्मट ने काव्य के भेद करते हुए उसके तीन प्रकार बताए। इनमें से पहला उत्तम काव्य, दूसरा मध्यम काव्य और तीसरा बबर काव्य कहा। इन्हें अथ्य काव्य, गुणीभूत अथ्य काव्य और विनकाव्य भी कहा जाता है। इनमें से उत्तम काव्य वह होता है जिसमें काव्यार्थ की अपेक्षा अर्थार्थ अधिक समतारपूर्ण

हो। इसी प्रकार से मध्यम काव्य बहु होता है, जिसमें व्यंग्यार्थ अधिक समस्कारपूर्वक सुनीयुक्त हो तथा अन्तर काव्य बहु होता है जिसमें व्यंग्यार्थ न हो तथा स्पष्ट विचार और वाक्य विग्रह हो।

विरचनाय का स्तर —

बौद्धिकी एतादृशी के पूर्वार्द्ध में विरचनाय ने काव्य के रूपों का विवरण करते हुए मध्य काव्य के दो निरूपण हैं, पद्य और पद्य। इनमें से पद्य उस काव्य को कहते हैं जो शब्दों में विरचित गया हो। इनके अन्तर्गत अनेक भेद किए हैं उदाहरण के लिए मुक्तपद्य वाक्काव्य मुक्तक, दो श्लोकों से वाक्काव्य पूर्ण करन वाक्काव्य काव्य कुम्भक तीन पद्यां वाक्काव्य विरचयक, चार पद्यां वाक्काव्य विरचयक और पाँच या पाँच से अधिक पद्यां वाक्काव्य कुम्भक कहल जाता है। इन प्रकार से मध्य काव्य के वर्गीकरण के अनुसार विरचनाय ने महाकाव्य की विवेचना की है। उनके विचार से महाकाव्य उस कहते हैं जिसमें सबों का निरूपण हो। उसमें एक धीराशाला नायक होना चाहिये, एक अमीर होना चाहिये, उनमें नाटक की सभी समीपता रहनी चाहिये, उसकी कथा ऐतिहासिक या लोक प्रसिद्ध होनी चाहिये, और अन्य अर्थ, काव्य तथा मोक्ष में से उसका एक फल होना चाहिये। महाकाव्य के आरम्भ में जमीनदार समस्कार जयवा शर्ष वस्तु के विषय में निर्देश होना चाहिये। उसमें युद्धों की विजय और युद्धों की प्रशंसा होनी चाहिये। उसकी कथा सबका आदर से अधिक होनी चाहिये। अत्यन्त सगौरव के अन्त में अन्त मित्र हो जाना चाहिये और जागामी जया की सूचना होनी चाहिये। इनमें विविध प्रकार के पद्य वर्णन होना चाहिये तथा उनका नामकरण कवि या नायक के अनुसार होना चाहिये। इन प्रकार से महाकाव्य का स्वरूप विवेचन करते हुए विरचनाय ने पद्य काव्य की विवेचना की है। पद्य के अन्तर्गत चार प्रकार बताये हैं मुक्तक कृतपद्य, उत्पत्तिका प्रायः तथा पूर्णक। इनमें से पहला उदाहरण रहित होता है दूसरे में पद्यां होते हैं तीसरे में दोषे उदाहरण होते हैं और चौथे में लक्ष्य उदाहरण होते हैं। विरचनाय ने कथा का भी स्वरूप निर्देश किया है। उनके विचार से पद्य के अन्त में अन्त पद्य के द्वारा विविध होनी है। इसी प्रकार में अस्वादिता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि वह कथा के अन्त में होती है। उनमें कवि का वर्णन होना है और पद्य भी पद्य तत्त्व होते हैं। अन्त में विरचनाय ने अन्त काव्य की व्याख्या करते हुए बताया है कि अन्त उन काव्य को कहते हैं जिसमें पद्य और पद्य दोनों हैं।

अपनाप का मत —

सप्तहरी सप्तमी में पंडित राज अपनाप ने काव्य के भेद बताते हुए लिखा है कि उसके चार प्रकार होते हैं। पहला उत्तमोत्तम काव्य, दूसरा उत्तम काव्य तीसरा मध्यम काव्य और चौथा अधम काव्य। इनमें से उत्तमोत्तम काव्य यह होता है जिसमें शब्द और अर्थ दोनों स्वयं गौण होकर किसी 'वामत्कारिण' अर्थ की अभिव्यक्ति करें। उत्तम काव्य यह होता है जिसमें अर्थ प्रधान न होने हुए भी वामत्कारिता हो। मध्यम काव्य उसे कहते हैं जिसमें वाच्यार्थ का वामत्कार अर्थार्थ के वामत्कार के साथ न रहता हो तथा अधम काव्य वह होता है जिसमें शब्द वामत्कार प्रधान तथा अर्थ वामत्कार उसकी सोमा के लिए ही हो। इस वर्गीकरण के परचात् अपनाप ने ध्वनि काव्य का विवेचन किया है। ध्वनि काव्य के श्रेष्ठों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उसके अभिधा मूसक के तीन भेद रस, ध्वनि वस्तु ध्वनि तथा असंसार ध्वनि और सस्रजामूसक के दो भेद अर्थात्तर सश्रमित वाच्य तथा व्यत्यस्त निरस्तुत वाच्य किये। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि ध्वनि काव्य के उपर्युक्त पाँच भेदों में से रस ध्वनि को सर्व प्रमुख मानकर उन्होंने उसकी आत्मा रस का विस्तार से विवेचन किया है।

काव्य वर्गीकरण विषयक भारतीय मत का सार

अगर भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा में योग देने वाले महान् काव्य शास्त्रियों के काव्य के विविध भेदों से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्रियों का उल्लेख किया गया है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि भरत नामह, बंशी नामन आनन्दचर्द्धन वर्तमान भोज मम्मट, विश्वनाथ तथा अपनाप आदि शास्त्रज्ञों ने नाटक महाकाव्य अम्पू काव्य चित्र काव्य कथा आख्यायिका तथा वाधा आदि अर्थ और वृक्ष काव्य के विविध भेदों की विस्तार से व्याख्या की है। भरत ने विशेष कर से रस की विवेचना के सम्बन्ध में नाटक के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है। महाकाव्य का उन्होंने कई दृष्टियों से नाटक से साम्य छिड़ किया है।

नामह ने संस्कृत साहित्य में सर्व प्रथम महाकाव्य नाटक आख्यायिका कथा और गाथा का सूत्रम विस्लेषण किया है। बंशी ने अपना काव्य भेद विवेचन आख्यायिका कथा और अम्पू काव्य तक सीमित रखा। नामन ने पद्य और पद्य काव्यों

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा परम्पराओं और बुद्धिकोण को सुसन्तुलित अध्ययन [५२३]

की विवेचना की। आन्डरबर्टन ने महाकाव्य भाटक बाघि का तो स्वरूप विवेचन किया ही, बाघ ही बाघ जिनकाव्य की भी व्याख्या की। जर्नलम ने कवक के भेदों का उत्प्रेषण करते हुए उनके ठरवों की विस्तार से व्याख्या की है।

नाब ने काव्य काव्य और वृद्ध काव्य के विविध प्रकारों का विश्लेषण किया और सम्मट ने ध्वनि काव्य, गुणीभूत काव्य काव्य और चित्र काव्य का स्वरूप निर्देशन किया। विश्वनाथ ने अर्थ काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य गद्य काव्य कथा आख्यायिका और जम्बू की व्याख्या की। इसी प्रकार से जगन्नाथ ने काव्य के भेद बताते हुए उत्तमोत्तम, उत्तम मध्यम और अधम के रूप में उनका वर्गीकरण किया है और ध्वनि काव्य की विद्युत्ता से विवेचना की है। इन शास्त्रों की वैचारिक मौलिकता और विशिष्टता की ओर यथा स्थान उचित ध्यान आ चुका है।

काव्य का वर्गीकरण पाश्चात्य मत

प्लेटो का मत :—

पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र की विविध परम्पराओं के अन्तर्गत जो उत्प्रेक्षणीय विस्तार हुए हैं उन्होंने काव्य भेदों के सिद्धांत विकसन की दिशा में गम्भीर बुद्धिकोण का परिचय दिया है। एकदम से काव्य के स्वरूप और प्रयोग के सम्बन्ध में यूनान के ज्ञेय ज्ञानी साहित्य मनीषियों ने अपना मत प्रकट किया है परन्तु काव्य का सूक्ष्म वर्गीकरण वैज्ञानिक रूप से सबसे पहले प्लेटो ने किया। प्लेटो ने सबसे पहले काव्य का वर्गीकरण करते हुए सबसे तीन भेद किए। पहला नीतिशास्त्र दूसरा भाटक और तीसरा महाकाव्य, इन तीनों को ही उचित वर्णनात्मक काव्य के अन्तर्गत रखा। नीतिशास्त्र के विषय में हमने लिखा कि यह कवि की वैयक्तिक अभिव्यक्ति होती है। नीति काव्य और महाकाव्य की रचना के लिए प्लेटो ने कुछ नियमों का भी निर्देशन किया है जो उनके कार्यव्यवहारी बुद्धिकोण पर आधारित हैं। प्लेटो का मत था कि सामंजस्य काव्य रचना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है।

यहाँ तक भाटक का सम्बन्ध है प्लेटो के समय तक भाटक का लेख में पदवि विद्या ही कहा था। ऐतिहासिक और नव सामयिक भाट्ट अभिनय

तथा माध्यम प्रदर्शन की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के बावजूद जो इस निष्कर्ष पर आया कि उनसे अनधिकता बढ रही है। इस विद्यमाना को देखकर प्लेटो ने यह पुष्टि बाराया बना भी कि जनता का बहुमन साहित्य की ओरता की कसीनी कवापि नहीं हो सकता। उसने नाटक के दो रूप बताए जो कि सुखान्तक और दुखान्तक नाटक है। पृथक पृथक रूप से उसने इन दोनों का स्वरूप निरूपण किया और इन दोनों का महत्व और प्रभाव भी विस्तारित किया। इनमें से सुखान्तक नाटक की आवश्यकता और मर्यादा बताते हुए प्लेटो ने सिखा कि सुखान्तक नाटक से हास्य सृष्टि तो होनी चाहिए परन्तु किसी की भावनाओं को चोट नहीं पहुँचनी चाहिए।

अरस्तू का वर्गीकरण —

प्लेटो के पश्चात् स्फुट रूप से फिर इन विषयों पर विविध विद्वानों ने अपने विचार प्रकाश किए परन्तु काव्य के क्षेत्रों का वैज्ञानिक वर्गीकरण अरस्तू के द्वारा ही सम्भव हो सका। अरस्तू ने दुखान्तक सुखान्तक नाटक और महाकाव्य नामक काव्य के तीन भेद करके इनकी पारस्परिक भिन्नता स्पष्ट की। उदाहरण के लिए उसने बताया कि भिन्न रूप के कारण ही नाटक और महाकाव्य में अन्तर होता है। महाकाव्य एक निश्चित समाज के लिए बर्ण रचता है। महाकाव्य के अन्तर्गत की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि यह सुखान्तक समाज के लिए है परन्तु नाटक के विषय में ऐसा नहीं है, क्योंकि यह निम्न कोटि के समाज के लिए भी हो सकता है। प्लेटो ने महाकाव्य का इसी दृष्टि कोश के आधार पर नाटक के अपेक्षा अधिक महत्व का सिद्ध किया है।

जहाँ तक दुखान्तक नाटक का सम्बन्ध है मूलान के प्राचीन साहित्य विचारकों में सबसे पहले अरस्तू ने ही उसके स्वरूप का सांख्यिक विवेचन प्रस्तुत किया। उसने इस किसी धर्मीय, महत्वपूर्ण और महान् कार्य का रंग स्वतः पर अनुकरण बताया जो आया के माध्यम से मानवीय भावनाओं का परिमार्जन करता है। उसने दुखान्तक नाटक के छह तत्व नियोजित किए जो कथानक, चरित्र चित्रण पद रचना, विचार तत्व, मुख्य विभाग तथा भीति हैं। इनमें से कथानक ही वह तत्व है जिसे उसने दुखान्तक नाटक की आत्मा बताया है, क्योंकि उसका विचार है कि इसी की उसमें प्रमुखता रहती है। उसने बत कथामूलक कल्पना मूलक और इतिहास मूलक के नाम से कथानक के तीन प्रकार निर्दिष्ट किए हैं। इसी प्रकार से चरित्र चित्रण के तत्व के विषय में अरस्तू का यह मत है कि दुखान्तक नाटक के पात्रों में ओष्ठता भाषा प्रयोग की स्वाभाविकता साधारण मानवता तथा समरूपता नामक चार गुण होने चाहिए।

सुलगात्मक नाटक की रचना के विषय में भरतू ने सिखा है कि उसमें जाति, प्रथम और अंत होने चाहिए। उसके विचार से सुलगात्मक नाटक के स्थायी भाव शोक और नय ही हैं। प्रथम नहीं। इसी प्रकार से सुलगात्मक नाटक को उसने यद्यपि जीवन की प्रवेष्टा मनुष्य का हीनतर चित्रण कहा है। इसलिये सुलगात्मक नाटक का मूल भाव हास्य होता है। इसमें निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है। उसका विचार है कि सुलगात्मक नाटक में मनुष्य की उन दुर्बलताओं और सीमाओं का चित्रण होना चाहिए जो मूर्खतापूर्वक हीं और निम्न प्रवृत्त से दृष्टकों के मन में हास्य की उद्भासना हो। किसी भी प्रकार से किसी का पीड़ा पहुँचाना सुलगात्मक नाटक का उद्देश्य नहीं होगा चाहिए।

अभी तक महाकाव्य के कथानक की रचना का सम्बन्ध है भरतू ने सिखा है कि वह सभी सिद्धान्तों के अनुसार होनी चाहिए जिनके अनुसार सुलगात्मक नाटक के कथानक की होती है। इसका कारण यह है कि भरतू के विचार में महाकाव्य कई अर्थों में सुलगात्मक नाटक से सादृश्य रहता है, यद्यपि उसका निश्चित विचार था कि महाकाव्य का सब सुलगात्मक नाटक की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। सुलगात्मक नाटक के समान ही महाकाव्य के भी उसने चार प्रकार बताये हैं (१) वरस (२) जटिष, (३) नैतिक और (४) कथम। इसका अतिरिक्त कुछ तत्वा का छाड़ कर उसे भीत और वृत्त विभाव प्रादि, दोनों के साथ साथ समझ सकते हैं। इस प्रकार से यद्यपि सुलगात्मक नाटक और महाकाव्य में भरतू ने अनेक प्रकार की समता बताई है, परन्तु उसने इसका कारण का अन्तर भी देखा है। उदाहरण के लिए इन दोनों में कथा के आकार और छन्द का अन्तर रहता है। उसके विचार में महाकाव्य में छन्दसत एकतरफता होनी आवश्यक है इसके मन के अनुसार कथानक पात्र विचार और भाषा भावक महाकाव्य मूल तत्त्व होते हैं।

अन्य विचारकों के मतः—

इस प्रकार से ऊपर दीतिहास्य, महाकाव्य सुलगात्मक नाटक सुलगात्मक नाटक तथा साहित्य के अन्य कृतों के विषय में जो परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है वह इन विचारों के सिद्धान्त निरूपण के क्षेत्र में भारतीय महत्त्व का भाग भाग है। भरतू के वर्णनीय पुरानी समीक्षकों में से कोई भी ऐसा नहीं हुआ जिनकी उनके वर्णन कोई नई देन इन क्षेत्रों में की हो। यहाँ तक कि दुर्गाजी साहित्य शास्त्र की परम्परा में जाने वाले अन्तिम महान् विचारक सौगतात्मक तत्त्व में इन क्षेत्रों में सिद्धान्त भिन्नता नहीं किया। साहित्य या कला में उद्भूतता का स्वरूप का विवरण व सम्बन्ध में उनके प्रत्यक्ष रूप से

कव्य अपने मूलभूत प्रस्तुत किए हैं परन्तु उनमें काव्य कर्मों की व्याख्या और स्वरूप वर्णन की कोई प्रत्यक्ष चेष्टा नहीं कसित होती। यही नहीं सौभाग्य के परचाहूँ व यूनानी साहित्य चिन्तन की इस महान् परम्परा का अन्त हो गया और एवम् के मान पर रोम साहित्य चिन्तन का केन्द्र बन गया। तब भी मुख्य रोमीय समीक्षकों सिद्धांतों का अध्ययन करने पर भी भिन्न भिन्न साहित्य कर्मों के स्वरूप की व्याख्या के यत्न कम ही दिखाई देते हैं।

इस परम्परा में आने वाले चिंतरो आदि विचारकों ने काव्य के वैज्ञानिक स्वरूप निरूपण का प्रयत्न तो नहीं किया परन्तु उसके सामान्य तत्वों पर आबन्ध अपनाए प्रकट किया। उदाहरण के लिए चिंतरो का विचार है कि उद्भूत काव्य की स्वीकृति यह है कि उसमें युगीन आकर्षण के साथ स्वाधित्व भी हो। उसका विचार है कि काव्य एक प्रकार की वेदी प्रेरण का परिणाम है। इसलिये कवि को अपने कार्य के प्रति अधिक से अधिक ईमानदार होना चाहिए। उसका विचार है कि एक सप्रभ कवि को अपने काव्य में कल्पना और यथार्थ दोनों का समावेश करना चाहिए और अपनी भाषा और उसके रचना तत्वों की ओर कभी भी उपेक्षा भाव नहीं दिखाना चाहिए। श्रेष्ठ काव्य के लिए उसने उपदेशात्मकता तथा आनन्दानुभूति दोनों को आवश्यक बताया है। यद्यपि इन दोनों में वह प्रथम को अधिक महत्व देता है। काव्य विषयक चिंतरो की उपर्युक्त भाषणान्तों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस अतिरिक्त इन क्षेत्रों में अन्य रोमीय समीक्षकों द्वारा कोई मौलिक चिन्तन नहीं हुआ। अधिकांशतः यूनानी सिद्धांतों की ही पुनरावृत्ति बनी।

काव्य वर्गीकरण विषयक पाश्चात्य मत का सार

रोम में साहित्य चिन्तन की जो परम्परा आरम्भ हुई थी उसमें काव्य कर्मों का निरूपण किसी विचारक ने इसलिये भी वैज्ञानिक रूप में और विस्तार से करने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि आरम्भिक कासीन अधिकांश रोमीय चिन्तक साहित्य और काव्य की अपेक्षा भाषण कला को अधिक महत्व देते थे। इसलिये साहित्य कर्मों के सम्बन्ध में अप्रधान और प्राथमिक रूप से वह जो कुछ भी कहें वेते वे उसमें प्रायः यूनानी सिद्धांतों का ही अनुगमन होता था। होरेस रोमीय समीक्षकों में पहला चिन्तक था जो साहित्य को मापन कला की अपेक्षा मुख्यता प्रदान करता था। यद्यपि यह एक

विभिन्न समूहों जिन्हें हुआ कि उसे साहित्य शास्त्र का अच्छा ज्ञान नहीं था। इसलिए होरेस ने साहित्यिक यन्त्रण अधिक मौलिकता दिए नहीं प्रतीत होते और उन पर यूनानी समीक्षकों के विचारों का भारी प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। उसने कवि के विषे आचार्यारिक कृति प्रयास अनुमोदित की है। आर्थिकता स्पष्टता सरसता विविधता ध्वन्यात्मकता और सज्ज साम्य प्रज्ञान का उसने काव्य में समायोजित घोषित किया है।

उसने कवि के लिये साधनिक सिद्धान्तों का यथार्थ परिचय आत्मिक बताया है। वह काव्य को नव्य वाक्यांशों का मानता था धृष्ट काव्य और हीन काव्य। उसने निश्चित विचार था कि यदि कोई काव्य घेष्ठ काव्य नहीं है तो वह अनिवार्यतः निम्न कौटि का होगा। यूनानी चिन्तकों से पूरा सहमति प्रकट करते हुए वह भी काव्य का धर्म उपदेशमकता और मानवानुभूति दोनों मानता था। उसने काव्य को जीवन का अनुकरण मानते हुए कवियों के लिये यह निर्देश दिया कि वे यूनानी साहित्यिक आदर्शों का सदैव अनुगामीन करें। होरेस ने रोमीय चिन्तकों में सबसे पहल काव्य वा वर्णिकरण किया और व्यंग्य काव्य का प्रयोजन व्यक्ति अपना समाज के लोगों का निराकरण करना बताया।

उसने व्यंग्य काव्य और प्रहसन का जेन करते हुये उसके चरित्रों का भी स्पष्टीकरण दिया है। उसका मत है कि व्यंग्य काव्य के पात्रों का हास्य संकुचित और विवेकपूर्ण होता है जब कि प्रहसन के पात्रों का नहीं। इसके अनिरक्त इन दोनों में सबसे बड़ा अंतर उसने यह बताया कि व्यंग्य काव्य में सबसे उद्देश्यपूर्णता रहती है जब कि प्रहसन निरुद्देश्य भी हो सकता है। इसी प्रकार से नाट्य कला पर भी होरेस ने जो विचार प्रकट किये वे यूनानी विचारधारा से प्रभावित हैं। उसने जो नाटक के तन्त्रों में कला कला निरूपण पात्र और हीनी आदि तन्त्रों का विवेचन किया। उसने नाट्य में अक मान्य और दुष्ट मान्यता के विषय में निर्देश दैत हुये यह बताया कि उनमें विना हीनता हीनी आवश्यक है। नाटक में पीठों का समावेश उसने दर्शाित किया ॥। वहीं एक नाटक के प्रयोजन और आदर्श का सम्यग् है उसका मत है कि नाटक में नीति तथा नव विषयक विचार हास्य तथा कटुता की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है।

इस प्रकार से यूनानीय साहित्य चिन्तन को यह दृगरी परम्परा भी सम्पन्न होती है और इस समय से लेकर सषषण पन्ध्रवीं शताब्दी तक इन विचारों में कोई उन्नतनीय उन साम्य नहीं दिखलाई देनी। मध्य युग में जब साहित्य चिन्तन न राज में पुनर्जागरण हुआ एक

अपेक्षाकृत नवीन दृष्टिकोण से इन प्राचीन उपलब्धियों को जाँचा गया और तभी इनके सारी विकास की भी सम्भावनाएँ हुईं ।

भारतीय सिद्धान्तों की सर्वांगीणता असंसार सत्त्व

भारत और बौद्ध —

प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य शास्त्र में रस तथा श्रुति भाषि सिद्धान्तों की भाँति असंसार सिद्धान्त का भी विवेचन महत्व है । ऐतिहासिक दृष्टिकोण से असंसारों का विवेचन सबसे पहले भरत मुनि ने किया । उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में प्रथमतः नाटक के सम्बन्ध में ही चार मुख्य असंसार बताये, जहाँ प्रथम रूपक दीपक और यमक हैं । भरत के बाद सातवीं शताब्दी में बौद्ध ने अपने “काव्यालोक” नामक ग्रन्थ में असंसारों का विवेचन किया । असंसार की परिभाषा देते हुये बौद्ध ने कहा है कि असंसार कर्म के सौम्य के कारण कर्मों को कहा जाता है । उन्होंने कई प्रकार के असंसारों का वर्णन किया है जिनमें उत्तम असंसार अतिशयोक्ति को माना है । इस अतिरिक्त बौद्ध ने प्रेम असंसार रसक असंसार और वसप असंसारों का वर्णन किया है । जिनमें उत्तम असंसार अतिशयोक्ति को माना है और उसकी विस्तार से व्याख्या की है ।

वामन और छंद का असंसार वर्गीकरण —

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वामन ने अपने “काव्यालोक” सूत्र नामक ग्रन्थ में असंसार का महत्व बताते हुये लिखा है कि कर्म की सोमा असंसार से ही होती है । जहाँ तक असंसार की परिभाषा का सम्बन्ध है वामन का मत है कि सौम्य के असंसार कहते हैं । वामन के पश्चात् छंद ने ११वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अपने “काव्यालोक” नामक ग्रन्थ में असंसारों का वर्गीकरण करते हुये उसके चार भेद किये हैं । पहला वास्तव असंसार, जिसके उन्होंने सहोक्ति, समुच्चय आदि यथासंभव भाव प्रयोज्य विषय अनुमान दीपक परिहार, परिपूर्ति परित्यक्ता हेतु, कारणमात्रा अतिरेक अल्पोक्त छंद, छंद, सूत्र, शेष, अक्षर, भीति एवम् एकावली नामक तर्क किये हैं । दूसरा असंसार छंद ने जीपम्य बताया है जिसके उपमा उत्प्रेक्षा रूपक अपभ्रुति छंदय समोक्ति, मत उत्तर, अपोक्ति प्रतीक अर्थात्परिभाषा, उपमाप्राप्ति भान्तिमान आक्षेप प्रयत्नीक दृष्टान्त पूर्व सहोक्ति, समुच्चय साम्य, और स्मरण नामक २९ भेद होते हैं । तीसरा असंसार छंद के मत में अतिशय असंसार है, जिसमें पूर्व विवेचन उत्प्रेक्षा विभावना तत्पुण अधिक विरोध विषय असंगति गिहिन व्यापार

तथा बहैनु नामक बारह मंत्र होते हैं। और चौथा अमंडार खट के अनुसार क्षय अंतकार होता है जिसके अविनाश विरोध अधिक बल, व्यास, उत्ति, अर्चन, अक्षय, तत्त तथा विरोधाभास नामक दस मंत्र होते हैं। इस प्रकार से खट ने संस्कृत के वाच्य शास्त्रियों में सबसे पहल अंतकारों का वैज्ञानिकता और सम्पूर्णता के साथ विवेचन किया है।

अन्य भारतीय सिद्धान्त बहिष्य और महत्व

दशवीं शताब्दी के उशारख में कुल्लक ने बकाति जीबिनम् नामक ग्रन्थ की रचना करते हुए बकाति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अंतकार की परिभाषा करते हुए कुल्लक ने लिखा कि जिसमें अंतर्ही हो उसे अंतकार कहते हैं। कुल्लक के अंतकार विवेचन के सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट न रहने योग्य है कि उन्होंने स्वभावाति को अंतकार नहीं माना है और उन साहित्य पंडितों का विरोध किया है, जो इन अंतकार मानते हैं। इसी प्रकार से संस्कृत में ध्वनि सिद्धान्त आदि का प्रवर्धन और विस्तार से व्याख्या विविध भाषाओं में की है, जिसके सम्बन्ध में यथा स्थान लिखा गया है। यहाँ पर इतना ही संकेत करना पर्याप्त है कि इन सिद्धान्तों का प्रवर्धन और विस्तार भारतीय काव्यशास्त्र की अपनी विशेषता रही है और यद्यपि पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी अंतकार आदि का काव्य में स्थान स्वीकार किया गया है बल्कि इतना विविध है कि वहाँ उन्हें विशेष महत्व नहीं दिया गया है।

पाश्चात्य सिद्धान्त वैशिष्ट्य और महत्व

भारतीय काव्य शास्त्र की भाँति ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी कुछ ऐसे विषयों को विधिष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है जिनको पाश्चात्य चिन्तक ने विस्तार से विवेचित किया है। यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र में उन्हें या तो विस्तृत महत्व नहीं दिया गया या बला के एक रूप में उन्हें सामान्य रूप से मायता की गई है। उदाहरण के लिए आपस बना का उल्लेख किया जा सकता है। आपस बना ऐसा विषय है जिसे यूरोपीय साहित्य शास्त्र में अत्यधिक महत्व दिया गया है और जिस पर बहुत विस्तार में लिखा गया है। इस रूप का प्रभाव यह है कि ईसा के लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व यूरान में आपस बना की वैज्ञानिक और गाम्भीर्य सिद्धा का आयातन हुआ था। उसी समय आपस बना पर सर्व प्रथम ग्रन्थ भी लिखा गया था।

जैसा कि बीदे उल्लेख किया गया है बोरेस्म तथा टीबीदेम ने आपस बना के विषय तथा उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया था। फिर एसीदेम ने इन शास्त्र का

वैज्ञानिक विवेचन करते हुए उस सम्पूर्णता प्रदान की। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि स्त्रोसमैक्स ने भाषा और भाषा की शुद्धता पर विशेष गौरव दिया। उसका मत था कि भाषण में प्रयुक्त भाषा की सामान्य प्रयोग की भाषा से उच्चतर होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से उसने भाषा के वर्तककरण की आवश्यकता भी बताई। इसके पश्चात् प्लेटो ने भाषणशास्त्र पर विचार करते हुए यह लिखा कि भाषण में बल्ब सत्य की इस सिए ज़ेखा करता है कि उसमें कृत्रिमता अविक होती है। बल्बगण अपनी बात को यम्ब जान और बतुराई से कहते हैं। प्लेटो का यह विचार था कि उच्च कोटि के भाषण शास्त्र के सिए उच्च कोटि कथा आवश्यक है। यह कथा बल्ब को विषय का पूर्ण ज्ञान होगा है। प्लेटो के विचार से भाषण कला का कोई बिनाप महत्व नहीं है क्योंकि उसका अनुभव यह था कि बल्बगणों को भाषण कला का सम्यक ज्ञान नहीं था।

अरस्तू और सिसरो के मत —

भाषण कला विषयक अरस्तू के विचार बहुत मौलिक और विश्लेषणपूर्ण हैं। भाषण कला की परिभाषा करते हुए अरस्तू ने लिखा कि वह अवस्था विशेष में प्रत्यय के उपसम्ब साधनों के पर्यवेक्षण की शक्ति है। उसने बताया कि भाषण कला ठर्क कला की अनुपूरक है। भाषण कला के व्यापक महत्व की ओर संकेत करते हुए उसने कहा कि इसका सम्बन्ध कम साधारण से होता है और सभी सोच बोझ बहुत इसका प्रयोग करते हैं। अरस्तू के बाद यूनानी समीक्षकों में कोई ऐसा उल्लेखनीय विचारक नहीं हुआ जिसने इस क्षेत्र में किसी मौलिक सिद्धान्त की रचना की हो। जब रोमीय परम्परा का आरम्भ हुआ तब उसके सर्व प्रथम उल्लेखनीय समीक्षक सिसरो ने भाषण शास्त्र पर विचार किया। भाषण कला के प्रचार और उपयोगिता पर उसने बहुत गौरव दिया। भाषण कला और काव्य कला में वह भाषण कला को मुख्यता देता था। यही तक कि वह साहित्य या काव्य को भाषण कला का सहायक मानता था।

इसके अतिरिक्त वह अपने युग के सिए भी भाषण कला को अविक उपयोगी समझता था। उसके समय तक रोम में यूनानी भाषण शास्त्रियों द्वारा प्रचलित सिद्धान्तों का प्रचार था। परन्तु उसने सबसे पहले रोमीय परम्परा में यूनानी नियमों में परिवर्तन करके उन्हें अपने अनुकूल बनाया। सिसरो का विचार था कि भाषण कला एक माध्यम है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी मनुष्यता परिचय देने में समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त वह मानवीय सम्मता का घोषक और प्रचारक भी होता है। इस दृष्टिकोण से उसने

भाषण कर्ता की योग्यताएँ निर्धारित करते हुए यह बताया कि उसे इन माध्यम का सुस्तर समझकर उसका निर्वाह करना चाहिए। भाषण कर्ता को अपने विषय का सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उस प्राथमिक विषयों की पर्याप्त व्यावहारिक जानकारी होनी चाहिए।

भाषण कर्ता के लिए उन्ने विज्ञानों का पालन अनिवार्य बताया। विद्वान ने भाषण कला के तीन आदर्श मान (१) मूल विषय तथा प्रासंगिक विषयों का आधिकारिक ज्ञान (२) श्रोताओं की विषय विवेचन तथा भाषा सभी से प्रभावित करना, (३) श्रोताओं की निरन्तर प्रसन्न और सन्तुष्ट रहना। भाषण कर्ता के लिए स्वयं का अनुशासित करना भी आवश्यक है। इसके लिए यह आवश्यक है कि भाषण कर्ता अपनी प्राकृतिक प्रतिभा का उपयोग करे, भाषण कला का सैद्धांतिक और व्यावहारिक अध्ययन करे और अभ्यास भी करे। जहाँ तक भाषण की भाषा का सम्बन्ध है उसने आत्मकारिक भाषा के प्रयोग को अनुमोदित किया है, क्योंकि श्रोता उससे अधिक प्रभावित होता है और उसकी स्तुति कारण भी कि सगुण श्रोतामय ही भाषण कर्ता की श्रेष्ठता के निर्धारक होते। इस प्रकार से रोम के साहित्य चिन्तकों में कबल विद्यो ही ऐसा हुआ है जिसने इस विषय पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया।

विस्मय के विचार —

रोमीय परम्परा के जन्म के बाद मध्य युग में जब साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ तब खोमहूदी घातकालीन मध्य टाइम विस्मय में भाषण शास्त्र के विषय में प्रयत्न किए। जहाँ भाषण शास्त्र के प्राचीन और छात्सीय विज्ञानों का पुनर्स्थापन का प्रयत्न है, विस्मय का महत्त्व बहुत अधिक है। विस्मय के युग में मध्यकालीन परिस्थितियों के सर्वोच्च ज्ञान का भाषण कर्ता के विषे एक अतिरिक्त नियम के रूप में माध्य दिया गया। छात्सीय विज्ञान के अनुययन की महत्ता बताने के साथ व्यावहारिक ज्ञान और अनुभव के विषय में भी कुछ नियम बने। पुनर्स्थापन, विषय का सम्पूर्ण ज्ञान विषय का सम्पूर्ण प्रयोग और विषय का अनुभव सभी में अतिरिक्त, प्रभावपूर्ण भाषण के लक्ष्य बनाए गए। रोमी के विषय में यह कहा गया कि उच्च अवकाश, अवकाश के साथ स्पष्टता भी होनी चाहिए। रोमी की महत्ता भाषा पर भी निर्भर करती है इसलिये भाषा रचना के विषे अनुभव स्पष्टता की आवश्यकता अनुमानित किया गया। इन प्रकार से पारचाय साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में विषय निरूपण और महत्त्व की दृष्टि में भाषण शास्त्र की निर्गम्यता ही गई। इन सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि मध्य युग के पारचाय को पारचाय सभीया निर्गम्य गई वह साहित्यिक विषयों से सम्बन्धित है।

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा दृष्टिकोणगत साम्य और वैषम्य

पाश्चात्य और भारतीय समीक्षा परम्पराओं का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि उनका प्रसार आज से सहस्रों वर्षों पूर्व तक है। पाश्चात्य समीक्षा के अन्तर्गत यहाँ मुख्यतः यूनानी रोमीय तथा अंग्रेजी समीक्षा परम्पराओं का उल्लेख किया गया है और भारतीय समीक्षा के अन्तर्गत संस्कृत तथा हिन्दी रीति कालीन परम्पराओं की चर्चा की गयी है। यदि पाश्चात्य समीक्षात्मक चिन्तन के अस्तित्व के संकेत ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व तक मिलाते हैं तो भारतीय समीक्षा शास्त्रीय चिन्तन का आरम्भ भी सून रूप में वैदिक काल से माना जाता है। परन्तु साहित्य चिन्तन का संयोजित रूप स प्रस्तुतीकरण करने वाली सर्वप्रथम शास्त्रीय कृति जिस प्रकार से पाश्चात्य समीक्षा के इतिहास में वरस्तु कृत "पोएटिक्स" मानी जाती है उसी प्रकार से संस्कृत में भरत मुनि रचित "नाट्यशास्त्र"। पाश्चात्य समीक्षा में यूनानी परम्परा के अन्तर्गत के परचात् प्रायः उसी से निर्धारित मानों पर रोमीय परम्परा का आरम्भ तथा उसके परचात् अंग्रेजी परम्परा का विकास हुआ। इसी प्रकार से हमारे यहाँ संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत के परचात् प्रायः उसी की दृष्टि दिशाओं पर रीति शास्त्र की परम्परा का आरम्भ एवं तत्परचात् आधुनिक हिन्दी समीक्षा का आरम्भ हुआ।

पाश्चात्य और भारतीय चिन्तन में दृष्टिकोणगत अन्तर यह है कि पाश्चात्य समीक्षा में मूल रूप से काव्य अथवा साहित्य के क्षेत्रों का स्वाग्रह रूप में विचार कम किया गया है जब कि भारतीय समीक्षा में उनका पुरस्कृत-पुनरुक्त रूप से सर्वांगीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि पाश्चात्य साहित्य में काव्य शास्त्र, छन्द शास्त्र, अलंकार शास्त्र भाषण शास्त्र तथा सीमार्थ शास्त्र आदि को परस्पर भिन्न समझ कर इन पर स्फुट रूप से विचार किया गया है। इसके विपरीत भारतीय साहित्य में काव्य शास्त्र का समग्र रूप से विस्तृत विस्तोषण हुआ है। उसमें काव्य के स्वरूप काव्य की आत्मा काव्य के उद्देश्य काव्य के कारण काव्य के गुण अलंकार, रस इति रीति काव्य के दोष काव्य की भाषा तथा कवि चिन्ता आदि का सम्यक् निरूपण मिलता है। संस्कृत में काव्य शास्त्र को वर्णन आदि से सर्वथा स्वतन्त्र और पृथक् विषय मानकर विस्तृत शास्त्रीय दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या के वैज्ञानिक प्रयत्न हुये हैं। संस्कृत में काव्यशास्त्र के भाषा छन्द, अलंकार आदि किसी अंग का स्फुट विवेचन न होकर काव्य की आत्मा पर अन्वेषणात्मक दृष्टि से चिन्तन हुआ है। पाश्चात्य साहित्य में इस मतेपक्षा दृष्टि का भी अभाव है। उसमें वैयक्तिक आग्रह की प्रबलता ऐतान्तिक निरूपण में भी मिलती है जब कि भारतीय चिन्तन वैचारिक संगठनात्मकता का प्रतीक है।

